सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा

(AN OUTLINE OF SOCIAL ANTHROPOLOGY)

लेखक
रवीन्द्र नाथ मुकर्जी
रीडर तथा अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग
बरेली कालेज
बरेली

प्रकाशक
विवेक प्रकाशन
36, नेताजी सुभाष मार्ग,
नई दिल्ली-110002.

षष्ठ संस्करण : 1980]

सहृदय अध्यापक जिन्होंने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र
में दीक्षित कर मुझे सदा के लिये अनुगृहीत किया, उन

प्रोफेसर (डाक्टर) कैलाशनाथ शर्मा

(इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, कानपुर)

को यह पुस्तक

सादर समर्पित है।

—'रवि'

आमुख : षष्ठ संस्करण

मेरे लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि मुझे फिर से एक बार उन समस्त स्नेही विद्यार्थियो एव सुयोग्य प्राध्यापको के प्रति अपना आन्तरिक आभार प्रकट करने का अवसर मिला है जिन्होने कि इस पुस्तक के प्रत्येक सस्करण को प्रत्येक बार अधिक आग्रह से अपनाकर आज उसे षष्ठ सस्करण के स्तर तक पहुँचा दिया है। लेखक के रूप में मैंने भी अपने उत्तरदायित्व को समझा है और मुझे सन्तोष इस बात का है कि मैंने इस सस्करण को पूर्णतया सशोधित व परिमार्जित करने का भरसक प्रयत्न किया है। फलतः प्रस्तुत पुस्तक अपने पिछले सस्करण से पर्याप्त भिन्न है।

पुस्तक को पाठक-वर्ग के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिये जहाँ एक ओर अनावश्यक सामग्री को इसमे से निकाल दिया गया है, वही, दूसरी ओर, नवीन पाठ्यक्रमानुसार नयी सामग्री का समावेश भी किया गया है। साथ ही, पुस्तक सर्वत्र जनवरी 1980 तक प्राप्त नवीनतम सूचनाओ व आँकडो से समृद्ध है। अतः आशा यही है कि यह नवीन सस्करण पाठक-वर्ग को अधिक सन्तोष प्रदान कर सकेगा।

—रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

आमुख : प्रथम संस्करण

मानवीय समाज और समस्याओ के विषय मे जो जिज्ञासा दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है, उसे शान्त करने मे सामाजिक मानवशास्त्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि विद्वानो मे एक यह विश्वास दृढतर होता गया कि आधुनिक मानव व उसकी सस्कृति को समझने के लिए आदिकालीन समाज या सामाजिक जीवन को समझना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक मानवशास्त्र का यही अध्ययन-विषय है। इसीलिये इस विषय का विकास बडी तीव्र गति से हुआ है और भारतवर्ष मे भी एकाधिक विश्वविद्यालयो मे अब मानवशास्त्र एक मुख्य विषय के रूप मे पढाया जाने लगा है। परन्तु इस विषय पर, विशेषकर सामाजिक मानवशास्त्र पर, हिन्दी भाषा मे लिखी पुस्तकें न होने के समान हैं। इस कमी को दूर करने के लिये यह पुस्तक प्रकाशित की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयो के स्नातक (Graduate) व स्नातकोत्तर (Post-graduate) कक्षाओ के विद्यार्थियो के लिये लिखी गई है। पुस्तक की समस्त सामग्री को प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर लाने का तथा सामाजिक मानवशास्त्र के

सर्वमान्य तथ्यो को भारतीय पृष्ठभूमि मे प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। भारतीय उदाहरणो से यह पुस्तक भरपूर है जिससे कि विद्यार्थियो के लिये विषय को समझने मे कठिनाई न हो।

इस पुस्तक को लिखने मे प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दावली का अभाव अत्यधिक अनुभव हुआ। फिर भी इस कमी को यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न किया गया है। डा० दुबे के शब्दो में, "विषय का स्पष्टीकरण लेखक का उद्देश्य रहा है, और इसकी सिद्धी के लिये पारिभाषिक शब्दावली-सम्बन्धी सैद्धान्तिक मतभेदो के प्रति लेखक ने किसी विशिष्ट आग्रह अथवा दुराग्रह को नहीं अपनाया है।"

हम उन समस्त विद्वानो के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी अमूल्य कृतियो तथा विचारो के आधार पर इस पुस्तक को लिखना सम्भव हुआ है। यथासम्भव इन समस्त विद्वानो का यथास्थान उल्लेख पृष्ठतल टिप्पणियों (Footnotes) देकर किया गया है किन्तु यदि कहीं भूल से किन्ही विद्वानों का नामोल्लेखन न हो पाया हो, तो वह त्रुटि इच्छाकृत न समझी जाय, उसके लिये लेखक क्षमाप्रार्थी है।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने, उसे दोहराने तथा भाषा को सुधारने का समस्त कार्य श्रीमती कुसुम गोस्वामी (एम० ए० समाजशास्त्र) और श्रीमती सरला दुबे (बी० ए०, बी० टी०, एम० ए० समाजशास्त्र द्वितीय वर्ष) ने किया है। इनके अथक परिश्रम के बिना इस प्रकार की एक बृहत् पुस्तक का इतने अल्प समय मे प्रकाशन सम्भव न था। धन्यवाद देकर उनकी सेवाओ को कुण्ठित न करूँगा। इस विषय के स्नातकोत्तर कक्षाओ के प्रोफेसर तथा मेरे सहकर्मी श्री गिरीशचन्द्र कुलश्रेष्ठ तथा डा० ज्योतिनाथ गगोली के उत्साह, सहयोग एव सुझावो से यह पुस्तक समृद्ध है। प्रोफेसर अशोक प्रधान का भी हार्दिक सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। अध्याय 20 मे प्रस्तुत थारू जनजाति का विवरण मेरे शिष्य श्री गोपालकृष्ण अग्रवाल ने अपने अध्ययन के आधार पर तैयार किया है। 'सरस्वती सदन' के मैनेजर श्री विश्वरजन ने इस पुस्तक के प्रकाशन मे बडी तत्परता व आग्रह दिखाया है। मैं इन सब सज्जनों का हृदय से आभारी हूँ।

अन्त मे मानवशास्त्र के विद्वानो, विद्यार्थियों तथा अन्य पाठकों से विनम्र निवेदन है कि वे पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करके इस पुस्तक के स्तर को ऊँचा उठाने मे मेरी सहायता करें। इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा।

'सुधा ज्ञान-मन्दिर'
कानपुर।
23 नवम्बर, 1961।

—रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

विषय-सूची

1 मानवशास्त्र क्या है ?
(What is Anthropology)

मानव "प्रकृति" का सबसे आश्चर्यजनक भाग है। यह अनोखा मानव केवल प्रकृति का नहीं, स्वयं अपने का भी अध्ययन करता है। आकाश, धरती, पेड़-पौधा, पशु-पक्षी, नदी और समुद्र का अध्ययन उसके सम्मुख अनेक आश्चर्यजनक अनुभवों को उपस्थित करते हैं और उसके ज्ञान-विज्ञान के भण्डार को भरते रहते हैं, परन्तु स्वयं अपना ही अध्ययन मानव के लिए और भी रोचक, अत्यन्त आश्चर्यजनक अनुभवों से भरपूर और अनेक अनोखेपन से समृद्ध होता है। वह स्वयं संस्कृति को सीचता है, विकसित करता है; धर्म, कला, प्रथा, परम्परा, साहित्य, भाषा को जन्म देता है; अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारों द्वारा नित्य नये यन्त्रों का निर्माण करता और प्रकृति पर विजय पाता जाता है और फिर एक समय स्वयं अपने ही सम्बन्ध में सोचता और चकित रह जाता है कि "कितना अनोखा है यह मानव और उसके कार्य !" मानवशास्त्र इसी अनोखे मानव और उसके कार्यों का अध्ययन है। यह पुस्तक उसी अध्ययन की एक विनम्र रूपरेखा है; 'सब-कुछ' नहीं, केवल 'कुछ' है।

मानवशास्त्र का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Anthropology)

मानवशास्त्र (anthropology Greek word *anthropos* meaning 'man' and the noun ending *logy* meaning 'science') का शाब्दिक अर्थ 'मानव का विज्ञान' (the science of man) है। वास्तव में यह शाब्दिक अर्थ अत्यन्त ही व्यापक और सामान्य है। अधिक यथार्थ और स्पष्ट रूप से मानवशास्त्र को हम मानव और उसके कार्यों का अध्ययन कह सकते है। परन्तु यहाँ भी यह स्मरण रखना होगा कि मानव और उसके कार्यों का अध्ययन केवल मात्र मानवशास्त्र के द्वारा ही नहीं होता है, अन्य सामाजिक विज्ञान भी इनका अध्ययन करते हैं, परन्तु मानव-जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव और उसके कार्यों का जितना विस्तारित अध्ययन मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है उतना और किसी अन्य विज्ञान के क्षेत्र में नहीं। यह तथ्य निम्नलिखित परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाएगा—

सर्वश्री जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) के अनुसार, "मानवशास्त्र मनुष्य जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा

सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन है।"[1]

श्री हॉबल (Hoebel) के शब्दों में, "मानवशास्त्र मानव एवं उसके समस्त कार्यों का अध्ययन है। सम्पूर्ण अर्थ में यह मनुष्य की प्रजातियों एवं प्रथाओं का अध्ययन है।"[2]

श्री क्रोवर (Kroeber) ने मानवशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है, "मानवशास्त्र मनुष्यों के समूहों, उनके व्यवहार और उत्पादन का विज्ञान है।"[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानवशास्त्र सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक की मानव-जाति के समग्र रूप का वह विज्ञान है जो कि उसके शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उद्भव एवं विकास का अध्ययन करता है।

मानवशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Anthropology)

जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा गया है मनुष्य प्रकृति का ही अंश है। मानवशास्त्र में मानव का अध्ययन विश्व (universe) के एक अंग के रूप मे ही किया जाता है। इस कारण मानवशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है। परन्तु, जैसा कि श्री हॉबल (Hoebel) का कथन है, "मानवशास्त्र की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि प्राकृतिक विज्ञान के रूप में वह एक साथ शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान दोनों ही है।"[4] शारीरिक विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र मानव-जाति को पशु-जगत् का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग मानकर उसके उद्भव तथा उद्विकास, शरीर-रचना आदि का अध्ययन करता है। साथ ही, सामाजिक विज्ञान के रूप मे मानवशास्त्र मानव के सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार के विभिन्न पहलुओं का विवेचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन करता है। मानव-जीवन की समस्त विविधताओं से सम्बन्धित विज्ञान—मानवशास्त्र—की यह दोहरी (duel) प्रकृति स्वाभाविक ही है क्योंकि मानव केवल पशु-जगत् का एक प्राणी मात्र ही नहीं है; अपितु वह संस्कृति, इतिहास और विविध सामाजिक गुणों से संयुक्त एक प्राणी भी है।

---

1. "Anthropology is the scientific study of the physical, social and cultural development and behaviour of human beings since their appearance on earth."—M. Jacobs and B. J. Stern, *General Anthropology*, Barns and Noble, New York, 1955, p. 1.

2. "Anthropology is the study of man and of all his works In its fullest sense it is the study of races and customs of mankind."—E A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1949, p. 1.

3 "Anthropology is the science of groups of men and their behaviour and production."—Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co , New York, 1948, p 1.

4 "The study of man, called anthropology (Gr. *anthropos* man+*logia* study) when followed in accordance with the principles and methods of science, is consequently a natural science. Its almost unique quality, however, is that as a natural science it is simultaneously a physical and a social science."—E.A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p. 1.

अतः मानवशास्त्र शारीरिक (physical) या प्राणीशास्त्रीय (biological) और सामाजिक (social) विज्ञान दोनों ही है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन के प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक पक्ष पर बल देते हुए श्री पेन्नीमैन (Penniman) ने मानवशास्त्र के विषय में लिखा है कि "एक रूप मे यह (मानवशास्त्र) प्राकृतिक इतिहास की एक शाखा है और इसके अन्तर्गत जीव-प्रकृति के क्षेत्र मे मानव की उत्पत्ति और स्थिति का अध्ययन आता है ··· दूसरे रूप मे मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।"[1] अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्र शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान के अतिरिक्त एक इतिहास का भी विज्ञान है। इतिहासकार एक सामाजिक वैज्ञानिक हो सकता है यदि वह सामाजिक परिवर्तन या क्रियाओं के सामान्य नियमों को ढूंढ़ निकालने मे प्रयत्नशील है। इन सामान्य नियमों को ढूंढने मे उसे नियमानुसार होने वाली पिछली अनेक घटनाओं का सावधानी से विश्लेषण तथा वर्गीकरण करना होता है। मानवशास्त्री भी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगों के मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों तथा घटनाओं का विश्लेषण तथा वर्गीकरण करते हैं और उनके आधार पर शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन या क्रियाओं के सामान्य नियमों को ढूंढ़ निकालते हैं। इस प्रकार मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।

कुछ मानवशास्त्रियों जैसे, सर्वश्री मैलिनोवस्की (Malinowski), रैडक्लिफ-ब्राऊन (Radcliffe-Brown) आदि का मत है कि मानवशास्त्र केवल विज्ञान के रूप में ही अर्थपूर्ण हो सकता है। इस विज्ञान के क्षेत्र से इतिहास का पूर्णतया बहिष्कार होना चाहिए। मानवशास्त्रियों का सम्पर्क केवल उन समाजों और मनुष्यों के अध्ययन तक ही केन्द्रित होना चाहिए जिनका कि प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन किया जा सके। उक्त विद्वानों का मत है कि उस प्राचीन इतिहास, समाज या घटनाओं की छान-बीन करना, जिसके लिए कोई भी लिखित प्रमाण नहीं मिलते हैं, किसी भी अर्थ मे किसी विज्ञान के लिए उचित नही है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ मानवशास्त्रियों के मतानुसार मानवशास्त्र केवल इतिहास है। ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यो पर ही मानवशास्त्रियों का सम्पूर्ण अध्ययन आधारित होना चाहिए।

परन्तु वास्तव मे मानवशास्त्र की स्थिति इन दो विरोधी मतों के बीच की ही है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों को समझे बिना वर्तमान को समझना कठिन है, परन्तु उन घटनाओं तथा तथ्यों से, वास्तविक अवलोकन के आधार पर पुनर्परीक्षण किए बिना, कोई वैज्ञानिक परिणाम निकालना सम्भव नही। समाज और संस्कृति एक निरन्तर प्रक्रिया है जो कि भूतकाल पर आधारित, वर्तमान मे क्रियाशील तथा भविष्य की ओर गतिशील है। मानवशास्त्र भूत तथा वर्तमान दोनों ही काल के

1. "In one aspect it is a branch of Natural History, and embraces the study of his origin and position in the realm of animated nature .....In another aspect anthropology is the science of History."—T.K. Penniman, *A Hundred Years of Anthropology*, Gerald Duckworth & Co. Ltd., London, 1952, pp. 13-14.

मानव तथा उसकी संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन है। देश और काल की सीमाओं में अपने को बाँधे बिना मानव-जाति का सम्पूर्ण अध्ययन करना इस विज्ञान का उद्देश्य है।

अन्तिम रूप मे, मानवशास्त्र एक विज्ञान है। विज्ञान किसे कहते हैं ? किसी भी अध्ययन-वस्तु के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्राप्त ज्ञान के क्रमबद्ध या नियमबद्ध संग्रह को विज्ञान कहते हैं। मानवशास्त्र की अध्ययन-वस्तु मानव, उसका समाज तथा संस्कृति है। मानवशास्त्री अवलोकन द्वारा तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण और वर्गीकरण करते हैं, 'क्या है' का वर्णन करते हैं, 'कैसे' का उत्तर देते हैं, और 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' की ओर सकेत करते हैं।

इतना तो निश्चित है कि मानवशास्त्र एक विज्ञान है, परन्तु यह प्राकृतिक विज्ञान है या सामाजिक विज्ञान, इसका भी स्पष्टीकरण यहाँ हो जाना आवश्यक है। इस विषय में भी दो विरोधी मत हैं। एक ओर सर्वश्री फोर्टेज (Fortes), नैडल (Nadel) आदि के मतानुसार मानवशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है और मानव-समाजों का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानो मे प्रयोग की जाने वाली पद्धतियों द्वारा करता है। मानवशास्त्र का वास्तविक कार्य भिन्न-भिन्न सस्कृतियों के सम्बन्ध मे लम्बे-चौड़े विवरण प्रस्तुत करना नही, अपितु इन सस्कृतियो से सम्बन्धित समस्त घटनाओं तथा तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मानव-समाजों के उद्‌भव, विकास, कार्य तथा परिवर्तन के सम्बन्ध मे सामाजिक नियमों (social laws) का पता लगाना है। उक्त विद्वानों का मत है कि सामाजिक जीवन में अनेक नियमावस्थाएँ (regularities) हैं जिन पर कि समय के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं होता। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक जीवन की अनेक घटनाएँ कुछ निश्चित नियमानुसार होती हैं और इन नियमों (laws) का पता अवलोकन तथा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसी प्रकार लगाया जा सकता है जैसे कि प्राकृतिक विज्ञानों मे प्राकृतिक नियमों (natural laws) का पता लगाया जाता है। श्री फोर्टेज (Fortes) के मतानुसार यह सब इसलिए सम्भव है क्योंकि मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है।

इस विचारधारा के विरोध मे सर्वश्री क्रोबर (Kroeber), बिडने (Bidney), इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) आदि कुछ दूसरे विचारक हैं जिनका मत है कि मानव-जीवन का केवल एक प्राकृतिक या शारीरिक और मानसिक (organic-cum-psychic) स्तर ही नही होता बल्कि एक सामाजिक स्तर भी होता है। मानव-समाज सौर-मण्डल (solar system) की भाँति केवल एक प्राकृतिक व्यवस्था नहीं है; यह तो मानवीय या सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। वास्तव मे समाज उन मानवीय सामाजिक अन्त सम्बन्धों (interrelations) का सम्पूर्ण क्षेत्र है जो एक समूह के व्यक्तियों के बीच पाया जाता है और जो उन्हे एक व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित, नियन्त्रित तथा स्थिर रखता है। ये सामाजिक अन्त.सम्बन्ध अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा सामाजिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न, स्थिर तथा परिवर्तित होते रहते हैं। अतः समाज एक सामाजिक व्यवस्था है, न कि प्राकृतिक। उसी प्रकार मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है और चूँकि मानवशास्त्र इसी मानव तथा उसके समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है, इस ·, । इसकी गणना सामाजिक विज्ञानों (social sciences or humanities) मे

होनी चाहिए।

वास्तव मे, जैसा कि हम आगे विस्तारपूर्वक पढ़ेंगे, मानवशास्त्र के दो प्रमुख भाग, जो क्रमश: मनुष्य और उसकी संस्कृति के अध्ययन से सम्बन्धित है, (1) शारीरिक मानवशास्त्र, और (2) सास्कृतिक मानवशास्त्र हैं। इनमे से शारीरिक मानवशास्त्र मानव की उत्पत्ति, उद्विकास, शारीरिक बनावट, भिन्नताओ आदि का अध्ययन है। इसके लिए इस विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियो पर अत्यधिक निर्भर रहना होता है। अत. स्पष्ट है कि मानवशास्त्र का यह भाग—शारीरिक मानवशास्त्र—अध्ययन-वस्तु तथा पद्धति की दृष्टि से प्राकृतिक विज्ञानो के अधिक निकट है। परन्तु दूसरा भाग—सास्कृतिक मानवशास्त्र—जो कि मानव-समाज तथा उसकी सस्कृति से सम्बद्ध है, सामाजिक विज्ञानो के अधिक निकट है। इस प्रकार मानवशास्त्र प्राकृतिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार का विज्ञान है।

सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र (क) मानव के शरीर तथा संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यो का ठीक-ठीक वर्णन करता है, (ख) तथ्यो और घटनाओं का उचित विश्लेषण एवं वर्गीकरण करके सामान्य परिणाम निकालता है; (ग) परिवर्तन और प्रक्रियाओ के कारणो तथा दिशाओ को निश्चित करता है, तथा (घ) भविष्य मे होने वाले परिवर्तनों की ओर सकेत करता है। ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगों के सभी मनुष्यो के ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक नियमो को प्रतिपादित करना इस विज्ञान का विशेष उद्देश्य है।[1]

मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Anthropology)

समस्त जीवधारियो मे मनुष्य का स्थान सर्वोच्च है। मनुष्यो और पशुओं मे कुछ शारीरिक समानताएँ अवश्य ही हैं, परन्तु भिन्नताएँ अधिक हैं। इन शारीरिक भिन्नताओं के कारण ही प्राणी-जगत् मे केवल मनुष्य ही दो पैरो के बल सीधे चल सकता है, हाथों को विभिन्न कार्यों मे लगा सकता है, बोल सकता है, सोच-विचार और कल्पना कर सकता है, याद रख सकता है और भविष्य के सम्बन्ध मे अनुमान भी लगा सकता है। परन्तु प्राणी-जगत् मे केवल मनुष्य ही एकमात्र सामाजिक प्राणी नही है; पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तक के अपने-अपने समाज होते हैं। यह तो मानव की सस्कृति है जो उसे पशुओं से पूर्णतया पृथक् करती है। सास्कृतिक क्षेत्र मे मनुष्यों की विलक्षणताएँ या अनोखापन वास्तव मे सुस्पष्ट है। सास्कृतिक विकास के निम्नतम स्तर पर भी मनुष्य कुछ-न-कुछ औजारो तथा अन्य भौतिक वस्तुओं, भोजन प्राप्त करने की प्रविधियो (techniques), किसी-न-किसी रूप मे श्रम-विभाजन, सामाजिक तथा राजनैतिक सगठन, धर्म तथा सस्कार, विचार-विनिमय के लिए भाषा आदि का अधिकारी रहा है। दूसरे शब्दो मे, आदिम-तम मानव-समाज मे संस्कृति का जो स्वरूप था वह उन्नत-तम पशु-समाज मे भी नितान्त

1. Jacobs and Stern, *op. cit.*, pp. 4-5.

दुर्लभ है। इन समस्त विभिन्नताओं का अध्ययन मानवशास्त्र के अन्तर्गत होता है।

इस प्रकार, पशु और मानव में अनेक शारीरिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक भेद हैं। परन्तु ये अन्तर केवल पशु और मानव मे ही नही हैं, स्वयं मानव के विभिन्न समूहों या प्रजातियों मे भी अनेक शारीरिक तथा सास्कृतिक भेद पाये जाते हैं। मनुष्य-विज्ञान के प्रारम्भिक विद्वान एक प्रजाति को दूसरी से प्राय: भाषा, धर्म, राष्ट्र आदि के आधार पर पृथक् करते थे। परन्तु मानवशास्त्रियों के वैज्ञानिक अध्ययन से यह क्रमशः स्पष्ट होता गया कि राष्ट्र, धर्म, भाषा, संस्कृति—ये सब प्रजाति से सम्बन्धित नही हैं और इनको प्रजाति से सम्बन्धित करना वास्तव मे वैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना करना है। आज जितनी भी प्रजातियाँ और उप-प्रजातियाँ भूमण्डल पर रह रही हैं, वे सभी एक ही जाति *(Homo sapiens)* की सदस्य हैं और उन्हे कुछ सामान्य शारीरिक लक्षणो के आधार पर एक-दूसरे से पृथक किया जा सकता है। ये शारीरिक भिन्नताएँ अनुकूलन (adaptation), उत्परिवर्तन (mutation), पृथक्करण (isolation), स्थान-परिवर्तन (migration) आदि प्रक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। मानवशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य-जाति की इन विभिन्न प्रजातियों की उत्पत्ति, वितरण तथा विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन होता है।

अतः मानवशास्त्र का सम्बन्ध प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज के मानव से है क्योंकि मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय समग्र रूप मे मानव (mankind as a whole) है। स्थान और समय के बिना किसी सीमा के मनुष्य मे जो कुछ भी शारीरिक या प्राणीशास्त्रीय, सामाजिक और सास्कृतिक तत्व हैं, वे सभी मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय हैं। मानव पशु से धीरे-धीरे मनुष्य मे किस प्रकार विकसित हुआ, इस उद्‌विकास मे उसकी शरीर-रचना मे कौन-कौन से परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनो के फलस्वरूप विभिन्न मानव-प्रजातियों का उद्‌भव किस प्रकार सम्भव हुआ है, ये सभी विषय मानवशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्राणी-जगत् मे मनुष्य की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वह न केवल एक सामाजिक प्राणी है बल्कि संस्कृति का एकमात्र सृष्टिकर्त्ता भी है। चूंकि मानवशास्त्र सस्कृति का निर्माण करने वाले इस मानव का अध्ययन है इस कारण इसका (मानवशास्त्र का) अध्ययन-विषय न केवल मानव-समूहों की शरीर रचना, प्रजातीय भिन्नता आदि ही है, बल्कि विभिन्न सस्कृतियो के विकास, समानताओं और विभिन्नताओ का विश्लेषण तथा वर्गीकरण भी मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र मे आ जाता है। इस प्रकार मानवशास्त्र एक ओर मानव की उत्पत्ति, प्राचीन तथा आधुनिक मानव-प्रजाति के शारीरिक लक्षणो की समानताओं तथा भिन्नताओ का विश्लेषण करता है, और दूसरी ओर विभिन्न मानव-समाजो तथा सस्कृतियों—भाषा, साहित्य, धर्म, ज्ञान, विश्वास, कला, प्रथा, परम्परा, विवाह, राजनैतिक तथा आर्थिक संस्थाओ आदि—की उत्पत्ति और उद्‌विकास का भी अध्ययन करता है।

इस प्रकार मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय को हम दो प्रमुख भागों मे बाट सकते हैं—

(1) मानव-समूहों या विभिन्न प्रजातियों की शरीर-रचना सम्बन्धी विषयों का

अध्ययन मानवशास्त्र का प्रथम और प्रमुख अध्ययन-विषय है। इसके अन्तर्गत न केवल सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक मनुष्य की शारीरिक बनावट मे किस-किस प्रकार के अन्तर उत्पन्न हुए, इसका ही अध्ययन किया जाता है बल्कि मानव की उन समस्त शारीरिक विशेषताओं का भी अध्ययन किया जाता है जो कि मानव को पशु-जगत् से पृथक् करते हैं जैसे, मनुष्य मे दो पैरो पर खड़े होकर चल सकने योग्य पीठ की हड्डी, हाथ से दक्षतापूर्वक काम करने की क्षमता, बड़ा और जटिल मस्तिष्क आदि। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रजातियों की उत्पत्ति, विस्तार तथा वर्गीकरण भी मानवशास्त्र का एक प्रमुख अध्ययन-विषय है। मानवशास्त्र मानव की प्रजातियो के विभिन्न स्वरूपो का तुलनात्मक अध्ययन करता है। एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से उनकी खोपड़ी और नाक की बनावट, कद, रक्त-समूह (blood group), खोपड़ी का घनत्व, हाथ-पैर की लम्बाई, शरीर का रग, आँखों का रग, बाल, होठ, जबड़ो का ढाँचा आदि के आधार पर पृथक् किया जाता है। इन शारीरिक लक्षणो (traits) की नाप आदि करके विभिन्न प्रजातियो के शारीरिक भेदो को सिद्ध करना मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय का एक प्रमुख अग है।

(2) मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय का दूसरा क्षेत्र समस्त सस्थागत (institutionalised) व्यवहारो, आदतो और क्षमताओ का है जिसके द्वारा मनुष्यो और प्रकृति मे तथा मनुष्य और मनुष्य या समूह मे अनुकूलन सम्भव होता है। इसके अन्तर्गत उन समस्त आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सगठनों और सस्थाओ का समावेश है, जो कि मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक है। मानवशास्त्र विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सस्थाओ (ज्ञान, विश्वास, प्रथा, धर्म, जादू, ललितकला, सरकार, न्याय, विवाह, परिवार आदि) के उद्भव तथा उद्विकास का अध्ययन करता है। सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्विकास के विभिन्न स्तरो (stages) एव सस्कृति की समानताओ और विभिन्नताओ के अध्ययन मे विशेष रुचि रखते हैं। आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था, आविष्कार, परिवार, विवाह, नातेदारी, भाषा, विज्ञान तथा प्राविधिक ज्ञान, विधान, न्याय तथा शासन-पद्धति, कला, साहित्य, सगीत, नृत्य, धर्म तथा जादू आदि समस्त विषयो का अध्ययन मानवशास्त्र के अन्तर्गत होता है जिससे हमे इस बात का ज्ञान हो सके कि उक्त सस्थाओ का आदिकालीन रूप क्या था और किस प्रकार धीरे-धीरे उनका विकास होता-होता वर्तमान काल तक पहुँचा है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मनुष्य-जाति के शरीर, समाज तथा सस्कृति से सम्बन्धित समस्त विषयो का समावेश है। साथ ही, मानवशास्त्र का अध्ययन किसी विशेष समय या समाज तक ही सीमित नहीं है—इसके अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत भूतकाल तथा वर्तमान, आदिकालीन तथा सभ्य मानव व समाज दोनो ही आ जाते हैं। मानवशास्त्र मानव का विज्ञान है, चाहे वह मानव आदिकालीन हो या सभ्य युग का, चाहे वह मानव चीनी या जापानी या भारतीय या अफ्रीकन या अमेरिकन किसी भी समाज का सदस्य क्यों न हो। इस प्रकार मानव-समाज के प्रारभ से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्विकास के विभिन्न पक्ष मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र मे आते हैं। विभिन्न प्रजाति, समाज तथा

संस्कृति का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। मानवशास्त्री तुलनात्मक अध्ययन विशेषकर आधुनिक समूहों तथा सभ्यताओं के अध्ययन मे करते हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र मे मानवशास्त्रियों का ध्यान दुनिया के विभिन्न स्थानों पर बसे हुए मानव-समूहों की सांस्कृतिक समानताओं तथा भिन्नताओं पर होता है। इन समस्त समानताओ तथा भिन्नताओ का विश्लेषण और वर्गीकरण करते हुए मानवशास्त्री उन नियमो या सिद्धान्तो को ढूंढ निकालने का प्रयत्न करते हैं जो कि मानव-समाजो तथा सस्कृतियो के उद्भव तथा विकास मे निर्णायक हैं। अत: **मानवशास्त्र एक साथ शरीरधारी मानव तथा सामाजिक व सांस्कृतिक मानव दोनों का ही विज्ञान है।**

मानवशास्त्रीय विज्ञान
(The Anthropological Sciences)

उपर्युक्त विवेचना के निष्कर्ष को यदि दोहराया जाय तो हम कह सकते हैं कि मानवशास्त्र समग्र रूप मे मानव के शारीरिक, सामाजिक एवं सास्कृतिक उद्भव, विकास एव वितरण का वैज्ञानिक अध्ययन है। अन्य कोई भी विज्ञान इतने विस्तृत तथा समग्र रूप मे मानव का अध्ययन नही करता है। इस अर्थ से मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र अन्य किसी भी विज्ञान से कही अधिक विस्तृत है क्योकि मानवशास्त्र का सम्पर्क सभी युग और सभी समाज से है। इस विस्तृत क्षेत्र का उचित तथा वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने के लिए श्रम-विभाजन होना परम आवश्यक है। इस उद्देश्य से मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक उद्भव तथा विकास के विभिन्न पक्षो का अध्ययन करने के लिए पृथक्-पृथक् मानवशास्त्रीय विज्ञानों का विकास हुआ है। ये मानवशास्त्रीय विज्ञान मानवशास्त्र के पृथक् परन्तु परस्पर सम्बन्धित शाखाएँ या उपभाग हैं और इनमे से प्रत्येक उपभाग मानव के उपरोक्त अध्ययन के किसी एक पक्ष से विशेष सम्बन्ध रखता है। सर्वश्री जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने मानवशास्त्र के निम्नलिखित पाच प्रमुख उपभागों का उल्लेख किया है[1]—

(1) मानव का उद्‌विकास या प्रस्तरीभूत मानवीय अस्थि-पंजर का अध्ययन (Human Evolution, or the Study of Fossil Man)
(2) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)
(3) पुरातत्वशास्त्र या प्राग्-इतिहास (Archaeology or Prehistory)
(4) सास्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)
(5) वैज्ञानिक भाषा-विज्ञान (Scientific Linguistics)

श्री पिडिंगटन (Piddington) ने मानवशास्त्रीय विज्ञानो को निम्न प्रकार से विभाजित किया है[2]—

---

1. Jacobs and Stern, *op. cit.*, p .
2. Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p. 2.

(1) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)
(2) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)
 (क) प्रागैतिहासिक पुरातत्व (Prehistoric Archaeology)
 (ख) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार मानवशास्त्रीय विज्ञान निम्न हैं[1]—

(1) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)
 (क) मानव-मिति (Anthropometry)
 (ख) मानव-प्राणीशास्त्र (Human Biology)
(2) पुरातत्वशास्त्र (Archaeology)
(3) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)
 (क) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)
 (ख) भाषा-विज्ञान (Linguistics)
 (ग) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)

श्री लिण्टन (Linton) ने मानवशास्त्रीय विज्ञानों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया[2] है—

(1) शारीरिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology)
 (क) पुरातन मानवशास्त्र (Human Palaeontology)
 (ख) मानव-शरीरशास्त्र (Somatology)
(2) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (Cultural Anthropology)
 (क) पुरातत्वशास्त्र (Archaeology)
 (ख) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)
 (ग) भाषा-विज्ञान (Linguistics)

मानवशास्त्र के क्षेत्र तथा अध्ययन-विषय को भली-भांति समझने के लिए उपर्युक्त मानवशास्त्रीय विज्ञानों में से प्रमुख-प्रमुख विज्ञानों के विषय में संक्षेप में जान लेना आवश्यक होगा।

(1) शारीरिक मानवशास्त्र
(Physical Anthropology)

शारीरिक मानवशास्त्र मानव के उद्विकास, शारीरिक बनावट, ढांचा, प्रकृति तथा भिन्नताओं का वैज्ञानिक अध्ययन है। संक्षेप में, शारीरिक मानवशास्त्र मानव के शारीरिक पक्ष का अध्ययन करता है। किन-किन स्तरों में से गुजरकर मनुष्य पशु-जगत् से पृथक् हो गया और फिर प्रथम मनुष्य होने के समय से वर्तमान समय तक उसके शारीरिक लक्षणों में कौन-कौनसे परिवर्तन हुए, इन समस्त विषयों का अध्ययन शारीरिक

---

1. E A Hoebel, *op cit.*, pp 4—10
2. Linton, *The Study of Man*, Appleton-Century, 1936, p. 8.

मानवशास्त्र करता है। साथ ही, शारीरिक मानवशास्त्र भूमण्डल के विभिन्न भागों में बिखरे हुए मानव-समूहों में जो शारीरिक भिन्नताएँ हैं उनका भी अध्ययन करता है और उनके शारीरिक लक्षणों के आधार पर उनका विभिन्न प्रजातीय-समूहो मे वर्गीकरण करता है। इसीलिए श्री जे० एस० वईनर (J. S. Weiner) ने शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को दो प्रमुख भागो मे विभाजित किया है—(अ) उद्‌विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न मानव का अध्ययन, और (ब) मानव-जनसंख्या का अध्ययन तथा विश्लेषण।[1] प्रथम विषय के अध्ययन के लिए शारीरिक मानवशास्त्रियो को सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक जो मनुष्य के शारीरिक परिवर्तन हुए हैं उन पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। वे ससार में आदि मानव की खोज करते हैं और उसके शारीरिक लक्षणों से परवर्ती युग के मनुष्य के शारीरिक लक्षणो का तुलनात्मक अध्ययन करके उद्‌विकासीय प्रक्रिया की दिशा निर्धारित करते हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि किन-किन शारीरिक लक्षणों के उत्पन्न तथा विस्तार होने पर मनुष्य पशु-जगत् से पृथक् हो गया या किन-किन शारीरिक लक्षणो के क्रमश. लोप हो जाने पर मनुष्य पशु नहीं रह गया। इस अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत शारीरिक मानवशास्त्र साधारणतया निम्न प्रश्नों का उत्तर देता है—कहाँ और कब आदिमतम मनुष्यों का आविर्भाव हुआ ? ये सब देखने मे किस प्रकार के थे और इनमे परस्पर कौन-कौनसी समानताएँ या भिन्नताएँ थीं ? मानव-उद्‌भव से लेकर अब तक उनकी शारीरिक विशेषताओ मे किस प्रकार परिवर्तन हुए हैं ?[2]

द्वितीय विषय अर्थात् मानव-जनसंख्या के अध्ययन तथा विश्लेषण मे शारीरिक मानवशास्त्र शारीरिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न मानव-समूहो में अन्तर या भेद को स्पष्ट करता है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि ससार के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो मे बिखरे हुए समस्त जीवित मानव-समूहो की उत्पत्ति एक ही मनुष्य-जाति, मेधावी मानव (*Homo sapiens*) से हुई है, परन्तु उत्परिवर्तन, पृथक्करण, अनुकूलन, स्थान-परिवर्तन आदि के कारण विभिन्न मानव-समूहो या प्रजातियों मे अनेक शारीरिक भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई हैं। इन्हीं शारीरिक भिन्नताओ का पता लगाना तथा उन्ही के आधार पर प्रजातीय समूहो का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना शारीरिक मानवशास्त्र का एक विशिष्ट विषय है। इस प्रकार के प्रजातीय वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत मानव के निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक लक्षण, जैसे कद, खोपडी का माप, रक्त-समूहो का विश्लेषण, खोपड़ी का घनत्व, नासिका का माप, हाथ-पैर की लम्बाई, वक्षस्थल की परिधि त्वचा, आँख और केश के रग, होठ, जबड़ो का ढाँचा आदि का अध्ययन होता है।

इस प्रकार शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न विषयो का समावेश होता है—(क) मानव के उद्‌विकास का इतिहास; (ख) मनुष्यों और पशुओं

1. J. S. Weiner, "Physical Anthropology—An Appraisal", *American Scientist*, Vol. 45, 1957, pp. 79—87.

2. Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The MacMillan Co., New York, 1959. p. 8.

में अन्तर; (ग) विभिन्न मानव-प्रजातियों मे भेद के शारीरिक आधार; (घ) वंशानुसक्रमण (heredity), उत्परिवर्तन (mutation) आदि की प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा शारीरिक विशेषताएँ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या एक समूह से दूसरे समूह को हस्तान्तरित होती हैं और इन शारीरिक विशेषताओ मे अन्तर उत्पन्न होते रहते है; (ङ) मानव की शारीरिक भिन्नताओं के अन्य आधार या कारक। इसके अतिरिक्त शारीरिक मानवशास्त्र ऐसे प्रश्नो का भी उत्तर देने का प्रयत्न करता है जैसे, क्या प्रजातियो मे उच्चता या निम्नता का प्रश्न उचित है, इसका वास्तविक आधार क्या है ?क्या शारीरिक लक्षणो मे अन्तर पर्यावरण (environment) के कारण भी उत्पन्न होते हैं ? विभिन्न मानव-समूहो मे प्रजातीय मिश्रण प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित है या नही ? बुद्धि को प्रजातीय वर्गीकरण का आधार क्यो नही मानना चाहिए अथवा वर्तमान समय मे शुद्ध प्रजाति की धारणा क्यो अवैज्ञानिक है ?

अत. स्पष्ट है कि शारीरिक मानवशास्त्र मे मनुष्य जाति के उद्भव तथा विकास एव शारीरिक विशेषताओ से सम्बन्धित समस्त विषयो का अध्ययन किया जाता है। और भी सक्षेप मे, श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार,"शारीरिक मानवशास्त्र मानव-जीव (hominids) की शारीरिक विशेषताओ का अध्ययन है।"[1] इस विस्तृत क्षेत्र मे अध्ययन-कार्य को अधिक वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिए शारीरिक मानवशास्त्र स्वय भी कुछ उपशाखाओ अर्थात् सहायक विज्ञानों मे विभाजित है। इन सहायक विज्ञानों मे प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(अ) मानव उत्पत्तिशास्त्र (Human Genetics)—यह वह विज्ञान है जो मानव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अध्ययन करता है। इसका विशेष सम्बन्ध मानव वशानुसक्रमण से होता है। सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया के अन्तर्गत वाहकाणुओ (genes) मे जो परिवर्तन होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्य के शारीरिक लक्षणो मे जो भिन्नता आ जाती है इन समस्त विषयो का अध्ययन मानव उत्पत्तिशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। दो भिन्न समूहो मे यौन-सम्बन्ध (crossing) स्थापित हो जाने के फलस्वरूप जो वर्णसकर सन्तानो की उत्पत्ति होती है उससे एक नवीन प्रजाति-समूह की रचना हो जाती है। इस प्रक्रिया के अतिरिक्त उत्परिवर्तन (mutation), वाहकाणुओ की आकस्मिक हानि (accidental loss of genes), प्रवरण की प्रक्रिया आदि भी मानव उत्पत्ति-शास्त्र का अध्ययन-विषय है। सक्षेप मे, मानव उत्पत्तिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत वशानुसक्रमण की प्रक्रियाएँ, वशानुसक्रमण मे परिवर्तन की विधियाँ तथा शारीरिक अनुकूलन की प्रक्रियाएँ आती है।[2]

(ब) पुरातन मानवशास्त्र (Human Palaeontology)—शारीरिक मानवशास्त्र की एक प्रमुख उपशाखा पुरातन मानवशास्त्र है जो कि प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-

---

1. "Physical anthropology is the study of the physical characteristics of the *hominids*."—E A Hoebel, *op. cit*, p 4.
2. Beals and Hoijer. *op. cit*, p. 9

पजरों तथा उनके अवशेषों (fossils remains) के अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा इस सत्य की खोज करती है कि मनुष्य के शारीरिक ढाँचे मे क्यों, कैसे, कब और कहाँ पशुओं से भिन्नता उत्पन्न हो गई। इस प्रकार के अस्थि-पजरों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मानव-उद्विकास का प्रारम्भिक स्वरूप क्या था और सम्भावित कितने वर्ष पहले बन्दर तथा मनुष्य में स्पष्ट अन्तर उत्पन्न हो गये इस प्रकार प्राचीन मानव के उद्विकास का अध्ययन सम्भव हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-पंजरों को ढूंढ निकालना अत्यन्त कठिन है और अब तक बहुत ही कम प्राप्त हो पाए हैं, फिर भी इस उपाय से प्राचीन मानव के विषय मे अर्थात् बन्दर आदि से मानव के उद्विकास के सम्बन्ध में कुछ प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त की गई है।

(ख) मानव-मिति (Anthropometry)—यह मानव के शारीरिक लक्षणों को नापने का विज्ञान है इस विज्ञान मे मानव-शरीर के विभिन्न अंगो जैसे, खोपड़ी, नाक आदि को नापने के लिए पृथक्-पृथक् देशना (Index) निश्चित हैं जिनकी सहायता से इन अगो को अंकों मे अभिव्यक्त करना सम्भव हो गया। उदाहरणार्थ, सिर की चौड़ाई से सिर की लम्बाई का भाग देकर 100 से गुणा करने पर शीर्षदेशना (Caphalic Index) निकल आती है। इसी देशना के अनुसार सिर तीन प्रकार के बताये जाते हैं— लम्बे सिर, माध्यमिक सिर और चौड़ा सिर। इसी प्रकार नासिकादेशना (Nasal-Index) भी निकाली जाती है। ये सब शारीरिक लक्षण ही विभिन्न मानव-प्रजातियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार हैं। दूसरे शब्दों में, मानव-मिति की सहायता से हम विभिन्न मानव-समूहों के शारीरिक लक्षणो को नापते हैं और उसी नाप के आधार पर एक मानव-समूह को दूसरे समूह से पृथक् करते हैं। मानव-मिति मे मनुष्य के निश्चित तथा अनिश्चित दोनों ही प्रकार के शारीरिक लक्षणों का समावेश होता है। निश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिन्हे निश्चित रूप से नापा जा सकता है, जैसे सिर, नाक, कद आदि का नाप। इसके विपरीत अनिश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिन्हे निश्चित रूप से नही नापा जा सकता है, जैसे शरीर का रंग, बालो की बनावट, नेत्र का रग आदि। फिर भी मानव-मिति मानवशास्त्र को यथार्थता (exactness) प्रदान करने मे काफी सहायक सिद्ध हुई है।

(2) सांस्कृतिक मानवशास्त्र
(Cultural Anthropology)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनुष्य और पशुओ मे कुछ शारीरिक समानताएँ होते हुए भी भिन्नताएँ अधिक हैं। दो पैरों के बल सीधे चल सकना, हाथो से विभिन्न कार्यों को करने की शक्ति, भाषा, अधिक विस्तृत तथा जटिल मस्तिष्क जिसके कारण विचारने, कल्पना करने तथा याद रखने की शक्ति का होना आदि मनुष्यों को पशुओं से पृथक् करता है। ये सभी शारीरिक विशेषताएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और इनके कारण ही मनुष्य यंत्र तथा औजारो का आविष्कार कर उन्हें बना सका है, रहने के लिए आवास का निर्माण कर सका है, खाने के लिए धरती पर अनाज उपजा सका है, ज्ञान, निर्माण-

कला, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, कला, साहित्य, संस्थाएँ, सामाजिक संगठन तथा अन्य ऐसी क्षमताओ और आदतो को विकसित एव स्थापित कर सका है। इनके द्वारा मनुष्यों की प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति और पर्यावरण से उनका अनुकूलन सम्भव हुआ है। इस प्रकार सस्कृति सम्पूर्ण पर्यावरण का वह भाग है जो मनुष्यों द्वारा बनाई गई है और जो कि वशानुसक्रमण की प्रक्रिया के द्वारा नही बल्कि मानवीय अन्त क्रियाओ द्वारा हस्तान्तरित (transmitted) होती रहती है। समस्त जीवधारिओं मे केवल मानव ही एकमात्र सस्कृति का सृष्टिकर्त्ता है और कुछ शारीरिक समानता होने पर भी मानव की संस्कृति ही उसे पशु-जगत् से पूर्णतया पृथक् कर देती हैं। सास्कृतिक मानवशास्त्र इसी सस्कृति का अध्ययन है। इस विज्ञान का उद्देश्य मानव के सास्कृतिक विकास एवं व्यवहार के विभिन्न पक्षो का अध्ययन तथा विभिन्न मानव-समूहों की सास्कृतिक जीवन मे भिन्नताओ के कारण का विश्लेषण तथा वर्णन करना है सर्वश्री बील्स तथा होंइजर (Beals and Hoijer) के शब्दो मे, "सास्कृतिक मानवशास्त्र मानव-सस्कृतियो की उत्पत्ति तथा इतिहास, उनका उद्विकास एव विकास और प्रत्येक स्थान तथा काल मे मानव-सस्कृतियो के ढाँचे एव कार्यों का अध्ययन करता है।"[1] इस प्रकार सास्कृतिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मानव-सस्कृतियो की समस्त वास्तविकताएँ आ जाती हैं, चाहे वह सस्कृति आदिकालीन सस्कृति हो या किसी सभ्य समाज की। सस्कृतियों की उत्पत्ति, उनका विकास तथा विस्तार किस प्रकार होता है, संस्कृति के द्वारा मानव का अनुकूलन अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो से किस प्रकार सम्भव होता है, समय के बीतने के साथ-साथ तथा अन्य सस्कृतियों के सम्पर्क मे आने पर सास्कृतिक परिवर्तन किस प्रकार होता है, किस प्रकार एक सस्कृति मे जन्म लेने के पश्चात् व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी सस्कृति के साँचे मे ढलता चला जाता है और किस ढंग से मनुष्य की यह सामाजिक विरासत (social heritage) एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तातरित होती रहती है—इन समस्त विषयो मे सास्कृतिक मानवशास्त्र विशेष रुचि रखता है। अत स्पष्ट है कि मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, कला, साहित्य, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संगठन एव सस्थाए तथा इन सबके अन्तर्निहित नियमो (Laws) आदि सभी का अध्ययन सास्कृतिक मानवशास्त्र के विषय-क्षेत्र मे है।

इस प्रकार सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसीलिए यह विज्ञान प्रमुख रूप से चार उप-विज्ञानो मे विभाजित है—पुरातत्वशास्त्र (archaeology), प्रजातिशास्त्र (ethnology), भाषा-विज्ञान (linguistics) तथा सामाजिक मानवशास्त्र (social anthropology)। इनमे से प्रत्येक का अपना-अपना अध्ययन-विषय है जिनका कि अध्ययन वे अपनी-अपनी विशिष्ट अध्ययन-प्रणाली द्वारा करते हैं। यहाँ संक्षेप मे उक्त चार विज्ञानो के विषय मे जान लेना उचित होगा।

---

1. "Cultural anthropology studies the origin and history of man's cultures, their evolution and development, and the structure and the functioning of human cultures in every place and time."—*Ibid.*, p. 9.

(क) पुरातत्वशास्त्र (Archaeology) —प्रायः एक शताब्दी पुराना पुरातत्व-शास्त्र का शाब्दिक अर्थ है प्राचीन का अध्ययन (Archaeology = Gr. *archaios* ancient + *logia* study)। अधिक स्पष्ट रूप मे कहा जा सकता है कि पुरातत्वशास्त्र खुदाइयों (excavations) से प्राप्त कंकालीय (skeletal) तथा अन्य भौतिक अवशेषों के आधार पर प्राचीन मानव तथा उसकी संस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और/अथवा पतन का अध्ययन है। संकुचित अर्थ मे पुरातत्वशास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की हस्तकला (handicraft) के अवशेष हैं। परन्तु वास्तव मे, जैसा कि श्री नेल्सन (Nelson) का मत है, "पुरातत्वशास्त्र मनुष्य तथा उसकी संस्कृति की उत्पत्ति, प्राचीन अवस्था तथा विकास से सम्बन्धित समस्त भौतिक अवशेषों का अध्ययन है।"[1] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि "पुरातत्वशास्त्र या प्राग्-इतिहास प्राथमिक रूप से प्राचीन सस्कृतियों तथा आधुनिक सभ्यताओं की भूतकालीन अवस्थाओं का अध्ययन है।"[2] इस विज्ञान का प्राथमिक सम्पर्क उस युग के मानव, समाज तथा संस्कृति से होता है जिसके सम्बन्ध में कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नही है। इस कारण इसकी खोज का एकमात्र आधार खुदाइयों से प्राप्त भौतिक अवशेष ही होते हैं। इस प्रकार प्राप्त प्रागैतिहासिक औज़ारो, उपकरणो तथा मानव-कलाकृति के अन्य अवशेषों का जब अध्ययन होता है तो मानव-इतिहास की प्रक्रियाओं, सामाजिक जीवन, संस्कृति आदि अनेक विषयों पर प्रकाश पडता है तथा उससे प्राचीन सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओ का वैज्ञानिक, और इसलिए निर्भर योग्य ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, सन् 1921 से पूर्व सिन्धु-घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध मे हमे कुछ भी ज्ञात न था। परन्तु मोहनजोदडो तथा हडप्पा की जो खुदाई हुई उससे जमीन के नीचे दबे हुए दो शहर तथा अन्य अनेक अवशेष प्राप्त हुए जिनसे कि सिन्धु-घाटी की एक प्राचीन सभ्यता पर प्रकाश पडा। इसने, जैसा कि श्री आर० ई० एम० ह्वीलर (R. E. M. Wheeler) ने कहा है, भारतीय सभ्यता के इतिहास को तीन हजार ई० पू० (B C) पीछे फेंक दिया है क्योंकि मोहनजोदड़ो सभ्यता का काल 3250 और 2750 ई० पू० के बीच निश्चित किया गया है। इसी प्रकार प्राचीन मानव-संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित अनेक विषयों का ज्ञान हमे पुरातत्वशास्त्रियो की खोजों से प्राप्त होता है। इनका काम कठिन अवश्य है परन्तु मानव-इतिहास तथा संस्कृति के पुनर्निर्माण में इनकी खोजो का महत्व भी उतना ही अधिक है। जिस युग के सम्बन्ध मे कोई भी लिखित प्रमाण उपलब्ध नही है, उस समय के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के प्रतिमान (pattern) के पुनर्निर्माण में जमीन से खोदकर निकाले गये प्राचीन औज़ार, हथियार, मकान तथा अन्य इस प्रकार

---

1 "Archaeology may be defined as the science devoted to the study of the entire body of tangible relics pertaining to the origin, the antiquity, and the development of man and of his culture."—N. C Nelson, *cf.* Boas and others, *General Anthropology*, D C. Heath and Co., New York, 1938, p. 146.

2 "Archaeology or prehistory deals primarily with ancient cultures and ith past phases of modern civilizations "—Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 10.

के भौतिक अवशेष ही एकमात्र साधन हैं। उदाहरणार्थ, यदि केवल तीर-धनुष ही प्राप्त होते हैं तो हम कह सकते हैं कि उस युग मे लोग शिकार करने की स्थिति (Hunting stage) मे थे। उसी प्रकार जमीन की खुदाई से प्राप्त अवशेषों के आधार पर ही मानव के सास्कृतिक विकास को प्रस्तर-युग (Stone age), ताम्र-युग (Copper age), कांस्य-युग (Bronze age) तथा लौह-युग (Iron age)—इन चार प्रमुख भागो मे विभाजित किया जाता है। यद्यपि इन अवशेषों के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों पर पूर्णतया निर्भर नही रहा जा सकता है, फिर भी प्रागैतिहासिक युगों के मानव, समाज और संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक सम्भावित सत्यों का ज्ञान हमें अवश्य ही होता है।

अत. स्पष्ट है कि पुरातत्वशास्त्र का उद्देश्य या लक्ष्य मानव-संस्कृति के इतिहास के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान को अधिकतम विस्तृत करना तथा मानव की प्राचीनतम कृतियों एव सास्कृतिक परिवर्तन के सामान्य नियमो अथवा अन्तर्धाराओ से हमे परिचित कराना है। यह विज्ञान मानव तथा उसकी सस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और/अथवा पतन एवं भौगोलिक विवरण के सम्बन्ध मे हमे ज्ञान कराता है और यह भी बताता है कि प्रागैतिहासिक युगो मे प्रमुख मानव-आविष्कार कहाँ और कब हुए तथा वे कैसे ससार के विभिन्न भागो मे फैल गये।"[1] परन्तु चूँकि पुरातत्वशास्त्र के निष्कर्ष जमीन की खुदाइयो से उपलब्ध भौतिक अवशेषो पर आधारित होते हैं, इस कारण इस विज्ञान की सहायता से हमे प्राचीन मानव समाज की केवल भौतिक संस्कृति के सम्बन्ध मे अधिक निश्चित ज्ञान हो पाता है। पुरातत्वशास्त्र हमें प्राचीन मानव के औज़ार, हथियार, बर्तन, मकान, आभूषण आदि के सम्बन्ध मे तो बता सकता है, किन्तु उनकी अभौतिक सस्कृति, जैसे मनोविचार, जीवन-दर्शन, विश्वास, प्रथा, रीति-रिवाज, नियम-कानून आदि के सम्बन्ध मे कुछ भी बताना इस विज्ञान के लिए असम्भव होता है। इन विषयों पर जो कुछ भी थोड़ा-बहुत बताया जाता है वह पूर्णतया अनुमान पर निर्भर होता है। फिर भी पुरातत्वशास्त्रियों द्वारा उन प्रक्रियाओ तथा अन्तर्धाराओं के विश्लेषण तथा निरूपण से, जिनके द्वारा मानवीय समाजो, सस्कृतियों तथा सभ्यताओ का क्रम-विकास हुआ है, हमे वर्तमान को समझने तथा भविष्यवाणी करके भविष्य के मानवीय विकास को नियन्त्रित करने मे पर्याप्त सहायता मिली है।"[2]

(ख) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)—कहा जा सकता है कि प्रजातिशास्त्र का कार्यक्षेत्र वहीं पर प्रारम्भ होता है जहाँ पुरातत्वशास्त्र का कार्यक्षेत्र समाप्त होता है।[3] शाब्दिक रूप से प्रजातिशास्त्र (Ethnology)=Gr *ethnos* race, people + *logia* study) का अर्थ है प्रजातियों का अध्ययन। परन्तु यह शाब्दिक अर्थ प्रजातिशास्त्र का वास्तविक परिचय नहीं है। श्री हॉबल (Hoebel) के शब्दो मे, प्रजातिशास्त्र "प्रजातियों का अध्ययन नहीं है, यह कार्य तो शारीरिक मानवशास्त्र का है; प्रजातिशास्त्र ससार को

1. N C. Nelson, *op. cit* , p. 148.
2. *Ibid* , p 148.
3. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p 12.

संस्कृतियों का अध्ययन है।"[1] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि प्रजातिशास्त्र संस्कृति का सिद्धान्त या विज्ञान है।[2] प्रजातिशास्त्री (ethnologist) भूमण्डल मे बिखरी हुई विविध संस्कृतियों को खोजते, अध्ययन तथा वर्गीकरण करते हैं, चाहे वे संस्कृतियाँ पिछड़ी जनजातियों (tribes) की हों या सभ्य मानव की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रजातिशास्त्रियों को संसार के प्रत्येक भाग के अनेक प्रजातीय समूहों के निकट सम्पर्क में आना पड़ता है जिससे उनकी संस्कृतियों के विभिन्न स्वरूपों का विश्लेषण, निरूपण तथा तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सके।

संसार की संस्कृतियों में अनेक विविधताएँ हैं। उनमें समय तथा समाज के अनुसार भिन्नताएँ दिखाई देती हैं। फिर भी बहुतेरी संस्कृतियों मे, उनके एक-दूसरे से बहुत दूर होने पर भी, अनेक आश्चर्यजनक समानताएँ भी पाई जाती हैं। प्रजातिशास्त्र मानव-समूहों की विविध संस्कृतियों की इन समानताओं तथा भिन्नताओं के अध्ययन मे विशेष रुचि रखता है और इस बात की व्याख्या करता है कि ये समानताएँ तथा विभिन्नताएँ क्यों हैं। हाल में प्रजातिशास्त्रियों ने संस्कृति का व्यक्तित्व के विकास मे महत्व तथा व्यक्ति का सांस्कृतिक विकास या परिवर्तन में कार्य (role) आदि विषयों पर भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया है।

(ग) **भाषा-विज्ञान** (Linguistics)—मनुष्यों और पशुओं में एक प्रमुख अन्तर भाषा का ही है। भाषा मानव-संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग होती है। भाषा-विज्ञान मानव की संस्कृति के इसी महत्वपूर्ण अंग—भाषा—का वैज्ञानिक अध्ययन है। भाषा-वैज्ञानिकों की विशेष रुचि एवं भाषा, उसकी उत्पत्ति, विकास एवं व्याकरणीय गठन (grammatical structure) में होती है। वे संसार की प्राय. 2,700 भाषाओं में किन्हीं का अध्ययन करते हैं और प्राय: विभिन्न भाषाओं के शब्दों, उच्चारणों तथा व्याकरणों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं जिससे कि भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन (linguistic changes) तथा भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों एवं समानताओं के विषय मे कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालना सम्भव हो सके।[3] साथ ही भाषा-वैज्ञानिक उन सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों को भी निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं जिनके कारण भाषा में परिवर्तन होते हैं।[4] भाषा-विज्ञान का क्षेत्र केवल उन लोगों की भाषा तक ही सीमित नहीं है जिनके लिखित साहित्य उपलब्ध हैं। उसकी समान रुचि आदिम लोगों की भाषा में भी है। अत: स्पष्ट है कि भाषा-वैज्ञानिक सभी प्रकार की भाषाओं की उत्पत्ति, विकास व विस्तार का विश्लेषण तथा व्याकरणीय गठन के आधार पर उनका वर्गीकरण करता है और इस प्रकार उनके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विभिन्न भाषाओं की सामान्य विशेष-

---

1. Ethnology is "not studies of races, which is the work of physical anthropology but rather of the cultures of the world."—E. A. Hoebel, *op. cit.*, p. 10.
2. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 12.
3. Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 3
4. *Ibid.*, p. 3.

ताओं को एवं मानव-समाज में विशेषकर संस्कृति और सभ्यता के विकास मे भाषा के महत्त्व को खोज निकालता है। इस प्रकार मानव की संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग का वैज्ञानिक ज्ञान हमे भाषा-विज्ञान से होता है। इसीलिए इसे सास्कृतिक मानवशास्त्र का एक प्रमुख उपविज्ञान मानना ही उचित होगा, किन्तु इसका क्षेत्र इतना महत्त्वपूर्ण है कि मानवशास्त्र के अन्य उप-विज्ञानो की अपेक्षा भाषा-विज्ञान अधिक स्वतन्त्र तथा स्वयं पूर्ण है।

(घ) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)—बहुधा सामाजिक मानवशास्त्र और सास्कृतिक मानवशास्त्र मे कोई भेद समझा नही जाता है। परन्तु दोनों को एक समझना उचित न होगा। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है सास्कृतिक मानव-शास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की सम्पूर्ण सस्कृति है। इस प्रकार इसका क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक मानवशास्त्र उसकी एक शाखा-मात्र है क्योंकि इसके अन्तर्गत केवल संस्थागत (institutionalized) सामाजिक व्यवहार, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक संगठन, न्याय-व्यवस्था आदि आते हैं। यह सम्पूर्ण सस्कृति का अध्ययन नहीं है। अगले अध्याय में हम इस विज्ञान के सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

उपर्युक्त विवेचना से मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सम्पूर्ण मानव है। यह मानव आदिम सास्कृतिक स्तर पर हो या सभ्य समाज का सदस्य; अफ्रीका के जगली प्रदेश का निवासी हो या अमेरिका के आधुनिकतम नगर का; ऐतिहासिक युग का हो या प्रागैतिहासिक युग का—समस्त काल तथा स्थान के मानव का अध्ययन मानवशास्त्र है। सास्कृतिक स्तर देश एवं काल की सीमाओं से वाध्य न होकर मानव-जाति के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास एवं व्यवहार के विभिन्न पक्ष इस विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र मे आते हैं। अति संक्षेप में, **मानव द्वारा मानव का सम्पूर्ण व वैज्ञानिक अध्ययन मानवशास्त्र है।**

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The MacMillan Co., New York, 1959.
2. Boas, *General Anthropology*, D. C. Heath & Co., New York, 1938.
3. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.
4. Jacobs and Stern, *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955.
5. Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1948.

2 सामाजिक मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र (The Nature and Scope of Social Anthropology)

बहुधा सामाजिक मानवशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र में कोई भेद नहीं समझा जाता है। वास्तव मे ऐसा समझना उचित न होगा क्योंकि सांस्कृतिक मानवशास्त्र *का अध्ययन-विषय मानव की सम्पूर्ण संस्कृति है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सांस्कृतिक* मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप में केवल संस्थागत सामाजिक व्यवहार, सामाजिक तथा राजकीय संगठन, परिवार, न्याय-व्यवस्था आदि का अध्ययन करता है। सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नही है। फिर भी श्री लुई (Lowie) का मत है कि चूंकि संस्कृति सम्पूर्ण सामाजिक विरासत (Social heritage) है। इस कारण संस्कृति और समाज परस्पर सम्बन्धित धारणाएँ हैं। समस्त सम्भावित समाजो मे सांस्कृतिक तथा सामाजिक मानवशास्त्र एक ही होगा।[1] श्री लेवी-स्ट्रॉस (Levi-Strauss) ने इन दो विज्ञानों मे विभाजन-रेखा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानव को दो प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप मे या सामाजिक प्राणी के रूप मे। अगर आप उसकी उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप में विवेचना कर रहे हैं तो आप उपकरण से प्रारम्भ करते हैं और उपकरण के रूप में मानते हुए उन संस्थाओं तक पहुँचते हैं जिनके कारण सामाजिक सम्बन्ध सम्भव होता है। *यही सांस्कृतिक* मानवशास्त्र है। अगर आप मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप मे विचारते हैं तो आप सामाजिक सम्बन्ध से प्रारम्भ करते हैं और उस विधि के रूप मे, जिसके द्वारा सामाजिक *सम्बन्ध स्थिर रहता है, उपकरण तथा संस्कृति तक पहुँचते हैं।* यही सामाजिक मानवशास्त्र है। इनमे भेद केवलमात्र दृष्टिकोण का है और सामाजिक मानवशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानवशास्त्र की विधि-व्यवस्था मे कोई गम्भीर अन्तर नही है।[2] संक्षेप मे, इन दो

1. "Culture being the whole of the social heritage, culture and society are correlative concepts In the best of possible words cultural and social anthropology would be one."—Lowie, see *An Appraisal of Anthropology Today, The University of Chicago Press, Chicago, 1953, p 223.*

2 "Man can be defined in two ways as a tool making animal or as a social animal If you consider him as a tool-making animal, you start with tools and go to institutions as tools which make the social relations possible. That is cultural anthropology If you consider him as a *social animal, you* start with social relations and reach tools and culture, in the wide sense of the term, as the way in which social relations are maintained The difference is exclusively one of point of view, and there is no deep difference between the approach of social anthropology and that of cultural anthropology."—Levi-Strauss, *Ibid*, p 224

विज्ञानों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा न होते हुए भी सामान्यत: सांस्कृतिक मानवशास्त्र मानव को संस्कृति का एकमात्र निर्माता मानकर उसके आविष्कार, निर्माण-कला, सामाजिक संगठन, संस्थाएँ, साहित्य, कला, धर्म, विचार आदि का अध्ययन और विश्लेषण करता है, जबकि सामाजिक मानवशास्त्र उसी मानव को एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके सामाजिक व्यवहारों, संस्थाओं तथा संगठनों का अध्ययन एवं निरूपण है।

सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Social Anthropology)

श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्र की वह शाखा है जो कि आदिम समाजों का अध्ययन करती है।[1] आपके अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं (Social system) का अध्ययन है। सामाजिक मानवशास्त्र भी इन्ही सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन है परन्तु इसका सम्पर्क विशेष रूप से आदिम समाजों से होता है। इससे पूर्व अपने एक लेख में श्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने ही सामाजिक मानवशास्त्र को एक दूसरी तरह से परिभाषित किया था—"सामाजिक मानवशास्त्र विविध प्रकार से समाजों की क्रमबद्ध तुलना द्वारा मानव-समाज की प्रकृति के सम्बन्ध में खोज है।"[2]

श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने भी लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा मानी जा सकती है—वह शाखा जो कि मुख्यत. अपने को आदिम समाजों के अध्ययन मे लगाती है।"[3] आपके अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार, सामान्यत. संस्थागत स्वरूपो मे, जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, वैधानिक विधियाँ, धार्मिक विश्वास इत्यादि और इन संस्थाओ में पारस्परिक सम्बन्धो, का अध्ययन है; यह इन सबका अध्ययन उन समकालीन या ऐतिहासिक समाजो मे करता है जहाँ इस प्रकार के अध्ययन के लिए आवश्यक पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त हो सकें।[4]

---

1. "Social anthropology is that branch of sociology which deals with 'primitive' or pre-literate societies."—Radcliffe-Brown. 'White's View of a Science of Culture,' *American Anthropologist*, Vol. 51, No. 3, 1949, p. 503.

2. "Social Anthropology is the investigation of the nature of human society by the systematic comparison of societies of diverse kinds."—Radcliffe-Brown, *The Development of Social Anthropology*, University of Chicago, 1936, p. 1.

3. "Social anthropology can be regarded as a branch of sociological studies, that branch which chiefly devotes itself to primitive societies."—E E. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1954, p. 11.

4 "It studies ...social behaviour, generally in institutionalized forms, such as the family, kinship system, political organization, legal procedures, religious cults, and the like, and the relations between such institutions, and it studies them either in contemporaneous societies or in historical societies for which there is adequate information of the kind to make such studies feasible." —*Ibid.*, p. 5.

श्री नैडेल के अनुसार, "सामाजिक मानवशास्त्र 'इतिहास विहीन' समाजों का और 'अपरिचित' प्रकृति की संस्कृतियों का अध्ययन है।"[1] एक परवर्ती लेख में श्री नैडेल ने यह भी लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य आदिम मनुष्यों को, उनके द्वारा निर्मित संस्कृति को और उस सामाजिक व्यवस्था को, जिनमे वे रहते और कार्य करते हैं, समझना है।"[2] श्री मुरडॉक (Murdock) के विचार मे "सामाजिक मानवशास्त्र सांस्कृतिक मानवशास्त्र की केवल मात्र वह शाखा है जोकि अन्तःवैयक्तिक सम्बन्धो का अध्ययन करती है।"[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप में सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार तथा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन, व्यवस्था या ढांचे का वह विज्ञान है जो कि प्रधानतया आदिकालीन समाज तथा मनुष्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।

सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Social Anthropology)

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध मे विद्वानों मे मतभेद है। उदाहरणार्थ, सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन, नैडेल, पिडिंगटन आदि विद्वान सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित रूप मे आदिकालीन समाज तथा मनुष्यों तक ही सीमित कर देते हैं, जबकि श्री इवान्स-प्रिटचार्ड के अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र 'मुख्यतः' अपने को आदिम समाजों के अध्ययन मे लगाता है, अर्थात् सामाजिक मानवशास्त्र 'केवल' आदिम समाजो के अध्ययन तक ही सीमित है, इस बात से श्री इवान्स-प्रिटचार्ड सहमत नहीं हैं; यद्यपि आदिम समाजों का अध्ययन इस विज्ञान का विशेष उद्देश्य है। उसी प्रकार श्री रैडक्लिफ-ब्राउन के मतानुसार उन समाजों या सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन है जिनकी 'समग्र' रूप मे तुलना की जा सके। दूसरे शब्दों में, सामाजिक मानवशास्त्र सीमित समाजों या सामाजिक व्यवस्थाओं को अपने अध्ययन का विषय बनाकर सामाजिक जीवन को उसकी समग्रता में देखने और तुलना करने का यत्न करता है। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड श्री रैडक्लिफ-ब्राउन की भाँति सामाजिक व्यवस्थाओं पर नही, सामाजिक व्यवहार और सामाजिक

---

1. "The social anthropology examines societies 'without history', and cultures of an 'exotic' nature."—S. F. Nadel, *The Foundation of Social Anthropology*, 1953, p. 6.

2. "The primary object of social anthropology is to understand primitive peoples, the cultures they have created, and the social system in which they live and act."—S. F. Nadel, *Understanding Primitive People. Oceania*, Vol. XXV 1, No. 3, 1956, p. 159

3. "Social anthropology seems to me to be simply the branch of cultural anthropology that deals with interpersonal relationships."—Murdock, see *An Appraisal of Anthropology Today*, p. 224.

संस्थाओं को सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत लाते हैं। श्री नैडेल सामाजिक व्यवस्थाओं को सामाजिक मानवशास्त्र का न्यायसंगत अध्ययन-विषय मानते हुए भी उपर्युक्त दो विद्वानों से इस अर्थ में असहमत हैं कि आप संस्कृति को सामाजिक मानवशास्त्र का उचित प्रसंग (theme) स्वीकार कर लेते हैं। श्री पिडिंगटन के मतानुसार "सामाजिक मानवशास्त्री समकालीन आदिम समुदायों की संस्कृतियों का अध्ययन करते हैं।"[1]

उपर्युक्त विद्वानों के विभिन्न मतों की यथार्थता को समझने के लिए यह उचित होगा कि हम इस विषय पर ध्यान दें कि सामाजिक मानवशास्त्र वास्तव में क्या अध्ययन करता है। इसके लिए सर्वप्रथम यह विवेचना करनी होगी कि सामाजिक मानवशास्त्री क्या 'नहीं' करते हैं। प्रथम, सामाजिक मानवशास्त्रियों का अध्ययन केवल मात्र आदिम समाजों तक ही सीमित नहीं होता है। मानवशास्त्री ने देश एवं काल की सीमाओं में अपने को न बांधते हुए सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों तथा प्रत्येक देश व काल के समाजों का वर्णन तथा विश्लेषण किया है और करते हैं। परन्तु वे अधिकांशतः आदिम समाजों के अध्ययन में अधिक प्रयत्नशील होते हैं क्योंकि आदिम समाज छोटे, सरल तथा विभिन्नता-रहित होते हैं और इस कारण ऐसे समाजों का अध्ययन सुविधापूर्वक, सुसंगठित एवं सुनिश्चित रूप में किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान आधुनिक जटिल समाजों के अध्ययन में अधिक सहायक होता है। द्वितीय, सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नहीं है। यह कार्य सांस्कृतिक मानवशास्त्र का है। इस अर्थ में सांस्कृतिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक मानवशास्त्र उस व्यापक विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है और इस रूप में केवल संस्थागत सामाजिक व्यवहार सामाजिक संस्थाओं व संगठन तथा व्यवसायों का अध्ययन करता है। तृतीय, चूंकि सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नहीं है, इसी कारण वह 'समग्र' (whole) समाज का अध्ययन या तुलना भी नहीं हो सकता है। वास्तव में ऐसा सम्भव भी नहीं है। श्री पॉप्पर ने उचित ही कहा है कि "यदि हमें किसी चीज का अध्ययन करना है तो हमें उसके कुछ पहलुओं को चुनना ही होगा। हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि हम संसार के समग्र भाग का या प्रकृति के समग्र भाग का अवलोकन करें या उसका वर्णन करें क्योंकि समस्त वर्णन ही आवश्यक रूप में निर्वाचनात्मक (selective) होता है।"[2] इस प्रकार चुनाव या निर्वाचन के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत, जैसा कि श्री इवान्स-प्रिटचार्ड का मत है, केवल कुछ संस्थागत (insti-

---

1 "Social anthropologists study the cultures of contemporary primitive communities."—Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p. 3.

2 "If we wish to study a thing, we are bound to select certain aspects of it. It is not possible for us to observe or to describe a whole piece of the world, or a whole piece of nature... ...since all description is necessarily selective."—K. R. Popper, *The Poverty of Historicism*, Routledge and Kegan Paul, London, 1957, p. 77.

tutionalized) व्यवहारों या संस्थाओं, जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, वैधानिक विधियाँ, धार्मिक विश्वास, आर्थिक संकुल (economic complex) आदि आते हैं। सामाजिक मानवशास्त्र इन्हीं को, न कि समग्र समाज को, समझने, परिभाषित करने तथा तुलना करने का प्रयत्न करता है। श्री बीटी (Beattie) के शब्दों में, "सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय सम्पूर्ण समाज या समाजों से अधिक यथार्थ रूप में संस्थागत सामाजिक सम्बन्ध तथा वे व्यवस्थाएँ हैं जिनमें ये सम्बन्ध व्यवस्थित रह सकें।"[1]

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवस्थाओं का आधार एक समाज-विशेष के सदस्यों की मनोवृत्तियाँ (attitudes) हैं। **सामाजिक मनोवृत्ति मस्तिष्क की वह चेतन दशा है जो व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से सोचने या व्यवहार करने को प्रेरित करती है।**[2] इसी मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति एक परिस्थिति या वस्तु के विषय में सोचता है, उसे विशेष दृष्टि से देखता है और उसका एक विशेष 'अर्थ' (meaning) लगाता है। व्यवहार के सामाजिक महत्त्व को तब तक कदापि समझा नहीं जा सकता जब तक कि उस समाज के सदस्यों के दृष्टिकोण से उसका जो 'अर्थ' होता है उसे यथार्थ रूप में समझ न लिया जाय। इतना ही नहीं, इन्हीं अर्थों के आधार पर सामाजिक मूल्य (Social values) पनपता है। सामाजिक मूल्य वे सामाजिक आदर्श हैं जो हमारे लिए कुछ अर्थ रखते हैं और जिन्हें हम अपने जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण समझते हैं। प्रत्येक समाज में सामाजिक मूल्य होते हैं और उन्हीं मूल्यों के आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयों का मूल्यांकन किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों, व्यवस्थाओं या व्यवहारों से सम्बन्धित अर्थों तथा मूल्यों का अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत तीन प्रकार के विषयों का समावेश है—(1) वे संस्थागत सामाजिक सम्बन्ध, घटनाएँ तथा व्यवहार जो वास्तविक रूप में पाये जाते हैं या घटित होते हैं; (2) उस समाज के सदस्य इन सबका जो कुछ 'अर्थ' लगाते हैं; और (3) इन सबसे सम्बन्धित जो सामाजिक, वैधानिक एवं नैतिक मूल्य उस समाज में पाये जाते हैं।

इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र उन संस्थागत सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहारों, व्यवस्थाओं तथा मूल्यों का अध्ययन करता है जो कि वास्तविक अवलोकन द्वारा पता लगाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में किसी भी पूर्वधारणा को मान्यता नहीं दी जाती है, न ही विषयों का अध्ययन किसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर किया जाता है। सामाजिक मानव-

---

1 "So the subject-matter of social anthropology..... is more accurately characterised as institutionalized social relations and the system into which these may be ordered, than as 'society' or 'societies', considered as totalities somehow given as empirical entities to the observer."—J H M. Beattie, In his article Understanding and Explanation in Social Anthropology', in *The British Journal of Sociloy*, Vol X, No. 1, March 1959, p. 46

2. R. N. Mukherjee, *Social Welfare and Security in India*, Saraswati Sadan. Mussoorie, 1960, p. 3—62.

शास्त्री अवलोकन (observation) पर अधिक बल देते हैं, न कि निष्कासन (extraction) पर; गहन विश्लेषण पर अधिक बल देते हैं, न कि विस्तृत खोजों पर, जिससे उन तथ्यों का संग्रह सम्भव हो जो कि समाजशास्त्रीय अनुसधान मे छूट जाते हैं और इतिहास के पन्ने मे अलिखित रह जाते हैं।[1] इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्री के "अध्ययन-क्षेत्र की सोमा ही उसकी शक्ति है।"

सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र की विवेचना करते हुए श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने सामाजिक मानवशास्त्र के जिन लक्षणों या विशेषताओं का उल्लेख किया है उनसे इस विज्ञान की प्रकृति तथा क्षेत्र को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं[2]—

(क) वैसे तो सामाजिक मानवशास्त्र सभी प्रकार के मानव-समाजों का अध्ययन है, फिर भी यह प्रधानत' आदिम समाजो के अध्ययन मे ही अधिक ध्यान केन्द्रित करता है। क्योकि सीमित क्षेत्र तथा अल्प जनसख्या के कारण इन समाजो के सामाजिक जीवन, सामाजिक सम्बन्धो तथा सस्थाओ का विश्लेषण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। परन्तु ध्यान रहे कि इन आदिम समाजो का अध्ययन करते हुए एक मानवशास्त्री वहाँ के लोगो की भाषा, कानून, धर्म, सामाजिक तथा राजनैतिक सस्थाओ, आर्थिक सगठन आदि का अध्ययन करता है। ये वे ही सामान्य विषय तथा समस्याएँ हैं जो कि सभ्य समाजो में भी पाई जाती हैं। इस कारण आदिम समाजों के विषय मे विवेचना करने मे मानवशास्त्री सदैव ही उनकी अपने समाजों से तुलना करता जाता है।

(ख) सामाजिक मानवशास्त्र संस्थागत सामाजिक व्यवहारो व सम्बन्धो तथा सस्थाओं का विज्ञान है। यह समाजों की जनसख्या, उनकी आर्थिक व्यवस्था, उनकी वैधानिक तथा राजनैतिक सस्थाओ, उनके परिवार तथा नातेदारी की व्यवस्था, उनके धर्म आदि का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्थाओ के अशो के रूप मे (as parts of general social systems) करता है।

(ग) सामाजिक मानवशास्त्र किसी-न-किसी सामाजिक सस्था, सम्बन्ध और व्यवस्था के विषय मे अध्ययन करता है जो कि 'वास्तविक तथ्यो पर आधारित खोज' (matter of fact inquiries) होते हैं। इस कारण इस विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र का भौगोलिक फैलाव (geographical spread) समस्त भूमण्डल पर फैला है। चाहे वह समाज अफ्रीका का हो, चाहे अमेरिका, आस्ट्रेलिया, बर्मा, मलाया, साइबेरिया, भारतवर्ष

1. "We treat a familiar culture as though it were a strange one, without historical background We consciously choose this approach *so that* we may view the culture from a new angle and throw into relief features obs ured by other forms of study Again, we concentrate upon observation rather than extraction upon intensive analysis rather than wide-range surveys, hoping to discover things which the conventional sociological research would omit and historical documents fail to record."—S. F. Nadel, *The Foundations of Social Anthropology*, Cohen and West Ltd , London, 1953, p. 7.

2. E.E. Evans-Pritchard, *op. cit.*, pp. 3-20.

या ध्रुवी क्षेत्र का हो, सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। केवल भौगोलिक फैलाव ही नही सामाजिक मानवशास्त्र का विषय-फैलाव भी अधिक है। इसके अध्ययन-विषयों के अन्तर्गत राजनैतिक संस्थाओं, धार्मिक संस्थाओं, रंग, लिंग, या स्थिति पर आधारित वर्ग-विभेद (class distinctions), आर्थिक संस्थाओं, वैधानिक या अर्ध-वैधानिक (quasi-legal) संस्थाओं, विवाह, और साथ ही सामाजिक अनुकूलन (social adaptation) और सम्पूर्ण सामाजिक संगठन या संरचना (structure) का अध्ययन आता है। इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट विषयों, जैसे आचार, जादू, लोक-कथा, आदि-कालीन विज्ञान, कला, भाषा आदि का भी अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र मे नहीं होता है, ऐसा नही। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत केवल सभी देश के सभी प्रकार के समाज ही नही आते बल्कि विविध प्रकार के विषयों का भी समावेश है। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि सामाजिक मानवशास्त्री 'हरफन-मौला' (Jack of all trades) होते हैं। विभिन्न समाजों के सम्बन्ध मे सामान्य ज्ञान को पूँजी बनाकर वे भी अलग-अलग विषयो मे विशेषज्ञ होते हैं। इसके अतिरिक्त संसार के विभिन्न आदिम समाजों मे न केवल अनेक बाह्य समानताएं होती हैं बल्कि संरचनात्मक विश्लेषण (structural analysis) द्वारा उन्हे कुछ सीमित प्रकारो में वर्गीकृत (classified) किया जा सकता है। इससे विषय की एकता उत्पन्न होती है और अध्ययन-क्षेत्र व विषय-वस्तु अत्यन्त विस्तृत होने पर भी अध्ययन-कार्य मे सरलता और यथार्थता सम्भव होती है। विषयों की एकता के कारण ही सामाजिक मानवशास्त्री एक ही प्रकार से आदिम समाजो का अध्ययन करते हैं चाहे वह समाज भारत का हो, या अफ्रीका का या आस्ट्रेलिया का, और चाहे अध्ययन-विषय परिवार हो या राजनैतिक संस्थाएँ या धार्मिक विश्वास। सम्पूर्ण सामाजिक संरचना से सम्बन्धित करके विभिन्न विषयों का अध्ययन किया जाता है।

(घ) सामाजिक मानवशास्त्र समाजों का अध्ययन है, न कि संस्कृतियों का। इस विज्ञान की प्रकृति, अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र की विवेचना मे इस सत्य को निरन्तर ध्यान में रखना होगा। यही कारण है कि सामाजिक मानवशास्त्र के सभी लेखों तथा पुस्तकों मे बहुत-कुछ समाजशास्त्रीय झुकाव होता है अर्थात् उनमे प्रधानतया सामाजिक सम्बन्धों, समाज के सदस्यों और सामाजिक समूहो मे सम्बन्धों तथा विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना होती है। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक मानवशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक संरचना के अध्ययन की प्रधानता होती है यद्यपि 'समाज' और 'संस्कृति' के बीच कोई दृढ विभाजन-रेखा खींचना न तो सरल है और न उचित ही। प्रत्येक सामाजिक जीवन मे अनेक एकरूपताएँ (uniformities) तथा नियमावस्थाएँ (regularities) होती हैं। उसी के आधार पर सामाजिक व्यवस्था (social order) सम्भव होती है और समाज के विभिन्न अंगो में एक शृंखला उत्पन्न हो जाती है। यही सामाजिक संरचना (social structure) होती है। उस समाज के सदस्यो को इस सामाजिक संरचना का ज्ञान नही भी हो सकता है और अगर हो भी तो अस्पष्ट ज्ञान हो सकता है। सामाजिक मानवशास्त्र का कार्य इसी को स्पष्ट करना

है। इतना ही नही, एक सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में अनेक सहायक या उप-संरचनाएँ या व्यवस्थाएं होती हैं और इन्हीं को हम नातेदारी व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था आदि के नाम से पुकारते हैं। इन व्यवस्थाओ के अन्तर्गत सामाजिक क्रियाएँ विभिन्न संस्थाओ जैसे विवाह, सरकार, धर्म आदि के चारों ओर संगठित होती हैं। सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क इन सभी से होता है।

आदिम समाजों का अध्ययन हम क्यों करते हैं ?
(Why We study Primitive Societies ?)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्री अपना ध्यान प्रधानतः आदिम समाजो पर केन्द्रित करते हैं। परन्तु ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि आदिम समाज किसे कहते हैं। यद्यपि आदिम समाज और सभ्य समाज के बीच कोई दृढ विभाजन-रेखा खींचना सम्भव नहीं है तथापि आदिम समाजों या संस्कृति की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख श्री पिडिंगटन (Piddington) *ने किया है जिनके आधार पर एक समाज को आदिम समाज कहा जा सकता है। ये* विशेषताएँ निम्नलिखित हैं[1]—

(क) निरक्षरता; लेखन या लिपि का न होना आदिम समाजों की सर्वप्रमुख विशेषता है और यही सभ्य समाज और आदिम समाज के बीच एक सामान्य अन्तर है।

(ख) सभ्य समाजो की भाँति राज्य, राष्ट्र या साम्राज्य के आधार पर नही बल्कि छोटे सामाजिक समूहों, जैसे गोत्र, ग्राम या जनजाति के आधार पर समाज का संगठन।

(ग) प्रौद्योगिक विकास का निम्न स्तर।

(घ) रक्त-सम्बन्ध तथा स्थान के आधार पर सामाजिक सम्बन्ध सभ्य समाजो से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

(ङ) आदिम समाजो मे आर्थिक विशेषीकरण तथा सामाजिक समूहो की बहुलता नहीं होती है जैसा कि सभ्य समाजो में होता है।

श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के अनुसार वे समाज, जो कि जन-संख्या, क्षेत्र और सामाजिक सम्पर्क की परिधि की दृष्टि से छोटे पैमाने के हैं और जो अधिक प्रगतिशील समाजों की तुलना मे सरल प्रौद्योगिक तथा आर्थिक स्तर पर हैं तथा जहाँ सामाजिक कार्यों का कम विशेषीकरण पाया जाता है, आदिम समाज कहलाते हैं।[2] श्री राबर्ट रेडफिल्ड (Robert Redfild) ने इन विशेषताओं के साथ साक्षरता, साहित्य तथा क्रमबद्ध कला, विज्ञान और अध्यात्मविद्या (theology) के अभाव को भी जोड़

---

1. Ralph Piddington, *op. cit.*, p ⁵
2. "When anthropologists use it (the word 'primitive society') they do so in reference to those societies which are small in scale with regard to numbers, territory, and range of social contracts, and which have by comparison with more advanced societies a simple technology and economy and little specialization of social function"—Evans-Pritchard, *op. cit.*, p. 8.

दिया है।[1]

यद्यपि उपर्युक्त सभी अन्तर या भेद हमारे अध्ययन-कार्य में सहायक सिद्ध होंगे तथापि यह स्मरणीय है कि इनमें से प्रत्येक अन्तर सापेक्षिक (relative) है। उदाहरणार्थ पश्चिमी अफ्रीका के एकाधिक आदिम समाजों के कुछ लोग पढ़ना-लिखना जानते हैं। अतः ये समाज वास्तव में निरक्षर नहीं कहे जा सकते, यद्यपि इनके अधिकतर सदस्य निरक्षर ही हैं। उसी प्रकार ऐसे भी आदिम समाज हैं जिनके प्रौद्योगिक स्तर अत्यन्त निम्न होते हुए भी राजनैतिक संगठन पर्याप्त विस्तृत हैं।[2] अतः उपर्युक्त किसी एक-दो विशेषताओं के होने या न होने के आधार पर ही किसी समाज को प्रमाणित रूप में 'आदिम' या 'सभ्य' कह देना उचित न होगा।

चूंकि समस्त मानव-समाज कुछ सामान्य मौलिक सिद्धान्तों (common basic principles) पर आधारित होता है इस कारण यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजों में ही विशेष रुचि क्यों रखते हैं ? इसके लिए कभी-कभी तो उनकी आलोचना भी की जाती है और यह सुझाव दिया जाता है कि यदि सामाजिक मानवशास्त्री उतने ही यत्न और परिश्रम से आधुनिक सभ्य समाजों की समस्याओं का अध्ययन तथा विश्लेषण करें तो यह अधिक कल्याणकारी या लाभप्रद होगा। जैसा कि पिछले पन्नों में कई बार कहा जा चुका है, यह सोचना गलत होगा कि सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क केवल मात्र आदिम समाजों से है। सभ्य समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्रीय प्रविधियों (anthropological techniques) को काम में लाने के सम्बन्ध में एकाधिक मूल्यवान व लाभप्रद प्रयोग हुए भी हैं। फिर भी यह सच है कि सामाजिक मानवशास्त्रियों का विशेष झुकाव आदिम समाजों की ओर ही है।

सामाजिक मानवशास्त्री विशेषतया आदिम समाजों का अध्ययन क्यों करते हैं? इसका अति सामान्य और सरल उत्तर यह है कि इस प्रकार का झुकाव 'ऐतिहासिक घटना' (historical accident) मात्र है।[3] 18वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् कच्चे माल तथा बनी हुई वस्तुओं के लिए उत्तम बाजार की खोज में यूरोप के कुछ लोगों ने अफ्रीका तथा एशिया में प्रवेश किया और उनके पीछे-पीछे आये अनेक उत्साही ईसाई मिशनरी। इन सब यात्रियों, पर्यटकों तथा मिशनरियों ने अनेक आदिम समाजों में प्रवेश किया और उनके विषय में अनेक रोचक, अद्भुत तथा आकर्षक विवरण प्रस्तुत किये। इनमें से अधिकतर कथन, वर्णन या विवरण अतिरंजित तथा अस्पष्ट एवं अवैज्ञानिक अवधारणाओं पर आधारित थे, फिर भी उसी रोचक तथा अनोखे रूप में सर्वप्रथम आदिम समाजों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ जिसके कारण इसी 18वीं शताब्दी में यूरोप के कुछ राजनैतिक दार्शनिकों का ध्यान इन समाजों के प्रति आकर्षित हुआ।

इसके पश्चात् सन् 1859 में श्री डार्विन (Darwin) द्वारा 'प्राणीशास्त्रीय उद्-

---

1 Robert Redfild, 'The Folk Society', *The American Journal of Sociology*, 1947

2. Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 6.

3. *Ibid*, p 6.

विकास' के सिद्धान्त के प्रतिपादित होने के पश्चात् आदिम समाजों के अध्ययन मे एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ । श्री डार्विन के प्राणीशास्त्रीय उद्विकास (biological evolution) के आधार पर श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने सामाजिक उद्विकास (social evolution) के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। श्री स्पेन्सर का विश्वास था कि उद्विकास केवल मानव के शारीरिक पक्ष का नही हुआ है अपितु सामाजिक जीवन का भी। इस धारणा की पुष्टि के लिए 19वी शताब्दी के अनेक मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजों का अध्ययन करके उद्विकासीय तथ्यो को एकत्र करने का प्रयत्न किया।

एकाधिक प्रारम्भिक मानवशास्त्रियो ने आदिम समाजों के अनोखेपन तथा विचित्रताओं से आकर्षित होकर भी केवल ऐसे समाजो के अध्ययन मे अपने को नियोजित किया था। उन्होने अपने लेखों मे आदिम समाजों के इस अनोखेपन या अपरिचितता (strangeness) को स्पष्ट व्यक्त भी किया है। उदाहरणार्थ, आदिकालीन विधान (primitive law) की विवेचना करते हुए सर हेनरी मेन (Sir Henry Main) ने लिखा है कि "आदिम समाजो की घटनाओं को समझना पहले-पहल कठिन होता है। यह कठिनाई उनके अनोखेपन के कारण होती है। आधुनिक दृष्टिकोण से उन घटनाओं को देखने पर हमे अचम्भा से शायद ही सरलता से छुटकारा मिल पाता है।"[1] उसी प्रकार आदिकालीन धर्म की विवेचना करते हुए श्री मॉर्गन (Morgan) ने भी स्वीकार किया है, इसकी (आदिकालीन धर्म की) पूर्णतया सन्तोषजनक व्याख्या कभी सम्भव नही है क्योकि सभी आदिकालीन धर्म असंगत एव कुछ सीमा तक अबोध हैं।[2] आधुनिक मानवशास्त्री श्री क्रोबर (Kroeber) तक भी आदिम समाजो के उपर्युक्त अनोखेपन या अपरिचितता से प्रभावित प्रतीत होते हैं। आपने भी लिखा है कि अपरिचितता के सुरस से भरपूर संस्थाओं की ओर मानवशास्त्र ने अपने ध्यान को घुमाया है।[3] अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्रियो द्वारा विशेषकर आदिम समाजो के अध्ययन का एक कारण इन समाजो का अनोखापन या अपरिचितता भी है। जो कुछ भी अनोखा है, अद्भुत है, उन सबके विषय मे छानबीन करने की इच्छा जितनी स्वाभाविक है, जिनके सम्बन्ध मे हम जानते नहीं हैं या जो कुछ अपरिचित है उनके सम्बन्ध मे जिज्ञासा भी मानव की एक बडी प्रेरणा-शक्ति है। यही प्रेरणा मानवशास्त्रियो को आदिम समाजों की ओर आकर्षित करती है यद्यपि आजकल इन समाजो के अनोखेपन या अपरिचितता पर नही अपितु तुल-

---

1. ".. .. .. the phenomena which early society present us with are not easy at first to understand.. .. It is a difficulty arising from their strangeness. .. .. One does not readily get over the surprise which they occasion when looked at from a modern point of view "—Sir Henry Maine, *Ancient Law*, 1888, pp. 119-120

2. "It may never receive a perfectly satisfactory explanation since all primitive religions are grotesque and to some extent unintelligible."—Lewis Morgan, *Ancient Society*, 1877, p 5.

3 "The institutions strange in flavour" to which anthropology "turned its attention".—Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1923, p. 2.

नात्मक अध्ययन द्वारा आदिम समाजों और हमारे सभ्य समाजो में समानता को ढूँढने पर अधिक बल दिया जाता है। वास्तव मे बहुधा यह निरूपण करने की इच्छा कि, कुछ भी हो, किस प्रकार मनुष्य सर्वत्र समान है, स्पष्टत. प्रकट होती है।[1]

उपर्युक्त सामान्य कारणों के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी हैं जिनके कारण सामाजिक मानवशास्त्रियों ने जान-बूझकर आदिम समाजों को अध्ययन करने के लिए चुना है। ये कारण निम्न हैं—

(1) श्री क्लूखौन (Kluckhohn) का मत है कि आदिम समाजों का अध्ययन हम इस कारण करते हैं कि इन समाजों का अध्ययन करने से हमारे लिए अपने सभ्य समाजों को समझना सरल हो जाता है। ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम तो यह है कि अगर हमे मानव-समाज के सम्बन्ध मे समझकर कुछ निष्कर्ष निकालना है तो वह काम तब तक यथार्थ रूप से सम्भव नहीं हो सकता जब तक हम सभी प्रकार के समाजों के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त न कर लें। इन 'सभी' समाजों मे आदिम समाजों के अध्ययन को 'प्रथम' स्थान मिलना चाहिए क्योंकि ये समाज ही प्रथम या आदि समाज हैं। द्वितीयत, बहुत सादे, सरल और छोटे आदिम समाजों के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसकी सहायता से अधिक विकसित समाजो का अध्ययन अत्यधिक सरल हो जाता है। आदिम समाजो के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान और अनुभव के आधार पर हमे आधुनिक जटिल व विशाल समाजो को समझने और उनके विश्लेषण तथा निरूपण मे ही नहीं, अपितु अनेक वर्तमान सामाजिक समस्याओं को सुलझाने मे भी सहायता मिली है क्योंकि आदिम समाजों के अध्ययन द्वारा सामाजिक मानवशास्त्रियों का चरम लक्ष्य वैज्ञानिक ढग से उन सामान्य प्रक्रियाओ को प्रस्तुत करना है जिनके द्वारा मानवीय समाज एवं सभ्यता विकसित एवं कुसुमित होती है।

(2) श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के मतानुसार आदिम समाजो का अध्ययन उनके अन्तर्निहित मान या मूल्य (intrinsic value) के कारण भी होता है। वे स्वय ही रोचक हैं क्योंकि उनके अध्ययन से जीवन के उन तरीको, मूल्यों तथा जनता के उन विश्वासो का पता चलता है जो कि हम लोगो की दृष्टि मे आराम और सभ्यता की न्यूनतम आवश्यकता से भी कम हैं।[2] आदिम समाजो का अन्तर्निहित मूल्य या निजी मान इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि वे विशाल मानव-समाज की बुनयादी इकाई या अग हैं जो कि स्वाभाविक रूप मे मानव-जीवन को प्रतिबिम्बित (reflect) करती हैं। इन आदिम समाजों के अतिरिक्त बीते दिनो की हमारी अपनी ही प्रतिमूर्ति अधिक स्पष्ट, स्वाभाविक और सजीव रूप मे और कहाँ देखने को मिल सकती है? आदिम समाजो का अध्ययन अपने समाज का ही अध्ययन है।

---

1 "To-day the tendency is to emphasize, not the strangeness of primitive society, but its akinness to our own. Often, indeed, observers seem animated by the desire to demonstrate how, after all, man is the same everywhere." —S F. Nadel, *op. cit.*, p. 5.

2. E. E. Evans-Pritchard, *op. cit*, p. 9.

(3) यह अनुभव की बात है कि उन लोगों के मध्य, जिनकी संस्कृति हम लोगों से भिन्न है, अवलोकन-कार्य सरलता से हो सकता है क्योंकि उनके जीवन का परायापन (otherness) सहज ही हमारा ध्यान उनकी ओर आकर्षित कर लेता है। चूंकि इनके सम्बन्ध में हमारे मस्तिष्क में कोई पूर्वधारणा नहीं होती है और चूंकि इनके प्रति इस प्रकार की 'परायेपन' की भावना होती है, इस कारण 'अपने' समाज के अध्ययन में जिस पक्षपातित्व (partiality) की आशंका होती है, आदिम समाजों के अध्ययन में उसकी सम्भावना न के समान होने के कारण अध्ययन तथ्ययुक्त भी होता है। एक वैज्ञानिक के रूप में सामाजिक मानवशास्त्री के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(4) मानवशास्त्रियों द्वारा आदिम समाजों के अध्ययन पर विशेष ध्यान देने का चतुर्थ कारण यह है कि आदिम समाज अति शीघ्रता से बदलते जा रहे हैं अर्थात् उनका आदिमपन (primitiveness) नष्ट या समाप्त होता जा रहा है। इसका सर्वप्रमुख कारण इनका सभ्य समाजों के साथ बढ़ता हुआ सांस्कृतिक सम्पर्क (culture contact) है। इस सम्पर्क के कारण इन समाजो का आदिरूप (originality) नष्ट होता जा रहा है और यदि मानवशास्त्री शीघ्रता न करेंगे तो उन्हे मानव-जीवन के अनेक आदि-तथ्यों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ (ignorant) ही रहना पड़ेगा। मानव-समाज, संस्कृति तथा सभ्यता को यथार्थ रूप मे जानने मे प्रयत्नशील सामाजिक मानवशास्त्रियो के लिए यह कितनी भारी हानि होगी वह तो सहज ही अनुमेय है। इसी कारण आधुनिक सामाजिक मानवशास्त्री अविचलित निष्ठासहित आदिम समाजों के अध्ययन मे यत्नशील हैं। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के शब्दों में, "ये लुप्त होती हुई सामाजिक व्यवस्थाएँ अपूर्व संरचनात्मक विभिन्नताओ को प्रस्तुत करती हैं जिनका कि अध्ययन मानव-समाज की प्रकृति को समझने मे हमे पर्याप्त सहायता करता है क्योंकि संस्थाओ के तुलनात्मक अध्ययन मे समाजों की संख्या उतनी महत्त्व की नहीं होती जितना कि उनकी विभिन्नताओ का दायरा।"[1] दूसरे शब्दों मे, जितनी ही विभिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओ का हम तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, मानव-समाज के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान उतना ही प्रमाणित होगा। चूंकि आदिम समाज इन्ही विभिन्नताओं का साम्राज्य है, इस कारण सामाजिक मानवशास्त्री विभिन्न आदिम समाजों के अध्ययन मे विशेष रुचि रखते हैं।

इसके अतिरिक्त, सभ्य समाजों के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क बढने के साथ-साथ आदिम समाजो मे विविध सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक संस्थाओ का भी जन्म होता जा रहा है। सांस्कृतिक सम्पर्क के ये परिणाम तथा संस्कृतिकरण (acculturation) आदि की प्रक्रियाएँ किसी भी मानवशास्त्री के लिए आकर्षक अध्ययन विषय हैं।

(5) सामाजिक मानवशास्त्रियों का आदिम समाजो के अध्ययन में विशेष

---

1. "These vanishing social systems are unique structural variations, a study of which aids us very considerably in understanding the nature of human society, because in a comparative study of institutions the number of societies is less significant than their range of variations."—*Ibid*, p. 9.

महत्वपूर्ण होने का सर्वप्रमुख कारण पद्धति-सम्बन्धी (methodological) एक अलिखित नियम है। इस नियम के अनुसार वैज्ञानिक अनुसन्धान में यथासम्भव सरल वस्तु या घटना से प्रारम्भ करके क्रमशः अधिक जटिल या उलझी हुई वस्तु या घटनाओं की ओर बढ़ने की विधि है। ऐसा करना उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि जो 'चन्दा मामा आ जा' शीर्षक कविता को ही नहीं समझता है वह भला 'प्रसाद' जी के 'आंसू' को क्या समझेगा? इसे समझने के लिए 'चन्दा मामा आ जा' जैसी सरल कविता से ही आरम्भ करना होगा। इस सत्य को सामाजिक मानवशास्त्री भूल नहीं जाते हैं और यही कारण है कि वे विशाल और जटिल आधुनिक समाजों के अध्ययन की अपेक्षा सादे, सरल तथा छोटे आदिम समाजो के अध्ययन को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। सीमित क्षेत्र, कम जनसंख्या, सांस्कृतिक तथा प्रजातीय एकरूपता, अल्पसंख्या में सामाजिक समूह, सामाजिक परिवर्तन की धीमी गति आदि के कारण आदिम समाजों के रूप में स्थिरता होती है और सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक जीवन में भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पाती। इन कारणों से सामाजिक व्यवस्थाओं, संरचना अथवा संस्थाओं का अध्ययन व विश्लेषण इन समाजों में सुविधापूर्वक किया जा सकता है। और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान सभ्य समाजों के अध्ययन को सरल बना देता है। अतः हम कह सकते हैं कि मानवशास्त्री सरल आदिम समाजों का अध्ययन करके अधिक विकसित एवं जटिल समाजो के अध्ययन-कार्य को सरल बना रहे हैं। मानव-समाज को उचित रूप से समझने में सामाजिक मानवशास्त्रियों का यह अनुपम अनुदान है।

सामाजिक मानवशास्त्र के उद्देश्य
(Aims of Social Anthropology)

मानव-जीवन से सम्बन्धित किसी भी विज्ञान का उद्देश्य 'मानव-संसार' के किसी एक विशिष्ट अंग या भाग का अध्ययन करना और इस प्रकार तथ्यों के अध्ययन द्वारा सिद्धान्तों को प्रतिपादित करना है जिससे कि मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान सम्भव हो सके। इस ज्ञान के आधार पर या तो हम अपने अनुसन्धान को और आगे बढ़ाते हैं अथवा मानव-कल्याण की वृद्धि के हेतु उस ज्ञान का व्यावहारिक रूप में प्रयोग करते हैं।[1] इस दृष्टिकोण से श्री पिडिंगटन (Piddington) ने सामाजिक मानवशास्त्र के निम्नलिखित दो प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख किया है[2]—

प्रथम. मानव-प्रकृति (human nature) के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक विरोधी मत प्रचलित हैं। कहा जाता है कि

1 "The aim of any science is to study a specified part of the real world and from a study of facts to formulate theories which shall serve as recipes for human conduct, whether that conduct be the carrying out of further research or the taking of practical steps for the promotion of human welfare"—Ralph Piddington, *op cit*, p 7.

2. *Ibid*, pp. 9-10.

मानव स्वभाव से या प्राकृतिक रूप में साम्यवादी, परार्थवादी और शान्तिप्रिय है। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि मानव वास्तव में व्यक्तिवादी और युद्धप्रिय होता है; स्वभाव से धार्मिक होता है या धर्म और नीति आर्थिक परिवर्तन का ही परिणाम मात्र हैं। मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में इन समस्त आकर्षक वाद-विवादों में आदिम मनुष्यों को अधिकतर खींचकर लाया जाता है ताकि उनके उदाहरण द्वारा वाद-विवाद करने वाले अपने-अपने मत की पुष्टि कर सकें। इन समस्त वाद-विवादों के मध्य सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथा ठोस प्रमाणों को प्रस्तुत करना तथा मानव-प्रकृति तथा मानव-सम्बन्धों के अन्तर्निहित नियमों (Laws) को ढूंढ निकालना है।

द्वितीय सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया तथा परिणामों का अध्ययन करना। दूसरे शब्दों में, सामाजिक मानवशास्त्र का दूसरा प्रमुख उद्देश्य उन परिणामों या प्रभावों का अध्ययन करना है जो कि सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने के कारण आदिम समाजों में दृष्टिगोचर होते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने से आदिम मनुष्यों के जीवन में अनेक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं जो कि दिन-प्रतिदिन उनके जीवन को विघटित कर रही हैं। इस स्थिति को अधिक दिन तक बना रहने देना उचित न होगा। उनकी उन समस्याओं को सुलझाना ही होगा। यह काम प्रशासकों, सामाजिक नियोजकों आदि का है और उनके इस काम में समुचित सहायता मानवशास्त्रियों से प्राप्त हो सकती है। सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त समस्याओं के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान का संग्रह है या समस्याएँ उत्पन्न करने वाले कारणों को ढूंढ निकालना है ताकि इस प्रकार संकलित ज्ञान के आधार पर प्रशासक (administrator) तथा नियोजक (planner) अपने-अपने कार्यों को उचित ढंग से कर सकें।

ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैण्ड की शाही मानवशास्त्रीय संस्था की एक समिति ने सामाजिक मानवशास्त्र के प्रमुख उद्देश्यों का संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया है—(1) आदिम संस्कृति का उस रूप में अध्ययन करना जिस रूप में वह आज है। (2) सांस्कृतिक सम्पर्क तथा परिवर्तन या विशिष्ट प्रक्रियाओं के रूप में अध्ययन करना। जिस संस्कृति में कुछ भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई हैं, उसमें बाहरी समूहों के उन प्रभावों को ढूंढ निकालना जिसके कारण वे परिवर्तन हुए हैं। (3) सामाजिक इतिहास का पुनर्निर्माण करना, और (4) सार्वभौमिक रूप से प्रमाणित सामाजिक नियमों (Universally valid Social Laws) को ढूंढना।[1]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य विशेषकर आदिम समाजों के सामाजिक जीवन व सम्बन्धों, सामाजिक व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करना, सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्तियों के संस्थागत व्यवहारों का वर्णन करना तथा उन सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण तथा निरूपण

1. *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1954, p. 39.

करना है जिनके द्वारा मानवीय समाज, संस्कृति तथा सभ्यता विकसित एवं स्थिर रहती है। सामाजिक मानवशास्त्र का चरम लक्ष्य सर्वरूप से प्रमाणित सामाजिक नियमों को प्रतिपादित करना है।

सामाजिक मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
(Social Anthropology and other Sciences)

सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध से उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह विज्ञान मुख्यतः आदिम समाजों का अध्ययन है। अतः सामाजिक मानवशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक विज्ञान कहना ही उचित होगा। इस प्रकार इसका सम्बन्ध अन्य सामाजिक विज्ञानों—समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, इतिहास आदि—से घनिष्ठ होना स्वाभाविक ही है। उसी प्रकार चूँकि सामाजिक मानवशास्त्र विस्तृत विज्ञान मानवशास्त्र की ही एक उपशाखा है इस कारण इसका अन्य मानवशास्त्रीय विज्ञानों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक मानवशास्त्र के सम्बन्ध में हमें अपनी धारणा और भी स्पष्ट करने के लिए इन विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करना अति आवश्यक है।

(1) सामाजिक मानवशास्त्र तथा प्रजातिशास्त्र
(Social Anthropology and Ethnology)

प्रजातिशास्त्र से सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध सबसे घनिष्ठ है। यह इस कारण है कि जिस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क मुख्यत. आदिम समाजों और कभी-कभी सभ्य समाजों से है, उसी प्रकार प्रजातिशास्त्री भी भूमण्डल मे बिखरी हुई विविध संस्कृतियों को ढूंढते, अध्ययन तथा वर्गीकरण करते हैं। अतः स्पष्ट है कि दोनों के अध्ययन-विषय में बहुत-कुछ समानता है। फिर आज ये दोनों ही पृथक विज्ञान के रूप में इस कारण माने जाते हैं क्योंकि अब इन दो विज्ञानों के उद्देश्यों में पर्याप्त भिन्नता आ गई है। प्रजातिशास्त्र प्रजातियों की शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन नहीं है, यह कार्य तो शारीरिक मानवशास्त्र का है। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के शब्दों में, "प्रजातिशास्त्र का कार्य प्रजातीय एवं सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण करना और फिर वर्तमान समय में या भूतकाल में उनके वितरण को मनुष्य की गति तथा मिश्रण एवं सांस्कृतिक प्रसार के द्वारा व्याख्या करना है।"[1] आदिम समाजों का जो तुलनात्मक अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्री करते हैं उसमें प्रजातिशास्त्रियों द्वारा किया गया मनुष्यों तथा संस्कृतियों का वर्गीकरण अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। फिर भी सामाजिक मानवशास्त्र प्रजातिशास्त्र नहीं है क्योंकि सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य

1. "The task of ethnology is to classify peoples on the basis of their racial and cultural characteristics and then to explain their distribution at the present time, or in past times, by the movement and mixture of peoples and the fusion of cultures."—E. E. Evans-Pritchard, *op. cit.*, p. 4.

मनुष्यों तथा संस्कृतियो का वर्गीकरण करना नही अपितु सामाजिक संस्थाओ और व्यवहारो का अध्ययन है।

(2) सामाजिक मानवशास्त्र तथा पुरातत्वशास्त्र (Social Anthropology and Archaeology)

सामाजिक मानवशास्त्र तथा पुरातत्वशास्त्र मे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। संक्षेप मे पुरातत्वशास्त्र प्राथमिक रूप से प्राचीन समाजो तथा संस्कृतियो का अध्ययन है। पुरातत्वशास्त्र की सहायता से ही सामाजिक मानवशास्त्र उन अन्धकारमय युगो के समाजो के सम्बन्ध मे भी ज्ञान प्राप्त करता है जिनके सम्बन्ध मे कोई लिपिबद्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीन मानव-संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित अनेक विषयो का जो ज्ञान सामाजिक मानवशास्त्रियो को पुरातत्वशास्त्रियो की खोजो से प्राप्त होता है उसी के आधार पर वे मानव-समाज तथा संस्कृति के क्रमिक विकास का पता लगाते हैं और समकालीन आदिम समाजो के अध्ययन मे उस जानकारी को काम मे लगाते हैं। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि पुरातत्वशास्त्र मानव-संस्कृति के इतिहास के सम्बन्ध मे ज्ञान को अधिक विस्तृत करके तथा मानव की प्राचीनतम कृतियो एव सांस्कृतिक विकास के सामान्य नियमों अथवा अन्तर्धाराओं से परिचित कराके सामाजिक मानवशास्त्रियों के अध्ययन-कार्य मे अत्यधिक सहायता प्रदान करता है।

इन दो विज्ञानों मे सम्बन्ध घनिष्ठ होते हुए भी इनमे अन्तर सुस्पष्ट है। पुरातत्वशास्त्र ज़मीन की खुदाइयो से उपलब्ध भौतिक अवशेषो का अध्ययन एवं विश्लेषण है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं और संस्थागत व्यवहारो का अध्ययन एव निरूपण है। पुरातत्वशास्त्र उन प्राचीनतम मानव-कृतियो का अध्ययन है जिनके सम्बन्ध मे साधारणतया कोई लिपिबद्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जबकि सामाजिक मानव शास्त्र समकालीन मानव-समाजो, मुख्यत आदिम समाजो का वास्तविक अवलोकन के आधार पर अध्ययन है। इस प्रकार दो विज्ञानों की समस्याएँ, अध्ययन-विषय तथा लक्ष्य मे पर्याप्त भिन्नता है।

(3) सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र (Social Anthropology and Sociology)

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि किन्ही-किन्ही बातों मे इनमे अन्तर करना बडा कठिन है। दोनों ही 'समाज' का अध्ययन हैं और दोनों का अन्तिम लक्ष्य सामाजिक नियमों का प्रतिपादन करना है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, आदिम मानव तथा उसका समाज—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संस्थाएँ, व्यवस्था या संगठन अत्यन्त सादे, सरल व छोटे होते हैं और इनका अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। इन अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर समाजशास्त्रियों को आधुनिक, जटिल व विशाल समाजों को समझने और उनके विश्लेषण एव निरूपण मे अत्यधिक सहायता मिलती है।

दूसरी ओर समाजशास्त्रियो द्वारा आधुनिक समाजों की विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित जो विशेष अध्ययन हुए हैं उनसे आदिम समाजो के अध्ययन के लिए सामाजिक मानवशास्त्रियों को अनेक नई उपकल्पनाएँ (hypothesis) मिलती रहती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन दो विज्ञानों मे अत्यधिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। इन दो विज्ञानों को एक-दूसरे के इतने निकट लाने के विषय मे श्री दुर्खीम (Durkheim) का अनुदान विशेष उल्लेखनीय है। श्री दुर्खीम ने अपने विस्तृत अध्ययनों और प्रमाणो द्वारा एक नये रूप मे समस्त सामाजिक घटनाओं का सामाजिक कारण ढूँढ निकाला और 'समाज' को इन घटनाओ की व्याख्या मे सर्वप्रमुख स्थान प्रदान किया। अंग्रेज मानवशास्त्री श्री दुर्खीम की इन धारणाओ से अत्यन्त ही प्रभावित प्रतीत होते हैं जिनके कारण सामाजिक मानवशास्त्रीय अनेक अध्ययनो मे श्री दुर्खीम की समाजशास्त्रीय उपकल्पनाओं को काम मे लाया गया है। यद्यपि अमेरिका मे यह सम्बन्ध उतना आन्तरिक नही है, तथापि सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के बीच कोई दृढ विभाजन-रेखा खीचने का सचेत प्रयत्न नही किया गया है।

समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र मे सम्बन्ध घनिष्ठ होते हुए भी इन दो विज्ञानो मे कुछ अन्तर भी है। सामान्यतया सामाजिक मानवशास्त्र आदिम समाजों का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र आधुनिक सभ्य समाज है। दूसरा प्रमुख अन्तर अध्ययन-पद्धति का है। सामाजिक मानवशास्त्रियो की सर्वप्रमुख पद्धति 'अधाग्रहण अवलोकन पद्धति' (participant observation method) है और इसी कारण उन्हे जिस समाज का अध्ययन करना होता है उनमे जाकर वे बस जाते हैं और फिर तथ्यो का सग्रह करते हैं। इसके विपरीत समाजशास्त्रीय अध्ययन मे प्रलेखो (documents) तथा सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग होता है।

(4) सामाजिक मानवशास्त्र और मनोविज्ञान
(Social Anthropology and Psychology)

सामाजिक मानवशास्त्र का मनोविज्ञान से भी अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोविज्ञान मानव-स्वभाव व मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान है और मानव-स्वभाव का प्रभाव उसके सामाजिक कार्यों पर अति गम्भीर रूप मे पड़ता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि समाज और संस्कृति का आधार मूलतः मनोवैज्ञानिक है। पर्याप्त मनोवैज्ञानिक ज्ञान के बिना हम सामाजिक व्यवस्था को यथार्थ रूप मे कदापि नहीं समझ सकते। दूसरे शब्दों मे, मानव-स्वभाव का प्रामाणिक अध्ययन किये बिना समाज या सामाजिक सम्बन्ध तथा सस्थाओ, चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, का अध्ययन सम्भव नही है। सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध मनोविज्ञान से सामाजिक मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ और भी घनिष्ठ हो गया है। सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियो मे और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर मानव-व्यवहार और व्यक्तित्व का अध्ययन करता है और सामाजिक मानवशास्त्र मानव-व्यवहार और व्यक्तित्व से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्थाओ या सामाजिक सस्थाओं का अध्ययन करता है। इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र और

सामाजिक मनोविज्ञान एक-दूसरे के पूरक के रूप में नियत प्रगतिशील हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सामाजिक मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय मानव की मानसिक प्रक्रियाएँ और अनुभव है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं या संस्थाओं का अध्ययन है। प्रथम का सम्पर्क व्यक्ति से है तो दूसरे का सम्पूर्ण समाज से। इन दो विज्ञानों के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त भिन्नता है। मनोविज्ञान का दृष्टिकोण मूलरूप में वैयक्तिक (individualistic) है क्योंकि यह प्रधानतया व्यक्तिगत मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। इसके विपरीत सामाजिक मानवशास्त्र का दृष्टिकोण सामाजिक है क्योंकि इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति के रूप में किसी का भी अध्ययन नहीं किया जाता है। सामाजिक पृष्ठभूमि पर सामाजिक या संस्थागत मानव-व्यवहारों, सामाजिक व्यवस्थाओं व संस्थाओं का अध्ययन करना सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है।

(5) सामाजिक मानवशास्त्र और इतिहास
(Social Anthropology and History)

इतिहास भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्धों का विश्लेषण है। आधुनिक इतिहासकार घटनाओं का वर्णन तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्धों के विश्लेषण द्वारा मानव-जीवन की धारा को भी समझने का प्रयत्न करते हैं। इससे सामाजिक मानवशास्त्रियों को उनके अध्ययन-कार्यों में पर्याप्त सहायता मिलती है। जैसा कि पिछले अध्याय में ही कहा जा चुका है, संस्कृति या समाज कोई तात्कालिक या क्षणिक घटना नहीं है जो एक दिन में बनती या बिगड़ती है। यह तो अतीत के अनेक युगों की मानवीय अन्त क्रियाओं के फलस्वरूप ही बनती है। अतीत की इन मानवीय अन्त क्रियाओं से परिचित कराना आधुनिक इतिहासकार का एक प्रमुख कार्य है जिसके कारण सामाजिक मानवशास्त्रियों को उनके अनुसन्धान-कार्य के लिए अनेक उपयोगी उपकल्पनाएँ मिलती रहती है। दूसरी ओर सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजों की उत्पत्ति, विकास आदि प्रक्रियाओं का जो अध्ययन करता है उससे इतिहासकार को भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों का विश्लेषण करने तथा उन घटनाओं का मनुष्य जाति की कहानी में क्या महत्व है उसका मूल्यांकन करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। फिर भी इन दो शास्त्रों का अध्ययन-क्षेत्र, दृष्टिकोण तथा पद्धतियाँ पर्याप्त भिन्न हैं। इतिहास केवल अतीत की विशिष्ट घटनाओं का एक क्रमबद्ध वर्णन और उनके कार्य कारण सम्बन्धों का विश्लेषण है, जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्था या संस्थाओं का अध्ययन है। दूसरे, इतिहास का सम्पर्क केवल भूतकाल की घटनाओं से होता है, जबकि सामाजिक मानवशास्त्र भूत और समकालीन दोनों ही प्रकार के समाजों का अध्ययन है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानव-समाज के अध्ययन के रूप में सामाजिक मानवशास्त्र मानवशास्त्रीय विज्ञानों तथा सामाजिक विज्ञानों के अत्यन्त निकट होकर भी उनमें पृथक् अस्तित्व रखता है। यह पृथक् अस्तित्व सामाजिक मानवशास्त्र के विशिष्ट

अध्ययन-विषय तथा पद्धति के कारण है। फिर भी इन विज्ञानों के पारस्परिक आदान-प्रदान से आयोजित मानवीय अध्ययनों द्वारा हम मानव-जीवन के यथार्थ को समझने का यत्न करते हैं। सामाजिक तथा मानवीय विज्ञानों की सार्थकता भी इसी में है।

SELECTED READINGS

1. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press Glencoe, Illinois 1954.

2. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

3 Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1948.

4. Nadel, *The Foundations of Social Anthropology*, Cohen & West Ltd., London, 1953.

5. Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952

6. Radcliffe-Brown, *The Development of Social Anthropology*, University of Chicago, 1936.

3 सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ (Methods of Social Anthropology)

भूमिका
(Introduction)

सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य, अन्य सभी विज्ञानो की भाँति, प्रयोगसिद्ध और मौलिक प्रविधियो (techniques) का प्रतिपादन करना है जिनकी सहायता से निर्भर-योग्य व प्रामाणिक 'ज्ञान' (knowledge) को प्राप्त किया जा सके और तद्द्वारा सामाजिक घटनाओ (social phenomena) की यथार्थ व्याख्या, भविष्यवाणी और नियन्त्रण सम्भव हो सके। वास्तव मे, क्रमबद्ध रूप मे 'ज्ञान' के सकलन के हेतु प्रत्येक विज्ञान की ही अध्ययन-पद्धतियाँ होती है। ये पद्धतियाँ अनुसन्धानकर्त्ता के प्रयत्नो को एक सही दिशा मे चालित करती हैं और उसे प्रकृति या मानव जीवन की वास्तविकताओ (realities) को समझने मे सहायता देती है। परन्तु उसका यह समझना, जानना या ज्ञान प्राप्त करना सदैव असम्पूर्ण रहता है और वह इस अर्थ मे कि कल जो 'सत्य' (truth) था आज वह 'असत्य' हो सकता है और आज जिसे हम सत्य मानते हैं आगामी दिन वह भी असत्य सिद्ध हो सकता है। एक समय था जबकि पृथ्वी को चौरस (flat) माना जाता था और वही उस समय 'वास्तविक' था। परन्तु आज उसी वास्तविकता को अवास्तविक प्रमाणित करके पृथ्वी के आकार को प्राय गोल माना जाता है। यही बात अन्य प्राकृतिक तथा सामाजिक घटनाओ के विषय मे भी लागू होती है। इसी कारण आज के वैज्ञानिक एक महा-प्रश्न के उत्तर को खोजने का यत्न करते हैं और वह यह कि "इस समय हम जितनी चीजो को नि सन्देह ठीक-ठीक जानते हैं, उनमे से कितनी वा तव मे सत्य नही है ?"[1] समस्त विज्ञान की उन्नति या विकास भी इसी प्रश्न के उत्तर मे निहित है। श्री पाश्चर (Pasteur) ने सच कहा है, "सब लोग आपसे यह कहेगे कि आप सही है, यह प्रमाणित करने का प्रयत्न कीजिए, मैं आपसे यह कहूँगा कि आप गलत है, यही प्रमाणित करने का आप प्रयत्न करें।"[2] किसी घटना को सही या गलत प्रमाणित करना वास्तविक तथ्यो (actual facts) पर निर्भर करता है। जिन तरीको से एक विज्ञान इन वास्तविक तथ्यों **का संग्रह करता है, उनका वर्गीकरण करता है और उससे सामान्य निष्कर्ष व वैज्ञानिक**

1 "How many of the things we now know *for sure*, aren't really ture ?" This probably paraphrased statement has been informally credited to the late Charles F Kettering, world famous inventor

2. "They will tell you to try to prove you are right I tell you to try to prove you are wrong" — Pasteur.

नियमों का प्रतिपादन करता है उसे उस विज्ञान को पद्धति कहते हैं।

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ
(Methods of Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ क्षेत्र-कार्य (field-work) पर अर्थात् आदिम समाज के विभिन्न पक्षों के प्रत्यक्ष अध्ययन पर आधारित हैं। सामाजिक मानवशास्त्री पहले अपने अध्ययन-क्षेत्र को चुनता है और फिर उस क्षेत्र में जाकर प्रत्यक्ष निरीक्षण या अवलोकन (direct observation) द्वारा अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करता है, और उसी के आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकालता है। आदिम समाजों के विषय में जो प्रत्यक्ष अवलोकन किये गये हैं उन्हें मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम तो वे अवलोकन जो कि भूतकाल में अप्रशिक्षित(untrained) व्यक्तियों, जैसे पर्यटक (travellers), मिशनरी (missionaries) आदि के द्वारा किये गये थे। इनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण (scientific point of view) का नितान्त अभाव था, इस कारण ये अध्ययन वर्णन-प्रधान तथा अतिरंजित ही होते थे। दूसरी श्रेणी में वे अवलोकन आते हैं जो कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले आधुनिक मानवशास्त्रियों के द्वारा किये गये हैं और किये जा रहे हैं।

प्रथम प्रकार के अवलोकन अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ हुए थे जब कि आदिम समाज के लोगों का सभ्य समाज के साथ प्रथम सम्पर्क पर्यटक तथा मिशनरी के मार्फत हुआ। इन पर्यटकों और मिशनरियों ने दुनिया के विभिन्न भागों में निवास करने वाले आदिम लोगों के जीवन के विभिन्न पक्षों के विषय में अनेक रोचक विवरण अपने देशवासियों को प्रस्तुत किये। परन्तु इन पर्यटकों और मिशनरियों को आदिम जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन या अवलोकन करने का न तो वैज्ञानिक प्रशिक्षण (scientific training) प्राप्त था और न इन्हें इस कार्य को करने की किसी क्रमबद्ध पद्धति का ज्ञान ही था। फलतः इन पर्यटकों तथा मिशनरियों ने केवल उन वस्तुओं, प्रथाओं या संस्थाओं को ही देखा और जाना जो कि उनके दृष्टिकोण से अधिक रोचक या अनोखे प्रतीत हुए या जिनके प्रति उनकी दृष्टि स्वभावतः ही आकर्षित हुई। उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उन सबको देखा और समझा और फिर अनेक बातों को अपनी कल्पना के अनुसार जोड़-तोड़कर उन्हें अधिकाधिक रोचक रूप में प्रस्तुत किया। अतः स्पष्ट है कि इनके विवरण में यथार्थता तो कम थी, पर अतिरंजना और कल्पना अधिक। इसी कारण इनकी वैज्ञानिक उपयोगिता भी अत्यन्त कम थी।

इसके पश्चात् श्री डार्विन (Darwin) की खोज के बाद विकासवादियों का एक वर्ग सामने आया। इस वर्ग ने विकासवादी (evolutionary) योजना को समस्त सामाजिक संस्थाओं के उद्भव तथा विकास में प्रयोग किया। इस कार्य में उन्हें उपरोक्त पर्यटकों तथा मिशनरियों द्वारा प्रस्तुत विवरण से पर्याप्त सहायता मिली। परन्तु इन वैज्ञानिकों की सर्वप्रमुख कमी यह थी कि ये लोग घर बैठे ही विकासवादी योजना को लागू करते और उससे निष्कर्ष निकालते रहे। आदिम समाजों में जाकर वास्तविक अवलोकन

द्वारा अपने इन निष्कर्षों की यथार्थता की जाँच करने की आवश्यकता इन विकासवादी लेखकों ने अनुभव नहीं की। इस कारण वास्तविक तथ्यों से परे इनके सैद्धान्तिक निष्कर्षों में वैज्ञानिक यथार्थता (scientific exactness) बहुत कम थी। चूँकि ये वैज्ञानिक घर बैठे सैद्धान्तिक निष्कर्षों को निकाला करते थे, इस कारण इन्हें आरामकुर्सी वाले मानवशास्त्री (arm-chair anthropologist) कहा जाता है।

जिस प्रकार पर्यटकों तथा मिशनरियों की 'अध्ययन-पद्धति' को आज स्वीकार नहीं किया जाता है उसी प्रकार आरामकुर्सी वाले मानवशास्त्रियों की पद्धति को भी आज उचित नहीं माना जाता है। सैद्धान्तिक निष्कर्ष वास्तविक अथवा वैज्ञानिक नहीं भी हो सकता है, इस कारण इस पद्धति पर अधिक भरोसा करना उचित नहीं। सैद्धान्तिक निष्कर्षों को वास्तविक तथ्यों की कसौटी पर कसकर देखना चाहिए। इसलिए आज के मानवशास्त्रियों ने अपनी अध्ययन-पद्धति में सैद्धान्तिक निष्कर्ष के साथ वास्तविक निरीक्षण या अवलोकन (actual observation) को भी जोड़ दिया है और इन दोनों के समन्वय (synthesis) से ही आधुनिक सामाजिक मानवशास्त्र का वैज्ञानिक विकास सम्भव हुआ है। आज यह अनुभव और स्वीकार किया जाता है कि वास्तविक रूप में अवलोकित तथ्यों के सुदृढ़ आधार पर आधारित किये बिना सैद्धान्तिक निष्कर्ष न तो यथार्थ और न ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस अध्ययन-पद्धति के अन्तर्गत सिद्धान्तों (theories) का कोई भी स्थान नहीं है। इसके विपरीत इस पद्धति के अन्तर्गत सिद्धान्तों के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार किया जाता है। वास्तव में, क्रमबद्ध सिद्धान्त या सैद्धान्तिक ज्ञान अनुसन्धानकर्त्ता के ध्यान को उसके अध्ययन-विषय पर केन्द्रित रखता है, अध्ययन की दिशा बतलाने में सहायक होता है और व्यर्थ के तथ्यों को इकट्ठा करके इधर-उधर भटकने से बचाता है। सैद्धान्तिक ज्ञान वे लोरियाँ हैं जो व्यर्थ और अनावश्यक तथ्यों को गा-गाकर सुला देती हैं।

उपरोक्त सामान्य पद्धति के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र में चार विशेष पद्धतियों का विकास हुआ है। वे हैं—

(1) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)
(2) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)
(3) प्रकार्यात्मक पद्धति (Functional Method)
(4) पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति (Archaeological Method)

अब हम उक्त पद्धतियों के सम्बन्ध में अलग-अलग विवेचन करेंगे।

(1) ऐतिहासिक पद्धति
(Historical Method)

जैसाकि प्रथम अध्याय में ही कहा जा चुका है, एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। इसके पूर्व यह विज्ञान सामान्यतः इतिहास का एक अंग माना जाता था। आज मानवशास्त्र इतिहास नहीं है, इतिहास से कुछ अधिक है; फिर भी मानवशास्त्र में विशेषकर सामाजिक मानवशास्त्र में

ऐतिहासिक पद्धति का महत्व आज भी सुस्पष्ट है। इतिहास, जैसा कि आज उसे समझा जाता है, केवल कोरी घटनाओं का एक सकलन-मात्र नहीं है जो कि विशिष्ट और महत्वपूर्ण सवतो, तारीखों और स्थानों के नाम और राजा-महाराजा, रानी-महारानी और सेनापतियों के कारनामों से भरा हुआ हो। आधुनिक इतिहास वास्तव में घटित होने वाली घटनाओं की विधि के पुनर्निर्माण का अध्ययन है और उन घटनाओं का मनुष्य जाति की कहानी में क्या महत्व है, उसका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक इतिहास 'क्या था' का ही अध्ययन नहीं है, 'कैसे हुआ' का भी विश्लेषण और विवेचन है। कोई भी समाज, सस्था या सस्कृति एक दिन में बनती या बिगड़ती नहीं है। इनमें से प्रत्येक का एक इतिहास होता है। ऐतिहासिक पद्धति की सहायता से इस 'इतिहास' को अर्थात् उन मानवीय अन्त क्रियात्मक प्रक्रियाओं (human interactional processes) को, जिनके फलस्वरूप किसी सस्था या सास्कृतिक तत्त्व का क्रमविकास हुआ है, सरलता से समझा जा सकता है। इस प्रकार ऐतिहासिक पद्धति विभिन्न युगों से गुजरते हुए मानव-जीवन की धारा को समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती है। इसी कारण प्रोफेसर क्रोबर (Prof Kroeber) आदि मानवशास्त्रियों ने इस पद्धति पर पर्याप्त भरोसा किया है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक पद्धति को उपयोग में लाकर हम यह जान सकते हैं कि एक विशेष प्रकार की सस्था या सस्कृति किस समय व किन परिस्थितियों में सम्भव हो सकी थी और उस समय या उन परिस्थितियों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप उस विशिष्ट सस्था या सस्कृति में किस प्रकार के परिवर्तन होते गये। इस प्रकार विभिन्न समयों या परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों की एक धारावाही प्रवृत्ति का पता चलाकर विभिन्न सस्थाओं तथा सास्कृतिक तत्त्वों के क्रम-विकास-सम्बन्धी सामान्य नियमों को खोजा जा सकता है। जब हम ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते हैं तो हम किसी एक सस्कृति की या उस सस्कृति के किसी तत्त्व (element) की 'व्याख्या' करते हैं। यह व्याख्या इस भांति होती है कि हम यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि अमुक सस्कृति या सास्कृतिक तत्त्व ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप किस प्रकार उस रूप में है जिस रूप में आज हम उसे पाते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी सस्कृति या सास्कृतिक तत्त्व या सस्था का वर्तमान रूप किस प्रकार से ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम है, इसकी व्याख्या को ऐतिहासिक पद्धति अपनाकर ही अधिक सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस पद्धति को सर्वोत्तम रूप में तभी काम में लाया जा सकता है जबकि एक विषय के सम्बन्ध में सम्पूर्ण लिपिबद्ध या लिखित ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हो। केवल अनुमान पर निर्भर रहकर ऐतिहासिक पद्धति को अपनाने से गलतियाँ अधिक होने की सम्भावना रहती है। अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के विषयों के अध्ययन हेतु इस पद्धति की उपयोगिता उतनी नहीं हो सकती जितनी कि समाजशास्त्र के विषयों के अध्ययन के लिए; क्योंकि सामाजिक मानवशास्त्र का, जैसा कि दूसरे अध्याय में ही बताया जा चुका है, विशेष सम्पर्क आदिवासी समाजों और

उनकी संस्कृतियो या सस्थाओ के साथ होता है जिनके सम्बन्ध मे लिपिबद्ध प्रमाण (documentary records) उपलब्ध नही होते हैं। थोडा-सा ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि इतिहास की पद्धति पिछली घटनाओ के पुनर्निर्माण (reconstruction) से विशेष रूप से सम्बन्धित होती है और कोई भी ऐतिहासिक निष्कर्ष या विश्लेषण उतना यथार्थ नही होता जितना कि दूसरे प्राकृतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण तथा निष्कर्ष। वास्तव मे ऐतिहासिक निर्धारण (historical determination) गुणात्मक खोज (subjective findings) ही होते हैं जो कि यथार्थता या वास्तविकता के निकट तक ही पहुच पाते हैं, यथार्थ या वास्तव मे नही होते। और जिन विषयो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक प्रमाणो का अभाव होता है, उनके सम्बन्ध मे तो इतिहास का निष्कर्ष व्यर्थ का ही समझना चाहिए। इतिहास मे एक और कमी यह है कि यद्यपि इतिहास सामाजिक घटनाओ की प्रक्रियाओ की अवहेलना नही करता, फिर भी यह केवल इन प्रक्रियाओं को ही अपने अध्ययन-विषय के रूप मे स्वीकार भी नही करता। साथ ही, ऐतिहासिक व्याख्या या निष्कर्षों को प्रयोग (experiment) द्वारा जाँचा भी नही जाता। यह तो घटनात्मक तथ्यो (phenomenal facts) को एकत्रित करता है। श्री क्रोबर ने लिखा है कि "ऐतिहासिक व्याख्या की तुलना हम उस सीमेंट से कर सकते हैं जो कि मानव-इतिहास के पृथक् तथा अर्थहीन तथ्यो या घटनाओ को एक अर्थपूर्ण प्रतिमान या डिजाइन में जोडता है।"[1]

उपरोक्त विवेचना से ऐतिहासिक पद्धति की कुछ कमियाँ स्पष्ट हैं। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने इस पद्धति की तीन कमियो की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया है—(क) ऐतिहासिक पद्धति मे उपकल्पनात्मक पुनर्निर्माण (hypothetical reconstruction) अन्त तक उपकल्पना (hypothesis) ही रह जाता है क्योंकि इसकी परीक्षा (verification) और पुन परीक्षा सम्भव नहीं होती। (ख) इस पद्धति की यथार्थता इसी कारण अनुमान (assumption) पर आधारित होती है। यह अनुमान सस्कृति की प्रकृति तथा उसके विकास के नियमो के सम्बन्ध मे होता है। दूसरे शब्दो मे, ऐतिहासिक पद्धति मे सस्कृति की यथार्थ प्रकृति तथा उसके विकास के नियमो के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान न होने के कारण हमे अनुमान पर ही निर्भर रहकर अपने निष्कर्षों को निकालना पडता है जिनके कारण इन निष्कर्षों की यथार्थता अधिक निर्भरयोग्य नही हुआ करती। (ग) फलत. इस पद्धति से किसी भी चीज की वास्तविक व्याख्या नहीं हो सकती। इतिहास हमे विस्तारपूर्वक केवल अतीत (past) की कुछ वास्तविक अवस्थाओ व घटनाओ मे और एक सस्कृति मे पाये जाने वाले सम्बन्धो को बताता है।[2] ऐतिहासिक घटनाओ के क्रमिक विकास के सम्बन्ध मे ज्ञान करा देने के अतिरिक्त इस पद्धति का और कोई

1. "Historical interpretation may be compared to a cement which binds the isolated and *per su* meaningless facts of events of human history into a meaningful pattern or design."– Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, 1953, p 79

2. A. R. Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, edited by M.N Srinivas, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 34.

व्यावहारिक मूल्य (practical value) नही है।

(2) तुलनात्मक पद्धति
(Comparative Method)

सामाजिक मानवशास्त्र मे इस पद्धति का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे बहुत प्रयोग होता है, क्योकि इस पद्धति के आधार पर समग्र मानव संस्कृतियो की सामान्य विशेषताओ का पता चल सकता है। जो इस पद्धति को काम मे लाते हैं वे सर्वप्रथम विभिन्न संस्कृतियो या उनके संकुलो या प्रतिमानों का अलग-अलग अध्ययन करते हैं, उनकी उत्पत्ति के कारणों का पता लगाते हैं तथा उनके विकास या विनाश के आधारों को ढूढ निकालते हैं, और फिर उनमें जो सामान्य चीजें होती हैं उन्हे छांट लेते हैं और उनके आधार पर सामान्य निष्कर्षों को निकालते हैं। इस तुलनात्मक पद्धति के द्वारा विभिन्न समाजों की संस्कृति व संस्थाओ की उत्पत्ति, विकास और विनाश के सामान्य कारणों या आधारो का पता चल जाता है और हमे मानव-समाज मे क्रियाशील उन सामान्य प्रेरक शक्तियों का भी ज्ञान होता है जिनके कारण संस्कृति के विभिन्न अंगो में संगठन या एकता बनी रहती है। यदि विभिन्न समाज व संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यो को सावधानी से एकत्रित किया जाय, उन्हें उचित ढंग से प्रस्तुत किया जाय तथा उनमे पाई जाने वाली समानताओं और भिन्नताओं दोनों को ही वैज्ञानिक ढग से विश्लेषित किया जाय तो मानव-समाज, संस्कृति व संस्थाओं के सम्बन्ध में सामान्य नियमों को ढूंढा जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह परम आवश्यक है कि विषयों का चुनाव और तुलना वैज्ञानिक ढग से की जाय और अपने निजी अभिमत तथा दृष्टिकोण को दृढता से दूर रखा जाय। दूसरे शब्दो मे, इस पद्धति का अनुसरण करने वाले को समाज या संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यो को वैज्ञानिक ढंग से एकत्रित करना चाहिए और इन तथ्यों को वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण या प्रयोग के आधार पर तोलना चाहिए तथा इस प्रकार के अध्ययन-कार्य के किसी भी स्तर पर उसे आध्यात्मिक, दार्शनिक या उद्वेगात्मक (emotional) विचारो को अपने पास भटकने तक न देना चाहिए जिससे कि उनका तुलनात्मक कार्य और उसके आधार पर प्रतिपादित नियम (laws) या सिद्धात विकृत न हो जायें।

तुलनात्मक पद्धति मे कुछ मानवशास्त्री सांस्कृतिक तत्त्वो (cultural traits) को ही आधार मानते हैं। दूसरे शब्दों में, तुलना करने मे सांस्कृतिक तत्त्वो का एक-एक इकाई मान लिया जाता है और विभिन्न समाजों की इन इकाइयों की तुलना की जाती है। इसके विपरीत श्री विसलर (Wissler) आदि कुछ विद्वान सांस्कृतिक क्षेत्रों (cultural areas) को अपने तुलनात्मक अध्ययन की इकाइयां मानते हैं। इन विद्वानों का कथन है कि अगर हम ध्यान से देखें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होगा कि निश्चित भौगोलिक क्षेत्र मे कुछ सांस्कृतिक तत्त्व और संस्कृति संकुल (culture complex) अपने विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं। यदि हम सतर्क होकर इन सांस्कृतिक क्षेत्रों को पहले मालूम कर लें और फिर एक सांस्कृतिक क्षेत्र की तुलना दूसरे से करें तो मानव-संस्कृति के अनेक सामान्य तथा

श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि आज मानवशास्त्र संस्कृति के विस्तृत विवरण को प्रस्तुत करने मे अपना समय नष्ट नही करता, अपितु इस बात की जांच करता है कि वह (संस्कृति) कैसे और क्यों कार्य करती है, किस प्रकार उसके विभिन्न पक्ष सम्पूर्ण प्रतिमान मे संबद्ध रहते हैं, उनके आधार पर कौनसी प्रेरक शक्ति क्रियाशील है और किस प्रकार से इसके विभिन्न पक्षो को सबद्ध रूप मे एक सजीवित व्यवस्था के रूप मे विकसित किया जा सकता है। प्रकार्यात्मक पद्धति इन समस्त प्रश्नो का उत्तर ढूंढने का एक उपयोगी साधन है।

प्रकार्यात्मक पद्धति कुछ निश्चित आधारो या सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है, जो कि किसी भी सस्कृति के वैज्ञानिक विश्लेषण या अध्ययन के लिए आवश्यक है। प्रथम आधार तो यह है कि यह इस बात पर बल देती है कि मानव-सस्कृति कुछ पृथक्-पृथक् तत्त्व (traits and elements) का सकलन मात्र नही है। इनमे एक सावयवी एकता (organic unity) हुआ करती है और इसलिए प्रत्येक अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित होता है। इस पद्धति का दूसरा आधार यह है कि संस्कृति के प्रत्येक अंग, इकाई या तत्त्व (trait) का कोई न कोई कार्य अवश्य ही होता है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का कथन है कि सावयव या शरीर के प्रत्येक अंग की सम्पूर्ण सावयवी व्यवस्था (organic system) मे एक या कुछ विशेष कार्य होते हैं; कोई भी यह नहीं कह सकता कि इन मे से कोई अग किसी प्रकार का भी कार्य नही करता। प्रत्येक अग का कार्य अलग-अलग बँटा हुआ है फिर भी प्रत्येक अग अपने कार्यों को उचित ढग से करने के लिए दूसरे अंगो से सम्बन्धित तथा उन पर आश्रित होता है। जो बात शरीर या सावयव के सम्बन्ध मे सच है वही बात सस्कृति के सम्बन्ध मे भी ठीक है। सस्कृति के अन्तर्गत भी प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता और निरतरता को बनाये रखने मे सहायक होते हैं। प्रत्येक के बिना सम्पूर्ण का अस्तित्व (existence) असम्भव है और सम्पूर्ण के बिना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अग का सम्पूर्ण शरीर को जीवित रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार सस्कृति की प्रत्येक इकाई या सस्था का सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है।[1] हो सकता है कि बाहरी तौर पर एक सस्कृति की एक प्रथा-विशेष हमारे लिए अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो, परन्तु यदि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढांचे के सन्दर्भ मे उस प्रथा के कार्यों की हम सावधानी से विवेचना करें तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। फिर वह एक अनोखी या बेतुकी प्रथा न रहकर सामाजिक दृष्टिकोण से एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति मे सस्कृति के किसी भी अंग या तत्त्व को न तो व्यर्थ का माना जाता है और न ही अर्थहीन। यह पद्धति तो सस्कृति की प्रत्येक इकाई के कार्यों को खोजती है और इसी कार्य के आधार पर दूसरी इकाइयों के साथ इसके प्रकार्या-

1 See A R Radcliffe Brown, "On the concept of function in social ence," *American Anthropologist*, Vol 37, 1935, pp. 394-396.

त्मक सम्बन्ध को मालूम करने का प्रयत्न करती है जिससे कि अन्त मे उसे यह पता चल जाय कि ये समस्त इकाइयाँ उस समाज की, जिसे कि वह अध्ययन कर रहा है, सम्पूर्ण जीवन-विधि (the total life-way) को बनाये रखने मे मिल-जुलकर कैसे काम करती हैं। इस पद्धति का तीसरा आधार यह है कि यह मानव-समाज के एक सामान्य सिद्धान्त (general theory) पर आधारित है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि यह सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि मानव-समाजो मे असंख्य भिन्नताओ के बीच कुछ सार्वभौम मानवीय आवश्यकताओ के आधार पर प्रत्येक समाज मे एक प्रकार की सामान्य धारा बहती रहती है। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति मानव-क्रियाओं के प्रत्येक पहलू या पक्ष, चाहे वह आर्थिक हो या राजनैतिक या सामाजिक या जादू या धर्म, का अध्ययन एक-दूसरे के कार्यों के आधार पर जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, उसके सन्दर्भ मे करती है ताकि यह पता चले कि ये समस्त पहलू किसी प्रकार मानव की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए उसके अस्तित्व को बनाये रखते हैं। प्रकार्यात्मक पद्धति निश्चित रूप से यह स्वीकार करती है कि संस्कृति का हरएक तत्त्व किसी-न-किसी प्रकार की क्रिया करने के लिए जन्म लेता है, अर्थात् प्रत्येक तत्त्व का कोई कार्य होता है, वह मानव की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इस प्रकार संस्कृति का हरएक तत्त्व दूसरे तत्त्वो से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) के कारण जकडा रहता है। इस प्रकार्यात्मक सम्बन्ध को ढूंढ निकालना तथा उसका विश्लेषण और निरूपण करना ही इस पद्धति का प्रमुख उद्देश्य है।

अत: स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक पद्धति इस बात पर बल देती है कि संस्कृति के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे से आन्तरिक सम्बन्ध के कारण जकड़े हुए हैं, और ये सारे-के-सारे तत्त्व मिलकर ही सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माण करते हैं। इसलिए किसी भी सांस्कृतिक तत्त्व का हमें अन्य तत्त्वों से अलग करके अध्ययन नही करना चाहिए। सांस्कृतिक तत्त्व का पृथक् कोई अस्तित्व नही, न ही उसका अलग से कोई अर्थ होता है; सम्पूर्ण संस्कृति के प्रसंग मे ही वह सार्थक कहा जा सकता है और उसी रूप मे उसका अध्ययन मानवशास्त्री को करना चाहिए। संक्षेप मे, इस पद्धति के अनुसार 'सम्पूर्ण संस्कृति' (total culture) या 'समग्र रूप मे संस्कृति' (culture as a whole) का अध्ययन करना चाहिए, न कि इसके विभिन्न पक्ष, जैसे धर्म, जादू, विवाह आदि, का पृथक् अध्ययन।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) के अनुसार प्रकार्यात्मक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम हम मानव की उन आवश्यकताओ (needs) का पता लगाते हैं जो कि उसके शारीरिक और मानसिक (bio-psychic) तथा अन्त मे (finally) उच्चतर बौद्धिक अस्तित्व (higher intellectual survival) को बनाये रखते हैं। फिर हम उन तरीकों (ways) या साधनो का पता लगाते हैं जिनके द्वारा इन आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओ को पूरा करने के तरीको या साधनो के समग्र रूप को ही संस्कृति कहते हैं। वह संगठित व्यवस्था (integrated system), जिसमे एक खास ढग से शरीर का पोषण होता है, एक खास ढग से यौन-सम्बन्ध स्थापित होता है, एक खास ढग से अन्य शारीरिक, मानसिक व सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधनों

का संचय होता है और एक खास ढंग से यह सब 'कार्य' कर रही होती है, वही संस्कृति कहलाती है। प्रकार्यवादी पद्धति के अन्तर्गत संस्कृति का अध्ययन इसी रूप मे होता है और श्री मैलिनोवस्की इस प्रकार के अध्ययन को ही संस्कृति का वास्तविक अध्ययन कहते हैं।

श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने प्रकार्यात्मक पद्धति के सम्बन्ध मे लिखते हुए कहा है कि यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि संस्कृति एक सम्बद्ध या संगठित व्यवस्था (integrated system) है। एक समुदाय-विशेष के जीवन मे संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व एक विशिष्ट 'पार्ट' (part) अदा करता है अर्थात उसका एक विशिष्ट कार्य होता है। यह पद्धति यह स्वीकार करती है कि सभी समाज या सभी संस्कृतियाँ कुछ सामान्य 'कार्य के नियमों' (laws of function) के द्वारा नियन्त्रित और व्यवस्थित होती हैं। प्रकार्यात्मक पद्धति का उद्देश्य इन्हीं सामान्य नियमों को खोज निकालना है ताकि उस खोज के आधार पर किसी भी संस्कृति के किसी भी तत्त्व की व्याख्या या विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सके। उदाहरणार्थ, यदि हम एक यह सामान्य नियम ढूँढ़ निकालें कि संस्कार या उत्सवों का प्रमुख कार्य सामूहिक भावना को अभिव्यक्त करना तथा उसके द्वारा सामाजिक एकता को बनाये रखना है, तो इसी नियम के आधार पर हम किसी भी संस्कृति के संस्कारों या उत्सवों की व्याख्या कर सकते हैं और इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत कर सकते हैं कि उन संस्कारों या उत्सवों द्वारा कौन-कौनसी सामूहिक भावनाएँ व्यक्त (express) होती हैं और इनका सामाजिक एकता बनाये रखने मे क्या योगदान होता है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन का दावा है कि जिस प्रकार की तार्किक पद्धतियों (logical methods) का प्रयोग भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि प्राकृतिक विज्ञानों मे होता है, उसी प्रकार की पद्धतियों द्वारा प्रकार्यात्मक पद्धति भी सामान्य नियमों को खोजती तथा उनकी परीक्षा (verification) करती है।[1]

अत स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन मे ऐतिहासिक पद्धति की तुलना मे प्रकार्यात्मक पद्धति का महत्त्व अधिक है। इसका कारण यह है कि सामाजिक मानवशास्त्र का समस्त ध्यान सामाजिक संस्थाओं के विश्लेषण और उनके कार्यों के निरूपण पर ही केन्द्रित होता है, इसका (सामाजिक मानवशास्त्र का) अधिक सम्पर्क उन व्यक्तियों से नही होता है जिनकी कि ये संस्थाएँ होती हैं। दूसरे शब्दों मे, सामाजिक मानवशास्त्र, विशिष्ट अर्थ मे, व्यक्तियों या मनुष्यों का अध्ययन नही अपितु उनके द्वारा विकसित सामाजिक संस्थाओं या संस्कृति का अध्ययन है। व्यक्तियों या मनुष्यों का अध्ययन मानवशास्त्र और विशिष्ट अर्थ मे इतिहास करता है। सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करते हुए सामाजिक मानवशास्त्र इन संस्थाओं के कार्यों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन मे प्रत्येक संस्था का क्या कार्य है, इसे मालूम करता है। यही प्रकार्यात्मक पद्धति का संक्षिप्त रूप है।

---

1 A R Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, pp 34-35.

अभी तक प्रकार्यात्मक पद्धति के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है उससे स्पष्ट है कि इस पद्धति या प्रकार्यात्मक व्यवस्था मे तीन प्रमुख तत्त्व होते हैं —प्रथम तो यह कि यह पद्धति संस्कृति के विभिन्न पक्षों या संस्थाओं में पाये जाने वाले कारणात्मक सम्बन्ध को ढूंढने और प्रमाणित करने का प्रयत्न करती है। अगर धर्म का सम्पर्क या सम्बन्ध जादू-टोने से है तो यह पद्धति इस प्रश्न का उत्तर देगी कि यह सम्बन्ध क्यों है अर्थात् किन कारणों से है। दूसरे, यह पद्धति केवल सम्बन्ध के कारणों का पता लगाकर ही सन्तुष्ट नहीं होती है। वह यह भी पता लगाती है कि इनमें से प्रत्येक संस्था सम्पूर्ण सामाजिक या सांस्कृतिक व्यवस्था मे कौनसा पार्ट अदा करती है अर्थात् उसका कार्य क्या है। सम्पूर्ण सामाजिक या सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता व निरन्तरता इसी बात पर निर्भर होती है कि ये विभिन्न इकाइयाँ या संस्थाएँ आपस मे कार्य-कारण सम्बन्ध को बनाये रखते हुए मिलकर क्रियाशील रहें। प्रकार्यात्मक पद्धति कार्यों के आधार पर एक अंग का सम्पूर्ण से क्या सम्बन्ध है उसे मालूम करने का प्रयत्न करती है। संक्षेप में, यह पद्धति अंग-सम्पूर्ण सम्बन्ध (part-whole relationship) को ढूंढती है। तीसरे, प्रकार्यात्मक पद्धति इस बात पर बल देती है कि संस्कृति की प्रत्येक इकाई या संस्था का स्वरूप उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर ही निर्भर होता है। यहाँ तक कि इन इकाइयों का अस्तित्व भी उनके कार्यों पर ही निर्भर है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने तो स्पष्ट ही कहा है कि कार्य-विहीन अस्तित्व (functionless survival) नाम की कोई चीज संस्कृति मे नहीं हो सकती। उनका कथन है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व किसी-न-किसी कार्य को करने के लिए प्रकट होता है, ऐसी हालत में संस्कृति के किसी तत्त्व के विषय में यह कहना कि बिना किसी काम को किये भी उसका अस्तित्व बना रहेगा, संस्कृति के आधारभूत सिद्धांत को भुला देना है।

अतः स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक व्याख्या (functional explanation) इस सिद्धान्त पर आधारित होता है कि—(1) संस्कृति वह साधन या उपकरण है जिसके द्वारा या जिसकी सहायता से मानव के लिए यह सरल हो जाता है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने पर्यावरण का सामना कर सके; (2) संस्कृति एक ऐसी व्यवस्था है जिसका प्रत्येक अंग किसी-न-किसी उद्देश्य (end) की पूर्ति का एक साधन (means) हुआ करता है अर्थात् संस्कृति का आधारभूत नियम ही यह है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व या अंग किसी-न-किसी काम को करता है, हमारी कोई-न-कोई आवश्यकता को पूरा करता है; (3) संस्कृति की इन इकाइयों, तत्त्वों तथा अंगों का सबसे स्पष्ट स्वरूप सामाजिक संस्थाएँ होती हैं जो कि मानव की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के स्थापित या मान्य साधन होते हैं; (4) संस्कृति के वे विभिन्न अंग पृथक्-पृथक् कार्यों को करते हैं, फिर भी इन्हीं कार्यों के आधार पर वे सभी अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, अर्थात् संस्कृति वह सम्बद्ध या संगठित व्यवस्था है जिसके विभिन्न अंगों मे अन्त.सम्बन्ध और अन्त निर्भरता पाई जाती है; (5) संस्कृति का कोई भी विश्लेषण इन विभिन्न अंगों के कार्यों तथा उनके अन्त सम्बन्ध तथा अन्त.निर्भरता के आधार पर ही होना चाहिए। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति को मानने वाले विद्वानों के

दृष्टिकोण से 'कार्य' (function) का तात्पर्य उस अशदान (contribution) से है जो कि आंशिक क्रिया (partial activity) का सम्पूर्ण क्रिया को होता है जिसका कि वह एक भाग है।[1] दूसरे शब्दो मे, कार्य से मतलब संस्कृति के प्रत्येक अंग की उस क्रिया से होता है जिसके कारण केवल मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति ही नही बल्कि सम्पूर्ण संस्कृति का अस्तित्व व सगठन बना रहता है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवस्था में एक एकता (unity) होती है जिसे कि प्रकार्यात्मक एकता (functional unity) कहा जाता है। डाक्टर लेस्सर ने लिखा है कि अध्ययन की सुविधा के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि हम सामाजिक जीवन या सस्कृति के विशेष अग या पक्ष को चुन लें या उस पर विशेष ध्यान दें, परन्तु प्रकार्यात्मक पद्धति का अन्तिम उद्देश्य सामाजिक जीवन या संस्कृति को समग्र रूप मे या प्रकार्यात्मक रूप मे परिभाषित करना ही है।

(4) पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति
(Archaeological Method)

उपरोक्त तीन पद्धतियों के अतिरिक्त सामाजिक मानवशास्त्र को बहुधा एक अन्य पद्धति —पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति—का भी सहारा लेना पडता है, विशेषकर जब मानवशास्त्री को अपने अध्ययन मे प्रागैतिहासिक युग के प्रमाणो को काम में लाना होता है। ऐतिहासिक पद्धति हमे केवल ऐतिहासिक युग के सम्बन्ध मे ही बता सकती है, उससे पुरानी बातो के सम्बन्ध मे वह चुप रहता है। इस कमी को पूरा करने के लिए हमे पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति का सहारा लेना पड़ता है। यह हमें इतिहास के पहले या प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध मे बताती है। इस पद्धति मे खुदाइयों (excavation) से प्राप्त ककालीय (Skeletal) तथा अन्य भौतिक अवशेषों के आधार पर प्राचीन मानव तथा उसकी सस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और पतन का पता चलाया जाता है। इस पद्धति की सहायता से हम उस युग के मानव-समाज व संस्कृति के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसके सम्बन्ध मे कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नही है। इस कारण इस पद्धति का एक मात्र आधार खुदाइयों से प्राप्त भौतिक अवशेष ही होते हैं। वैज्ञानिक इन अवशेषों का अध्ययन करके यह पता लगाते हैं कि वे किस युग के हैं। इनके युग का पता लगाने के अनेक तरीके हैं। पहला तरीका तो यह है कि वह अवशेष जिस जगह पर पाया गया है उस जगह की चट्टान की आयु मालूम कर ली जाती है चट्टानों की आयु भूगर्भशास्त्र के नियमो मे पता चल जाती है। इस पद्धति की सहायता से चट्टान की जो आयु निश्चित की जाती है, वह आयु उस अवशेष की भी मान ली जाती है। एक दूसरा तरीका यह है कि फ्लोरीन गैस की मात्रा के कम या ज्यादा होने के आधार पर भी खुदाइयों से प्राप्त अवशेषो की आयु निश्चित की जाती है। यह तरीका विशेषकर उन चीजों की आयु मालूम करने के लिए काम मे लाया जाता है जो कि फ्लोरीन गैस को अपने अन्दर सोख

1. "Function is the contribution which a partial activity makes to the total activity of which it is a part." —A. R. Radcliffe-Brown.

(absorb) सकती है। यह गुण विशेषकर हड्डियों मे पाया जाता है। वैज्ञानिकों ने यह मालूम किया है कि जमीन म दबी हड्डियाँ ज्यो-ज्यो पथराने लगती है, त्यो-त्यो फ्लोरीन गैस को अपने मे सोखती जाती है। जिस हड्डी मे जितनी अधिक फ्लोरीन गैस होगी, वह उतनी ही पुरानी होगी। इस उपाय से भी अनेक चीजो की आयु निश्चित कर ली जाती है। पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति के द्वारा जब प्रागैतिहासिक औजारो, उपकरणो तथा मानव-कलाकृति के अन्य अवशेषो का अध्ययन होता है तो मानव-इतिहास की प्रक्रियाओ, सामाजिक जीवन, संस्कृति आदि अनेक विषयों पर प्रकाश पडता है तथा उनसे प्राचीन सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओं का वैज्ञानिक और इसलिए निर्भरयोग्य ज्ञान प्राप्त होता है। यह पद्धति कठिन अवश्य ही है परन्तु मानव-इतिहास तथा संस्कृति के पुनर्निर्माण मे भी इसका महत्त्व भी उतना ही अधिक है। इतना होने पर भी इस पद्धति मे प्रमुख कमी यह है कि इससे सामाजिक जीवन तथा संस्कृति का केवल आशिक ज्ञान ही हो सकता है। इस पद्धति के माध्यम से हम प्राचीन मानव के जीवन के केवल भौतिक पक्षो से ही परिचित हो सकते हैं। उससे सम्भवत हम यह जान सकते हैं कि वे कैसे घरों मे रहते थे किस प्रकार के उपकरणो या औजारो को काम मे लाते थे, वे मूर्तिपूजक थे या नहीं उनके आभूषण किस प्रकार के और किस चीज के बने होते थे वे किसी धातु का प्रयोग जानते थे या नहीं। परन्तु इस पद्धति के आधार पर हम प्राचीन मानव के जीवन के अभौतिक (non-material) पक्षों के विषय मे कुछ नहीं कह सकते, उस बीते हुए युग की समाज व्यवस्था, सामाजिक नियम, कानून, आदर्श मूल्य, विश्वास आदि विषयो पर कुछ भी प्रकाश डालना हमारे लिए असम्भव-सा ही होता है। इन विषयो के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष हम निकालते हैं उसे अधिक-से-अधिक 'वैज्ञानिक अनुमान' ही कहा जा सकता है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियों के दोष और गुण दोनो ही हैं। परन्तु अगर कोई एक योग्य अन्वेषक सही अर्थ मे और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रयोग करे तो निश्चय ही वह वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन कर सकता है। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कौन-सी पद्धति सबसे अच्छी है? इसके उत्तर मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सामाजिक मानवशास्त्र मानव की संस्कृति, सामाजिक जीवन तथा उनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओ का विज्ञान है, और ये संस्कृति सामाजिक जीवन व प्रक्रियाएँ अनेक रूप मे तथा विभिन्न दशाओ और परिस्थितियों मे प्रकट होती हैं। इस कारण उनका किसी एक पद्धति से अध्ययन करना न तो उचित होगा और न किया ही जा सकता है। कुछ विषयो मे ऐतिहासिक पद्धति उपयुक्त होगी तो कुछ अन्य विषयों के अध्ययन मे तुलनात्मक पद्धति। ये सभी पद्धतियाँ वास्तव मे एक-दूसरे की सहयोगी हैं, न कि प्रतियोगी, और किसी एक की सहायता से सामाजिक मानवशास्त्र का समुचित विकास नहीं हो सकता है। सच तो यह है कि एक पद्धति दूसरे के दोषों का नाश करती है। अत सामाजिक मानवशास्त्र की उपरोक्त पद्धतियो को एक-

दूसरे का पूरक समझकर समय, अवसर, समाज तथा अध्ययन-विषय की माँग के अनुसार एक या अधिक पद्धतियों का पृथक् रूप से या समन्वित उपयोग ही उपयुक्त होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है और वह यह है कि सामाजिक मानवशास्त्र की विशेष पद्धतियाँ होते हुए भी इन पद्धतियों की वास्तविक उपयोगिता सामान्य पद्धति अर्थात् क्षेत्र-कार्य (field-work) पद्धति के माध्यम से ही प्राप्त होती है या हो सकती है। इस सामान्य पद्धति—क्षेत्र-कार्य के तीन आवश्यक आधार हैं: प्रथम तो उपकल्पना (hypothesis), द्वितीय निरीक्षण (observation) और तृतीय परीक्षण (verification)। प्रारम्भ में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सिद्धान्त बनाने वाले (theorist) अन्य लोगों के, जैसे पर्यटक (travellers), मिशनरी-पादरी आदि के निरीक्षण पर भरोसा करके नियमों का प्रतिपादन करते थे। परन्तु ये नियम दो कारणों से वैज्ञानिक या यथार्थ नहीं हो पाते थे—प्रथम तो यह कि यह पता नहीं चल पाता था कि वे पर्यटक, मिशनरी-पादरी आदि जो कुछ खबर दे रहे हैं या एक विषय का जिस ढंग से निरूपण कर रहे हैं वह ठीक भी है या नहीं। इस प्रकार इनके द्वारा प्रस्तुत बातों या इनके द्वारा देखी गई घटनाओं (phenomena) के वर्णन पर सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले विद्वानों का कोई भी नियन्त्रण नहीं रहता था जिसके फलस्वरूप इनका निष्कर्ष यथार्थ (exact) ही है, यह दावा नहीं किया जा सकता था। द्वितीय इस प्रकार से सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले विद्वान अपनी उपकल्पनाओं (hypothesis) की परीक्षा आगे और निरीक्षण (further observation) के द्वारा नहीं कर पाते थे किसी भी अध्ययन को यथार्थ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उपकल्पनाओं की परीक्षा और पुनःपरीक्षा (verification and reverification) वास्तविक निरीक्षण के आधार पर की जाय। आधुनिक मानवशास्त्री आज यह स्वीकार करते हैं कि उपरोक्त दोनों कमियों को दूर किये बिना सामाजिक मानवशास्त्र में कोई भी प्रगति सम्भव नहीं। प्रत्येक उपकल्पना की परीक्षा व पुनःपरीक्षा वास्तविक निरीक्षण के द्वारा होना अनिवार्य और आवश्यक दोनों ही हैं। ऐसा देखा गया है कि कुछ विद्वानों ने स्वयं निरीक्षण किये बिना ही दूसरों की बातों या वर्णनों पर निर्भर रहकर एक समाज की जिन प्रथाओं के सम्बन्ध में लिखा है, वे वास्तव में वैसी कदापि नहीं हैं और अगर ये विद्वान उन प्रथाओं का वास्तविक निरीक्षण करने का कष्ट करते तो वे कभी उन प्रथाओं को उस रूप में प्रस्तुत नहीं करते जैसा कि उन्होंने किया है। आधुनिक मानवशास्त्रियों ने यह भी अनुभव किया है कि कुछ सामान्य ज्ञान के आधार पर किसी समाज की किन्हीं प्रथाओं के सम्बन्ध में उपकल्पनाओं को बना लेना ही पर्याप्त नहीं है। ये उपकल्पनाएँ तब तक अर्थहीन हैं जब तक उनकी पुनःपरीक्षा वास्तविक निरीक्षण के द्वारा न कर ली जाय। हो सकता है कि वास्तविक निरीक्षण उन उपकल्पनाओं को पूर्णतया गलत ही प्रमाणित कर दे।

अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र की सर्वप्रमुख पद्धति उपकल्पना के निर्माण और वास्तविक निरीक्षण पर निर्भर है। सर्वप्रथम तथ्यों (facts) का निरीक्षण किया जाना चाहिए और उसके आधार पर उपकल्पनाओं को बनाना चाहिए। परन्तु ये दोनों ही प्रारम्भिक कार्य मात्र हैं। इसके बाद हमें फिर से एक बार वास्तविक निरीक्षण

का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए जिससे कि उन उपकल्पनाओ की परीक्षा व पुन.परीक्षा सम्भव हो सके। ऐसा करने पर यह आवश्यकता अनुभव करेंगे कि जिस उपकल्पना को लेकर हम लोगो ने अध्ययन-कार्य प्रारम्भ किया था उसमे कुछ सुधार करना जरूरी है या उसे बिल्कुल बदलकर नई उपकल्पना का निर्माण आवश्यक है। यह प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक हमारी उपकल्पना की यथार्थता प्रमाणित न हो जाय।

अत. निरीक्षण और उपकल्पना को एक साथ मिला और काम मे लाकर अध्ययन करने की पद्धति ही सामाजिक मानवशास्त्र की समस्त विशेष पद्धतियों का सार है। परन्तु इस पद्धति का प्रयोग क्षेत्र (field) मे अर्थात् उस समुदाय या समाज मे जाकर ही हो सकता है जिसका कि हमे अध्ययन करना है। आधुनिक मानवशास्त्रियों का दृढ मत है कि केवल इसी तरीके से हम मानवशास्त्रीय अध्ययन ठीक से कर सकते हैं या उन अध्ययनो को यथार्थ बना सकते हैं। इसलिए केवल निरीक्षण करने की प्रशिक्षा ही काफी नही है, जब तक हम उस समुदाय मे, जिसका कि हमे अध्ययन करना है, जाकर कुछ समय के लिए बस न जाए। जिन लोगो का अध्ययन करना है उनके यथासम्भव निकट सम्पर्क मे रहे बिना उनके या उनके सामाजिक जीवन या सस्कृति के विषय मे कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना कदापि सम्भव नही। इसलिए आधुनिक मानवशास्त्री केवल निरीक्षण ही नही करते हैं बल्कि लोगो के निकट सम्पर्क मे आकर और उनके साथ बसकर उनकी प्रथाओ, विश्वासो आदि के विषय मे भी व्याख्या प्रस्तुत करते है और उनस सम्बन्धित सामान्य नियमो को खोजते है। संक्षेप मे, सामाजिक मानवशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन व संस्कृति का अध्ययन है, इस कारण इनका अध्ययन मानव समाज के वास्तविक क्षेत्र मे वास्तविक निरीक्षण-परीक्षण द्वारा ही सम्भव है और होना भी चाहिए।

SELECTED READINGS

1. Hoebel and others, *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1955.

2. Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, 1952.

3. Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, edited by M. N. Srinivas, Asia Publishing House, Bombay, 1960

4 मानवशास्त्र की व्यावहारिकताएँ या व्यावहारिक मानवशास्त्र (Application of Anthropology or Applied Anthropology)

भूमिका
(Introduction)

विविध सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्नों में जब से मानवशास्त्रीय ज्ञान का उपयोग होना प्रारम्भ हुआ, व्यावहारिक मानवशास्त्र का जन्म भी तभी हुआ। वैसे भी मानवशास्त्र का सैद्धान्तिक महत्त्व कम नही है। स्वयं अपने सम्बन्ध मे जानने की जो जिज्ञासा सदा से मानव-हृदय मे अँगड़ाई लेती रही है, उसी मे मानवशास्त्र के जन्म का रहस्य छिपा हुआ है। यह ससार ऐसा विचित्र रगमंच है जिस पर मानव की विचित्रतम लीलाएँ अपनी कितनी ही विविधताओं सहित बिखरी हुई हैं। इस धरती के विभिन्न देशो के लोगो के रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, धर्म, विश्वास, कला, भाषा, साहित्य आदि कितने ही रूप-रस-गध लिए अपने रहस्यो को उन लोगो के सम्मुख उद्घाटित करते है जो उनके सम्बन्ध मे जानने को उन्मुख और यत्नवान है। मानवशास्त्री भी उन लोगो मे एक है जो कि विचित्र मानव के सम्बन्ध मे कल्पना की तूलिका से अतिरजित, रोमाचकारी और रहस्यमयी क्पट-कथाओं को नहीं, अपितु वास्तविक तथ्यों पर आधारित यथार्थ ज्ञान को प्रस्तुत करता है। मानवशास्त्र मानव का सम्पूर्ण अध्ययन है; अत इसके अन्तर्गत केवल मनुष्य 'क्या था' और 'क्या है' का ही अध्ययन नही बल्कि उन सामान्य सामाजिक नियमो या प्रक्रियाओं का विश्लेषण एव निरूपण भी सम्मिलित है जिनके कारण मानव-समाज तथा सभ्यता विकसित होती एव स्थिर रहती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से मानवशास्त्र का महत्त्व यह है कि इसके द्वारा हमे उस 'ज्ञान' की प्राप्ति होती है जो 'विचित्र मानव' की यथार्थताओं को समझने मे सहायक होता है, साथ ही यह उन सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन सामाजिक नियमो से परिचित कराता है जो कि मानव-समाज के सगठन, निरन्तरता एव स्थिरता के कारणों और शक्तियों की अभिव्यक्ति है।

परन्तु मानवशास्त्र का समस्त महत्त्व एव उपयोगिता केवल सैद्धान्तिक समस्याओं तक सीमित है यह सोचना उचित न होगा। व्यावहारिक क्षेत्र मे भी उसकी अनेक उपयोगिताएँ है जिनके कारण केवल आदिवासियो के सामाजिक जीवन की ही नहीं, सभ्य समाज की भी अनेक समस्याओं को हल करने मे मानवशास्त्र सहायक सिद्ध हो रहा है। मानवशास्त्र का यह व्यावहारिक अग ही व्यावहारिक मानवशास्त्र के नाम से परिचित है।

व्यावहारिक मानवशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Applied Anthropology)

व्यावहारिक मानवशास्त्र मानवशास्त्र की वह शाखा है जो कि मानवशास्त्रीय ज्ञान को व्यावहारिक रूप मे मानवीय समस्याओं को सुलझाने और सामाजिक परिवर्तन को नियोजित रूप में नियन्त्रित करने में प्रयुक्त होती है।

श्री इलियट चैपल (Elliot D Chapple) के अनुसार, "व्यावहारिक मानवशास्त्र मानवशास्त्र का वह पक्ष माना जाता है जो कि मानव-सम्बन्धो मे परिवर्तनों का वर्णन करता है और इन्हे नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तों को पृथक् करता है।"[1]

व्यावहारिक मानवशास्त्र का उद्भव
(The Origin of Applied Anthropology)

जिस प्रकार सन् 1859 को, जिस वर्ष श्री डार्विन (Darwin) की प्रख्यात पुस्तक *Origin of Species* प्रकाशित हुई थी, मानवशास्त्र का जन्म-वर्ष माना जाता है, उसी प्रकार सन् 1921 को, जिस वर्ष 'अशान्ति' नामक जनजाति मे तृतीय विद्रोह फैला था, व्यावहारिक मानवशास्त्र का उद्भव-वर्ष कहा जाता है। इसके पहले न तो सरकार को और न ही जनता को यह विश्वास था कि मानवशास्त्रीय ज्ञान का कोई व्यावहारिक उपयोग भी सम्भव है और मानवशास्त्री किसी भी समाज की दैनिक समस्याओं को सुलझाने मे सहायता कर सकते है। परन्तु उक्त घटना ने मानवशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष की ओर सर्वप्रथम लोगो का ध्यान आकर्षित किया। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर निवास करने वाली इस अशान्ति जनजाति का राजा एक साधारण 'स्टूल' (Stool) पर बैठता था। पर अपने हाथ को प्राय उसी प्रकार के अन्य स्टूल पर, जिसका कि कुछ भाग सोने से ढका हुआ था, टेकता था। यह विश्वास किया जाता था कि वह स्टूल ईश्वर-प्रदत्त है और इस कारण उसे अत्यन्त पवित्र और शक्तिशाली सामूहिक प्रतीक के रूप मे माना जाता था। सन् 1896 के लगभग ब्रिटिश शासक तथा उक्त जनजाति मे कुछ संघर्ष उत्पन्न हुआ और ब्रिटिश अफसरो ने यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार उस सोने के स्टूल को अशान्ति लोगो से छीन लें। उनका अनुमान था कि ऐसा करने पर उस जनजाति के लोगो को वश मे करना सरल होगा। परन्तु हुआ इसका उल्टा। अशान्ति लोगो ने ब्रिटिश अफसरो के द्वारा स्टूल छीनने के प्रयत्नो का घोर विरोध किया और स्टूल को छिपा रखा गया। सन् 1921 मे यह पता लगा कि कुछ अपराधियो ने स्टूल मे सोने की जो सजावट थी उसमे से सोना निकालकर बेच डाला है। बस अशान्ति लोगो ने अपना भयंकर रूप धारण किया और यह माँग पेश की कि अपराधियो को मार डाला

---

1. "Applied anthropology is regarded as that aspect of anthropology which deals with the description of changes in human relations and in the isolation of the principles that control them"—Elliot D Chapple, *Applied Anthropology in Industry*, 1953, p. 819

जाय। परिस्थिति जब अत्यन्त गम्भीर हो चुकी थी और विद्रोह होने ही वाला था कि कैप्टन रैटरे (Captain Rattray), जो कि एक सरकारी मानवशास्त्री थे, मध्यस्थ हुए और अशान्ति लोगो को स्टूल को रखने और अपराधियों को निर्वासिन-दण्ड से दण्डित करने की अनुमति प्रदान की। इस प्रकार उस गम्भीर समस्या का समाधान हुआ और मानवशास्त्र का व्यावहारिक महत्त्व स्पष्ट हुआ।

प्राय. उसी समय भारत के छोटा नागपुर नामक आदिवासी क्षेत्र मे एक दूसरा झगड़ा खड़ा हुआ था। इस भाग के प्रत्येक उरांव गांव का अपना एक विशेष प्रकार का झण्डा होता है जिसे कि वे प्रतिवर्ष अन्तर्जनजातीय (Inter-tribal) नृत्य उत्सव, जिसे कि वे लोग 'यात्रा' कहते हैं, मे योगदान करने जाते समय अपने साथ ले जाते हैं। इस उत्सव मे भिन्न-भिन्न गांव और जनजातियो के लोग अश ग्रहण करते है। एक ठेकेदार को एक रेलवे पुल बनाने के कार्य मे निकटवर्ती दो गांव के लोगो की सहायता प्राप्त हुई थी। इनमे से एक गांव उरांव लोगो का था और दूसरा हिन्दुओ का। इन लोगो मे यह अन्धविश्वास था कि उस नदी पर कोई पुल नही बनाया जा सकता है। इस अन्धविश्वास को तोडने के लिए उक्त ठेकेदार ने हिन्दुओ के एक टूटे-फूटे मन्दिर को बनवाया और उरांव लोगो को एक झण्डा भेंट किया, जिस पर रेल के इजन का चित्र अकित था और उन्हे विश्वास दिलाया कि इसी से उन्हे शक्ति मिलेगी और पुल-निर्माण का कार्य सफलता से हो सकेगा। पुल के बन जाने पर झण्डे की शक्ति पर उरांव लोगो का विश्वास दृढ हुआ और वे अपने उस झण्डे के साथ 'यात्रा' के लिए जाने लगे। इसी की देखा-देखी एक दूसरे गांव के लोगो ने अपनी शक्ति को और भी बढाने के लिए प्रथम गांव के लोगो के झण्डे से भी बहुत बडा एक झण्डा बनवाया और उस पर भी वही रेल के इजन का चित्र बनवाया। प्रथम गांव के लोगो ने इस अनुकरण का घोर प्रतिवाद किया और दोनो गांवो मे जो झगड़ा हुआ उसके फलस्वरूप दो व्यक्ति मारे गये और अनेक लोग घायल हुए। पुलिस को बाध्य होकर शान्ति-रक्षा करने के लिए दखल देना पडा। दूसरे वर्ष 'यात्रा' के समय इस प्रकार की किसी दुर्घटना को रोकने के लिए जिला मजिस्ट्रेट ने उस क्षेत्र के प्रसिद्ध मानवशास्त्री स्वर्गीय शरत्चन्द राय से सहायता करने की प्रार्थना की। श्री राय ने एक नया झण्डा बनवाया जिस पर रेल के इजन के स्थान पर हवाई जहाज का चित्र अकित किया और उसे दूसरे गांव वालों को यह समझाते हुए भेंट किया कि हवाई जहाज रेल के इजन से कहीं अधिक शक्तिशाली तथा उत्तम है। गांव के लोगो की समझ मे यह बात शीघ्र ही आ गई और उन्होने रेल के इजन वाले झण्डे के स्थान पर हवाई जहाज के चित्र वाला झण्डा स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दो गांवो के बीच की वह शत्रुता सदैव के लिए दूर हो गई और वे फिर 'यात्रा' मे मित्रतापूर्वक अश ग्रहण करने और खुशियां मनाने लगे।

उक्त दोनो घटनाओ ने यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया कि मानवशास्त्र का समस्त महत्त्व एव उपयोगिता केवल सैद्धान्तिक समस्याओं तक ही सीमित नही है, अपितु उसका व्यावहारिक उपयोग मानव की अनेक समस्याओ को सुलझाने मे सहायक सिद्ध हो सकता है।

व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Applied Anthropology)

चूंकि सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क विशेषकर आदिम समाजो से होता है, इस कारण प्रारम्भ मे यह सोचा जाता था कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र केवल आदिवासियों की दैनिक समस्याओं को सुलझाने या उनकी कठिनाइयों को कम करने तक ही सीमित है। इसी कारण सबसे पहले शासक, व्यवसायी तथा मिशनरी लोगों ने गोरी जातियो और आदिवासियो के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण उठने वाली समस्याओं को सुलझाने, उन पर शासन करने या उनमे ईसाई धर्म का प्रचार करने के प्रयत्नो मे मानवशास्त्रीय ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करना प्रारम्भ किया। परन्तु धीरे-धीरे व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र विकसित होता गया।

सन् 1909 से श्रीमती सेलिगमैन, श्री इवान्स-प्रिटचर्ड, डा० नैडेल आदि की अध्यक्षता मे अनेक शोध-कार्य (research work) आदिवासियो के सम्बन्ध मे प्रारम्भ हुए जिनका कि प्रमुख उद्देश्य था आदि संस्कृतियों के सम्बन्ध मे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना तथा उस ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग करना। इस व्यावहारिक ज्ञान का क्षेत्र केवल आदिवासियों के समाजो तक ही सीमित न रहा अपितु सभ्य समाजो की समस्याओं को सुलझाने मे भी उपयोगी सिद्ध हुआ। सन् 1928 मे श्री फ्रांज बोआस (Franz Boas) की *Anthropology and Modern Life* नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार अपराध मे वंशानुसंक्रमण का प्रभाव, प्रजाति का महत्त्व, शिक्षा के कार्य आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओं के अध्ययन मे मानवशास्त्री अपने को वास्तव मे उपयोगी सिद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार मानवशास्त्रियों के प्रयत्नो से सभ्य समाज की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सरलता से समझा और उन्हें सुलझाया जा सकता है। श्री बोआस ने स्वयं भी अपने को इन समस्याओं के अध्ययन-कार्य मे नियोजित किया, विशेषकर उनके द्वारा किये गये वंशानुसंक्रमण की विशेषताओं पर पर्यावरण मे भिन्नताओं का प्रभाव-सम्बन्धी अध्ययन हमे अनेक अन्धविश्वासों और गलत धारणाओं से मुक्त करता है। श्री बोआस के इन अध्ययनों का सर्वप्रमुख परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अब केवल आदि समाजो की समस्याओं तक सीमित न रहकर मानव-समस्याओं तक विस्तृत हो गया। इस प्रकार श्री बोआस ने मानवशास्त्र को मानवता की सेवा मे उत्सर्ग किया।

दूसरी ओर श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने एक दूसरे प्रकार से व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। आपने 'संस्कृति' का अध्ययन एक सैद्धान्तिक अवधारणा के रूप मे न करके सांस्कृतिक तत्त्वों के कार्यों के जानने पर अत्यधिक बल दिया। इस कार्यवादी दृष्टिकोण से आपने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया कि : "संस्कृति मनुष्य के लिए क्या कार्य करती है ?" आपका निष्कर्ष था कि संस्कृति मनुष्य को प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त करती है तथा उसे अपने शारीरिक तथा सामाजिक अस्तित्व को बनाये रखने मे सहायता करती है और साथ

ही उसके मानसिक जीवन को भी उच्च-स्तर पर लाने का प्रयत्न करती है। प्रो० रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) भी कार्यवादी विचारधारा के समर्थक थे। परन्तु आपका मत है कि संस्कृति केवल 'व्यक्ति' को नही, समग्र समाज के अस्तित्व को, उसकी संस्थाओ के द्वारा, बनाये रखने मे सहायक होती है। इस प्रकार इन विद्वानो के अनुसार मानवशास्त्रीय ज्ञान की सार्थकता इसी मे है कि इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग इस प्रकार हो कि व्यक्ति तथा समाज का अस्तित्व सरल तथा सुन्दर हो और वे समस्त प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त होकर उत्तरोत्तर प्रगति कर सकें।

श्री रेमण्ड फिर्थ (Raymond Firth) ने व्यवहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानवशास्त्रियो का कार्य सामाजिक इजीनियर के रूप मे कार्य करना है। आपका मत है कि आदि समाज तथा सभ्य समाज के बीच जो विस्तृत खाई है उसे इस प्रकार और इतनी सावधानी से पाटना है कि आदि समाजों मे विघटन की स्थिति उत्पन्न न हो सके। यह कार्य व्यावहारिक मानवशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र है और इसीलिए इसे सामाजिक इजीनियरिंग (Social Engineering) कहना ही उचित होगा क्योंकि एक इजीनियर की भाति मानवशास्त्री भी उस 'पुल' (bridge) को बनाने मे अपने को नियोजित रखता है (या रखना चाहिए) जो कि आदि समाज और सभ्य समाज को एक साथ मिलाता है। व्यावहारिक मानवशास्त्र विभिन्न समाजो और सस्कृतियो के बीच का एक वैज्ञानिक मिलन-सेतु है।

श्री क्लूखौन (Kluckhohn) का मत है, जैसा कि श्री फिर्थ भी मानते थे, कि मानवशास्त्रियो के लिए सामाजिक इजीनियर के रूप मे कार्य करना शायद यथार्थ रूप मे सम्भव नही भी हो सकता है क्योंकि सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी नीति का निर्धारण-कार्य मानवशास्त्री नही कर सकते, यह कार्य तो प्रशासको का है। मानवशास्त्रियो के लिए अपने को प्रशासक के स्तर तक ले आना उचित न होगा क्योंकि कुछ भी हो मानवशास्त्री एक वैज्ञानिक है और वैज्ञानिक के कार्य-क्षेत्र मे नीति-निर्धारण नही आता है। जो सामाजिक पुन: निर्माण-सम्बन्धी नीति को तय नही करता है वह सामाजिक इजीनियर के रूप मे कार्य कैसे करेगा ? इस कारण अधिक अच्छा हो यदि मानवशास्त्री एक इजीनियर के रूप मे निर्माण-कार्य न करके एक डाक्टर के रूप मे समाज का रोग-निर्णय (diagnosis) करने तथा औषधि-निर्देशन (prescription) का कार्य करे। सामाजिक समस्याओ का वास्तविक स्वरूप और प्रकृति क्या है, इन समस्याओ का सामाजिक जीवन पर सभावित क्या-क्या प्रभाव हो सकता है, इन समस्याओ को, सामाजिक विघटन की प्रक्रियाओ से बचते हुए किस प्रकार वैज्ञानिक तथा सरल ढग से सुलझाया जा सकता है, इन समस्त विषयो मे परामर्श देना तथा वास्तविकताओं से प्रशासकों को परिचित करवाना मानवशास्त्रियो का यथार्थ कार्य है। इस प्रकार श्री क्लूखौन के अनुसार सामाजिक औषधि (social medicine), न कि सामाजिक इजीनियरिंग, व्यावहारिक मानवशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र है।

इस सम्बन्ध मे श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने लिखा है कि जो विद्वान व्यावहारिक मानवशास्त्र की तुलना सामाजिक औषधि या सामाजिक इजीनियर

के साथ करते हैं, वे सामाजिक मानवशास्त्र को उस प्राकृतिक विज्ञान के रूप में देखते हैं जिसका कि उद्देश्य सामाजिक जीवन के नियमों (laws) को स्थापित करना है, और एक बार सैद्धान्तिक निष्कर्षों के स्थापित हो जाने पर व्यावहारिक विज्ञान की स्थापना भी सम्भव हो जाती है। आज के अधिकतर सामाजिक मानवशास्त्री बिना सशम के या स्पष्ट रूप मे प्राकृतिक विज्ञानो को अपने आदर्श नमूने के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा यह मानते है कि मानवशास्त्र का उद्देश्य भविष्यवाणी तथा नियोजन द्वारा सामाजिक परिवर्तन को नियन्त्रित करना है। परन्तु श्री इवान्स-प्रिटचार्ड का व्यक्तिगत अभिमत यह है कि वे यह विश्वास नही करते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानो के समान कोई समाज का विज्ञान हो भी सकता है। वास्तव मे अभी तक किन्ही समाजशास्त्रीय नियमो का आविष्कार ही नही हो पाया है और जब ज्ञात नियम ही कुछ नही है तो उन्हे प्रयोग करने का प्रश्न ही नही उठता। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड ने अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, कि इसका तात्पर्य यह नही है कि सामाजिक मानवशास्त्र किसी भी रूप या अर्थ मे व्यावहारिक हो ही नहीं सकता। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि यह औषधि-विज्ञान या इजीनियरिंग के समान व्यावहारिक विज्ञान नही हो सकता।[1] व्यावहारिक मानवशास्त्र के विषय मे विवेचना करते हुए उसकी इस सीमा को समझ लेना उचित होगा।

सन् 1953 मे अपनी पुस्तक *Anthropology and Modern Life* मे श्री नैडेल (Nadel) ने व्यावहारिक मानवशास्त्र व क्षेत्र के विषय मे जो अभिमत प्रस्तुत किये हैं उसके अनुसार व्यावहारिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध केवल आदिम समाजो की समस्याओ तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका अधिक घनिष्ठ सम्पर्क आधुनिक जीवन से है। श्री नैडेल का कथन है कि मानवशास्त्र को हम व्यावहारिक इसी अर्थ मे कहते हैं कि इसके द्वारा हम लोगो की अपने समय को अनेक समस्याओ का समाधान सम्भव हो सकता है। मानवशास्त्र औपनिवेशिक प्रशासन (colonial administration) के विषय मे सहायता कर सकता है, विभिन्न प्रकार की मानव-संस्कृतियों की यथार्थताओ को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत कर सकता है और इस प्रकार से प्राप्त-ज्ञान के आधार पर अनेक मानवीय समस्याओ को हल करने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। श्री

1 "Those who have spoken about applied medicine or engineering have regarded social anthropology as a natural science which aims at the establishment of laws of social life, and once theoretical, generalizations can be established an applied science becomes feasible . The majority of the social anthropologists of to-day have, implicitly or explicitly, taken the natural sciences for their model and assumed that the purpose of anthropology is by prediction and planning to control social change. . .. I do not believe that there can ever be a science of society which resembles the natural sciences I do not think that there is any anthropologist anywhere who would seriously maintain that upto the present time any sociological laws have been discovered, and if there are no laws known, they cannot be applied This does not mean that social anthropology cannot be, even in a narrow and technical sense, applied in any way It only means that it cannot be an applied science like medicine or engineering' —E E Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, 1954 pp 114-117.

नैडेल का कथन है कि ऐसा भी देखा गया है कि कभी-कभी मानवशास्त्रीय ज्ञान या खोजों का दुरुपयोग भी होता है। मानवशास्त्रियों का नैतिक कर्तव्य इस प्रकार के दुरुपयोगों को रोकना भी है। श्री नैडेल के अनुसार इन्हीं अर्थों में मानवशास्त्र व्यावहारिक है।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अब व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका है और इसी कारण यह विज्ञान आज केवल आदिवासियों की कठिनाइयों को दूर करने में या उनकी समस्याओं को सुलझाने में नहीं अपितु समस्त मानव की सेवा में उपयोगी कार्य कर रहा है।

मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ या व्यावहारिकताएँ
(Uses or Applications of Anthropology)

मानवशास्त्र बहुत पुराना विज्ञान नहीं है। इसकी आयु प्राय. एक सौ वर्ष की होगी। फिर भी इसके द्वारा मानव के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पर्याप्त विकसित हुआ है और साथ ही अनेक मानवीय कठिनाइयों या समस्याओं के हल करने में सहायता भी मिली है। आज का मानवशास्त्र केवल 'जंगलियों' की रोचक कहानियाँ नहीं है, अपितु मानव और उसकी संस्कृतियों के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान का वितरक तथा 'मानवता का सेवक' है। दूसरे शब्दों में, आज के मानवशास्त्र का केवल सैद्धान्तिक पक्ष ही नहीं, व्यावहारिक पक्ष भी विशेष उल्लेखनीय है। इस व्यावहारिक मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ निम्न हैं—

(1) औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र में उपयोगिता (Uses in the field of Colonial Administration)—औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र में मानवशास्त्र की उपयोगिता आज प्राय सभी लोग मानते हैं। गोरी जातियों (इंगलैंड, हालैंड, फ्रांस आदि) के द्वारा संसार में जगह-जगह उपनिवेश की स्थापना साम्राज्यवाद का ही स्वाभाविक परिणाम था। इन स्थानों में रहने वाले गोरी जातियों की दृष्टि में अत्यन्त ही पिछड़े हुए थे। इस कारण वे उन पर अपने विचार, आचार, धर्म, रीति-रिवाज तथा संस्थाओं को थोपने का प्रयत्न करते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अपने देश से प्रशासक, धर्म-प्रचारक या पादरी आदि भेजते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश इन प्रशासकों, धर्म-प्रचारकों आदि को उपनिवेशवासियों के जीवन उनके रीति-रिवाज, नियम-कानून, महत्त्वपूर्ण संस्थाओं आदि के विषय में कोई भी ज्ञान न होने के कारण वे अपने ढंग से उन आदिवासियों पर प्रभुत्व स्थापना का प्रयत्न करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि बहुधा आदिवासियों ने प्रशासकों का विरोध किया और उनके धर्म, विचार, संस्था आदि को ग्रहण करने से इन्कार किया। इसके उत्तर में, बिना कुछ समझे-विचारे, प्रशासकों ने बल और सैनिक शक्ति का प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप प्रशासकों तथा

---

1 For detailed discussion please see S.F. Nadel, *Anthropology and Modern Life*, Australian National University, Canberra, 1953.

आदिवासियों का पारस्परिक सम्बन्ध उत्तरोत्तर कटु और विषाक्त होता गया। यह परि-स्थिति न तो प्रशासकों के लिए और न ही प्रशासितों के लिए हितकर थी। ऐसी अवस्था में मानवशास्त्रियों ने अपने ज्ञान और अनुभव से प्रशासक तथा प्रशासित दोनों को ही लाभ पहुँचाया। चूँकि मानवशास्त्रियों को एक ओर उपनिवेशवासियों के जीवन, उनके रीति-रिवाज, नियम-कानून, संस्थाओं आदि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरी ओर वे प्रशासकों के दृष्टिकोण तथा इच्छाओं से परिचित होते हैं, इस कारण वे सरलता से ही प्रशासक तथा प्रशासितों के बीच मध्यस्थ का कार्य अति उत्तम एवं उपयोगी ढंग से कर सकते हैं। प्रशासन-कार्य में सफलता तभी सम्भव है जब प्रशासितों को भली प्रकार से समझ लिया जाय तथा उनके प्रति वास्तविक सहानुभूति के आधार पर शासन-नीति को इस प्रकार आयोजित किया जाय कि प्रशासकों को उनका विश्वास भी प्राप्त हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रशासक वर्ग ऐसा कुछ भी न करे जिससे आदि-वासियों की भावनाओं को ठेस पहुँचे और वे भी प्रशासन-कार्य में सक्रिय सहयोग प्रदान कर सकें। यह सब-कुछ मानवशास्त्रीय ज्ञान के अधिकतम विस्तार पर ही निर्भर है। इसीलिए इंगलैंड, हालैंड, फ्रांस आदि देशों में मानवशास्त्रीय शिक्षा उनके लिए अनिवार्य है जिनकी नियुक्ति औपनिवेशिक प्रशासकों के रूप में होती है, क्योंकि आज यह सत्य सर्वस्वीकृत है कि आदिवासियों के सम्बन्ध में अधिकतर गलतफहमियाँ तथा त्रुटियाँ प्रशासकों की असहनशीलता, संकीर्णता तथा पक्षपात के कारण हैं। मानवशास्त्रीय ज्ञान-प्राप्त आज के सभी औपनिवेशिक प्रशासक यह मानते हैं कि पिछले दिनों आदि-वासियों के क्षेत्रों में उठने वाली अनेक छोटी-बड़ी समस्याओं और संघर्षों का जन्म ही शायद न होता यदि उस समय के प्रशासक वर्ग आदिवासियों की जीवन-दृष्टि से लेश मात्र भी परिचित होते। प्रशासन में व्यावहारिक मानवशास्त्र का महत्त्व तब वास्तव में स्पष्ट होता है जब आदिवासियों के रीति-रिवाज, प्रथा आदि से सम्बन्धित किसी विशेष समस्या का अध्ययन तथा उसके निराकरण के लिए मानवशास्त्रियों का आह्वान किया जाता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की एक जनजाति में यह प्रथा थी कि एक युवक तभी विवाह करने के योग्य माना जाता था जब वह एक नर-मुण्ड प्राप्त करके अपनी वीरता का प्रमाण दे। गोरी जातियों की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रथा को अत्यन्त घृणित तथा असभ्य प्रथा समझा गया। इस कारण इसे रोकने का प्रयत्न किया गया। परन्तु इस प्रयत्न के मार्ग में उस जनजाति के लोगों की ओर से घोर बाधा आने और उससे शान्ति भंग होने की आशंका की गई। इसलिए बल या सैनिक शक्ति का प्रयोग न करके सरकार ने मानवशास्त्रियों की सहायता से इस समस्या को सुलझाना अधिक उचित समझा। मानवशास्त्रियों ने उक्त जनजाति की उस प्रथा का अध्ययन किया और उनके प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके विश्वास को प्राप्त किया और उसी के बल पर जनजाति के नेताओं या मुखियाओं को समझा-बुझाकर एक नई प्रथा का सूत्रपात कराया, जिसके अनुसार विवाह के पूर्व प्रत्येक युवक के लिए नर-मुण्ड ले आना आवश्यक न रहा, बल्कि उसके स्थान पर केवल एक जंगली सुअर का सिर ले आना ही उसकी वीरता एवं योग्यता का पर्याप्त प्रमाण माना जाने लगा। इसी प्रकार की अनेक

समस्याओं का समाधान मानवशास्त्रियों के द्वारा सम्भव हुआ है। अतः स्पष्ट है कि प्रशासकों तथा प्रशासितों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिकतर आन्तरिक तथा सहयोगी करने में मानवशास्त्रियों की उपयोगिता अत्यधिक है। शासन-नीतियों का निर्धारण करते समय प्रशासक वर्ग एक भारी गलती यह करते हैं कि वे एक ही नीति को सार्वभौमिक मानकर प्रत्येक प्रकार के समाज के लोगों पर उसे प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं। इस त्रुटि की ओर मानवशास्त्री ही प्रशासकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रोफेसर फ्लोवर (Flower) के शब्दों में, "उस शासक के लिए, जो कि सफलतापूर्वक शासन करेगा, यह नितान्त आवश्यक है कि वह मानव-प्रकृति को अमूर्त रूप में न देखे और न ही सार्वभौमिक नियमों का उस पर प्रयोग करे, अपितु प्रत्येक प्रजाति की, जिस पर कि उसे शासन करना है, विशिष्ट, बौद्धिक तथा सामाजिक क्षमताओं, आवश्यकताओं तथा अभिलाषाओं को ध्यान में रखे।'[1] इस प्रकार प्रत्येक जनजाति की अपनी-अपनी विशेषताओं को ध्यान में रखने से प्रशासकों का कार्य अत्यन्त सरल ही नहीं हो जायगा बल्कि जनजातियों के सम्बन्ध में अनेक गलतफहमियाँ भी दूर हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की अनेक जनजातियों में विवाह करने के इच्छुक युवक को कन्या पक्ष को कन्या-मूल्य (bride price) के रूप पशु देना पड़ता था। गोरे शासक इस पशु के देने का अर्थ कन्या को खरीदना समझते थे। इस कारण पादरी लोग इसे बुरा मानते थे और सरकार द्वारा यह प्रथा निषिद्ध थी। परन्तु मानवशास्त्रीय अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार अनेक सभ्य समाजों में दहेज प्रथा का अर्थ लड़के या वर को खरीदना नहीं है उसी प्रकार पशु देने का अर्थ भी कन्या का क्रय नहीं है। यह भी ज्ञात हुआ कि इस प्रथा को समाप्त कर देने पर न केवल विवाह-बन्धन तथा पारिवारिक सम्बन्ध शिथिल हो जाने की संभावना है अपितु स्त्रियों की स्थिति में भी पर्याप्त पतन होने की आशंका स्पष्ट है। इन खोजों के पश्चात् पादरी तथा सरकार दोनों का ही मनोभाव उक्त प्रथा के प्रति आमूल बदल गया। शायद इसीलिए श्री कीसिंग (Keesing) का कथन है कि व्यावहारिक मानवशास्त्र—अर्थात् वास्तविक समस्याओं को सुलझाने में विज्ञान के दृष्टिकोण, ज्ञान तथा प्रविधियों (techniques) का प्रयोग—संसार के औपनिवेशिक क्षेत्रों में सर्वाधिक विकसित तथा परीक्षित है।

अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्रीय ज्ञान प्रशासन-कार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। इतना ही नहीं, मानवशास्त्री अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर प्रशासकों को किसी भी प्रशासन-कार्य के प्रभावों का यथार्थ मूल्यांकन करके बता सकते हैं। इस प्रकार किसी शासन-नीति के वास्तविक परिणामों या प्रभावों से शासकों को परिचित

---

1 'It is absolutely necessary for the statesman who would govern successfully, not to look upon human nature in the abstract and endeavour to apply universal rules, but to consider the special moral, intellectual and social capabilities, wants and aspirations of each particular race with which he has to deal "—W H Flower, The President's Address, *Journal of the Anthropological Institute*, 1884, p. 493

कराना मानवशास्त्रियों का कार्य है। फिर भी शासन-नीति का प्रतिपादित करना मानवशास्त्रियों का कार्य नहीं है, उनका कार्य तो तथ्यों या यथार्थताओं को प्रस्तुत करना है जिससे शासकों के लिए नीति-निर्धारण-कार्य सरल हो सके। कुछ भी हो औपनिवेशिक शासन के क्षेत्र में मानवशास्त्र का महत्त्व सर्वस्वीकृत है और यह महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने तो यहाँ तक आशा प्रकट की है कि "स्वयं विशुद्ध विज्ञान के अधिक द्रुत विकास तथा औपनिवेशिक शासनों के सहयोग के साथ-साथ हम एक ऐसा समय आने की भी आशा कर सकते हैं जब कि संसार के विभिन्न भागों के आदिवासियों की शिक्षा तथा सरकार मानवशास्त्रीय-विज्ञान द्वारा प्रतिपादित नियमों के व्यावहारिक प्रयोग पर आधारित एक कला के रूप में विकसित हो सकेगी।"[1]

(2) प्रजातीय भ्रान्तियाँ तथा मानवशास्त्र (Racial myths and anthropology)—'प्रजाति' के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ हैं, जैसे 'प्रजाति' को लोग प्रायः भाषा, धर्म, राष्ट्र आदि के साथ निरर्थक ही मिला देते हैं या बौद्धिक क्षमता तथा सांस्कृतिक अग्रगति व पिछड़ेपन की प्रजातीय आधार पर व्याख्या करके विभिन्न प्रजातियों में ऊँच-नीच की भावना को जन्म देते हैं। इन सब प्रजातीय भ्रान्तियों के कारण विश्व के इतिहास में अनेक अत्याचारमयी भयंकर घटनाएँ घटित हुई हैं। मानवशास्त्रीय ज्ञान ने हमें इन भ्रान्तियों के पंजों से छुटकारा दिलाया है और प्रजाति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक आधारों पर सोचने तथा निष्कर्ष निकालने को बाध्य किया है। प्रजातिवाद (Racism) की विकट समस्या जो कि आज भी अनेक मानव-समूहों को उत्पीड़ित कर रही है मानवशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर ही क्रमशः निर्बल होती जा रही है। मानवशास्त्रियों ने आज स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि प्रजाति एक सांस्कृतिक या क्षेत्रीय धारणा नहीं, अपितु एक विशुद्ध प्राणीशास्त्रीय विचार है और प्रजातियों के वर्गीकरण का आधार कुछ सामान्य शारीरिक लक्षण हैं, इस कारण इनमें उच्चता और निम्नता का कोई प्रश्न कदापि नहीं उठ सकता, प्रजातियों में तथाकथित ऊँच-नीच का संस्तरण स्वयं मनुष्य का अपना मनगढ़न्त या कपोल-कल्पित है, साथ ही बौद्धिक क्षमता केवल प्रजाति से ही सम्बन्धित नहीं है क्योंकि यह देखा गया है कि यदि पर्यावरण एक-सा है तो विभिन्न प्रजाति के सदस्यों के बुद्धि-स्तर में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। प्रजातियों के विषय में इन मानवशास्त्रीय निष्कर्षों ने अन्तर-प्रजातीय (inter-racial) सम्बन्धों को अधिक मित्रतापूर्ण तथा प्रीतिकर बनाया है।

---

1 "With the more rapid advance of the pure science itself, and with the cooperation of colonial administration, we might even look forward to a time when the government and education of native peoples in various parts of the world would mark some approach to being an art based on the application of discovered laws of anthropological science."—A. R. Radcliffe Brown, 'Applied Anthropology', *Report of Australian and New Zealand Association for Advancement of Science*, Section F 1930, p. 3

प्रजातीय संघर्ष की सम्भावना कम होने पर विश्वशान्ति की स्थापना सरल हो जायगी। मानवशास्त्र का यह अनुदान अत्यन्त महत्त्व का है।

(3) **उद्योग में व्यावहारिक मानवशास्त्र** (Applied anthropology in industry)—मानवशास्त्रीय ज्ञान तथा प्रविधियों का प्रयोग उद्योगो मे भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वप्रथम प्रोफेसर एल्टन मेओ (Elton Mayo) ने किया था। आपने अपने अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित किया कि उद्योगो मे कम उत्पादन का एक प्रमुख कारण औद्योगिक थकान (industrial fatigue) है और थकान का मुख्य कारण उद्योगो मे स्वतन्त्रतापूर्वक मेल-मिलाप की सुविधाएँ न होना है। प्रोफेसर मेओ ने एक उद्योग मे पुरुष तथा स्त्री श्रमिकों को एकसाथ काम करने तथा उनके मेल-मिलाप की सम्पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करने पर यह पाया कि वहाँ उत्पादन मे क्रमश: वृद्धि होने लगी। इतना ही नही, उनमे सामूहिक भावना का विकास भी शीघ्रता से होने लगा। इसी प्रकार उद्योगो से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओ का मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन सर्वश्री वार्नर (W. Lloyd Warner), गार्डनर (B. B. Gardner), होआइट (Whyte) आदि विद्वानो द्वारा किया जाता है। इनके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के श्रमिकों के पारस्परिक सम्बन्ध, मालिक और श्रमिको के आपसी सम्बन्ध तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न औद्योगिक समस्याओ को समझने मे पर्याप्त सुविधा हुई है। व्यावहारिक मानवशास्त्रियो ने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए जिन सुझावो को प्रस्तुत किया है उनके अनुसार कार्य करके अनेक औद्योगिक संघर्षों से छुटकारा मिल सका है। आज प्राय: सभी प्रगतिशील देशो मे औद्योगिक सम्बन्धो (industrial relations) के विषय मे वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने के लिए मानवशास्त्रियो की सेवाओ का उपयोग किया जाता है।

(4) **औषधिशास्त्र में व्यावहारिक मानवशास्त्र** (Applied anthropology in Medicine)—औषधिशास्त्र के क्षेत्र मे भी मानवशास्त्र ने व्यावहारिक दृष्टि से बडे महत्त्व का काम किया है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि आज रोगो के केवल प्राणीशास्त्रीय कारकों पर ही नहीं, सामाजिक कारको पर भी अधिक बल दिया जाने लगा है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि अनेक गम्भीर तथा मानसिक रोगो का उद्भव सामूहिक परिस्थितियो (group situations) एव विघटित मानवीय सम्बन्धो के फलस्वरूप होता है। इसी कारण आज रोग तथा स्वास्थ्य की प्राचीन परिभाषाओं को धीरे-धीरे बदला जा रहा है और रोगों की चिकित्साओं की अनेक ऐसी विधियों का सूत्रपात किया जा रहा है जो कि बहुतो के लिए इस समय भी अनोखी प्रतीत होगी। आज कुछ रासायनिक पदार्थों का योग मात्र ही औषधि नही है, अपितु अन्य अनेक प्रकार की औषधियो का प्रचलन हो रहा है जैसे पर्यावरण-सम्बन्धी औषधि (environmental medicine), सामाजिक औषधि (social medicine), मनोदैहिक औषधि (psychosomatic medicine) आदि। इनमे से अनेक मे व्यावहारिक मानवशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। सर्वश्री पार्सन्स (Parsons), फीलिक्स (Felix), फ्रैंक (Frank) गैल्डस्टन (Galdston) आदि ने जो अध्ययन किये हैं उनसे औषधिशास्त्र तथा मानवशास्त्र दोनो

को ही लाभ पहुँचा है। श्री पार्मन्स ने तो औषधि को सामाजिक व्यवस्था (social system) के एक अंग के रूप में मानकर अध्ययन किया है जबकि श्री फ्रैंक (Lawrence K. Frank) ने अपनी प्रख्यात पुस्तक का नाम 'समाज रोगी के रूप में' (*Society as the Patient*) रखा है और उसमें यह विचार व्यक्त किया है कि समाज को ही डाक्टर के रूप में खोजने की आवश्यकता है।[1] दूसरे शब्दों में, श्री फ्रैंक का मत है कि जिस प्रकार समाज रोगों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार उन रोगों की औषधि भी समाज के पास ही है। दूसरी ओर श्री रॉबर्ट रॉपोपोर्ट (Robert Ropoport) तथा अन्य मानवशास्त्रियों की अध्यक्षता में हाल ही में 'मानसिक स्वास्थ्य का सामुदायिक अध्ययन' (Community studies of mental health) भी प्रारम्भ किया है जिसके फलस्वरूप मानसिक रोग व स्वास्थ्य से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का स्पष्टीकरण सम्भव हुआ है जैसे, मानसिक स्वास्थ्य के लिए केवल मानसिक कारकों के अतिरिक्त अन्य कौनसे कारक उत्तरदायी हैं, व्यक्तित्व-निर्माण तथा सामाजिक पर्यावरण में वास्तविक सम्बन्ध क्या है, मानसिक विकार या रोग उत्पन्न करने में सामाजिक पर्यावरण के कौनसे कारक सर्वप्रमुख हैं इत्यादि। इस प्रकार के सभी अध्ययनों ने औषधिशास्त्र या चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में व्यावहारिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का काम किया है। उसी प्रकार लसीविद्या (serology) या रक्त समूहों (blood groups) के सम्बन्ध में अधिकाधिक अध्ययन करके मानवशास्त्री अपने ज्ञान को अधिक विस्तृत करने का जो प्रयत्न कर रहे हैं उससे औषधि सम्बन्धी शोधों (mental researches) में पर्याप्त सहायता मिली है।

(5) **युद्ध और मानवशास्त्र** (War and anthropology)—मानवशास्त्रीय ज्ञान की उपयोगिता युद्ध के समय में भी अत्यधिक है। इसकी सर्वप्रथम परीक्षा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में ही हो गई थी। युद्ध के समय जहाँ-कहीं भी मानव-सम्बन्धों से सम्बन्धित किसी समस्या का उद्भव हुआ, वहीं मानवशास्त्रियों ने अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर उस समस्या को सुलझाने में यत्नवान प्रयत्न किये और उसे सुलझाया भी। श्री क्लूखौन (Kluckhohn) ने अमेरिका में मानवशास्त्रियों के उन अंशदानों (contributions) के विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये हैं जिनके कारण युद्ध में जीत सम्भव हो सकी। युद्ध के प्राय सभी महत्त्वपूर्ण विभागों में मानवशास्त्रियों ने कार्य किये थे और अपने ज्ञान तथा अनुभव को राष्ट्र की सेवा में नियोजित किया। उस समय मानवशास्त्रियों ने सर्वसाधारण की सहयोगिता प्राप्त करने तथा उनके नैतिक स्तर को ऊँचा उठाये रखने में भी पर्याप्त हाथ में बँटाया था। कोरिया के युद्ध में भी मानवशास्त्रियों ने व्यावहारिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के काम किये थे।

(6) **मानवशास्त्र की अन्य उपयोगिताएँ** (Other uses of anthropology)—मानवशास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, हम ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना को ही ले सकते हैं।

---

1 See Lawrence K. Frank, *Society as the Patient*, Rutgers University Press, New Brunswick, 1948.

ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना की सफलता इसी बात पर निर्भर है कि इस प्रकार की कोई भी योजना बनाते समय हम ग्रामवासियो के जीवन-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यो का उचित ध्यान रखें ताकि योजना उनकी भावनाओ को ठेस न पहुँचाये। उनके जीवन तथा मूल्यो के विषय मे वैज्ञानिक ज्ञान हमे मानवशास्त्र ही प्रदान कर सकता है। उसी प्रकार जनजातियो की समस्याओ का वास्तविक निराकरण तभी सम्भव है जब इस विषय मे हम मानवशास्त्रियों की सहायता प्राप्त कर लेंगे क्योंकि प्रत्येक जनजाति की उनके प्रदेश तथा सस्कृति के आधार पर अपनी अलग-अलग समस्याएँ हैं, इस कारण जो योजना एक सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए उचित है वह दूसरे के लिए उचित न भी हो सकती है। इस सत्य की ओर मानवशास्त्री ही हमारे ध्यान को आकर्षित करते हैं। सक्षेप मे कोई भी पुनर्निर्माण या पुनर्वास योजना मानवशास्त्रीय ज्ञान पर आधारित तथा आयोजित होनी ही उचित तथा लाभप्रद है। राष्ट्रीय चरित्र के अध्ययन मे भी मानवशास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार के अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा सस्कृति के उन तत्त्वो का स्पष्टीकरण हो जाता है जो कि व्यक्तित्व तथा मानव-व्यवहारो के विभिन्न पक्षो के विकास मे महत्त्वपूर्ण हैं। यह ज्ञान केवल सैद्धान्तिक महत्त्व का ही नही अपितु व्यावहारिक उपयोग का भी इस अर्थ मे है कि इस ज्ञान के आधार पर सामाजिक सगठन तथा सामाजिक नियन्त्रण-कार्य अधिक व्यवस्थित रूप मे हो सकता है। उसी प्रकार जनसख्या-सम्बन्धी समस्याएँ समाज-स्वास्थ्य की समस्या, अल्पसख्यको की समस्याएँ, अपराध-चिकित्सा की समस्या आदि के वास्तविक स्वरूप को समझने मे तथा उनका वैज्ञानिक हल ढूढने मे हम मानवशास्त्र से अत्यधिक सहायता मिलती है।

मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय प्रधानत आदिम समाज है, परन्तु इन समाजो के अध्ययनों से प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव हमे अपने समाज को भी समझने मे सहायता करता है। इसलिए अमेरिकन मानवशास्त्री श्री. हर्सकोविट्स (Herskovits) का कथन है कि "हमारे आश्रयदाता समाज का जो ऋण हम पर है उसका भुगतान हम दीर्घकालीन शर्तों पर सस्कृति की प्रकृति तथा प्रक्रियाओ को समझने मे तथा उसके आधार पर अपनी आधारभूत समस्याओ को हल करने मे अपने मौलिक अशदान द्वारा करते हैं। दूसरो के समाजो तथा सस्कृतियो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करके ही हम अपने समाज और सस्कृति को अधिक सरलता से समझ सकते हैं और उनसे सम्बन्धित समस्याओ को हल करने मे अपने पिछले अध्ययनों से प्राप्त अनुभव तथा ज्ञान का सदुपयोग कर सकते हैं। एक वाक्य मे, मानवशास्त्र सर्वाधिक आश्चर्यजनक जीव—मनुष्य— को, चाहे वह किसी युग का या किसी समाज का हो, अधिक उत्तम रूप मे समझने मे सहायता करता है।

SELECTED READINGS

1. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1954.

2. Frank, Lawrence K, *Society as the Patient*, Rutgers University Press, New Brunswick, 1948

3. Kroeber and Others, *Anthropology Today*, The University of Chicago Press, Chicago, Illinois, 1953.

4. Hoebel and Others, *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Company, New York, 1955.

5 प्रजाति और प्रजातिवाद
(Race and Racism)

साधारण बोलचाल, साहित्य, यहाँ तक कि कुछ सामाजिक विज्ञानों के ग्रन्थों में 'प्रजाति' शब्द का प्रयोग बहुधा किन्ही निश्चित अर्थों मे नही किया जाता है। फलतः प्रजाति के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्तियों तथा अवैज्ञानिक धारणाओं का जन्म हुआ है और लोग इसके जैविकीय (biological) अर्थ के प्रति जान-बूझकर उदासीन रहे हैं। केवल इतना ही नही, इसी प्रजाति की धारणा को संसार के अनेक स्वार्थ-समूहों ने, विशेषकर राजनैतिक नेताओं ने अपनी स्वार्थसिद्धि के साधन के रूप मे भी प्रयोग किया है जिसके कारण विश्व का इतिहास अनेक अत्याचारपूर्ण और भयंकर घटनाओं से कलंकित है। नाज़ियों (Nazis) ने 'आर्य' प्रजाति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे जिस कल्पित कथा को प्रचलित किया और लाखों यहूदियों के प्राण लिए उससे तो संसार परिचित ही है। जापानियों ने भी इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की भ्रान्त धारणा को फैलाकर युद्ध की जिस आग को समस्त पूर्वीय देशो मे भड़काया था उसे भी भूल जाना शायद ही किसी के लिए सम्भव हो सके। अमेरिका जैसे प्रगतिशील तथा शिक्षित देश मे भी श्वेत (White) और श्याम (Black) प्रजातियों मे ऊँच-नीच का भेदभाव उसके समस्त गौरवों पर कालिमा लेपन कर रहा। इन सबका प्रमुख कारण 'प्रजाति' के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक गलत धारणाओं का होना है। ऐसी कुछ गलत धारणाएँ निम्न हैं—

प्रजाति के अर्थ के सम्बन्ध में गलत धारणाएँ
(Misconceptions regarding the Meaning of Race)

श्री हक्सले (Huxley) ने उचित ही कहा है कि 'प्रजाति' शब्द का प्रयोग मानव-समूहो के लिए करते समय हम प्राय. उसका कोई जैविकीय अर्थ नही लगाते हैं। वास्तव में होता यह है कि—'प्रजाति' शब्द को किसी जैविकीय अर्थ मे प्रयोग न करके लोग उसे भाषा, धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के साथ भ्रान्त रूप से मिला देते हैं। उदाहरणार्थ, इस शब्द का प्रयोग उस मानव-समूह के लिए किया जाता है जो एक स्थान पर कई पीढ़ियों से निवास कर रहा है जैसे अंग्रेज प्रजाति, अमेरिकन प्रजाति या चीनी प्रजाति। किसी भी व्यक्ति-समूह के एक ही देश मे पीढ़ियो से रहने से ही उसे प्रजाति नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्रजाति कोई क्षेत्रीय अवधारणा नही है। दूसरे रूप मे प्रजाति शब्द का अवैज्ञानिक प्रयोग तब होता है जब इस शब्द द्वारा ऐसे मानव-समूह का बोध करवाया जाता है

जो कि एकसमान भाषा बोलते हैं, जैसे जर्मन प्रजाति, आर्य प्रजाति, इत्यादि। 19वीं शताब्दी में प्रचलित 'आर्यवाद' के अनुसार आर्य भाषा बोलने वाले सभी लोग आर्य प्रजाति के हैं। परन्तु वैज्ञानिक रूप से कोई आर्य प्रजाति नही है। आर्य भाषा तो अवश्य है परन्तु उसे बोलने वाले व्यक्तियों को आर्य प्रजाति कहना गलत होगा। भाषा और प्रजाति का कोई सम्बन्ध नही है। यह आवश्यक नही कि एक भाषा बोलने वालों की प्रजाति भी एक ही हो। अगर ऐसा होता तो अमेरिका मे आकर बसे हुए और अंग्रेजी भाषा बोलने वाले लाखो नीग्रो (Negroes) को श्वेत प्रजाति या काकेशायड (Caucasoid) कहा जाता। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक ऐसा कहने को सहमत न होगा। उसी प्रकार जर्मन भाषा बोलने वाले भी जर्मन प्रजाति के नही हैं। जर्मन राज्य मे जर्मन भाषा बोलने वाली दो विभिन्न प्रजातिया हैं—उत्तरी जर्मनी के लोग नॉर्डिक (Nordic) प्रजाति के हैं और दक्षिणी जर्मनी के लोग आल्पाइन (Alpine) प्रजाति से सम्बन्धित हैं। भाषा संस्कृति का एक अंग है और इसका कोई भी सम्बन्ध प्रजाति से नही है।

राष्ट्र भी प्रजाति नही है। परन्तु मानवशास्त्रीय-साहित्य (anthropological literature) तक मे इन दोनो को किन्ही-किन्ही विद्वानो ने इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि उनमे कोई अन्तर रह ही नहीं जाता। उदाहरणार्थ, सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) जैसे विद्वान का मत है कि प्रजाति और राष्ट्र मे कोई भेद नही है। आपका मत है कि देश-प्रेम, समूह प्रवृत्ति (herd instinct), एकता की चेतना आदि जो तत्त्व राष्ट्र के विकास के लिए उत्तरदायी हैं वही प्रजाति-निर्माण के लिए भी अनिवार्य हैं। परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री श्री कीथ के इस मत से सहमत नही हैं। सर्वश्री हक्सले और हैडेन आदि विद्वानो का तो यहा तक कहना है कि राष्ट्र और प्रजाति मे कोई अन्तर न मानने का ही फल है कि यूरोप मे उग्र-राष्ट्रवाद हिंसक प्रजातिवाद के रूप मे व्यक्त हुआ है। दोनो ही विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति के मार्ग पर घोर बाधक हैं। इसलिए राष्ट्र की प्रजाति के रूप मे कल्पना करना भी उचित न होगा। एक राष्ट्र मे अनेक प्रजातीय तत्त्वो का समावेश हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) का राष्ट्र अनेक प्रजातियों से मिलकर बना है। उसी प्रकार भारतवर्ष को भी प्रजातियों का अजायबघर (museum of races) कहा जाता है और इन समस्त प्रजातियो को मिलाकर ही भारतीय राष्ट्र का निर्माण हुआ है। अतः स्पष्ट है कि प्रजाति और राष्ट्र को सर्वथा पृथक् श्रेणियां मानना ही उचित होगा क्योकि राष्ट्र सर्वथा एक क्षेत्रीय (territorial) अवधारणा है और प्रजाति से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है।

'प्रजाति' के अवैज्ञानिक प्रयोग का एक दूसरा रूप यह है कि कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग मनुष्यो के ऐसे समूहों के लिए भी किया जाता है जो कि एक विशेष धर्म को मानते हैं। इसीलिए हिन्दू प्रजाति, मुस्लिम प्रजाति, यहूदी प्रजाति आदि की चर्चा प्रायः सुनने को मिलती है। परन्तु यह भी एक गलत धारणा है। धर्म भी संस्कृति का एक अंग है और संस्कृति तथा प्रजाति को समानार्थक (synonymous) समझना 'प्रजाति' के वैज्ञानिक अर्थ के प्रति उदासीन रहना ही होगा, क्योकि अनेक प्रजातियो की एक सामान्य संस्कृति हो सकती है जैसे, प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीप-समूह मे हवाई, जापानी,

श्वेत आदि प्रजातियों की एक-सी संस्कृति है। इसके विपरीत एक ही प्रजाति की दो या दो से अधिक संस्कृतियाँ भी हो सकती हैं जैसे, नीग्रो प्रजाति की संस्कृति अफ्रीका और अमेरिका में सर्वथा भिन्न-भिन्न है। भाषा, धर्म या अन्य सांस्कृतिक तत्त्व सामाजिक वस्तुएँ हैं और इनको किसी भी प्रजाति के सदस्य एक ही समाज में या पृथक्-पृथक् समाज में रहते हुए ग्रहण कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राष्ट्र, धर्म, भाषा, भौगोलिक क्षेत्र—ये सब प्रजातीय अवधारणा से सम्बन्धित नहीं हैं और इनको प्रजाति से सम्बन्धित करना वास्तव में प्रजाति शब्द का दुरुपयोग ही है।

प्रजाति की वैज्ञानिक अवधारणा
(Scientific Concept of Race)

वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार प्रजाति व्यक्तियों का वह विशाल समूह है जिसके सदस्यों को सामान्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर पहचाना जा सके। इस प्रकार प्रजाति एक सांस्कृतिक या क्षेत्रीय अवधारणा नहीं अपितु एक विशुद्ध जैविकीय (biological) सत्ता है। प्रत्येक प्रजाति के सदस्यों की अपनी निजी शारीरिक विशेषताएँ या लक्षण होते हैं। ये लक्षण मूल रूप से वंशानुगत (hereditary) होते हैं और इसी कारण एक प्रजाति के लोगों में इन सामान्य शारीरिक लक्षणों का एक निश्चित संयोग होता है। इन्हीं सामान्य लक्षणों के आधार पर हम एक प्रजाति को दूसरी प्रजातियों से अलग कर सकते हैं। ये शारीरिक लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रजनन के द्वारा माता-पिता से बच्चों को हस्तान्तरित होते रहते हैं और उसी रूप में स्थिर बने रहते हैं। दूसरे शब्दों में ये लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातीय वर्गीकरण किया जाता है, अधिक परिवर्तनशील नहीं होते। इस कारण इनके आधार पर विभिन्न प्रजातियों का वर्गीकरण करना सरल न होते हुए भी बहुत-कुछ निश्चित होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से स्मरणीय है कि संसार की विभिन्न मानव-प्रजातियों में जो कुछ भी अन्तर या भेद है वह केवल कुछ बाह्य शारीरिक लक्षणों का ही अन्तर है, ऐसा सोचना भी प्रजातीय अवधारणा की वैज्ञानिक सीमाओं का उल्लंघन करना होगा। विभिन्न प्रजातियों में कतिपय बाह्य (external) अन्तरों के अतिरिक्त कुछ आभ्यन्तरिक (internal) अन्तरों, जिनमें बौद्धिक अन्तर भी सम्मिलित है, का समावेश होता है। परन्तु इन अन्तरों पर सामाजिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक कि भौगोलिक पर्यावरण का इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि ये अन्तर बहुधा निर्भर योग्य नहीं रह जाते। इस कारण उनको प्रजातीय वर्गीकरण के आधार के रूप में प्राय: ग्रहण नहीं किया जाता है। आभ्यन्तरिक अन्तरों में रक्त-समूहों (blood groups or types) का अन्तर सर्वाधिक निर्भरयोग्य तथा बुद्धि का अन्तर सबसे कम निर्भरयोग्य माना जाता है। इस विषय में हम आगे विस्तारपूर्वक पढ़ेंगे। अत: स्पष्ट है कि मानव की विभिन्न प्रजातियों में केवल बाह्य अन्तरों के अतिरिक्त कोई अन्य अन्तर ही नहीं होता, ऐसा सोचना उचित न होगा।

इस सम्बन्ध मे दूसरी स्मरणीय बात यह है कि जीव-विज्ञान में सभी मनुष्य, चाहे वे नीग्रो हों या मगोल, एक ही जाति (species) से सम्बन्धित माने जाते हैं। इस कारण शारीरिक विशेषताओं के आधार पर भी विभिन्न प्रजातियों के बीच कोई दृढ़ विभाजक रेखा नही खींची जा सकती है। दूसरे शब्दों मे, जब हम मानव-जाति की समग्र रूप में विवेचना करते हैं, तो विभिन्न प्रजातियों मे अनेक शारीरिक विशेषताएँ एक प्रकार की मिलती हैं। बहुत-से नीग्रो हैं जो बिल्कुल काले नही होते या उनमे मंगोल प्रजाति की कुछ विशेषताएँ होती हैं। उसी प्रकार ऐसे अनेक मंगोल हैं जिनका रग सफेद और सिर के बाल लाल होते हैं। इसीलिए सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने लिखा है कि "यद्यपि प्रजाति की अवधारणा व्यक्तियो मे पाये जाने वाले अन्तरों पर बल देती है; तथापि वे विशेषताएँ, जिनके आधार पर व्यक्तियो मे अन्तर है, सापेक्षिक रूप मे अल्प-संख्यक तथा नगण्य हैं। वास्तव मे सभी प्रजातियो के सदस्यों मे विशेषताओ के आधार पर यदि कुछ दर्जन भिन्नताएँ हैं तो सैकड़ो और शायद हजारों समानताएँ भी हैं। मानव-शरीर के अस्तित्व के लिए आवश्यक आधारभूत शारीरिक विशेषताओं के सम्बन्ध मे यह बात विशेष रूप से सत्य है।"[1] फिर भी सामान्य रूप से एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से पृथक् किया जा सकता है और किया जाता है, तथा पृथक् करने का आधार भी कुछ वंशानुगत शारीरिक विशेषताएँ ही हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राय उसी रूप मे स्थिर बनी रहती हैं। इस प्रकार 'प्रजाति' का सम्बन्ध मूलरूप से इन विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ से होता है, न कि राष्ट्र या सस्कृति अथवा अन्य किसी से।

यहाँ पर 'विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ' के सम्बन्ध मे दो शब्द और कह देने उचित होगे। जब हम यह कहते हैं कि प्रजाति का सम्बन्ध मूलरूप से एक समूह के सदस्यो मे पाई जाने वाली उनकी निजी विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ से है तो हमारा तात्पर्य यह नही होता है कि प्रजाति के समस्त व्यक्तियो की शारीरिक बनावट, मुखाकृति, कद, आँखों का रग, त्वचा का रग, सिर का आकार और उसकी रचना आदि बिल्कुल एक-समान होते हैं या उनमे शारीरिक लक्षणों के आधार पर कोई अन्तर ही नही होता। ऐसा नही है। इन सब विषयों मे व्यक्तिगत (individual) भिन्नता तो अवश्य होती है; किन्तु जैसा कि डा० श्यामाचरण दूबे का कथन है, "प्राय. उस समूह के प्रजाति-सम्बन्धी एक 'सामान्य' अथवा 'आदर्श' व्यक्तित्व की हम कल्पना अवश्य कर सकते है और उक्त समूह के अधिकाश व्यक्ति अपने बाह्य रूप मे प्रायः इस कल्पित चित्र के आस-पास ही रहते हैं।" इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह है कि यह सोचना भी गलत होगा कि ये विशिष्ट शारीरिक

1. "The nature of the discussion of race and race criteria necessarily emphasizes the differences between men. Yet the characteristics in which men differ are relatively few and minor in importance Actually human beings of all races are alike in hundreds, and perhaps thousands, of characteristics in contrast to the few dozens of ways in which they differ. This is particularly true of the basic physical characteristics necessary to the survival of human organism."—Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959, p. 133.

विशेषताएँ पर्यावरण-सम्बन्धी परिस्थितियों (environmental conditions) से बिल्कुल ही परे हैं और उनमे कभी कोई परिवर्तन होता ही नही है। उनमे भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। फिर भी थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ प्रजाति की विशिष्ट शारीरिक विशेषताएँ पीढ़ी-दर-पीढी प्रायः उसी रूप मे स्थिर बनी रहती हैं। इसीलिए डा० मजूमदार का मत है कि "प्रजातीय अन्तर वातावरण के प्रभावों से अप्रभावित विशेष आनुवंशिक गुणों (hereditary traits) पर आधारित होना चाहिए।"

प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाएँ
(Scientific Definitions of Race)

प्रजाति की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाओं का निरूपण अत्यन्त आवश्यक है। डा० मजूमदार (Majumdar) ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का उपादान' मे प्रजाति को निम्न शब्दो मे परिभाषित किया है—' यदि व्यक्तियों के एक समूह को समान शारीरिक लक्षणो के आधार पर अन्य समूहो से पृथक् पहचाना जा सके तो चाहे इस जैविकीय समूह के सदस्य कितने ही बिखरे क्यो न हों, वे एक-प्रजाति हैं।"[1]

श्री हर्डलिका (Hrdlicka) के अनुसार, "प्रजाति एक जाति (species) के अन्तर्गत वह स्थिर धारा (strain) या मोटे तौर पर रक्त सम्बन्धित व्यक्ति हैं, जिनमें सतत अर्थात् वंशानुगत रूप से कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताएँ होती हैं जो कि उन्हे अन्य सभी धाराओ या प्रजातियो से स्पष्टतः पृथक् करती हैं।"[2]

श्री हॉबल (Hoebel) के मतानुसार, "प्रजाति विशिष्ट जननिक रचना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षणो का एक विशिष्ट संयोग रखने वाले अन्तः-सम्बन्धित मनुष्यों का एक वृहत् समूह है।"[3]

अतः हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक परिभाषा से अनुसार प्रजाति मनुष्यो का वह वृहत् समूह है जिसके सदस्यो में सापेक्षिक रूप से स्थिर कुछ वंशानुगत शारीरिक लक्षण समान सामान्य होते हैं जो कि प्रजनन द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित

---

1. "If a group of people who by their possession of a number of common physical traits can be distinguished from others, even if the numbers of this biological group are widely scattered, they from a race."—D N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p. 16

2 "Race is a persistent strain, within any species, or broadly blood-connected individuals carrying steadily, *i e*, hereditarily, more or less of well defined physical characteristics which distinguish them fairly from all other strains or races"—Hrdlicka (1941).

3 "A race is a major grouping of interrelated people possessing a distinctive combination of physical traits that are the result of distinctive genetic composition"—E.A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, 116.

होते हुए भी प्रायः उसी रूप में स्थिर बने रहते हैं और जिसके आधार पर एक प्रजातीय समूह को दूसरों से पृथक् किया जा सकता है।

हमारी उपर्युक्त परिभाषा से प्रजाति की तीन प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

(अ) प्रत्येक प्रजाति के कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षण या विशेषताएँ सामान्य होती हैं, जिनके आधार पर उसे दूसरी प्रजातियों से अलग किया जा सकता है।

(ब) ये वंशानुगत शारीरिक लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातियों को एक-दूसरे से पृथक् किया जाता है, पर्यावरण (environment) के प्रभावों से बहुत थोड़ा परिवर्तित होते रहने पर भी सापेक्षिक रूप से स्थिर बने रहते हैं, अर्थात् पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक-से बने रहते हैं।

(स) ये सामान्य लक्षण या विशेषताएँ एक विशाल जन-समूह मे पाये जाने पर ही उस समूह को प्रजाति कहेंगे। यदि एक परिवार के व्यक्तियों मे कुछ शारीरिक विशेषताएँ सामान्य हैं तो उस समूह को एक प्रजाति नहीं कहा जायगा।

प्रजातियों की उत्पत्ति
(The Origin of Races)

आज यह सभी मानते हैं कि ससार के सभी जीवित मानव एक ही जाति (species)—मेधावी मानव (*Homo sapiens*)—की सन्तान हैं। परन्तु आज का मानव अनेक प्रजातीय समूहों और उप-समूहों मे बँटा हुआ है जो कि एक-दूसरे से कुछ विशिष्ट शारीरिक विशेषताओं के आधार पर पृथक् हो गये हैं। यदि विद्यमान प्रजातियाँ और उप-प्रजातियाँ एक ही पूर्वज की सन्तान हैं तो प्रजातियों के शारीरिक लक्षणों मे आज जो भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उन भिन्नताओं के क्या कारण हैं ? इन परिवर्तनों का इतिहास क्या है ? दूसरे शब्दों मे विभिन्न प्रजातियों की उत्पत्ति कैसे हुई यह प्रश्न हम स्वभावतः ही कर सकते हैं। मानव-समूहों मे परिवर्तन लाने वाले कारणों के विषय में हमे बहुत कम ज्ञान है, साथ ही मानव-प्रजातियों के इतिहास के सम्बन्ध मे भी हमारा ज्ञान आज भी अपूर्ण है। यत्र-तत्र जो कुछ भी प्रमाण मिलते हैं, वे सभी निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। इतिहास भी उक्त प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि लिखित इतिहास के पहले ही मनुष्यों की विभिन्न प्रजातियाँ बन चुकी थीं। यह सच है कि प्रागैतिहासिक पुरातत्वशास्त्र हमें मानव-इतिहास के उन अन्धकारमय युगों से भी परिचित करवाता है जिनके सम्बन्ध मे हमे कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर भी इस पर अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता है। अतः प्रख्यात मानवशास्त्री श्री क्रोबर (Kroeber) के शब्दों मे, "हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य की प्रजातियाँ, जैसी कि आज पृथ्वी पर फैली हुई हैं, बनने मे कम-से-कम लाखों वर्ष अवश्य लगे होंगे। किन कारकों ने उनमे अन्तर उत्पन्न किया, पृथ्वी के किस भाग पर प्रत्येक ने अपनी विशेषताओं को प्राप्त किया, वे आगे कैसे उपविभागों मे विभक्त हुए,

उनको जोड़ने वाली कड़ियाँ कौनसी थीं तथा विभिन्न प्रजातियाँ कैसे पुनः मिश्रित हुईं—इन सभी विषयों पर अभी तक उत्तर अपूर्ण है।"[1]

मानव-जाति में प्रजातीय भिन्नताएँ अर्थात् प्रजातियों की रचना या उत्पत्ति निम्नलिखित कारकों (factors) का फल है—(1) उत्परिवर्तन (mutation), (2) प्राकृतिक प्रवरण (natural selection), (3) जननिक प्रवाह (genetic drift), (4) बहिर्समूह यौन-सम्बन्ध (crossing) और (5) पृथक्करण (isolation)। यहाँ हम इन कारकों के विषय में संक्षेप में विचार करेंगे।

(1) **उत्परिवर्तन** (Mutation)—वंशानुसंक्रमण की वर्तमान वैज्ञानिक धारणा के अनुसार व्यक्ति के विभिन्न लक्षणों (traits) या विशेषताओं का निर्धारण वाहकाणुओं (genes) के द्वारा होता है। कभी-कभी एक वाहकाणु की संरचना (structure) में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही उत्परिवर्तन कहते हैं। इस उत्परिवर्तन के कारण व्यक्ति के शारीरिक लक्षणों में भी परिवर्तन हो जाता है। यह उत्परिवर्तन जब प्रबल (dominant) वाहकाणु में होता है तो उसका प्रभाव व्यक्ति के अधिकतर बच्चों में तुरन्त प्रकट होने लगता है। जब इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति अधिक तेजी से होती रहती है तो नवीन विशेषता वाले एक समूह की रचना हो जाती है। इस प्रकार के नये समूह के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि उत्परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति के शारीरिक लक्षण में जो परिवर्तन हो वह उसके अस्तित्व को बनाये रखने में भी सहायक सिद्ध हो ताकि अधिकाधिक व्यक्ति जीवित रहें और उस विशिष्ट शारीरिक लक्षण का विस्तार अधिक-से-अधिक व्यक्तियों और उनकी सन्तानों में होता रहे। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्परिवर्तन के कारण शारीरिक लक्षण में परिवर्तन हो जाने पर व्यक्ति का उसके पर्यावरण से अनुकूलन कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में उत्परिवर्तन लाभदायक न होकर हानिप्रद होता है। फिर भी यह स्मरणीय है कि पर्यावरण स्वयं भी स्थिर नहीं रहता और उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसे परिवर्तन के कारण वही उत्परिवर्तन, जो पहले हानिप्रद था, एक समय लाभदायक हो सकता है। संक्षेप में, अनुकूल पर्यावरण प्राप्त होने पर उत्परिवर्तन के कारण शारीरिक लक्षणों में होने वाले परिवर्तन का विस्तार सरल और व्यापक होता है और अन्त में एक प्रजातीय लक्षण (racial trait) के रूप में स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उत्परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा प्रजातीय लक्षणों का विकास सरल तथा दो-चार वर्षों की बात है। अनुमान है कि यदि उत्परिवर्तन प्रबल वाहकाणु में हो तो उसे एक प्रजातीय लक्षण के रूप में विकसित होने में प्रायः तीन हजार वर्षों का समय लगेगा।

---

1. "We can conclude that the races of man as they are spread over the earth to-day must have been at least some tens of thousands of years in forming. What caused them to differentiate, on which part of the earth's surface each took on its peculiarities, how they further subdivided, what were the connecting links between them, how the differentiating races may have reblended—on all these points the answer is as yet incomplete."—Kroeber, *Anthropology*, New York, 1948, p. 125.

(2) **प्राकृतिक प्रवरण** (Natural Selection)—श्री डार्विन (Darwin) के अनुसार जीवित प्राणियो से प्रकृति की यह सतत माँग है कि जीव अपने पर्यावरण से अनुकूलन करें। जो प्राणी अपने शारीरिक दोष या कमियो के कारण अनुकूलन करने मे असफल होते हैं, प्रकृति उन्हे नष्ट कर देने के लिए चुन लेती है। इसके विपरीत जो प्राणी सफलतापूर्वक अनुकूलन कर लेते हैं, प्रकृति उन्हे जीवित रखने के लिए चुन लेती है। यही प्राकृतिक प्रवरण या चुनाव है। प्रकृति का यह नियम है कि "केवल सबसे योग्य प्राणी ही जीवित रहेंगे" (Only fittest shall survive)। इस सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष यह है कि एक विशेष प्रकार का शारीरिक लक्षण एक विशेष प्रकार के पर्यावरण के लिए अधिक उपयुक्त होता है, जैसे शरीर का काला रग अफ्रीका प्रदेश के पर्यावरण के लिए उपयुक्त तथा लाभकारी है क्योकि काले रग के शरीर की खाल (skin) पर अधिक तेज धूप का हानिकारक प्रभाव नही पड़ता है। पर्यावरण से अनुकूलन करने मे सहायक है या पर्यावरण के लिए उपयुक्त तथा लाभकारी है, ऐसे शारीरिक लक्षणो को उत्पन्न करने वाले वाहकाणुओ का प्रकृति द्वारा चुनाव या प्रवरण होता है और उन लाभकारी वाहकाणुओ को विकसित होने मे पर्यावरण का सहयोग प्राप्त होता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य की शारीरिक विशेषताओ का जो सयोग (combination) एक पर्यावरण विशेष के लिए लाभकारी और उपयुक्त होता है वह प्रत्येक पीढी मे क्रमश. बढ़ता चला जाता है क्योकि इस प्रकार के व्यक्ति तथा उनकी सन्तान प्राकृतिक प्रवरण के नियम से अधिकतम सख्या मे जीवित रहती है। इसके विपरीत वे व्यक्ति जिनमे उपयुक्त वाहकाणुओ का या दूसरे शब्दो मे उपयुक्त शारीरिक विशेषताओ का अभाव होता है, अधिक सख्या मे जीवित नही रह पाते। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक विशेष पर्यावरण मे उस पर्यावरण के लिए उपयुक्त या लाभकारी वाहकाणुओं की या शारीरिक विशेषताओ की अधिकतम सरक्षा होती है। इस सरक्षण के फलस्वरूप ही कुछ विशिष्ट प्रजातीय लक्षण विकसित हो जाते हैं जो कि एक नवीन प्रजाति को जन्म देते हैं।

(3) **जननिक प्रवाह** (Genetic Drift)—उपर्युक्त दो प्रक्रियाओ के अतिरिक्त एक तीसरी प्रक्रिया भी है जिसके कारण प्रजातियो की रचना हो सकती है। ऐसा भी देखा गया है कि एक मानव-समूह की जननिक रचना (genetic composition) मे उत्परिवर्तन या प्राकृतिक प्रवरण के बिना ही परिवर्तन हो जाय। यह 'सीवेल राइट प्रभाव' (Sewell Wright Effect) या 'जननिक प्रभाव' के फलस्वरूप होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए व्यक्तियो के एक समूह के एक नये क्षेत्र मे जाकर बस जाने से उस समूह का समस्त सम्पर्क उसके पूर्वज-समूह (ancestral group) से छिन्न हो जाता है। यह भी मान लीजिए कि बाद की पीढियो मे प्रथम समूह की सन्तान भी उस प्रथम समूह से दूर जाकर अन्य किसी स्थान पर पृथक् जनसख्या के रूप मे बस जाती है। इस प्रकार से बिखरने या छिटकने का परिणाम यह होगा कि छिटकने वाले समूहो का मूल समूह से शारीरिक या जननिक सम्बन्ध बिलकुल नही रह जायगा और हो सकता है कि छिटके हुए किसी समूह मे मूल समूह के सभी विशिष्ट वाहकाणु लुप्त हो जाएँ या दब जाएँ और उस छिटके हुए समूह मे एक नवीन जननिक प्रवाह

प्रारम्भ हो। इस प्रकार के जननिक प्रवाह के फलस्वरूप एक नई प्रजाति विकसित हो जाती है। वास्तव मे होता यह है कि मूल समूह से पृथक् या दूर हो जाने से मूल समूह के वाहकाणुओं का प्रभाव भी धीरे-धीरे घटता रहता है क्योकि हर पीढी में नये वाहकाणुओं का आयात होता जाता है। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि मूल समूह के वाहकाणु लुप्त हो जाते हैं और नये वाहकाणु नये प्रकार के शारीरिक लक्षण वाले समूह या प्रजाति को जन्म देते हैं। परन्तु यह भी अनेक पीढियों के बाद ही सम्भव होता है।

(4) बहिर्समूह यौन-सम्बन्ध (Crossing)—भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने को बाध्य होता है। इस विषय मे सदैव मनुष्य पशुओं से कहीं अधिक गतिशील रहता है; क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की शक्ति तथा विभिन्न पर्यावरण से अनुकूलन की क्षमता मनुष्य मे पशुओ से अधिक होती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य अति सरलता से नये स्थानो मे जाकर स्थायी रूप से बस जाता है और वहाँ के मूल निवासियों से विवाह सम्बन्ध भी स्थापित करता है। बहिर्समूह से इस प्रकार यौन-सम्बन्ध के फलस्वरूप वर्णसंकर सन्तानो की उत्पत्ति होती है। ये सन्तानें आगे चलकर एक ऐसे समूह को विकसित करती हैं जिनमे कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षणों का सयोग होता है और जिससे कि एक नवीन प्रजाति की रचना हो जाती है। भारतवर्ष मे इस प्रक्रिया से कई प्रजातियो की रचना हुई है जिसके विषय मे हम अगले अध्याय मे विस्तृत विवेचना करेंगे।

(5) पृथक्करण (Isolation)—पृथक्करण का भी प्रजातियों की रचना मे काफी प्रभाव पड़ता है क्योकि इसके कारण मनुष्य अन्त यौन सम्बन्ध (inbreeding) स्थापित करने को बाध्य होता है। सीमित समूह मे विवाह, यौन-सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पत्ति का परिणाम यह होता है कि सन्तानो मे थोड़े-बहुत परिवर्तनो के साथ कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताएँ एकसमान या स्थिर बनी रहती हैं। पृथक्करण दो प्रकार का होता है—भौगोलिक तथा सास्कृतिक। भौगोलिक पृथकता उस समय उत्पन्न होती है जब यातायात के साधनो के अभाव के कारण या अन्य प्राकृतिक बाधाओं के कारण दो समूहो का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। इससे प्रत्येक समूह की अपनी निजी शारीरिक विशेषताओ को स्थिर बनाये रखने मे बड़ी सरलता होती है। ये विशेषताएँ अधिक स्पष्ट होने पर ही प्रजाति की रचना होती है। सास्कृतिक पृथकता धर्म, भाषा, रीति-रिवाज आदि के भेद पर आधारित होती है। इस प्रकार के सास्कृतिक अन्तर के कारण भी दो समूहो के सदस्य आपस मे हिल-मिल नही पाते हैं और एक-दूसरे से पृथक् रह जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनमे यौन-सम्बन्ध स्थापित नही होता है और वे अपनी शारीरिक विशेषताओ को पीढी-दर पीढी प्राय उसी रूप मे स्थिर बनाये रखने मे सफल होते हैं। अत स्पष्ट है कि पृथक्करण प्रजातियों की रचना मे एक महान् कारक है।

उपर्युक्त विवेचना से हम यह सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सम्पूर्ण मानवजाति एक ही मेधावी मानव की सन्तान होते हुए भी उनमे प्रजातीय भिन्नताएँ अनेक उद्विकासीय प्रक्रियाओ के क्रियाशील होने के फलस्वरूप उत्पन्न हो गई है। प्रजातियों

की रचना मे उपरोक्त पाँच कारको को उद्विकासीय प्रक्रियाएँ इस अर्थ मे भी कह सकते हैं कि मनुष्य की विभिन्न प्रजातियों को, जैसी कि आज समस्त पृथ्वी पर फैली हुई हैं, रचना एकाएक या दो-चार सौ वर्ष मे नहीं हुई है। इसमे तो नि.सन्देह ही लाखो वर्ष लगे होंगे। इन लाखों वर्ष के दौरान मे प्रजातियों के निर्माण मे अनेक कारकों का योग रहा होगा जिनमे से अधिकतर कारकों के विषय मे हमारा ज्ञान आज भी अपूर्ण है। इस कारण प्रजातियों की उत्पत्ति के सम्पूर्ण निर्णयोग्य कारकों का निरूपण हमारे लिए सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध मे दूसरी स्मरणीय बात यह है कि यद्यपि हम उद्विकासीय प्रक्रियाओं तथा अन्य कारको की सहायता से प्रजातियो की रचना के सम्बन्ध मे विवेचना करते हैं और कुछ निश्चित शारीरिक लक्षणो को एक प्रजाति विशेष से सम्बन्धित मानते हैं, तथापि यह नही कहा जा सकता कि ससार मे कोई प्रजाति पूर्णतया शुद्ध है। इसका कारण यह है कि विभिन्न मानव-समूह किसी भी समय सम्पूर्णत. पृथक् नहीं रहे हैं। यदि एक ओर वे एक-दूसरे से पृथक् रहकर अलग-अलग प्रजातियो मे विकसित हुए, तो दूसरी ओर उन प्रजातियो का आपस मे सम्मिश्रण या मिलन भी होता रहा। इस प्रकार विभाजन और मिलन प्रजातीय इतिहास के दो अविभाज्य (indivisible) 'खण्ड' हैं।

प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधार
(Bases of Race Determination or Classification)

चूंकि प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है, इस कारण प्रजातियाँ कुछ शारीरिक लक्षणो (physical traits) के आधार पर निर्धारित की जाती हैं, अर्थात् प्रजातीय वर्गीकरण का आधार कुछ शारीरिक विशेषताएं हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियो के विशिष्ट अगो की विभिन्न प्रणालियो से परीक्षा और नाप-जोख कर उनका विभिन्न प्रजातियो मे वर्गीकरण किया जाता है। परन्तु वर्गीकरण का यह कार्य जितना सरल प्रतीत होता है, वास्तव मे वह उससे कही अधिक कठिन है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि जिन विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ पर हम प्रजातियो का निर्धारण व वर्गीकरण करते हैं वे विशेषताएँ 'औसतन' या 'आदर्श' विशेषताएँ होती हैं और ये औसत विशेषताएँ उस प्रजाति के सदस्यो मे पाई जाने वाली व्यक्तिगत विशेषताओ से कुछ-न-कुछ भिन्न होती ही हैं जिसके कारण विभिन्न प्रजाति के सदस्यो को पृथक् करना कठिन हो जाता है। यह सच है कि एक नीग्रो और एक श्वेत प्रजाति के सदस्य को पहचानने मे या पृथक् करने मे कोई भूल नही करेगा, परन्तु ये तो दो चरम प्रकार (extreme type) हैं, इनके बीच जो हजारो विभिन्नताएँ हैं उनको वैज्ञानिक आधार पर छाँटकर वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी मानवशास्त्रियों ने ऐसे अनेक वैज्ञानिक उपकरणो तथा प्रविधियो को विकसित कर लिया है जिनकी सहायता से शारीरिक लक्षणो की परीक्षा और नाप-जोख अधिकाधिक यथार्थ रूप मे हो सके।

सामान्यतः प्रजातीय वर्गीकरण ऐसे शारीरिक लक्षणों को आधार मानकर किया

जाता है जिनपर पर्यावरण का प्रभाव प्रायः न के समान होता है और जिन पर होता भी है वह अल्प काल के लिए। उदाहरणार्थ, आर्द्र या नम जलवायु मे सिर के बाल घुंघराले हो जाते हैं तथा धूप मे खुला रखने पर त्वचा (skin) का रंग काला पड़ जाता है। परन्तु इस प्रकार का प्रभाव पर्यावरण में परिवर्तन होने पर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। साथ ही ऐसा कोई प्रमाण भी नही मिलता है कि इस तरह के पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभावो के फलस्वरूप शारीरिक विशेषताओं मे जो परिवर्तन होता है वह प्रजनन द्वारा माता-पिता से बच्चों को भी मिलता है।[1]

शारीरिक विशेषताओं मे कद तथा शरीर के वजन पर भोजन तथा पोषण की मात्रा तथा गुणों कर विशेष प्रभाव पड़ता है। इस कारण कद तथा वजन की भिन्नताओं में वशानुसंक्रमण का महत्त्व अधिक नही है। अतः प्रजाति के शास्त्रीय वर्गीकरण मे ये विशेषताएँ अधिक निर्भर योग्य नहीं हो सकती।

कभी-कभी सांस्कृतिक रीति-रिवाज भी शारीरिक विशेषताओं को उत्पन्न कर सकता है जैसे, शिशु के सिर को बाँधकर एक निश्चित आकार देने का प्रयत्न, या कान में भारी गहने लटकाकर उसे लम्बे आकार का बनाना या चीनी लोगों द्वारा लड़कियो के पैरों को छोटे-से-छोटे आकार का बनाने का प्रयत्न आदि। प्रजातीय अवधारणा में इस प्रकार की शारीरिक विशेषताओं को सम्मिलित न करना ही उचित होगा।

चूंकि मनुष्य, अन्य सभी पशुओं की भाँति, दीर्घ उद्विकासीय प्रक्रिया की उपज है, इस कारण प्राचीन मानव मे जो शारीरिक विशेषताएँ अति स्पष्ट थी, उनमें से अनेक विशेषताएँ आधुनिक मानव मे या तो बिल्कुल ही नही हैं या परिवर्तित रूप मे पाई जाती हैं। खोपड़ी का घनत्व, ठोड़ी (chin) या चिबुक का विकास, दातों की सरचना मे रूपान्तर आदि ऐसी ही शारीरिक विशेषताएँ हैं जो कि उद्विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप आधुनिक मानव मे प्राचीन मानव से पर्याप्त परिवर्तित रूप में मिलती हैं। आधुनिक प्रजातियों मे इन शारीरिक विशेषताओं के आधार पर कोई उल्लेख-योग्य अन्तर नही है।

प्रजातियो का वर्गीकरण करते समय यह निरंतर ध्यान मे रखना होगा कि कोई भी एक शारीरिक लक्षण एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से पृथक् करने के लिए पर्याप्त नही है। अपर्याप्त इसलिए है क्योकि किसी प्रजाति विशेष की विशिष्टता बतलाने वाली शारीरिक विशेषताओं मे पृथक् रूप से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी अफ्रीका के आदिवासियो मे गहरी भूरी त्वचा के रंग (colour of skin) का मिलन छोटे घुंघराले केश के साथ हुआ है; परन्तु आस्ट्रेलिया मे वही गहरी भूरी त्वचा का रंग उन लोगों का है जिनके केश लम्बे, लहरदार (wavy) हैं। सीधे केश (straight hair) अमेरिकन इण्डियन्स (American Indians) तथा मध्य एशिया के अधिकतर लोगों मे प्रायः सार्वभौमिक हैं; परन्तु इनकी त्वचा के रंग मे पर्याप्त अन्तर है। इस

1 For detailed discussion of this point and the points that follow please Beals and Hoijer, *Op. cit.*, pp. 133-136.

कारण प्रजातीय वर्गीकरण में किसी एक शारीरिक लक्षण को आधार न मानकर अधिकाधिक लक्षणो को आधार मानना ही उचित होगा।

प्रजातीय वर्गीकरण को वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिए यह भी आवश्यक है कि अधिक-से-अधिक सख्या मे व्यक्तियो का अध्ययन किया जाय। अवलोकन तथा परीक्षण के लिए जितनी कम सख्या मे व्यक्ति उपलब्ध होगे, अध्ययन की यथार्थता उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत किसी जनसख्या विशेष मे से जितनी अधिक सख्या मे व्यक्तियों के विशिष्ट अगो की परीक्षा तथा नाप-जोख की जायगी, उस जनसख्या की अपनी निजी शारीरिक विशेषताओ के सम्बन्ध मे उतना ही यथार्थ ज्ञान सम्भव होगा।

इस सम्बन्ध मे एक और स्मरणीय बात यह है कि प्रजातियो का निर्धारण करते समय आयु और लिंग भेद को भी ध्यान मे रखना होगा। यह मानी हुई बात है कि एक शिशु की शारीरिक संरचना उसी प्रकार नहीं होगी जैसी कि एक बच्चे या एक युवक या एक प्रौढ या एक वृद्ध की। एक शिशु के अनेक अग पूर्णतया विकसित न होने के कारण उसकी शारीरिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप मे प्रकट नही होती। इस कारण प्रजातियो के तुलनात्मक अध्ययन मे समान आयु-समूहो (same age groups) का होना आवश्यक है। उसी प्रकार लिंग भेद को भी ध्यान मे रखना होगा। कद मे स्त्रियाँ सामान्यत: पुरुषो से छोटी हैं। उनकी हड्डिया भी हलकी होती हैं। उसी प्रकार अन्य अनेक शारीरिक लक्षणों में स्त्रियों और पुरुषो मे भेद होता है। इस कारण किसी भी तुलनात्मक अध्ययन मे केवल समान आयु-समूह ही नही, समान लिंग समूहो (sex groups) का होना भी आवश्यक है। इन भेदों का उचित ध्यान रखे बिना प्रजातीय वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार प्राप्त नही हो सकता।

प्रजातियो का शारीरिक लक्षणों के आधार पर वर्गीकरण करने से पूर्व विशेष रूप से ध्यान मे रखने योग्य उपर्युक्त सभी बातो को सक्षेप मे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है[1]—

(1) शरीर-सरचना की विशेषताएँ या रक्त-समूह जैसे शारीरिक लक्षण ही एकमात्र प्रजातीय मापदड है।

(2) वे सरचनात्मक भिन्नताएँ जो कि प्रजातीय मापदड के रूप मे उपयोगी हैं, उनका वंशानुगत तथा अ-अनुकूलनशील (non-adaptive) होना आवश्यक है।

(3) केवल एक लक्षण के आधार पर किसी भी प्रजाति का निर्धारण नही हो सकता। अनेक लक्षणो का प्रयोग करना होगा।

(4) जहाँ तक सम्भव हो सके एक प्रजाति के विशिष्ट शारीरिक लक्षणो का अवलोकन जनसख्या के अधिकाधिक व्यक्तियो मे करना चाहिए, केवल कुछ ही व्यक्तियो मे अवलोकन करने से हो सकता है कि वे लोग अपनी जनसख्या का पूर्ण प्रतिनिधित्व न कर सकें। दूसरे शब्दो मे, अति अल्प लोगो का अध्ययन करने से सम्पूर्ण जनसंख्या के

1. *Ibid*, p. 136.

विशिष्ट शारीरिक लक्षणों का पता नहीं लग सकता और न ही उस जनसंख्या में व्यक्तिगत भिन्नता की मात्रा का ज्ञान हो सकता है।

(5) चूँकि आयु तथा लिंग प्रजातीय मापदंड को प्रभावित कर सकते हैं, इसलिए सदैव समान आयु तथा लिंग-समूहों के व्यक्तियों की ही तुलना करनी चाहिए।

(6) अन्तिम रूप मे प्रजाति मापदंड प्रजनन-प्ररूपों (genotypes) पर ही आधारित होना चाहिए; परन्तु अब तक कुछ ही ऐसे लक्षण हैं, जैसे रक्त-समूह, जिनको इस कसौटी पर कसा जा सके।

उपर्युक्त बातो का ध्यान रखते हुए अब हम प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधारों की विवेचना कर सकते हैं। शारीरिक लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातियो का निर्णय किया जाता है, दो प्रकार के होते हैं—(1) निश्चित शारीरिक लक्षण, तथा (2) अनिश्चित शारीरिक लक्षण। इन दोनों प्रकार के लक्षणों मे से कुछ लक्षणो पर हम यहाँ संक्षेप मे प्रकाश डालेंगे।

(1) निश्चित शारीरिक लक्षण
(Definite Physical Traits)

निश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिनकी परीक्षा तथा निश्चित रूप से नाप-जोख की जा सकती है; साथ ही, इन लक्षणों पर पर्यावरण का प्रभाव भी न के समान पड़ता है। इसी कारण इन्हें निश्चित शारीरिक लक्षण कहते हैं। सिर की बनावट, नाक की बनावट, रक्त-समूह, कद आदि निश्चित शारीरिक लक्षण हैं। इन लक्षणों को विभिन्न प्रकार के उपकरणों से नापा जाता है। इन उपकरणों मे मानव-मापक यन्त्र (Anthropometer), परकार (Compass), वर्नियर कैलिपर (Vernier Caliper), इस्पात का टेप आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन उपकरणों की सहायता से शारीरिक लक्षणों की नाप-जोख मे पर्याप्त यथार्थता (exactness) आ गई है। निश्चित शारीरिक लक्षणों में निम्नलिखित लक्षण विशेष महत्त्व के हैं—

(क) सिर की बनावट (Cranial Shape)—सिर की बनावट को मानवशास्त्री सबसे अधिक स्थायी तथा निश्चित शारीरिक लक्षण मानते हुए अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो यह कि सिर की बनावट पर पर्यावरण का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मृत व्यक्तियो के सिरो को भी अधिक दिनो तक सुरक्षित रखा जा सकता है और इससे सिर के मौलिक प्ररूप या बनावट मे कोई अन्तर नहीं आता। साथ ही, सिर को ठीक-ठीक नापना भी बहुत कठिन कार्य नही है। सिर की बनावट में सबसे महत्त्वपूर्ण बात सिर की सबसे अधिक लम्बाई और चौड़ाई का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। सिर की सबसे अधिक लम्बाई माथे मे भौं की हड्डी के ऊपर नाक की रेखा में स्थित एक छोटे-से गड्ढे (जिसे अंग्रेजी में glabella कहते हैं) से सिर के पीछे उक्त गड्ढे की सीध तक नापने से पता लगती है। उसी प्रकार सिर की सबसे अधिक चौड़ाई एक कान से कुछ ऊपर से शुरू करके सिर के

ऊपर से जाकर दूसरे कान के कुछ ऊपर (प्रथम कान की सीध पर) तक की दूरी को नापने से पता चलती है। सिर की चौड़ाई को 100 से गुणा करके तथा लम्बाई से भाग देने पर जो प्रतिशत निकलता है उसे कापालिक परिमिति या शीर्ष देशना (Cephalic Index) कहते है। यह देशना निम्न पैमाने से अधिक स्पष्ट हो जाती है—

$$\text{शीर्ष देशना} = \frac{\text{सिर की चौड़ाई}}{\text{सिर की लम्बाई}} \times 100$$

उपर्युक्त शीर्ष देशना के अनुसार सिर की बनावट को तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है—(अ) दीर्घ कपाल या लम्बे सिर (Dolicho Cephalic)—यदि शीर्ष देशना 75 प्रतिशत से कम हो तो उस सिर को दीर्घ कपाल या लम्बे सिर कहेंगे। इस प्रकार का सिर विशेषत नीग्रो, अमेरिकन-इण्डियन्स तथा यूरोप के उत्तरी और दक्षिणी भाग मे रहने वालों का होता है। भारतवर्ष मे लम्बे सिर वाले लोग प्रधानतः पजाब, राजस्थान, काश्मीर, उत्तरप्रदेश आदि मे अधिक पाये जाते हैं। (ब) मध्य कपाल या बीच का सिर (Meso Cephalic)—यदि शीर्ष देशना 75 और 80 प्रतिशत के बीच है तो वह सिर मध्य कपाल या बीच का सिर कहलाता है। इस प्रकार के सिर न तो अधिक चौड़े होते हैं और न लम्बे। नॉर्डिक (Nordic) प्रजाति इस प्रकार के सिर के सबसे उत्तम प्रतिनिधि हैं।[1] ये लोग विशेषत स्कैण्डिनेविया (Scandinavia), बाल्टिक देशों (Baltic countries) तथा उत्तरी जर्मनी मे पाये जाते हैं। वैसे तो भारतवर्ष मे नॉर्डिक प्रजाति के लोग सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी तथा स्वात, पजकोटा, कुनार, चितराल नदियों की घाटियों मे और हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण मे मिलते हैं तथा काश्मीर, पजाब और राजस्थान मे भी फैले हुए हैं, परन्तु यहां इस प्रजाति को लम्बे सिर वाला कहा गया है। शायद मध्य कपाल के शुद्ध प्रतिनिधि भारतवर्ष के किसी एक भाग मे केन्द्रित नहीं हैं। (स) पृथुकपाल या चौड़ा सिर (Brachy Cephalic)—जब सिर की चौडाई उसकी लम्बाई के अनुपात में अधिक होती है तो उसे पृथुकपाल या चौड़ा सिर कहते हैं। इस प्रकार के सिर की शीर्ष देशना 80 प्रतिशत से अधिक होती है। आल्पाइन (Alpine), आर्मीनॉयड (Armenoid) तथा डिनारी (Dinaric) प्रजातियों के सदस्यों के सिर इस श्रेणी मे आते हैं।[2] आल्पाइन प्रजाति के लोग केन्द्रीय तथा पूर्वी यूरोप मे, आर्मीनॉयड प्रजाति के लोग टर्की, साइरिया तथा पर्शिया मे और डिनारी प्रजाति के लोग प्रधानत. पूर्वी आल्प्स (Alps) मे केन्द्रित हैं। भारतवर्ष की जनसख्या मे चौड़े सिर वाले लोग मध्य भारत, गुजरात, चटगाँव, बंगाल, आसाम आदि मे विशेषकर पाये जाते है।

सिर के उपर्युक्त भेद, केवल अध्ययन मे सरलता हो, इस उद्देश्य से किये गये हैं। वास्तव मे एक जनसख्या मे विभिन्न प्रकार के सिर पाये जाते हैं। शीर्ष देशना उपप्रजातियों या जनजातियों मे भेद करने मे सहायक सिद्ध हो सकती है, परन्तु मुख्य प्रजातियों के वर्गीकरण मे शीर्ष देशना का आधार निर्भरयोग्य नहीं है। उदाहरणार्थ, काकेशॉयड

1. Beals and Hoijer *Ibid*, p. 176.
2. *Ibid*, pp. 176-178.

(Caucasoid) प्रजाति के लोगों मे कोई निश्चित प्रकार के सिर नहीं मिलते हैं। उनमें लम्बे सिर, मध्य सिर तथा चौड़े सिर तीनों पाये जाते हैं। उसी प्रकार अमेरिकन इण्डियन्स सामान्यत: एक ही प्रजाति से सम्बन्धित होते हुए भी विभिन्न प्रकार के सिर वाले हैं।[1] श्री फ्राज बोआस (Franz Boas) द्वारा पर्यावरण से सिर की बनावट की परिवर्तनशीलता सिद्ध करने के बाद इस लक्षण का महत्त्व और भी कम हो गया है। अन्य देशों से संयुक्त राज्य अमेरिका मे आकर बसने वाले लोगों की सन्तानो का जो विस्तारित अध्ययन श्री बोआस ने किया है उससे प्रमाणित होता है कि उन बच्चो की शीर्ष देशना और उनके माता-पिता की शीर्ष देशना मे उल्लेखनीय अन्तर है। किन्हीं-किन्ही लोगों के बच्चों की शीर्ष देशना उनके माता-पिता की शीर्ष देशना से बढ़ गई है, तो किन्ही-किन्हीं लोगों के बच्चो की शीर्ष देशना घट गई है।[2]

(ख) नाक की बनावट (Nose Shape)—सिर की बनावट की भाँति नाक की बनावट भी एक निश्चित शारीरिक लक्षण माना जाता है क्योंकि इसे भी सरलता से नापा जा सकता है और पर्यावरण-सम्बन्धी परिस्थितियो का प्रभाव इस पर कम पड़ता है। प्रजातियों को निश्चित करने मे नाक की बनावट को आधार मानने का मुख्य श्रेय प्रोफेसर थामसन (Thompson) तथा बक्सटन (Buxton) को है। नाक की बनावट मे भी, सिर की बनावट की भाँति, सबसे प्रमुख बात नाक की लम्बाई और चौड़ाई का पारस्परिक सम्बन्ध या अनुपात होता है। इसी कारण शीर्ष देशना की भाँति नाक की चौड़ाई मे नाक की लम्बाई का भाग देकर 100 से गुणा करके नासिका देशना (Nasal Index) निकाली जाती है, अर्थात्—

$$\text{नासिका देशना} = \frac{\text{नाक की चौडाई}}{\text{नाक की लम्बाई}} \times 100$$

नासिका देशना के आधार पर नासिकाओ के तीन भेद किये जाते हैं—**(अ) पतली या लम्बी नासिका** (Leptorrhine)—यदि जीवित व्यक्तियो की नासिका देशना 70 से कम हो तो लम्बी नासिका होगी। मृत व्यक्तियो की खोपड़ियों या कर्परों की नासिका देशना यदि 47 से कम हो तो उनकी नाको को लम्बी नासिका के अन्तर्गत माना जाता है। काकेशॉयड प्रजाति लम्बी नासिका की स्पष्ट प्रतिनिधि है। भारतवर्ष मे काश्मीर, पंजाब तथा राजस्थान मे लम्बी नासिका पाई जाती है। **(ब) मध्य या चपटी नासिका** (Mesorrhine)—जीवित व्यक्तियो की जिन नाको की देशना 70 से 84 के बीच मे हो, उन्हे मध्य या चपटी नासिका कहते हैं। कर्परों (Skulls) की नासिका देशना 47 से 51 के बीच होने पर उनकी नाको को मध्य या चपटी नासिका माना जाता है। मगोल (Mongoloid) प्रजाति के लोगो की नाक चपटी होती है। भारतवर्ष मे इस प्रजाति के लोग अधिकतर उत्तर-पूर्वी भारत मे पाये जाते हैं जैसे नेपाल और आसाम। **(स) चौड़ी नासिका** (Platyrrhine)—जीवित व्यक्तियो की जिन नासिकाओं की देशना 84 से

1. Kroeber, *op cit*, pp 127-128.
2. Beals and Hoijer, *op. cit.*, pp 140-141.

अधिक हो, उन्हें चौड़ी नासिका कहते हैं। जिन कर्परों की नासिका देशना 51 से अधिक है उन्हे इस श्रेणी के अन्तर्गत माना जाता है। चौड़ी नासिका के यथार्थ प्रतिनिधि नीग्रो प्रजाति के लोग हैं। भारतवर्ष मे चौड़ी नासिका वाले लोग मद्रास, मध्य प्रदेश और छोटा नागपुर मे प्रधानत केन्द्रित हैं।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि आयु तथा लिंग के अनुसार नासिका देशना मे भी अन्तर आता जाता हैं। अत. तुलनात्मक अध्ययन के समय आयु तथा लिंग-समूहों का ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही, जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है, जीवित-मृत की नासिका देशना मे भी अन्तर होता है .

(ग) खोपड़ी का घनत्व (Cranial Capacity)—स्पष्ट है कि खोपड़ी के घनत्व से सम्बन्धित कोई भी नाप-जोख मृत्यु के पश्चात् ही हो सकती है। इस प्रकार की नाप-जोख विशेषत प्रागैतिहासिक कर्परो के अध्ययन मे उपयोगी सिद्ध हुई है। इनके अध्ययन से पता चलता है कि किन्हीं-किन्ही कर्परों का घनत्व आधुनिक मनुष्यों की खोपड़ी के घनत्व से बहुत कम है; परन्तु ऐसे भी अनेक प्रागैतिहासिक कर्पर मिले हैं जिनका घनत्व आधुनिक मनुष्यो के समान है। आधुनिक पुरुष की खोपडी का औसत घनत्व प्रायः 1125 cc होता है, जबकि स्त्रियो की खोपडी का औसत घनत्व पुरुषो की अपेक्षा प्रायः 150 cc कम होता है। विभिन्न प्रजातीय-समूहो के सदस्यों की खोपडी का औसत घनत्व 1100 cc से 1500 cc के बीच मे होता है।[1] सबसे अधिक घनत्व काकेशॉयड (Caucasoid) प्रजाति का और सबसे कम नीग्रो प्रजाति का होता है।

यद्यपि खोपडी का घनत्व और भेजा (मस्तिष्क) का आकार (size of the brain) ·स्पर सम्बन्धित हैं, तथापि इसके आधार पर यह न समझना चाहिए कि मस्ति· के आकार का कोई सम्बन्ध बुद्धि (intelligence) से है। परन्तु लोग साधारणत यही गलत धारणा बना लेते हैं कि अधिक घनत्व की खोपडी मे चूंकि बड़े आकार का मस्तिष्क या भेजा (brain) होता है इस कारण इस प्रकार के लोग अधिक बुद्धिमान होते हैं। कहा जाता है कि लम्बे सिर वाले नीग्रो प्रजाति के लोगो की खोपडी का घनत्व कम होने के कारण ही वे कम बुद्धिमान होते हैं। किन्तु ये सब गलत धारणाएँ हैं। स्त्रियों की खोपडी का घनत्व पुरुषो की अपेक्षा कम होता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि स्त्रिया पुरुषो से कम बुद्धिमान होती हैं। यही बात किसी भी प्रजाति के सम्बन्ध मे भी सत्य है। उदाहरणार्थ, मस्तिष्क का सर्वाधिक औसत आकार एस्किमो लोगों का माना जाता है, परन्तु ऐसा कोई प्रमाण अभी तक प्राप्त नही हुआ है जिससे यह प्रमाणित हो सके कि वे काकेशॉयड या अन्य किसी प्रजाति से श्रेष्ठ है।[2]

(घ) कद (Stature)—प्रजातीय वर्गीकरण मे कद भी एक निश्चित शारीरिक लक्षण है क्योंकि इसे सरलता से नापा जा सकता है। यद्यपि कद पर पर्यावरण का अधिक

1. *Ibid.*, p 138

2. Jacobs and Stern, *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955, p 41.

प्रभाव पड़ता है, फिर भी विभिन्न प्रजातियों के कद में कुछ स्पष्ट अन्तर होता ही है और एक निश्चित सीमा के अन्दर ही मनुष्य के कद का घटना या बढ़ना सम्भव है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दों में, "प्रागैतिहासिक मनुष्य के औसत कद तथा उनमें भिन्नताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त आंकड़ों का अभाव है; परन्तु उपलब्ध आंकड़ों से ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी पर मनुष्य के प्रथम आविर्भाव से लेकर अब तक उसके कद में अल्प ही परिवर्तन हुए हैं। हाल में कुछ क्षेत्रों में कद में जो वृद्धि हुई है उसका कारण दीर्घकाल में होने वाले जननिक (genetic) परिवर्तन नहीं, बल्कि जीवनधारण की उन्नत अवस्थाएँ हैं।"[1]

उपर्युक्त विद्वानों ने कद के आधार पर निम्नलिखित पाँच विभाग किये हैं।[2]

	पुरुष	स्त्री
बहुत छोटा	4′ 11″ से नीचे	4′ 7″ से नीचे
छोटा	5′ 0″—5′ 3″	4′ 8″—4′ 11″
मध्यम	5′ 4″—5′ 7″	5′ 0″—5′ 3″
लम्बा	5′ 8″—5′ 11″	5′ 4″—5′ 6″
बहुत लम्बा	6′ 0″ से ऊपर	5′ 7″ से ऊपर

उक्त पाँच विभागों के बीच प्रत्येक प्रजाति में अनेक भिन्नताएँ मिलती हैं। फिर भी सामान्य रूप में आल्पाइन प्रजाति का औसत कद 5 फीट 5 इंच, आर्मीनॉयड प्रजाति का 5 फीट 6 इंच, भूमध्यसागरीय प्रजाति का 5 फीट 4 इंच, नॉर्डिक प्रजाति का 5 फीट 8 इंच, मंगोलियन प्रजातियों का 5 फीट से लेकर 5 फीट 8 इंच तक तथा नीग्रिटो प्रजाति का 4 फीट 8 इंच।[3] अफ्रीका के बुशमैन (African Bushman) का औसत कद संसार में सबसे छोटा है। वे औसत से 4 फीट 6 इंच के होते हैं। इसके विपरीत पैटागोनियन्स (Pantagonians) अपनी ऊँचाई के लिए प्रसिद्ध हैं; उनका औसत कद 6 फीट 4 इंच है।

भोजन का कद पर विशेष प्रभाव पड़ता है। एस्किमो, बुशमैन तथा पिग्मी सम्भवतः उचित भोजन के न मिलने के कारण ही नाटे होते हैं। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि कद को निश्चित करने में भोजन ही सब-कुछ है। यदि ऐसा ही होता तो दक्षिण अफ्रीका के दक्षिण में तीरा डेल फ्यूगो (Tierra del Fuego) के भारतीय (Indians), जिनकी अवस्था भोजन तथा जीवनधारण की सामान्य अवस्थाओं की दृष्टि से एस्किमो के समान है, इतने अधिक लम्बे कद के न होते।[4]

---

1. "Adequate data on averages and ranges for prehistoric man are lacking, but the data available would seem to indicate that little change in stature has taken place since man's first appearance on earth. Recent increase in stature in some areas probably represent responses to improved living conditions rather than to any long term genetic change"—Beals and Hoijer, *op cit.*, p 157.
2. *Ibid*, p. 157.
3. *Ibid*, pp. 176, 181 and 188.
4. *Ibid*, p. 158.

(ड) रक्त-समूह (Blood groups)—मानवशास्त्रियों ने विभिन्न प्रजातीय समूहों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए एक नई प्रविधि अपनायी है। यह प्रविधि रक्त-समूहो के वितरण पर आधारित है। प्रजातीय वर्गीकरण में इसे भी एक निश्चित लक्षण इस कारण माना जाता है क्योंकि रक्त-समूह एक जनक गुण (genic character) है जो कि वशानुसंक्रमण के नियम के अनुसार माता-पिता से बच्चों को मिलता है। बहुत कम शारीरिक लक्षण हैं जो वाहकाणुओं (genes) पर पूर्णतया आश्रित हैं। केवल रक्त-समूह ही एक ऐसा अपवाद है जो मानव-जाति मे सरलता से पहचाने जाने वाले वाह-काणुओ द्वारा निश्चित या निर्धारित होते हैं। रक्त-कोषों मे पाये जाने वाले रक्त-सम्बन्धी या लसीय (Serological) अन्तर "विशुद्धरूपेण शारीरिक हैं जो कि वंशानुसंक्रमण द्वारा निश्चित होते हैं और जिन पर पर्यावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"[1] तीन, या अभी हाल मे प्राप्त सूचना के अनुसार चार, एलैलिक वाहकाणुओं (allelic genes) की अन्तः-क्रिया के फलस्वरूप चार रक्त-समूह उत्पन्न होते हैं जिन्हें A, B, O और AB का नाम दिया गया है। यद्यपि प्रत्येक प्रजाति मे इन चार प्रकार के रक्त-समूह के लोग होते हैं, फिर भी प्रत्येक प्रजाति मे सामान्यत एक विशेष रक्त-समूह की प्रधानता होती है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी यूरोप के लोगो मे A रक्त-समूह की प्रधानता है, जबकि अमेरिका के रेड इंडियनों मे O रक्त-समूह का प्रतिशत सबसे अधिक है। श्री ओटनबर्ग (Ottenberg) ने सन् 1925 मे लसीय आँकड़ों (Serological data) के आधार पर संसार की जनसंख्या को छः स्पष्ट भागों में बाँटा था—(1) यूरोपीय, (2) माध्यमिक, (3) हुनान, (4) हिन्द-मंचूरियाई, (5) अफ्रीकी दक्षिणी-एशियाई, तथा (6) प्रशान्त अमरीकी। श्री सिंडर (Synder) ने सात भागों को स्पष्ट किया था। इन सब वर्गीकरणों से पता चलता है कि यूरोप के लोगों में A का अनुपात अत्यधिक है, जबकि हिन्द-मचूरियाई (Indo-Manchurians) मे B के अनुपात की अधिकता है। रक्त-समूहों के विभिन्न अध्ययनों से आज यह स्पष्ट है कि यूरोप मे A और एशिया मे B रक्त-समूह की प्रधानता है, जबकि आदिवासियों और सीमान्त लोगो मे B और AB की मात्रा अति अल्प है। आदिवासियों तथा सीमान्त लोगों मे O का अनुपात अत्यधिक है और कही-कही उनमे A भी विद्यमान है। यो तो O सभी प्रजातियो मे मिलता है, पर केवल अमेरिकन-इंडियनो मे वह शुद्ध रूप मे पाया जाता है। हाल ही मे यह पता चला है कि मिश्रित अमेरिकन इंडियनों मे A का अत्यधिक केन्द्रीकरण है। आस्ट्रेलियनी, अमेरिकन इंडियनो तथा विशुद्ध पॉलिनेशियनो मे B की मात्रा बहुत कम है।[2]

सर्वश्री मेलोन (Malone), लाहिड़ी (Lahiri), मैकफार्लेन (Macfarlane), मजूमदार (Majumdar) आदि, जिन्होने भारत मे रक्त-समूहो के वितरणो के सम्बन्ध मे पड़तालें की हैं, भारत मे B रक्त-समूह का अत्यधिक एकत्रीकरण पाया। चीन, जापान और मलयेशिया में भी B की अधिकता देखने मे आती है। भारत मे नीलगिरी के टोडा

1. *cf.* D. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 69.
2. *Ibid*, pp. 75-76, 79 and 81.

मे 38, मराठों मे 34, जाटो मे 37.2, बंगाल के मुसलमानों तथा दलित जातियों में क्रमशः 40 और 42.7 और उत्तर प्रदेश के चमारों तथा डोमो मे क्रमशः 38.3 और 39 4 प्रतिशत B पाया गया। उत्तर प्रदेश के मुसलमानो मे O की अधिकता और B की कमी सम्भवतः इस प्रदेश के मुसलमानो के अधिक पृथक्करण और प्रजातीय शुद्धता की ओर संकेत करती है। भारत के बाहर के मुसलमानों में B की कमी और A की अधिकता उन्हें भारतीय मुसलमानों से पृथक् करती है। भारत मे जाति और साम्प्रदायिक आधार पर हुए कुछ हाल के रक्त-समूह-पड़तालों के अध्ययन से यह प्रकट हुआ कि जैसे-जैसे हम उच्च जातियो से निम्न जातियों की ओर चलते हैं A घटता है और B की अधिकता होती जाती है, यद्यपि जनजातीय समूहो मे B नही मिलता है।[1]

प्रत्येक प्रजातीय जनसंख्या मे रक्त-समूहो की इतनी विविधता होती है कि उन्हें उचित रूप से छाँटकर उसी आधार पर प्रजातियों का वर्गीकरण कठिन तथा अवैज्ञानिक भी होता है। इस कारण सावधान वैज्ञानिको द्वारा अन्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर किये गये प्रजातीय वर्गीकरण, रक्त-समूहों के आधार पर किये गये वर्गीकरण से कभी मिलते नहीं हैं।[2] श्री हैलडन (Haldane) ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि "रक्त-समूहों का अध्ययन एक विशेष प्रणाली द्वारा ही किया जा सकता है और ये (रक्त-समूह) एक-दूसरे मे इस सीमा तक मिले-जुले हैं कि इनके द्वारा प्रजातीय अन्तरो का पता केवल कुछ सौ व्यक्तियों की जनसंख्या में ही लगाया जा सकता है।[3] इसलिए प्रजातियों के वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक है कि हम अन्य प्रकार के विभिन्न लक्षणों को भी ध्यान मे रखें।

(च) अन्य निश्चित लक्षण (Other definite traits)—उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त जबड़ों की बनावट, मुखाकृति, हाथ और पैर की लम्बाई, वक्षस्थल की परिधि आदि भी निश्चित शारीरिक लक्षण हैं, क्योंकि इन्हे भी निश्चित रूप से नापा जा सकता है। इस कारण ये भी प्रजातीय वर्गीकरण मे उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

निश्चित शारीरिक लक्षणो के सम्बन्ध मे एक बात यह स्मरणीय है कि जब हम किसी शारीरिक लक्षण को 'निश्चित' कहते हैं तो उसका यह अर्थ कदापि नही होता कि 'निश्चित' शारीरिक लक्षण 'निश्चित' रूप से विभिन्न प्रजातियो का निर्धारण करते हैं या उनके आधार पर प्रजातियो का जो वर्गीकरण किया जाता है वह 'निश्चित' या यथार्थ ही होता है। ये निश्चित लक्षण केवल इसी अर्थ मे हैं कि इनकी 'निश्चित' नाप-जोख संभव है।

---

1. *Ibid*, pp. 79-80-85.

2. "Race classifications ventured by cautious scientists, which are based on clusters of distinctive features as well as on probable differences in gene frequencies, have never seemed to agree with a classification based on differences in percentages of blood types "—Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 46.

3 "The blood groups require a special technique for their study, and overlap to such an extent that racial differences can often only be detected in populations of some hundreds."—J. B. S Haldane, *Anthropology and Human Biology*, 'Man', p. 163.

(२) अनिश्चित शारीरिक लक्षण
(Indefinite Physical Traits)

प्रजातीय-भेद के अनिश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिन्हे निश्चित रूप से नापा नही जा सकता, जिनका केवल वर्णन ही किया जा सकता है। साथ ही, इस प्रकार के लक्षणो पर निश्चित लक्षणो की तुलना मे पर्यावरण का प्रभाव भी अत्यधिक पड़ता है। आँखों का रंग, त्वचा का रग, केश-रचना, शरीर पर केश-वितरण—ये सब ऐसे लक्षण हैं जिनमे प्रत्येक प्रजाति की अपनी विशेषता तो होती है, परन्तु उन्हे निश्चित रूप से नाप-जोखकर उनका वर्गीकरण करना कठिन होता है। इनमे से कुछ लक्षणो पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे—

(अ) त्वचा का रंग (Skin Colour)—साधारण व्यक्ति त्वचा या खाल के रग के आधार पर मनुष्यों मे भेद बड़ी सरलता से कर सकता है; पर प्रजातीय वर्गीकरण मे मानवशास्त्री इस लक्षण पर अधिक बल नही देते हैं क्योंकि त्वचा के रग के सूक्ष्म भेदों का वैज्ञानिक रूप से नापना बहुत कठिन है, साथ ही, जलवायु के अनुसार खाल के रंग मे बहुत हेर-फेर हो जाती है। यह सच है कि जलवायु या पर्यावरण के प्रभाव से त्वचा का रग स्थायी रूप से नहीं बदल जाता है। उदाहरणार्थ, तेज धूप से खाल का रग काला अवश्य पड़ जाता है, परन्तु जैसे ही इस प्रकार का प्रभाव समाप्त हो जाएगा वैसे ही खाल का रंग अपने मूल रंग का हो जाएगा। कोई भी पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभाव व्यक्ति के निजी रग को एक समय पश्चात् परिवर्तित नहीं कर सकता। इसका कारण निम्न विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा।

खाल का रग खाल के निचले स्तर पर पाई जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म कृष्ण कणिकाओ (melanin granules) द्वारा निश्चित होता है। इन कणिकाओ का सर्व-प्रमुख कार्य सूर्य की पराकाशनी (ultra-violet) किरणो या धूप से शरीर या रक्त की रक्षा करना है। साधारणत सभी मानव मे ये कृष्ण कणिकाएँ पाई जाती हैं; केवल अन्तर इतना होता है कि किसी मे इनकी मात्रा अधिक है तो किसी मे कम। जब इनकी मात्रा बहुत कम या न के समान होती है तब व्यक्ति का रंग गोरा होता है और जैसे-जैसे इन कणिकाओ की मात्रा बढती जाती है वैसे-वैसे खाल का रग भी काला होता जाता है। अत्यधिक तेज धूप से नीग्रो के रक्त की रक्षा करने के लिए ही उनके शरीर मे उक्त कणि-काओ की मात्रा सर्वाधिक होती है; इस कारण उनकी त्वचा का रग भी अत्यधिक काला होता है। ठडे प्रदेशो मे जहाँ सूर्य की धूप इतनी तेज न होने के कारण रक्त को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नही होती, वहाँ इन कणिकाओं की मात्रा न्यूनतम होती है; अतः वहाँ के निवासियो का रग गोरा होता है। व्यक्ति के शरीर मे इन कणिकाओ की मात्रा (amount) वशानुगत कारको (hereditary factors) द्वारा निर्धारित होती है। केवल उन रोगो को छोडकर, जिनसे इन कणिकाओ की मात्रा घटती-बढती है, व्यक्ति के जीवन काल मे उसकी त्वचा के रग मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं होता है। बच्चे की आयु बढने के साथ-साथ उसकी त्वचा का रग अधिक स्पष्ट होता जाता है और वृद्धा-

वस्था में कुछ कालापन आ जाता है।[1]

खाल के रंग तीन प्रकार के होते हैं—गोरा रंग (Leucoderm), पीला रंग (Xanthoderm) और काला रग (Melanoderm)। इन तीन प्रकार के रंगों को मानव की तीन प्रमुख प्रजातियो से सम्बन्धित माना जाता है जैसे काकेशॉयड प्रजाति का रंग श्वेत, मंगोलॉयड प्रजाति का रंग पीत या पीला और नीग्रॉयड प्रजाति का रंग श्याम या काला होता है। इसीलिए बहुधा इन तीन प्रजातियों को क्रमश: श्वेत प्रजाति, पीत प्रजाति और श्याम प्रजाति कहा जाता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि त्वचा के रंग के आधार पर उक्त वर्गीकरण केवल मोटा विभाजन (broad division) है। इनमें से प्रत्येक की बहुत लम्बी श्रेणियां हैं और उन्हे संख्यात्मक रूप से प्रस्तुत करना भी असम्भव है। उदाहरणार्थ, यूरोप में गोरे रंग वाले व्यक्ति उत्तरी प्रदेशों मे कुछ गुलाबी रंग के होते हैं, जबकि दक्षिणी प्रदेशों में कुछ पीले-भूरे से होते हैं। उसी प्रकार उक्त तीनों प्रकार के रंगों के बीच भूरे, सावले, सलेटी आदि अगणित रंग होते हैं, जिनका वर्गीकरण और व्याख्या वास्तव मे कठिन है। इन असुविधाओं के होते हुए भी, श्री क्रोबर (Kroeber) के अनुसार, त्वचा का रंग प्रत्येक वर्गीकरण मे ध्यान आकर्षित करने योग्य पर्याप्त महत्वपूर्ण लक्षण है।[2]

(ब) केश-रचना (The texture of hair)—यद्यपि प्राचीन मनुष्यों के वर्गीकरण में केश-रचना का उपयोग सम्भव नही है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् केश शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तथापि विद्यमान मानव के वर्गीकरण का अति उत्तम आधार है क्योंकि अन्य लक्षणो की तुलना मे यह पर्यावरण द्वारा कम प्रभावित होता है।[3] फिर भी विद्यमान प्रविधियों की सहायता से केशों को निश्चित रूप से नापना सम्भव नही है। कुछ भी हो, यह सबसे सरल लक्षण है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर ने मानव-केश के पांच प्रकारों का उल्लेख किया है[4]—(1) **सीधे केश** (straight hair)—इस प्रकार के केश प्रधानत: मंगोल प्रजाति के लोगों के होते हैं परन्तु काकेशॉयड प्रजाति के कुछ लोगो के केश भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। (2) **लहरदार केश** (wavy hair)—इस प्रकार के केश ऐनू (Ainu) तथा पॉलीनेशियनो (Polynesians) की प्रमुख विशेषता हैं; यूं तो ऑस्ट्रेलॉयड (Australoid), द्राविड़ (Dravidian), भूमध्यसागरीय, आर्मीनॉयड आदि प्रजातियों के अनेक सदस्यो के केश लहरदार ही होते हैं। (3) **घुंघराले केश** (curly hair)—पश्चिमी एशिया, यूरोप, भारत तथा आस्ट्रेलिया के मनुष्यों में अधिकतर ऐसे केश पाये जाते हैं। (4) **ऐंठनदार केश** (kinky hair)—इस प्रकार के केश ओशियाना के नीग्रो (Oceanic Negro) लोगों की एक विशेषता है। (5) **ऊनी केश** (wooly hair)—ये बाल भेड़ के मोटे ऊन की तरह होते हैं। अधिकतर नीग्रो लोगो के केश इसी

1. Beals and Hoijer, *op cit.*, p. 154.
2. "In spite of these drawbacks, however, complexion remains sufficiently important to warrant consideration in every classification."—Kroeber, *op. cit.*, p. 130.
3. Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 43.
4. Beals and Hoijer, *op. cit*, p. 155.

प्रकार के होते है।

(ख) आँखों का रंग और बनावट (Eye Colour and Folds) आँखों के रंग का प्रजातीय वर्गीकरण के आधार के रूप मे कोई विशेष उपयोग नही किया जा सकता है क्योंकि प्राय सभी प्रजाति की आखो का रग काला होता है। केवल काकेशॉयड प्रजाति के लोगो की आँखो का रग नीला, भूरा आदि होता है। त्वचा के रग की भाँति ही जिन व्यक्तियो की आंखो के आस-पास काला पदार्थ (pigment) अधिक होता है, उनकी आँखों का रग काला होता है। भारत मे आँखो की पुतली का रग प्राय काला होता है। बम्बई के कोकणस्थ ब्राह्मणो मे धूसर (grey) आँखें और उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश के लोगो मे नीली आखें मिलती हैं।

आँखों की बनावट कुछ प्रजातियो की विचित्र होती है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और जापान मे बादाम के आकार की तिरछी आँखें पाई जाती है। इस प्रकार की आंखो को अधखुली आँखें (slat eyes) भी कह सकते हैं। आंखो की दरार तिरछी और बाहर का कोना भीतर वाले कोने से कुछ ऊँचा तथा भीतर वाला कोना खाल की परत से ढका हुआ—ये मगोली आखो के गुण हैं। मगोल तथा बुशमैन प्रजातियो के लोगो की आँखें देखने से ऐसा लगता है जैसे उनकी आंखो मे एक ओर विशेष प्रकार का खिचाव है।

उपसहार मे हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक लक्षणो को आधार मानकर हम विभिन्न प्रजातियो को निश्चित करते हैं या उनका वर्गीकरण करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे ध्यान रहे कि इनमे से अधिकाश लक्षणो पर सतुलित रूप से एक साथ विचार किये बिना विभिन्न प्रजातियो का निर्धारण अथवा वर्गीकरण वैज्ञानिक या प्रामाणिक नही हो सकता। किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन मे इस बात को निरन्तर ध्यान मे रखना आवश्यक है।

आधुनिक प्रजातियाँ
(Modern Races)

ससार की जीवित मानव-प्रजातियो की संख्या के विषय मे सदा से ही विद्वानो मे मतभेद है। उदाहरणार्थ, अठारहवी शताब्दी के अन्त मे स्वीडिश विद्वान श्री लिनीयस (Linnaeus, 1707—1778) ने महाद्वीपो के आधार पर मानव-जाति को छ: वर्गों मे बाँटा था। जर्मन प्राणीशास्त्री ब्लूमेनबाख (Blumenbach, 1752—1840) ने सर्व-प्रथम मानव-जाति को काकेशियन (यूरोपियन), मगोल, ईथियोपियन, अमेरिकन और मलायन, इन पाँच प्रजातियो मे बाँटा था। उनके वर्गीकरण को वैज्ञानिक आधार पर प्रजातीय वर्गीकरण का सर्वप्रथम प्रयत्न कहा जा सकता है। बाद के अन्य विद्वानों ने मानव की तीन से तैंतीस प्रजातियो का उल्लेख किया है। सक्षेप मे, मानव-प्रजातियो के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे, विद्वानो मे कोई एक मत नही है। इस सम्बन्ध मे वर्गीकरण की कुछ समस्याओं का उल्लेख आवश्यक होगा।

प्रजातीय वर्गीकरण की समस्याएँ
(Problems of Racial Classification)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रजाति की अवधारणा जैविकीय (biological) होने के कारण एकाधिक शारीरिक लक्षणो को ही वर्गीकरण का आधार माना जाता है। ये शारीरिक लक्षण वंशानुगत होते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे समस्या यह है कि—

(1) मानव के विभिन्न शारीरिक लक्षणों के निर्धारण मे वाहकाणुओं (genes) का प्रभाव, विशेषकर माता-पिता के अलग-अलग वाहकाणुओ के प्रभावों को निश्चित करना कठिन कार्य है, वास्तव मे असम्भव ही है। प्राय: वंशानुसंक्रमण और पर्यावरण दोनों का ही प्रभाव मानव-विकास तथा शारीरिक लक्षणो को निश्चित करने मे महत्वपूर्ण होता है। शायद ही कोई शारीरिक लक्षण ऐसा है जोकि पर्यावरण के प्रभाव से बिल्कुल ही नही बदलता हो। इस कारण शारीरिक लक्षणो को स्थिर मानकर वर्गीकरण करना एक कठिन समस्या है।

(2) प्रजातीय वर्गीकरण के शारीरिक लक्षणो के आधार के क्षेत्र मे भी समस्या सरल नहीं है। प्रजातियो के वर्गीकरण मे यह समस्या इस कारण जटिल है कि इस प्रकार का वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक लक्षणों की जो सूची बनाई जाती है उससे यह पता लगाना कठिन होता है कि कहाँ एक प्रजाति समाप्त होती है और कहाँ से दूसरी प्रजाति प्रारम्भ होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक लक्षण एक से अधिक प्रजातियों मे पाया जाता है। खाल के रंग को ही लीजिए—ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिन्हें कि उनके कुछ शारीरिक लक्षणो के आधार पर काकेशॉयड प्रजाति के अन्तर्गत रखा जा सकता है, परन्तु रंग के विषय मे उनकी त्वचा का रंग नीग्रो प्रजाति की भाँति होता है। भारतवर्ष में भी अनेक व्यक्तियो का रंग काला होता है, पर उनकी शीर्ष देशना श्वेत प्रजाति की भाँति होती है। इन अवस्थाओं मे समस्या यह होती है कि ऐसे व्यक्तियो को किस प्रजाति के अन्तर्गत माना जाय।

(3) आधुनिक ससार मे यातायात के साधनो मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप *विभिन्न प्रजातियो मे इतना अधिक मिश्रण हो गया है कि सहसा उनके मौलिक* (original) रूपो का पाना असम्भव-सा ही है। विभिन्न प्रजातियो में अन्तर्प्रजातीय (inter-racial) विवाह के कारण एक प्रजातीय समूह मे वाहकाणुओ का नया संयोग हो सकता है और होता भी है। इस नये सयोग का परिणाम यह होता है कि एक व्यक्ति अपनी मूलप्रजाति के एकाधिक शारीरिक लक्षणो को खो बैठता है और दूसरी प्रजाति से मिलता-जुलता हो जाता है। अत स्पष्ट है कि आधुनिक ससार मे प्रजातीय लक्षणो की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति की स्थिति किसी एक प्रजाति विशेष के अन्तर्गत स्थिर नहीं है। इस कारण प्रजातीय वर्गीकरण की समस्या और भी कठिन हो जाती है।

प्रजातीय वर्गीकरण आज सामान्य रूप से किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार पर नहीं किया जाता है। प्राय एकाधिक लक्षणों का एकसाथ विचार करके किसी मानव-

समूह को एक या दूसरे प्रजाति-समूह मे रखा जाता है। साथ ही प्रजातीय वर्गीकरण मे रग या कद जैसे अनिश्चित लक्षणों पर अधिक बल नही दिया जाता है, क्योंकि इनसे गलती की सम्भावना अधिक रहती है, जैसे जापान के ऐनू (Ainu), जिनका रग श्वेत है, भ्रमवश श्वेत प्रजाति मे सम्मिलित कर लिए जा सकते हैं। उसी प्रकार बुद्धि (intelligence) को भी प्रजातीय विभाजन का आधार नही माना जाता है क्योंकि अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियो का सामाजिक सुविधाओं के अनुसार बुद्धि का स्तर भी ऊँचा-नीचा हो सकता है।

प्रजातियों के विभिन्न वर्गीकरण
(Different Classifications of Races)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रजाति वर्गीकरण के सम्बन्ध मे मानवशास्त्रियो का एक मत नही है। इस कारण जितने लेखक हैं उतने ही वर्गीकरण भी हैं। हम यहाँ केवल प्रमुख वर्गीकरणो का उल्लेख करेंगे—

I **क्रोबर का वर्गीकरण** (Classification by Kroeber)—समस्त मानव-जाति को श्री क्रोबर ने तीन मुख्य प्रजातियो मे तथा ग्यारह उप-प्रजातियों मे बाँटा है जो निम्न हैं[1]—

(1) काकेशियन या श्वेत (Caucasian or White)
  (क) नॉर्डिक (Nordic)
  (ख) आल्पाइन (Alpine)
  (ग) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
  (घ) हिन्दू (Hindu)
(2) मगोलॉयड या पीत (Mongoloid or Yellow)
  (क) मगोलियन (Mongolian)
  (ख) मलेशियन (Malaysian)
  (ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)
(3) नीग्रॉयड या श्याम (Negroid or Black)
  (क) नीग्रो (Negro)
  (ख) मेलानेशियन (Melanesian)
  (ग) पिग्मी ब्लेक (Pygmy Black)
  (घ) बुशमैन (Bushman)

उपर्युक्त प्रजातियों तथा उप-प्रजातियो के अतिरिक्त श्री क्रोबर ने चार सन्देहजनक (doubtful) प्रजातियों अर्थात् ऐसी प्रजातियो का, जिनको कि वैज्ञानिक मापदंड के अनुसार उपर्युक्त किसी भी प्रजाति या उप-प्रजाति के अन्तर्गत नही रखा जा सका, उल्लेख किया है। वे हैं—(क) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoid), (ख) वेड्डॉयड (Veddoid

1. Kroeber, *op. cit*, p. 132

or Indo-Austral), (ग) पॉलीनेशियन (Polynesian) और (घ) ऐनू (Ainu).

II. हक्सले का वर्गीकरण (Classification by Huxley)—श्री हक्सले ने अपने वर्गीकरण मे उप-प्रजातियों का कोई उल्लेख न करके केवल पांच प्रमुख प्रजातियाँ बतलाई हैं। ये निम्न हैं—(1) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoids) जिसमें कि द्राविड (Dravidians) तथा मिस्र-निवासी (Egyptians) भी सम्मिलित हैं; (2) नीग्रॉयड (Negroids), (3) मंगोलॉयड (Mongoloids); (4) ऐन्थोक्रॉय (Xanthochroi) जो कि बहुत-कुछ नॉडिक तथा आल्पाइन प्रजातियों के अनुरूप हैं; और (5) मॅलेनोक्रॉय (Melanochroi) जो कि प्राय भूमध्यसागरीय (Mediterranean) प्रजाति ही है, परन्तु श्री हक्सले के विचार मे इनकी स्थिति ऑस्ट्रेलॉयड तथा ऐन्थोक्रॉय प्रजातियों के बीच मे है अर्थात् इन दो प्रजातियों की मिश्रित या वर्णसकर सन्तति ही मॅलेनोक्रॉय प्रजाति को जन्म देने वाली है।[1]

III. हॉबल का वर्गीकरण (Classification by Hoebel)—श्री हॉबल के मतानुसार यदि 'प्रजाति' की अत्यधिक प्रचलित परिभाषा को ध्यान मे रखा जाय तो छ. प्रजातियो का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे काकेशॉयड, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड, ऑस्ट्रेलॉयड, अफ्रीकन बुशमैन और पॉलीनेशियन। परन्तु यदि अधिक परिशुद्ध अन्तरों पर भी विचार किया जाय तो मानव-जाति को तीन मुख्य प्रजातियो और प्रत्येक मुख्य प्रजाति को तीन उप-जातियों मे विभाजित किया जा सकता है। यह विभाजन निम्न है[2]—

(1) काकेशॉयड (Caucasoid)
  (क) नॉडिक (Nordic)
  (ख) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
  (ग) आल्पाइन (Alpine)
(2) मगोलॉयड (Mongoloid)
  (क) एशियाटिक (Asiatic)
  (ख) ओशियानिक (Oceanic)
  (ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)
(3) नीग्रॉयड (Negroid)
  (क) अफ्रीकन (African)
  (ख) ओशियानिक (Oceanic)
  (ग) नीग्रिटो (Negrito)

IV. बील्स तथा हॉइजर का वर्गीकरण (Classification by Beals and Hoijer)—सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर ने प्रजातीय वर्गीकरण और भी विस्तारित रूप मे प्रस्तुत किया है जो कि इस प्रकार है[3]—

1. *Ibid*, p. 150.
2. E. A. Hoebel, *op. cit.*, pp. 129-130.
3. Beals and Hoijer, *op cit*, pp. 171-193.

(1) काकेशॉयड (Caucasoid)
- (A) आर्केइक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Archaic Caucasoid Races)
  - (क) ऐनू (Ainu)
  - (ख) आस्ट्रेलॉयड (Australoid)
  - (ग) द्राविडियन (Dravidian)
  - (घ) वेड्डा (Vedda)
- (B) प्राथमिक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Primary Caucasoid Races)
  - (क) आल्पाइन (Alpine)
  - (ख) आर्मीनॉयड (Armenoid)
  - (ग) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
  - (घ) नॉर्डिक (Nordic)
- (C) द्वैतीयक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Secondary Caucasoid Races)
  - (क) डिनारिक (Dinaric)
  - (ख) पूर्वी बाल्टिक (East Baltic)
  - (ग) पॉलीनेशियन (Polynesian)

(2) मंगोलॉयड (Mongoloid)
  - (क) एशियाटिक मंगोलॉयड (Asiatic Mongoloid)
  - (ख) इण्डोनेशियन माले (Indonesian Malay)
  - (ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)

(3) नीग्रॉयड (Negroid)
- (A) प्राथमिक नीग्रॉयड प्रजातियाँ (Primary Negroid Races)
  - (क) फॉरेस्ट नीग्रो (Forest Negro)
  - (ख) नीग्रिटो (Negrito)
- (B) द्वैतीयक नीग्रॉयड प्रजातियाँ (Secondary Negroid Races)
  - (क) बुशमैन-हॉटेनटॉट (Bushman-Hottentot)
  - (ख) नाइलोटिक नीग्रो (Nilotic Negro)
  - (ग) ओशियानिक नीग्रो (Oceanic Negro)

मुख्य प्रजातियों की प्रमुख विशेषताएँ
(Chief Characteristics of the Main Races)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा मानव प्रजातियों का वर्गीकरण विभिन्न तरीकों से किया गया है और किया जा सकता है क्योंकि विभिन्न प्रजातियों में इतना अधिक मिश्रण हो गया है कि न तो आज कोई विशुद्ध और मौलिक प्रजाति ही है और न सहसा निकट भविष्य में ऐसी प्रजाति की बनने की सम्भावना ही है। इस कारण प्रजातियों और विशेषकर उप-प्रजातियों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में एकमत न होना ही स्वाभाविक है। फिर भी आज प्रायः सभी मानवशास्त्री

मानव-जाति को निम्नलिखित मुख्य तीन भागों में बांटने के सम्बन्ध में एकमत हैं : (क) काकेशॉयड, (ख) मंगोलॉयड और (ग) नीग्रॉयड। यह भी सभी मानवशास्त्री मानते हैं कि इन तीन मुख्य प्रजातियों की एकाधिक उप-प्रजातियां भी हैं। परन्तु प्रत्येक मुख्य प्रजाति की कितनी उप-प्रजातियां हैं इस सम्बन्ध मे उनमे मतभेद है। कुछ भी हो, जनसंख्या के आधार पर हम मानव-जाति को ग्यारह प्रजातियों मे विभाजित कर सकते हैं। ये ग्यारह प्रजातियां निम्न हैं—(1) काकेशॉयड, (2) मंगोलॉयड, (3) अफ्रीकी नीग्रॉयड, (4) कांगो या मध्य अफ्रीकी पिग्मी, (5) सुदूर-पूर्व के पिग्मी, (6) बुशमैन-हॉटेनटाट, (7) मेलानेशियन, (8) माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन, (9) आस्ट्रेलॉयड, (10) ऐनू, और (11) वेड्डॉयड।[1]

मुख्य प्रजातियो की उपर्युक्त सूची प्रस्तुत करते हुए सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने इन प्रजातियो की प्रमुख विशेषताओं का निरूपण इस प्रकार किया है—

(1) **काकेशॉयड** (Caucasoid)—संसार मे यह प्रजाति संख्या मे प्रायः दस खरब (One billion) है। सर्वसाधारण की भाषा मे इन्हे गोरी या श्वेत प्रजाति कहा जाता है। परन्तु वास्तव मे उन्हे श्वेत प्रजाति कहना उचित न होगा, क्योंकि उनका रंग पूर्णतया सफेद नही होता। इस प्रजाति मे सर्वाधिक हल्के रग से लेकर गहरे भूरे रग तक विविध रगो के लोग पाये जाते है। सिर के केशो मे भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है; सीधे केशों से लेकर घुंघराले केशो तक सब भेद इस प्रजाति के लोगो मे मिलते हैं। केशों का रग राख की-सी सफेदी लिए हुए से लेकर काले रंग तक का होता है। उनके शरीर पर भी पर्याप्त बाल होते हैं। आंखो का रंग हल्के नीले से लेकर गहरा बादामी तक होता है। नाक अधिकतर पतली तथा ऊँची होती है। कद तथा शीर्ष देशना मे भी इस प्रजाति के लोगों मे पर्याप्त विविधता पाई जाती है। इस प्रजाति के अन्तर्गत उप-प्रजातियो के सम्बन्ध मे मानवशास्त्रियो मे एक मत नही है। फिर भी काकेशॉयड प्रजाति की तीन उप-प्रजातियां उल्लेखनीय हैं—(अ) आल्पाइन (Alpine), (ब) भूमध्यसागरीय (Mediterranean), और (स) नॉर्डिक (Nordic)।

आल्पाइन प्रजाति के लोग आज विशेष रूप से यूरोप के केन्द्रीय तथा पूर्वी भागों मे पाये जाते हैं। इनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—कद मध्यम दर्जे का (औसत कद 5 फीट 5 इच), सिर चौडा, लम्बी नासिका, कन्धे चौड़े, छाती गहरी, शरीर और मुंह पर पर्याप्त बाल, केश तथा आंखों का रग मध्यम से लेकर गहरा भूरा, केश साधारणतया सीधे, होठ मध्यम से लेकर पतले और त्वचा का रग हल्का सफेद या पीला-भूरा। इस प्रजाति के नमूने भारत मे विशेष रूप से गुजरात मे मिलते हैं तथा मध्य भारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार मे भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग भूमध्यसागरीय प्रदेशो मे तथा वहां से पूर्वीय दिशा मे भारत तक फैले हुए हैं। भारत मे इस प्रजाति के लोग पजाब, सिन्धु, राजपूताना

1. Jacobs and Stern, *op. cit.*, pp. 48-64.

और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं। इनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—कद मध्यम दर्जे का (औसत कद 5 फीट 4 इंच), सिर लम्बा, लम्बी नासिका, होंठ पतले, केश काले और लहरदार या घुंघराले तथा कभी-कभी सीधे होते हैं, चेहरे और शरीर के अन्य भागों में बहुत कम बाल, वजन में आल्पाइन प्रजाति के लोगों की अपेक्षा हल्के, आँखें बादामी और त्वचा का रंग हल्का बादामी या फीका जैतूनी होता है।

नॉर्डिक प्रजाति के लोगों के सिर मध्यम आकार के और नाक ऊँची तथा पतली होती है। इनके शरीर लम्बे (औसत कद 5 फीट 8 इंच) और पतले तथा चेहरे लम्बे होते हैं। इनके होंठ पतले तथा बाल सीधे या लहरदार होते हैं। आँखें नीली या भूरी होती हैं। इनकी त्वचा का रंग गुलाबीपन लिए हुए सफेद होता है। ये लोग विशेषतः स्कैण्डिनेविया (Scandinavia), बाल्टिक देशों (Baltic countries) तथा उत्तरी जर्मनी में पाये जाते हैं। भारत में इस प्रजाति के लोग मुख्यतः काश्मीर, पंजाब के पश्चिमी भाग और राजस्थान में फैले हुए हैं।

(2) मंगोलॉयड (Mongoloid)—जनसंख्या की दृष्टि से मंगोलॉयड प्रजाति के लोग संसार में सबसे अधिक संख्या में हैं। इस प्रजाति का सबसे प्रमुख शारीरिक लक्षण अधखुली आँखें (slant eyes) होती हैं। इन आँखों का रंग बादामी या गहरा बादामी होता है। शरीर-रचना में वे साधारणतया नाटे कद के तथा कुछ मोटे होते हैं। इस प्रजाति के लोगों के केश सीधे और कभी-कभी हल्के घुंघराले होते हैं। इनकी नाक छोटी और चपटी होती है और सिर चौड़ा और माथा सीधा होता है। त्वचा का रंग पीला-सा या ताम्र गेहुँआ-सा होता है। इनके सिर के बाल काफी घने होते हैं परन्तु शरीर के अन्य भागों पर बाल बहुत ही कम होते हैं। इनके होंठ साधारणतया मोटे और ठोड़ी गोल होती है। इस प्रजाति के लोग विशेष रूप से उत्तर, मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में वास करते हैं। अनेक मानवशास्त्री अमेरिकन इण्डियनों को भी इसी प्रजाति का सदस्य मानते हैं। इस प्रजाति के उक्त भौगोलिक वितरण को ध्यान में रखते हुए ही सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने इसकी तीन उप-प्रजातियों का उल्लेख किया है—(क) एशियावासी मंगोल, (ख) इण्डोनेशिया तथा मलायावासी मंगोल, तथा (ग) अमेरिकन इण्डियन। परन्तु मंगोलियन उप-प्रजातियों के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत कुछ मतभेद है। उदाहरणार्थ, कुछ विद्वानों का कथन है कि अमेरिका के इण्डियन लोगों में थोड़े-से काकेशॉयड तथा नीग्रॉयड लक्षण और हिन्द-एशिया-वासी समूहों में भूमध्यसागरीय तत्त्व अधिक हैं।[1] फिर भी अधिकतर मानवशास्त्री इन दोनों मानव-समूहों को मंगोल प्रजाति के अन्तर्गत ही उप-प्रजातियाँ मानते हैं। भारतवर्ष में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएं हैं—प्राचीन मंगोलॉयड और तिब्बती मंगोलॉयड। ये लोग आसाम, पूर्वी सीमान्त प्रान्त, चटगाँव, सिक्किम और भूटान में पाये जाते हैं।

(3) अफ्रीकी नीग्रॉयड (The African Negroids)—मानव-जाति की तीसरी मुख्य प्रजाति अफ्रीकी नीग्रॉयड है जिसकी सदस्य-संख्या दस करोड़ के लगभग

1. For detailed discussion please see E. A. Hoebel, *op. cit.*, p. 133.

है। इस प्रजाति के लोग दक्षिणी सहारा से लेकर केप-ऑफ-गुडहोप तक फैले हुए हैं। यह सच है कि मानव की आधुनिक प्रजातियों मे नीग्रो लोगो का रंग सबसे काला है फिर भी बहुत कम नीग्रो का रंग वास्तव मे काला होता है। उनमे से अनेक का रंग गाढा बादामी या बादामी काला होता है। नीग्रो लोगों के केश रूखे, ऊनी और कडे घुंघराले होते हैं। शरीर पर बाल बहुत कम होते हैं। नाक बहुत चौडी, कान छोटे तथा ऊपर का जबड़ा आगे को बढा हुआ होता है। होंठ दूसरी प्रजातियों की अपेक्षा मोटे तथा बाहर को निकले हुए और लटकते-से होते हैं। सिर के बाल घने, पर छोटे होते हैं। पुरुषो की दाढी-मूँछो मे भी थोड़े बाल होते हैं। कद मध्यम लम्बा (medium tall), हाथों की कुहनी से आगे का भाग लम्बा और पैर जमीन पर बैठा-सा (low-arched) होता है जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रजाति के लोग प्रधानत. सहारा के दक्षिण मे अफ्रीकी प्रदेशों मे निवास करते रहे हैं, परन्तु 17वी से 19वी शताब्दियों के बीच कई लाख अफ्रीकी नीग्रो अपने मूल निवास स्थान से अमेरिका में जाकर बस गये हैं। पूर्वी अफ्रीका के नाइलोटिस नीग्रो (Nilotic Negro) अपनी कुछ दूसरी ही विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध हैं। इनके शरीर का बीच का भाग (body) पतला और छोटा होता है जो कि लम्बे पैरों पर टिका हुआ होता है जिसके फलस्वरूप इनका कद दुबला और काफी ऊँचा होता है। पुरुषो की औसत ऊँचाई छ फुट से भी अधिक होती है और आम (स्त्री-पुरुष दोनों को मिलाकर) औसत ऊँचाई 5 फीट 10 इंच या अधिक होती है। मुख्य नीग्रॉयड प्रजाति की एक और शाखा **ओशियानिक नीग्रो** (Oceanic Negro) के नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग विशेषकर सॉलोमन्स (Solomons), न्यू हैब्रिडीज (New Hebrides), न्यू कैलेडोनिया (New Caledonia) तथा न्यू गिनी (New Guinea) मे पाये जाते हैं। इनकी शारीरिक विशेषताएँ प्राय अफ्रीकी नीग्रो लोगो के अनुरूप ही होती है, केवल अन्तर इतना होता है कि इनके बाल अधिक कुंचित (frizzly) तथा झाडी-से (bushy) होते हैं; चेहरे मे नाक प्रधान होती है जो अपनी जड के स्थान पर बहुत नीची होती है; और होठ अफ्रीकी नीग्रो लोगो की अपेक्षा पतले तथा बाहर की ओर कम लटके हुए होते हैं।[1]

(4) **कांगो या मध्य अफ्रीकी पिग्मी** (The Cango or Central African Pygmies)—इनकी सख्या प्राय. एक लाख है। अधिकतर विद्वान नीग्रो प्रजातीय परिवार की इस शाखा को अफ्रीकी नीग्रॉयड के अन्तर्गत ही मानते हैं, परन्तु सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न के अनुसार इन दोनों मे इतना अधिक भेद हैं कि इन्हे एक ही वर्ग में सम्मिलित नही किया जा सकता। इनका विद्यमान औसत कद 5 फीट से भी कम है (प्राय 4 फीट 9 इंच)। दूसरे शब्दों मे 'पिग्मी' लोग, जैसाकि उनके नाम से ही स्पष्ट है, बौने और नाटे कद के होते हैं। उनका माथा विशेष रूप से निकला हुआ होता है। इनके केश विशिष्ट प्रकार के चक्करदार होते हैं जोकि बहुत घने रूप मे सिर को ढक लेते हैं। ये अफ्रीकी नीग्रॉयड मेलानेशियन जितने काले भी नही होते और इन दोनो

---

1. This paragraph is mainly based on E A. Hoebel, *Ibid.*, pp. 133-134.

से इनके शरीर पर बाल भी अधिक होते हैं। इन सब विशिष्ट लक्षणो ने ही उन्हे उनकी मूल प्रजाति से पृथक् कर दिया है।

(5) सुदूर-पूर्व के पिग्मी (The Far-Eastern Pygmies)—इस प्रजाति के सदस्यो मे प्राय 1000 लोग अण्डमान द्वीप के निवासी हैं, 25 000 के लगभग लुज़ोन (Luzon) मिण्डानाओ (Mindanao) तथा फिलिपाइन (Philippine) के अन्य द्वीपो के निवासी हैं और कुछ-सौ मलय प्रायद्वीप के आदिवासी हैं। इण्डोनेशिया, न्यू गिनी तथा मेलानेशिया मे भी इन नाटे कद वालो की अनिश्चित (undetermind) संख्या बिखरी हुई है। इन्हे मध्य-अफ्रीकी पिग्मी प्रजाति मे सम्मिलित करना उचित न होगा क्योंकि इनकी अपनी निजी कुछ शारीरिक विशेषताएँ हैं, जैसे इनके होंठ काफी मोटे, सिर के बाल ऊनी, त्वचा का रग बहुत काला, शरीर पर बाल बहुत कम और ऊंचाई 5 फीट के लगभग होती है।

(6) बुशमैन-हॉटेनटॉट (The Bushman-Hottentot)—दक्षिणी अफ्रीका मे कालाहारी रेगिस्तान तथा आस-पास के प्रदेशो मे नाटे कद के पिग्मी प्रजाति से ही सम्बन्धित बीस हजार या उससे कुछ अधिक बुशमैन-हॉटेनटॉट प्रजाति का वास है। बन्तु (Bantu) भाषा बोलने वाले नीग्रॉयड प्रजाति के लोगों के आने के पूर्व तथा डच और ब्रिटिश द्वारा उस भाग मे औपनिवेशिकरण (Colonization) के पूर्व सम्पूर्ण दक्षिणी अफ्रीका मे यही बुशमैन-हॉटेनटॉट प्रजाति निवास करती थी। इन लोगो मे नीग्रो और मगोल इन दो प्रजातियो के शारीरिक लक्षणो का समावेश दिखाई पडता है। शरीर-रचना की दृष्टि से वे नाटे कद के पिग्मी अर्थात् नीग्रिटो प्रजाति की श्रेणी मे रखे जा सकते है, परन्तु उनकी त्वचा का रग मगोल प्रजाति का-सा पीला या पीला-भूरा (yellow brown) होता है। इनकी आँखें भी मगोल जैसी अधखुली और कुछ तिरछी-सी होती है। इनकी औसत ऊचाई 4 फीट 9 इच से 5 फीट तक होती है। हॉटेनटॉट की लम्बाई बुशमैन से अधिक होती है। बुशमैन के सिर के बाल चक्करदार और हॉटेनटॉट के कुचित होते हैं। कॉगो-पिग्मी लोगो की भांति इनके शरीर पर बाल अधिक नही होते हैं। उन्नत-नितम्बता (steatopygy) इस प्रजाति का अपना निजी एक शारीरिक लक्षण है अर्थात् इनकी जांघो का ऊपरी और कमर के नीचे का हिस्सा (नितम्ब) मासल होने के कारण उठा हुआ दिखाई देता है। इस प्रजाति मे मगोल प्रजाति के कुछ शारीरिक लक्षण विशेषकर अधखुली आँखो को देखकर कई विद्वानो का कहना है कि इस प्रजाति को मगोल-वाहकाणु (Mongoloid genes) काफी मात्रा मे प्राप्त हो गया है अर्थात् बुशमैन-हॉटेनटॉट प्रजाति की उत्पत्ति नीग्रो और मगोल प्रजातियो के मिश्रण से ही हुई है। परन्तु यह सिद्धान्त निश्चय ही कम तथ्ययुक्त (factual) और यथार्थ है। अधिक सम्भावना यह है कि इस प्रजाति की आंखो या रग का भी मगोलो की भाँति समानान्तर विकास (parallel evolution) हुआ है।[1]

(7) मैलानेशियन (Melanesians)—नीग्रॉयड-सी इस प्रजाति के लोगों की

1. Jacobs and Stern, *op. cit*, p. 51.

संख्या 20 लाख से कुछ कम है। दक्षिणी प्रशान्त द्वीपों (South Pacific Islands) में, जिन्हे मेलानेशिया कहा जाता है, और जो न्यू गिनी (New Guinea) से फीजी (Fiji) तक तीन हजार मील तक बिखरे हुए हैं, इस प्रजाति के लोगो का निवास है। मेलानेशियन प्रजाति के लोगों मे ऑस्ट्रेलॉयड और सुदूर-पूर्व के पिग्मी प्रजातीय तत्त्वों का समावेश दिखाई पड़ता है। इण्डोनेशियन द्वीपों (Indonesian Islands) के निवासियों से मेलानेशिया के लोगों के मिश्रण के भी प्रमाण मिलते हैं जिसके फलस्वरूप कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षण वाले एक पृथक् प्रजातीय-समूह का विकास हो गया है।[1] त्वचा का रंग काला या गहरा जैतूनी, कड़े घुँघराले बाल तथा उभरी हुई भौंएँ इस प्रजाति की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनका कद मध्यम, माथा गोलाई लिए तथा नाक चौड़ी होती है।

(8) **माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन** (Micronesians-Polynesians)—मेलानेशिया के उत्तर के द्वीपों मे प्रायः एक लाख माइक्रोनेशियन तथा मेलानेशिया के पूर्व में त्रिभुजाकार मे पाये जाने वाले द्वीपों मे प्रायः तीन लाख पॉलीनेशियन निवास करते हैं। श्री कून (Coon) तथा उनके साथियों ने माइक्रोनेशियन लोगों की प्रजातीय स्थिति के सम्बन्ध में कुछ बताया नहीं है, परन्तु पॉलीनेशियनों के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि इस वर्णसंकर-समूह (hybrid group) की उत्पत्ति प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व हुई थी। परन्तु इस वर्णसंकर-समूह मे किन-किन प्रजातियों का मिश्रण हुआ है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अमेरिकन इण्डियनों को छोड़कर प्रायः सभी प्रजातियों ने इस प्रजाति के निर्माण में अंशदान (contribution) किये हैं, जिनमे मंगोल तथा मेलानेशियन प्रजातियो का अंशदान विशेष उल्लेखनीय है। पॉलीनेशियन काकेशॉयड प्रजाति के लोगों से कुछ मिलते-जुलते हैं। परन्तु यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि पॉलीनेशियनों मे काकेशॉयड प्रजाति के जननिक (genetic) गुणो का सयोग है।[2] माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन प्रजाति के लोगों के शरीर पर बाल कम, केश घने और लहरदार तथा त्वचा का रंग कुछ हल्का होता है। मगोल लोगो की भाँति उनका सिर गोलाई लिए हुए होता है।

(9) **ऑस्ट्रेलॉयड** (Australoids)—इस प्रजाति के लोग सख्या मे चालीस हजार के लगभग हैं। इनका निवास स्थान आस्ट्रेलिया है। इन्हें किस प्रजाति के अन्तर्गत माना जाय, इस प्रश्न पर मानवशास्त्रियो में काफी मतभेद है। त्वचा के रग को छोड़ कर इनकी बहुत-सी विशेषताएँ काकेशॉयड प्रजाति के लोगो से मिलती-जुलती हैं; अत. कुछ विद्वान, जैसे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer)[3] इन्हे काकेशॉयड प्रजाति की एक शाखा मानते हैं। परन्तु काकेशॉयड प्रजाति के साथ इनके जननिक (genetic) सम्बन्ध होने के कोई निश्चित और निर्भरयोग्य प्रमाण न होने के कारण अन्य विद्वान इन्हे स्वतन्त्र प्रजाति मानने के पक्ष मे हैं। इस प्रजाति की प्रमुख विशेषताएँ

1. *Ibid.*, p. 59.
2. *Ibid*, pp. 60-61.
3. Beals and Hoijer, *op. cit*, p. 172.

निम्न हैं—कद सामान्य, सिर लम्बा, केश काले या भूरे और लहरदार या घुँघराले, त्वचा का रंग चाकलेटी, नाक चौड़ा तथा नासामूल (nasal root) दबा हुआ, भौंएँ उठी हुई, आँखों का रंग काला-भूरा, मुह कुछ निकला हुआ-सा तथा होंठ मोटे होते हैं। इस प्रजाति के लोग विन्ध्य प्रदेश तथा दक्षिणी भारत मे भी पाये जाते हैं।

(10) ऐनू (Ainus) — जापान द्वीप-समूह जैसे होक्कायडो (Hokkaido) आदि में ऐनू प्रजाति जापान की प्राचीन जनसख्या का प्रतिनिधित्व करती है। इनकी संख्या दस हजार के लगभग है। ऐनू प्रजाति के लोग दक्षिणी-पूर्वी आस्ट्रेलिया के आदि-वासियों से मिलते-जुलते हैं ; परन्तु इनका रंग बहुत-कुछ यूरोप के काकेशियन लोगों की भाँति होता है। इस प्रजाति के लोगो की त्वचा का रग पीला न होकर बहुत-कुछ सफेद-सा होता है। इनके केश लहरदार, होंठ पतले तथा शरीर, चेहरे आदि पर अत्यधिक बाल होते हैं। इनकी औसत ऊँचाई 5 फीट 2 इंच होती है। भौहो की हड्डियाँ ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोगों की भाँति भारी होती हैं। आँखों का रंग हल्का भूरा या काला होता है। इनके केश लहरदार होते हैं।

(11) **वेड्डॉयड** (Veddoids)—इस प्रजाति के लोग देखने मे बहुत-कुछ द्रविड प्रजाति की भाँति होते हैं और केवल लका (Ceylon) मे बसे हुए हैं। इनकी संख्या कुछ ही सैकड़ों की होगी। इनका सिर लम्बा और संकरा होता है तथा केश लहर-दार या घुँघराले होते हैं। त्वचा का रग चाकलेटी-भूरा होता है। इनके शरीर पर बालों का वितरण बहुत कम होता है। इनका कद अधिक नहीं होता; औसत ऊँचाई 5 फीट होती है। इनकी नाक चौडी तथा होंठ अधिक मोटे नही होते।

मानव-प्रजातियों के उपर्युक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी अनेक विद्वानों को आपत्ति हो सकती है और वे या तो उक्त ग्यारह प्रजातियों मे से कुछ प्रजातियों को पृथक् प्रजाति के रूप मे मानना न चाहेंगे या अन्य कुछ उप-प्रजातियो को भी प्रजातीय वर्गीकरण मे सम्मिलित करना चाहेंगे। उदाहरणार्थ, सर्वश्री कून, गार्न तथा बर्डसेल (Coon, Garn and Birdsell) ने अपने प्रजातीय वर्गीकरण मे छ मुख्य स्कन्धों (stocks) तथा तीस प्रजातियो का उल्लेख किया है। वे छ स्कन्ध हैं—मंगोलॉयड, श्वेत, नीग्रॉयड, ऑस्ट्रेलॉयड, अमेरिकन तथा पॉलीनेशियन। इन विद्वानों का कथन है कि इन स्कन्धो को कदापि प्रजाति नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इनमे से प्रत्येक के अन्तर्गत बहुत-कुछ एक से एकाधिक प्रजातियाँ आ जाती हैं। कुछ भी हो, ग्यारह प्रजातियों के उपर्युक्त वर्गीकरण से हमे सामान्यतः सभी मुख्य मानव-प्रजातियों के सम्बन्ध मे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

प्रजातिवाद
(Racism)

प्रजातिवाद का अर्थ
(Meaning of Racism)

जैसाकि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि प्रजाति के सम्बन्ध मे युगों से अनेक भ्रान्तियाँ तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ चली आई हैं। इन अवैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर ही विभिन्न प्रजातियों में अनेक विचार धारणाएँ प्रचलित हैं और कुछ प्रजातियाँ अपने को अन्य प्रजातियों से अधिक श्रेष्ठ और शुद्ध समझने लगी हैं। इन गलत विचार-धाराओं ने अनेक सामाजिक अन्यायो तथा बड़े-बड़े अत्याचारों को जन्म दिया है और विभिन्न प्रजातियों मे ऊँच-नीच की भावना को दृढ़ किया है। प्रजातियों के मानसिक गुणों, सृजनशीलता आदि के आधार पर कटु ऊँच-नीच की उग्र तथा आधुनिक भावना को ही प्रजातिवाद कहते हैं। संक्षेप मे, **प्रजातिवाद वह कटु विचारधारा है जो कि विभिन्न प्रजातियों में ऊँच-नीच के संस्तरण को पनपाती है और जो प्रजातियों के शारीरिक तथा मानसिक गुणों, सृजनशीलता आदि से सम्बन्धित अवैज्ञानिक विभेदों पर आश्रित होती है।**

सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने प्रजातिवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मानवशास्त्र की खोजो के विपरीत प्रजातिवाद यह मानता है कि प्रत्येक मानव-समूह की अपनी निजी शारीरिक, मानसिक तथा स्वभाव-सम्बन्धी कुछ पैतृक विशेषताएँ होती हैं जोकि सापेक्षिक रूप से सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा अन्य पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभावों से अप्रभावित रहती हैं; जन्मगत उत्तम और अधम प्रजातियाँ तथा उप-प्रजातियाँ होती हैं और आनुवंशिक कारण (hereditary factors) ही मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक पक्ष को निश्चित करता है। इन अवैज्ञानिक धारणाओं को बिना समझे-बूझे स्वीकार करने की बाह्य अभिव्यक्ति के कारण अनेक अशिष्ट विभेदकारी तथा विवेकहीन व्यवहार होते हैं।[1] प्रजातिवाद अपने उग्र रूप में तब व्यक्त होता है जबकि एक प्रजाति अपने को अन्य प्रजाति या प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ समझने लगती है और उस प्रजाति के सम्बन्ध में, जिसे कि वह अधम समझती है, केवल अनेक आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संकीर्ण विभेदो का ही पोषण नहीं करती

---

1. "Contrary to the findings of anthropology, racism holds that each population is characterized by a cluster of inherited physical, mental, and temperamental features peculiar to itself, which are relatively unaffected by social, educational, or other environmental influences, that there are innately superior and inferior races and ethnic subdivisions and that hereditary factors determine every phase of a people's cultural life Overt forms of snobbish, discriminatory, and irrational behaviour follow upon the uncritical acceptance of these unscientific premises,"—Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 75.

बल्कि उस प्रजाति पर अनेक अन्याय, अत्याचार और अविचार भी करती रहती है। प्रजातीय भेदभाव का इतिहास तो काफी पुराना है, परन्तु प्रजातिवाद का उग्र रूप बहुत-कुछ आधुनिक ही है जैसा कि निम्न विवेचना से स्पष्ट होगा।

प्रजातिवाद का विकास
(Development of Racism)

प्रजातिवाद का आधुनिक रूप 18-19वीं शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ जो कि आर्यवाद (Aryanism) के रूप मे प्रकट हुआ। इस आर्यवाद की उत्पत्ति उस समय के भाषा-शास्त्रियों की भाषा-सम्बन्धी खोज के आधार पर हुई। डब्लू० जोन्स (1788) ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और जर्मन भाषाओ मे समानताएँ बतलायीं और इन भाषाओ के मूल स्रोत को टामस यग (1813) ने इडोयूरोपियन नाम दिया। उसके पश्चात् सन् 1861 मे मैक्स मूलर (Max Muller) ने अपने भाषा-सम्बन्धी अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि जिन व्यक्तियो ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और वहाँ नई संस्कृति फैलायी, उनकी भाषा सस्कृत थी और वे आर्य प्रजाति के थे। संक्षेप मे, इन विद्वानो ने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि कुछ भाषाओ को छोडकर यूरोप की अन्य सभी भाषाएँ संस्कृत भाषा से सम्बन्धित हैं। इस आधार पर यह विश्वास किया गया कि संस्कृत भाषा से सम्बन्धित भाषाओं के बोलने वाले एक ही परिवार के हैं और वे सभी लोग एक ही प्रजाति, जिसे 'आर्य प्रजाति' का नाम दिया गया, की सन्तानें हैं। इस आर्य प्रजाति के लोगो ने ही प्राचीन काल में भारत, यूनान, रोम आदि की उच्च सभ्यताओं को जन्म दिया था। दूसरे शब्दों मे, उच्च सभ्यता का विकास 'आर्य प्रजाति' के बिना सम्भव नहीं क्योंकि सभ्यता को विकसित करने के लिए जिन क्षमताओ और योग्यताओ की आवश्यकता होती है वे केवल 'आर्य प्रजाति' मे ही हैं, अर्थात् 'आर्य प्रजाति' सर्वश्रेष्ठ प्रजाति है। इस आर्यवाद का सर्वाधिक कटु रूप पिछली शताब्दी में श्री काउण्ट आर्थर डी गोबिनिउ (Count Arthur de Gobineau) की *Essay on the Inequality of Races* (1853-55) शीर्षक पुस्तक मे देखने को मिलता है।[1]

आर्यवाद के आधार पर ही नॉडिकवाद (Nardicism) का विकास हुआ। इसके अन्तर्गत यह भ्रान्त धारणा प्रचारित की गई कि 'विशुद्ध आर्य जाति' यूरोप के उत्तरी भाग मे रहती है। उत्तर (North जिसे जर्मन भाषा मे nord कहते हैं) मे रहने के कारण इसे नॉडिक प्रजाति (Nordic Race) कहा गया और साथ ही यह विश्वास दिलाया गया कि ससार की उच्चतम सभ्यता को तथा नेता, कलाकर, वैज्ञानिक आदि सभी महापुरुषों को इसी 'विशुद्ध नॉडिक' प्रजाति ने ही जन्म दिया है। इसी आधार पर जर्मनी के नाजियों (Nazis) ने जर्मनी के निवासियों को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ और शासक प्रजाति घोषित किया; दूसरी प्रजातियों से मिश्रण को रोकने और अपनी विशुद्धता को

---

1. Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, The MacMillan Co., New York, 19[illegible], p. 60.

स्थिर रखने के लिए कठोर नियम बनाये और यहूदियों को अपने देश से निकाल दिया। नाज़ी जर्मनी में यहूदियों के प्रति जो अन्याय और अत्याचार हुआ था वह शायद अन्ध-विश्वासी 'सभ्य' समाज के माथे पर एक भारी कलंक के रूप में अमर रहेगा। उसी प्रकार हिटलर-कालीन जर्मनी में "नॉर्डिक प्रजाति की दैवी विशेषताओं तथा उनके संसार के शेष भाग पर राज्य करने के और उन्हें सभ्यता प्रदान करने के जन्मजात अधिकार-सम्बन्धी अवैज्ञानिक और अर्ध-वैज्ञानिक प्रलापों को अभी संसार भूला नहीं है। नॉर्डिक-वाद केवल जर्मनी मे प्राथमिक रूप में सीमित न रहा, बल्कि जर्मनी में ही ट्यूटनवाद (Teutonism), इंगलैण्ड में ऐंग्लो-सैक्सनवाद (Anglo-Saxonism), तथा फ्रांस में गॅलिकवाद (Gallicism) के रूप में विकसित और प्रचारित हुआ।[1]

इस प्रकार *प्रजातिवाद का आधुनिक रूप यह है कि प्रजातिवाद के आधार पर* एक प्रजातीय समूह दूसरे प्रजातीय समूह को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है और उसके प्रति ऐसी भ्रान्त और अवैज्ञानिक धारणाओं का पोषण करता है कि उससे विभेदों की सृष्टि होती है तथा अन्याय व अत्याचार का द्वार खुल जाता है। प्रजातीय श्रेष्ठता के आधार पर ही एक प्रजाति अपने से नीचे की प्रजाति से विवाह आदि नहीं करती है और न ही उनको कोई आर्थिक और राजनैतिक अधिकार ही देना चाहती है। *ये विभेद सामाजिक जीवन मे भी स्पष्ट हो जाते हैं* और तथाकथित (so-called) निम्न प्रजाति के लिए अलग होटल, रेलगाड़ी और बसों में अलग बैठने की सीटों की व्यवस्था करना तथा उन्हें शिक्षा आदि की सुविधाएँ प्रदान न करना सामाजिक अन्याय के रूप मे प्रकट होते हैं। इसका जीता-जागता उदाहरण अमेरिका और अफ्रीका है। नीग्रो लोगों के प्रति गोरे अंग्रेजों और अमेरिकनों का मनोभाव न केवल *अवहेलना* का ही परिचायक है बल्कि घृणा और घोर सामाजिक अन्याय का भी। अमेरिका का ही उदाहरण लीजिए। वहाँ नीग्रो के प्रति कटु प्रजातीय भेदभाव देखने को मिलता है। उनके लिए रेलगाड़ी मे अलग डिब्बे (compartments) तथा स्टेशनों पर पृथक् प्रतीक्षालय (waiting-rooms) होते हैं। 'कानून के सम्मुख समानता' (equality before law) की सामान्य नीति भी नीग्रो के लिए उलट-सी जाती है। छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी नीग्रो लोगों को जो कठोर सजा भुगतनी पड़ती है, उसके विषय मे सुनने से ही प्रजातिवाद का नग्न तथा भयंकर रूप सामने आ जाता है। उदाहरणार्थ, सन् 1951 में एक अमेरिकन स्त्री पर बलात्कार करने के अपराध मे सात नीग्रो को मृत्यु-दण्ड की सजा दी गई थी। प्रजातिवाद के आधार पर प्रगतिशील मानव का इससे अधिक पिछड़ापन व संकीर्णता और क्या हो सकती है? दक्षिणी अफ्रीका में काले-गोरे का जो भेदभाव आज भी बरता जा रहा है, वह भी प्रजातिवाद के आधार पर बनी अंग्रेज द्वारा अपने को श्रेष्ठ मानने की भावना और नीति का ही परिणाम है। वहाँ अंग्रेज लोग 'जंगली' नीग्रो को न केवल शासन के क्षेत्र से दूर रखते हैं बल्कि अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन से भी उनका बहिष्कार करते हैं। वहाँ एक अंग्रेज मरीज को, जिसे कि रक्त की आवश्यकता है, बिना बताये

1. *Ibid.*, pp. 60-61.

किसी अन्य प्रजाति का रक्त देना अपराध है। उन्हें डर है कि कहीं उनका 'विशुद्ध' गोरा रंग 'अपवित्र' न हो जाय, उस पर काली छाया न पड़ जाय। इन सबको देखकर शायद मानवता बहुधा प्रश्न करती है—"वैज्ञानिक जगत् का मनुष्य इतना अवैज्ञानिक क्यो ?" इस प्रश्न का उचित उत्तर आज भी मिल नही सका है।

प्रजातिवाद के आधार
(Bases of Racism)

प्रजातिवाद का विष केवल यहाँ तक ही नही फैलता है कि गोरी प्रजाति काली या रंगीन (coloured) प्रजातियो के प्रति भ्रान्त धारणाओ या घृणा भाव का पोषण करे और उसे अशिष्ट तथा विवेकहीन बाह्य व्यवहारो द्वारा व्यक्त करे, बल्कि गोरी प्रजातियो मे भी आपस मे फूट और विद्वेष इसी प्रजातिवाद के कारण ही पडता है। एक समूह दूसरे समूह की अपेक्षा अपने को अधिक श्रेष्ठ समझने लगता है और सामाजिक विभेदो के बीज को बोता है। आर्यवाद और नॉर्डिकवाद, जिनके सम्बन्ध मे हम पहले ही पढ़ चुके हैं, उसी बीज के विषवृक्ष हैं।[1]

अतः स्पष्ट है कि प्रजातीय विद्वेष का आधार केवल रंग नही है, यद्यपि त्वचा के रंग के आधार पर प्रजातिवाद का क्षेत्र पर्याप्त स्पष्ट है। एक रंगीन प्रजाति के सदस्य तथा एक गोरी प्रजाति के सदस्य के शारीरिक ढाँचे के विभिन्न अंग—आँख, कान, नाक, पेट, दो हाथ, दो पैर सब-कुछ गिनती मे और प्राणीशास्त्रीय कार्य की दृष्टि से एक-से हैं। नीग्रो स्त्री श्वेत पुरुष के साथ सहवास द्वारा सतान उत्पन्न कर सकती है। इतनी समानताओ के होते हुए भी केवल रंग का भेद विभेद और विद्वेष उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। गोरी प्रजातियो का दावा है कि संसार मे केवल वे ही यथार्थत: 'सभ्य' हैं, इसी कारण रंगीन प्रजातियो तक सभ्यता का प्रकाश पहुँचाने की वास्तविक योग्यता केवल उनमे ही है। साम्राज्यवाद ने इस धारणा को और भी उग्र रूप दिया। निर्बल राष्ट्रो को हराकर उन्हे गुलाम बनाकर उनपर शासन करने का एक अच्छा बहाना यह निकाला गया कि वे अपने देश का शासन-भार सभाल सकें, इतनी योग्यता उनमे नही है; इस कारण गोरे लोग उस भार को सभालकर उन रंगीन प्रजातियो का महा 'उपकार' कर रहे हैं। इस उपकार का जो मूल्य उन रंगीन प्रजातियो को चुकाना पड़ा उससे ससार भली-भाँति परिचित ही है।

यह तो रंगीन और गोरी प्रजातियों के बीच पाये जाने वाले विभेदो का आधार था; परन्तु जब गोरी प्रजातियो मे भी विभेदो की आवश्यकता हुई तो रंग के आधार को छोड़कर रक्त की शुद्धता, मानसिक या सास्कृतिक उच्चता के आधार को अपनाया गया। नॉर्डिकवाद, जैसाकि पिछले पृष्ठो मे दिये गये विवरण से स्पष्ट है, इन्ही आधारो पर आधारित था।

---

1. For an excellent discussion see M. F. Ashley Montagu, *Man's Most Dangerous Myth. The Fallacy of Race*, Columbia University Press, New York, 1945.

प्रजातिवाद के आधारों का मूल्यांकन
(Evaluation of the Bases of Racism)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रजातिवाद के चार प्रमुख आधार हैं—(1) उत्तम रंग का आधार, (2) रक्त की उच्चता व शुद्धता का आधार, (3) मानसिक योग्यता का आधार, और (4) सांस्कृतिक श्रेष्ठता का आधार। एक प्रजाति को दूसरों से अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए बहुधा इनमें से एक या अधिक आधारों को प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु आज भी वैज्ञानिक इन आधारों को निराधार और अवैज्ञानिक ही मानते हैं। इस कारण इनका संक्षिप्त मूल्यांकन आवश्यक है—

(1) उत्तम रंग का आधार इस बात पर बल देता है कि रंग में भी उत्तम और अधम है, अर्थात् रंग के आधार पर भी मानव-समूहों में ऊँच-नीच का संस्तरण किया जा सकता है। केवल रंग किस प्रकार व्यक्ति को या एक प्रजाति को अच्छा या बुरा, उत्तम या अधम बना सकता है, इसे वैज्ञानिक आधारों पर शायद ही प्रमाणित किया जा सके। त्वचा का एक विशेष रंग का होना बहुत-कुछ (पूर्णतया नहीं) पर्यावरण-सम्बन्धी शारीरिक अनुकूलन है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नीग्रो लोगों के काले रंग का प्रधान कारण उनकी त्वचा में अधिक मात्रा में पाई जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म कृष्ण कणिकाएँ (melanin granules) हैं; ये सूर्य की पराकाशनी (ultra-violet) किरणों या अत्यधिक तेज धूप से नीग्रो लोगों के रक्त की रक्षा करती हैं। इस प्रकार रंग काला होने से नीग्रो लोगों का अफ्रीका के पर्यावरण (जहाँ अत्यधिक तेज धूप होती है) से अनुकूलन सरल हो जाता है और उनके रक्त तथा शरीर की रक्षा होती है। ठंडे प्रदेशों में जहाँ सूर्य की धूप इतनी तेज न होने के कारण रक्त को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ कृष्ण कणिकाओं की मात्रा बहुत कम होती है। इस कारण वहाँ रहने वालों का रंग गोरा होता है। त्वचा के रंग के द्वारा इस सरल अनुकूलन की प्रक्रिया के अन्तर्गत एक प्रजाति की उत्तम या अधम होने की सम्भावना ही नहीं हो सकती। यह सच है कि कृष्ण कणिकाओं की मात्रा वंशानुसंक्रमण द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु अभी तक यह प्रमाणित नहीं हो पाया है कि कृष्ण कणिकाओं की मात्रा और व्यक्ति के मानसिक गुण या योग्यता में कोई वास्तविक सम्बन्ध है। अतः हम कह सकते हैं कि त्वचा के रंग तथा व्यक्तियों अथवा प्रजातियों की मानसिक क्षमता में कोई सम्बन्ध नहीं है।[1]

(2) रक्त की उच्चता और शुद्धता का आधार और भी निर्बल प्रतीत होता है; यद्यपि यह विचार अत्यन्त प्राचीन है। कहीं रक्त की शुद्धता नष्ट न हो जाय, इस डर से अन्तर्जातीय या अन्तर्प्रजातीय विवाह का विरोध किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक गोरी

---

1 'No evidence has ever been adduced to show a causal interconnection between degree of concentration of melaning granules and the development level or quality of the central nervous system There is thus no relationship between skin colour and mental potentiality of individuals or races."
—Jacobs and Stern, *op. cit*, p 43.

प्रजाति का सदस्य एक नीग्रो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना नही चाहता है क्योंकि उसे डर है कि ऐसा करने पर उसके रक्त की शुद्धता नष्ट हो जायगी। इस कारण वह नीग्रो लोगो से दूर-दूर रहता है और उनके साथ हिल-मिल नही पाता है। यही दूर-दूर रहना प्रजातीय विद्वेष के रूप मे तब प्रकट हो जाता है जब एक प्रजाति या समूह द्वारा यह प्रचार किया जाता है कि उनका रक्त उच्च कोटि का है और दूसरे समूहों का रक्त निम्न श्रेणी का। इस प्रकार रक्त को आधार मानकर ऊँच-नीच की भावना धीरे-धीरे उग्र रूप धारण कर लेती है। यह भी प्रजातिवाद का एक स्वरूप है। परन्तु वास्तव मे ये सभी भ्रान्त तथा अवैज्ञानिक धारणाएं या युक्तियां हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधानों से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि मानव-रक्त को चार समूहो मे विभाजित तो किया जा सकता है परन्तु इन रक्त-समूहो मे उत्तम-अधम का कोई प्रश्न नहीं उठता। कोई भी रक्त-समूह दूसरे किसी रक्त-समूह से श्रेष्ठ है, ऐसा कोई प्रमाण अभी तक मिला नही है। साथ ही ये चारो प्रकार के रक्त प्रत्येक प्रजाति मे पाये जाते हैं। पिछले महायुद्ध मे सैनिक अस्पतालो मे सेना अधिकारियों ने नीग्रो रक्त से अनेक गोरे लोगो की प्राणरक्षा की थी। नीग्रो रक्त उतना ही जीवनदायक था जितना कि अन्य किसी भी प्रजाति का। ऐसी अवस्था मे रक्त के आधार पर किसी प्रजाति की श्रेष्ठता या अधमता कैसे प्रमाणित हो सकती है। अत स्पष्ट है कि रक्त की उच्चता का विचार मिथ्या एव अवैज्ञानिक है।

उसी प्रकार रक्त की शुद्धता का विचार भी भ्रमपूर्ण है। यह एक प्रमाणित सत्य है कि विभिन्न प्रजातियो मे इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि कही, कोई भी समूह या प्रजाति या मनुष्य रक्त की शुद्धता का दावा नही कर सकता है। फलत न तो आज-कल कोई विशुद्ध और मौलिक प्रजाति ही है और न सहसा निकट भविष्य मे ऐसी कोई शुद्ध प्रजाति के बनने की सम्भावना ही है। वास्तव मे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की प्रवृत्ति मनुष्य मे जानवरो से कही अधिक है और आधुनिक युग मे यातायात के साधनो मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के साथ-साथ यह प्रवृत्ति बढती ही चली जा रही है। बहुत प्राचीन काल से ही भोजन की आवश्यकता या अन्य उद्देश्यो को पूरा करने के लिए मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पडा है। इस प्रकार नये स्थान पर पहुँचकर मनुष्य वहाँ के मूल निवासियो के साथ हिल-मिल गया है, धीरे-धीरे उनसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया है और वर्णसकर सन्तानो को जन्म दिया है। आधुनिक युग मे तो यह प्रक्रिया और भी तेजी से कार्य कर रही है क्योंकि आज विज्ञान ने विभिन्न प्रजातियो के बीच की दूरी या भौगोलिक पृथकता को पूर्णतया नष्ट कर दिया है। आधुनिक संसार मे परिस्थितियाँ ही कुछ इस प्रकार की हैं कि कोई भी प्रजाति अपने को दूसरों से पृथक् नही रख सकती। इतना ही नही, प्राचीन काल मे भी प्रजातियां बिल्कुल विशुद्ध थी, यह भी निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। प्रो॰ गोर्डन चाइल्ड (Gordon Child) ने लिखा है कि डेनमार्क तथा स्वीडन मे जो नॉर्डिक प्रजाति के प्रस्तरित-कंकाल (fossils) मिले हैं, उनमे भी कई प्रजातियों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रजातीय या रक्त-सम्मिश्रण अति प्राचीन काल से ही होता आ रहा है जिसके कारण आज किसी भी प्रजाति द्वारा रक्त की शुद्धता का दावा समस्त वैज्ञानिक आधारों से परे

है; इसका केवल काल्पनिक या अलौकिक आधार ही हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि रक्त की शुद्धता या श्रेष्ठता का विचार मनुष्य की अपनी मन-गढ़ंत बातें हैं जिनका प्रचार और उपयोग राजनीतिज्ञों तथा संकीर्णतापूर्ण प्रजातीय नीति मे विश्वास करने वाले विशेष स्वार्थ-समूहों द्वारा किया जाता है। कोई भी वैज्ञानिक इनका समर्थन नहीं कर सकता।

(3) **मानसिक योग्यता का आधार** उक्त दो आधारो की भाँति ही असार है। इस आधार के कई स्वरूप हैं। प्रथम खोपड़ी का घनत्व है। कहा जाता है कि कुछ प्रजातियों के लोगों की खोपड़ी का घनत्व अन्य प्रजातियों के लोगों से अधिक होता है और यह उनकी अधिक मानसिक योग्यता का प्रमाण है। यह प्रचार किया जाता है कि लम्बे सिर वाले नीग्रो प्रजाति के लोगों की खोपड़ी का घनत्व कम होने के कारण ही उनकी मानसिक योग्यता कम होती है। यह सच है कि विभिन्न प्रजातियों की खोपड़ी का घनत्व भिन्न-भिन्न होता है और यह भी सच है कि खोपड़ी का घनत्व और मस्तिष्क (brain) का आकार परस्पर सम्बन्धित है, परन्तु वैज्ञानिक रूप में अभी तक यह प्रमाणित नहीं किया जा सका है कि मस्तिष्क के आकार का कोई सम्बन्ध बुद्धि से है। दूसरे शब्दों में मानसिक योग्यता मस्तिष्क के आकार पर कदापि निर्भर नहीं है। यदि ऐसा ही होता हो तो एस्किमो लोगों की मानसिक योग्यता सबसे अधिक होनी चाहिए थी क्योंकि मस्तिष्क का सर्वाधिक औसत आकार उन्हीं लोगो का माना जाता है। परन्तु ऐसा कोई प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है जिससे यह प्रमाणित हो सके कि उनकी मानसिक योग्यता काकेशॉयड या अन्य किसी प्रजाति से अधिक है।[1]

प्रजातियों की मानसिक योग्यता को प्रमाणित करने का दूसरा आधार 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence Test) है। बुद्धि-परीक्षा के मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर यह प्रचार किया जाता है कि गोरी प्रजाति के लोग अन्य प्रजातियों से अधिक मानसिक योग्यता या बुद्धि रखते हैं। परन्तु बुद्धि-परीक्षणों की अपनी सीमाएँ हैं। आज के मनोवैज्ञानिक दो कारणों से इनपर अधिक भरोसा नहीं करते हैं—प्रथम तो यह कि 'बुद्धि' को यथार्थ रूप मे परिभाषित करना बहुत कठिन है क्योंकि इसका विकास और अभिव्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों मे अलग-अलग होती है। एक ही व्यक्ति विभिन्न विषयों में अलग-अलग बुद्धि का परिचय देता है। द्वितीयतः बुद्धि-परीक्षाओ मे कितनी ही सावधानी क्यों न बरती जाय, पर्यावरण-सम्बन्धी कुछ-न-कुछ अन्तर रह ही जाता है और ऐसा अन्तर रह जाने पर बुद्धि-परीक्षा का फल भी गलत हो जाने की सम्भावना अधिक होती है।[2] अगर नीग्रो लोगों की बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient) गोरे लोगों से बहुत कम होती है तो उसका एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि नीग्रो लोगों को गोरे लोगो की अपेक्षा कहीं अधिक कम आर्थिक, सामाजिक, जीवन-सम्बन्धी और शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त हैं जिसके कारण वे अपने व्यक्तित्व या बुद्धि या मानसिक योग्-

1. *Ibid*, p. 41.
2. Beals and Hoijer, *op cit.*, pp 212-213

ताओं का पूर्णतया विकास नही कर पाते हैं। उन्हें भी अगर गोरे लोगो की भाँति सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने लगें तो हो सकता है कि बुद्धि-परीक्षाओं का फल ही और कुछ निकले। सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने उचित ही लिखा है कि कोई नहीं जानता कि जीवन-धारण की आदर्श अवस्थाओं को प्राप्त कर लेने के पश्चात् समूहो या व्यक्तियो की बुद्धि-परीक्षा का अंक (score) कितना अधिक चढ़ जाएगा।[1] उदाहरणार्थ, अमेरिका की सेना में भरती किये गये सैनिकों की जो बुद्धि-परीक्षा ली गई थी उससे पता चलता है कि उत्तरी अमेरिका के नीग्रो सैनिक उस देश के दक्षिणी भाग के नीग्रो सैनिको की अपेक्षा बुद्धि मे अधिक योग्य थे। साथ ही, उत्तरी अमेरिका के गोरे सैनिक भी बुद्धि मे दक्षिणी भाग के गोरों से अधिक योग्य थे, यहाँ तक कि उत्तर के कुछ नीग्रो सैनिक दक्षिणी भाग के कुछ गोरे सैनिकों से कही अधिक योग्य निकले। इससे स्पष्ट है कि बुद्धि पर पर्यावरण का प्रभाव अत्यधिक होता है और इसी कारण प्रजाति की मानसिक योग्यता या अयोग्यता को एक स्थिर आनुवंशिक लक्षण (hereditary trait) मानकर उसी के आधार पर प्रजातीय विद्वेष का पोषण करना बड़ी भूल होगी। आज के मनोवैज्ञानिकों का निश्चित मत यह है कि बुद्धि-परीक्षा द्वारा समूहो की जन्मगत बुद्धि का उतना पता नहीं लगता जितना कि उसकी सामाजिक स्थिति, पृष्ठभूमि तथा शिक्षा के प्रभावों का।[2] एक बच्चे को जीवन की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, वह स्कूल जाता है, घर पर रेडियो सुनता है, विभिन्न प्रकार के लोगो से मेल-मिलाप स्थापित करता है, इत्यादि ये सभी परिस्थितियाँ उसकी बुद्धि को विकसित करने मे सहायक हैं। बुद्धि-परीक्षा मे प्राप्त अक उस बच्चे की केवल प्रकृतिदत्त बुद्धि या मानसिक योग्यता को ही व्यक्त नही करते बल्कि उस अक (score) मे उसे उसके जीवन की परिस्थितियां तथा सामान्य संस्कृति से प्राप्त मानसिक योग्यता भी सम्मिलित है। इसी कारण बुद्धि-लब्धि (I. Q.) व्यक्ति की परिस्थिति के अनुसार बदल भी सकती है। मानसिक योग्यता जन्मजात नहीं है और उसके निर्धारण मे पर्यावरण का भी बहुत भारी योग है, इससे हाल के ही एक परीक्षण से प्रमाणित किया जा सकता है। न्यूयार्क के शिक्षा अधिकारियो ने एक विशेष विद्यालय होनहार विद्यार्थियो के लिए प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इसके लिए पूरे नगर के प्राथमिक स्कूलो से बुद्धि-परीक्षण द्वारा 500 होनहार बच्चो को चुना गया। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि इस प्रकार जितने बालक उस विशेष विद्यालय मे आये उनमे नीग्रो प्रजाति के उतने ही प्रतिशत बच्चे थे जितने प्रतिशत जनसख्या नीग्रो लोगों की उस नगर मे थी। न्यूयार्क नगर मे 10 प्रतिशत नीग्रो थे और बुद्धि-परीक्षण द्वारा चुने गये 500 बच्चों में भी 10 प्रतिशत अर्थात् 50 बच्चे नीग्रो प्रजाति के थे।[3] अत. स्पष्ट है

---

1. "No one knows how high an intelligence test score of groups or individuals may rise after protracted enjoyment of a change to optimal conditions of living."—Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 69.

2. "Increasing evidences substantiate the judgement that the test scores do not reveal the inherited intelligence of such groups, but reflect influences arising from social status, background, and education."—*Ibid.*, pp. 68-69.

3. *What is Race*, UNESCO Publication, Paris, 1952, p. 57.

कि मानसिक योग्यता के आधार पर प्रजातियों को उत्तम या अधम समझना और उसी के अनुसार ऊँच-नीच की भावना को जागृत या प्रचारित करना अन्धविश्वास को ही प्रश्रय देना है। मानसिक योग्यता के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता का सिद्धान्त सर्वथा भ्रान्त तथा अवैज्ञानिक है।

(4) **सांस्कृतिक श्रेष्ठता के आधार** को भी पुष्ट करने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। विभिन्न देशों की संस्कृति और सभ्यता के विकास-सम्बन्धी जो वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध हैं उनके आधार पर किसी विशेष प्रजाति की सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होती है। यह प्रचार किया जाता है कि "मानवीय सभ्यता के विकास में गोरी प्रजातियों का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है।" यह धारणा समस्त ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध है कि सभ्यता, संस्कृति या विज्ञान किसी प्रजाति-विशेष की देन है। यह सच है कि आज के संसार में गोरी प्रजातियाँ मानव-सभ्यता को शीघ्रता से विकसित करने में पर्याप्त योगदान कर रही हैं, परन्तु इससे उनकी प्रजातीय श्रेष्ठता किसी प्रकार से भी प्रमाणित नहीं होती है, न ही यह माना जा सकता है कि मानव-सभ्यता आज जिस स्तर पर है उसका एक मात्र कारण गोरी प्रजातियाँ ही हैं। जिस समय यूरोप के लोग नंगे जंगलों में घूमा करते थे तब चीन, मिस्र और भारत की सभ्यताएँ पर्याप्त विकसित हो चुकी थीं। मानव-सभ्यता का जो विराट महल आज खड़ा हुआ है उसकी नींव और प्रमुख स्तम्भों को यहाँ के लोगों ने ही चुना है, गोरी प्रजातियों ने नहीं। डॉ० दूबे ने लिखा है कि "ब्रिटेनवासियों के सम्बन्ध में सिसरो का मत था कि वे अपनी जन्मजात मूर्खता के कारण दास बनाने योग्य भी नहीं थे। रोमन लोगों की दृष्टि में जर्मन इतने बर्बर थे कि वे किसी भी प्रकार की उच्च स्तर की सभ्यता विकसित नहीं कर सकते थे। जब आज की विकसित प्रजातियों की यह स्थिति थी तब मध्य-अमेरिका के इण्डियन अपनी सुविख्यात माया-सभ्यता विकसित कर चुके थे।" चीन में यूरोप के लोगों से बहुत पहले कागज बनाने तथा छापने की कला का आविष्कार हो चुका था। इन समस्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि मानव-सभ्यता, संस्कृति या विज्ञान किसी प्रजाति-विशेष की देन नहीं है। सबने मिलकर इनकी रचना की है। अतः सांस्कृतिक श्रेष्ठता के आधार पर प्रजातिवाद को प्रोत्साहित करना सर्वथा अनुचित है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रजातिवाद का समस्त आधार काल्पनिक तथा अवैज्ञानिक है। मानव अपने असख्य शारीरिक तथा मानसिक स्वरूपों के मध्य प्रगटित है; उन स्वरूपों में विविधता या विभिन्नता स्वाभाविक ही है। दो भाइयों में भी अनेक शारीरिक तथा मानसिक भिन्नताएँ मिलती हैं। परन्तु इन भिन्नताओं के आधार पर उनमें ऊँच-नीच का स्तरण करना कदापि उचित न होगा क्योंकि इन अन्तरों को मानव की अनुकूल परिस्थितियाँ बहुत-कुछ दूर कर सकती हैं। यह बात प्रजातियों के सम्बन्ध में भी सत्य है। किसी प्रजाति में ही कोई दैवी या अलौकिक विशेषता नहीं है। जो थोड़ा-बहुत अन्तर है वह कुछ तो विशिष्ट पर्यावरण के कारण और कुछ वंशानुसंक्रमण के कारण है। परन्तु इनमें से कोई कारक ऐसा नहीं है जो पूर्णतया स्थिर हो। इसलिए मानव-समूहों में पाये जाने वाले अन्तर भी स्पष्ट तथा स्थिर नहीं हैं। अतः विभिन्न प्रजातियों में ऊँच-

नीच का संस्तरण सर्वथा निस्सार तथा अवैज्ञानिक है। प्रजातीय विद्वेष विश्व-शान्ति के लिए घातक है। प्रजातिवाद की निरर्थकता प्रजाति के सम्बन्ध मे विशेषज्ञो द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित आधुनिकतम निष्कर्षों से और भी स्पष्ट हो जायगी।

प्रजाति के विषय में आधुनिकतम निष्कर्ष

(Latest Conclusions regarding Race)

यूनेस्को (UNESCO) द्वारा बुलायी गई शारीरिक मानवशास्त्र तथा मानव-अनुवंश-विद्या (Human Genetics) के विद्वानो की बैठक मे, जो कि सितम्बर सन् 1952 मे हुई थी, प्रजाति के सम्बन्ध मे जिन निष्कर्षों की घोषणा की गई थी, उनमे निम्न प्रमुख हैं[1]—

(1) समस्त वैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि आज जितने भी मनुष्य भूमण्डल में रह रहे हैं वे सभी एक ही जाति के सदस्य हैं जिसे मेधावी-मानव *(Homo Sapiens)* कहते हैं।

(2) कुछ शारीरिक लक्षणो मे अन्तर वंशानुसंक्रमण से और कुछ पर्यावरण से होते हैं, परन्तु साधारणतया इन दोनो का ही प्रभाव होता है।

(3) वंशानुसंक्रमण मे अन्तर दो प्रक्रियाओ के फलस्वरूप होता है—(अ) उत्परिवर्तन (mutation) और (ब) अन्तर्वर्ग-विवाह (cross-marriage)।

(4) राष्ट्रीय, धार्मिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और भाषा-समूह प्रजाति नही हैं। इनको प्रजाति समझना बडी भूल होगी।

(5) विभिन्न तरीकों से मानव-प्रजातियों का वर्गीकरण किया गया है और किया जा सकता है, परन्तु आज सभी मानवशास्त्री मानव को निम्नलिखित तीन मुख्य प्रजातियो मे बांटने के सम्बन्ध मे एकमत हैं—

(क) काकेशॉयड (Caucasoid)

(ख) मंगोलॉयड (Mongoloid)

(ग) निग्रॉयड (Negroid)

यह वर्गीकरण किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार पर नही है और न ही इनमे उच्चता या निम्नता का कोई प्रश्न उठता है।

(6) प्रजाति के वर्गीकरण मे बुद्धि को सम्मिलित नही किया जाता है क्योकि यह देखा गया है कि यदि पर्यावरण एक-सा है तो विभिन्न प्रजाति के बुद्धि-स्तर मे कोई विशेष अन्तर नही होगा। प्रत्येक प्रजाति मे बुद्धिमान व्यक्ति पाये जाते हैं।

(7) सांस्कृतिक भिन्नताएँ प्रजातीय भिन्नताओ के कारण नही हैं।

(8) तथा-कथित (so-called) विशुद्ध प्रजातियां आज कही नही पाई जाती हैं। प्रजातीय सम्मिश्रण अतीत काल से होता चला आ रहा है। मनुष्य हमेशा से ही अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक जगह से दूसरी जगह को जाता रहा और

---

1. *Race Concept*, UNESCO Publication Paris, 1952.

सम्मिश्रण होता रहा है। आज आवागमन के साधनों मे उन्नति के साथ यह सम्मिश्रण और भी सरल और व्यापक हो गया है। ऐसे सम्मिश्रण से कोई हानि होती है, इसका कोई प्रमाण नहीं है और इसलिए ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता जिसके आधार पर अन्तः-प्रजातीय विवाह को रोका जाये।

(9) मनुष्य-मनुष्य समान हैं और प्रत्येक को समान अवसर प्रदान किया जाना चाहिए तथा कानून के सम्मुख सबको समान मानना चाहिए।

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि दुर्भाग्यवश प्रजाति शब्द का प्रयोग प्राणी-शास्त्रीय अर्थ में वैज्ञानिक ढग से नहीं किया जाता है। मनमाने अर्थों से अनेक अनर्थों की सृष्टि तथा मानव-समूहो और राष्ट्रों पर बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं। इन सबके फलस्वरूप 'प्रजाति' शब्द के अर्थ में पर्याप्त अवैज्ञानिकता तथा निःसारता आ गई है। अतएव सर्वश्री हक्सले तथा हडुन (Huxley and Haddon) का मत है कि 'प्रजाति' शब्द एक उप-कल्पित भूत या एक अनिश्चित भविष्य के लिए ही उपयुक्त है, वास्तविक वर्तमान के लिए नहीं।"

उपर्युक्त परिस्थितियों मे, जैसाकि अनेक विद्वानो का मत है, "यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्यों के समुदायों के लिए प्रयुक्त 'प्रजाति' शब्द वैज्ञानिक शब्दकोष से हटा देना चाहिए और 'प्रजाति' शब्द के स्थान पर 'सम-शारीरिक लक्षण वाले समूह' या नृवंशीय समूह (Ethnic group) शब्द का प्रयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। 'प्रजाति' शब्द से मानव-जाति को अत्यधिक हानि पहुँची है; इस कारण इससे जान-बूझकर बचना होगा, नहीं तो विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की कल्पना एक निरर्थक स्वप्न ही रह जायगी।

SELECTED READINGS

1. Ashley Montagu, M F : *Man's Most Dangerous Myth: The Fallacy of Race*, Columbia University Press, New York, 1945.

2 Beals and Hoijer . *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959.

3. Hoebel, E A. *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

4. Jacobs and Stern, : *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955.

5. Kroeber *Anthropology*, New York, 1948

6. Majumdar, D.N.: *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

7. UNESCO Publication : *What is Race*, Paris, 1952.

6 भारत की प्रजातियाँ
(Races of India)

भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्वों की समस्या न केवल अस्पष्ट है, अपितु जटिल भी। इसका उचित और वैज्ञानिक मूल्यांकन एक कठिन कार्य है। इस कारण भारत की प्रजातियों का यह निरूपण कहाँ तक यथार्थ है या हो सकता है, यह बताना भी कठिन है।

प्रागैतिहासिक (pre-historic) समय से ही भारतवर्ष मे विभिन्न प्रजातियों का आगमन हुआ है। इसका कारण राजनैतिक उतना नही जितना कि भौगोलिक है। भारतवर्ष एक विस्तृत उप-महाद्वीप (sub-continent) है और यहाँ प्रारम्भ से ही समयानुसार जीवित रहने के साधन उपलब्ध थे। इन अनुकूल अवस्थाओ से आकर्षित होकर अनेक विदेशी प्रजातीय-समूहों ने समय-समय पर इस देश पर आक्रमण किया और यहाँ के निवासियों को हराकर यहाँ बस गये। इनमें से कुछ आक्रमणकारी समूह लूटपाट कर लौट भी गये, पर अधिकांश यही बस गये। इस कारण यहाँ धीरे-धीरे अनेक प्रजातियों का जमघट बढ़ता ही गया। परन्तु प्राचीनकाल मे, विशेषकर प्रागैतिहासिक युग मे कब और कौन-कौनसी प्रजातियाँ यहाँ आयी, इसका अभी तक सही-सही पता नहीं लग पाया है। फिर भी अनुमान और अनुसन्धानों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

भारत में प्रजातियों का अध्ययन
(Studies regarding Races in India)

भारतीय सिविल सर्विस के एक यशस्वी अधिकारी सर हर्बर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley, 1851—1911) ने सर्वप्रथम भारतीय जनसंख्या मे प्राचीन तत्त्वों के अध्ययन का बीड़ा उठाया। सन् 1890 मे सर्वप्रथम आपने एक मानवशास्त्रीय पत्रिका (The Journal of Anthropological Institute) मे बगाल, बिहार, सयुक्त प्रान्त (आज का उत्तर प्रदेश) और पजाब की 89 प्रमुख जातियों के कद, खोपड़ी, नाक की लम्बाई-चौड़ाई आदि के नाप सक्षेप मे प्रस्तुत किये।[1] परन्तु आपकी वास्तविक देन इससे कही बाद की थी। सन् 1899 मे भारत सरकार ने सर रिज़ले को सन् 1901 मे होने वाली जनगणना (census) का अध्यक्ष नियुक्त किया। सन्

1. Sir H. H. Risley, 'The Study of Ethnology in India', published in *The Journal of Anthropological Institute*, 1890, Vol. XX, p. 235.

1901 की जनगणना की रिपोर्ट तथा सन् 1915 में प्रकाशित सर रिज़ले की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दी पीपल ऑफ इंडिया' (The People of India) भारत की प्रजातियों के अध्ययन की आधारशिला है।

इसके पश्चात् सन् 1931 की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J.H. Hutton) ने नये अनुसंधानों के आधार पर डा० बी० एस० गुहा (B. S. Guha) को नये तौर पर मानवसमितीय नाप (anthropometric measurements) लेने का कार्य सौंपा। डा० गुहा ने भारतवर्ष की प्रजातियों का अध्ययन और वर्गीकरण सर रिज़ले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रीति से किया। श्री हट्टन ने इसका समर्थन किया, पर डा० डी० एन० मजूमदार (D. N. Majumdar), डा० एस० सी० सरकार (S. C. Sarkar) आदि कुछ विद्वानों ने डा० गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण की कुछ बातों को स्वीकार नहीं किया है। सर रिज़ले से लेकर डा० मजूमदार तक के इन प्रजातीय अध्ययनों को समझने के लिए हमें भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को समझना होगा।

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास
(Racial History of India)

भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) प्रागैतिहासिक युग, तथा (2) ऐतिहासिक युग। इन दो युगों के विषय में अब हम संक्षेप में विवेचना करेंगे।

(1) प्रागैतिहासिक युग
(Pre-historic Age)

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास, विशेषकर प्रागैतिहासिक युग का इतिहास, अत्यधिक अस्पष्ट और मुख्यत. अनुमान पर ही आश्रित है क्योंकि प्रजातीय तत्त्वों के अध्ययन में सहायक हो सकें—ऐसी पुरानी हड्डियों, अस्थि-पंजरों तथा अन्य वस्तुओं का भारत में नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध में सर हर्बर्ट रिज़ले ने लिखा था कि, "यहाँ पर आदिम मनुष्यों के जीवन के उतार-चढ़ावों का चित्रण करने वाली न कोई गुफाएँ, समाधियों के टीले, हड्डियों के ढेर, या उस प्रकार के किले-नुमा नगर ही हैं जैसा कि आधुनिक गवेषणा द्वारा यूनान में जमीन से खोदकर निकाले जा रहे हैं, और न ही हड्डियों से बनी चीजें या हथियार प्राप्त हैं।" इसका एक कारण इस देश की जलवायु है। भारत की जलवायु उष्ण है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की हड्डियाँ, नर-कंकाल आदि सुरक्षित नहीं रह पाये क्योंकि गर्म जलवायु में हड्डियाँ शीघ्र गल जाती हैं और साथ ही ऐसी जलवायु में कीड़े-मकोड़े भी अधिक होते हैं, जो कि ऐसी वस्तुओं को या तो खा जाते हैं या उन्हें नष्ट कर देते हैं। भारत जैसे गरीब देश के लोगों के लिए हड्डी आदि प्राप्त करने के हेतु खुदाई में मग्न होना विलासिता मात्र है, इस कारण भारतवासी इस ओर उदासीन ही रहे। साथ ही, मुगल तथा ब्रिटिश

आदि विदेशी शासक भी अपने-अपने राज्य को दृढ़ बनाने में लगे रहे और इस प्रकार की खुदाई आदि की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। इन सब कारणों से भारत मे थोड़े ही कर्परीय (cranial) और कंकालीय (skeletal) प्रजातीय प्रकार प्राप्त किये जा सके हैं; और जो प्राप्त भी हुए हैं वे बहुत अधिक प्राचीन नही हैं। डा० मजूमदार (Dr. Majumdar) ने उचित ही लिखा है कि "भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में हमें अब तक जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे एक आने के डाक-टिकट के पीछे लिखा जा सकता है।"[1] अतः उस युग मे भारत के प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध में हमें अनुमान पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है। हाल मे भारतीय प्रागैतिहासिक और पुरा-इतिहास की कुछ उपयोगी सामग्री मानवशास्त्रियों को प्राप्त हुई है जिससे प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय इतिहास के पुर्नानिर्माण मे बहुत-कुछ सहायता मिली है; फिर भी पहले की ही भाँति अब भी समस्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राय: अनुमान पर आधित हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है और वह यह कि भारत के प्रागैतिहास की विवेचना बाकी एशिया के प्रागैतिहास से पृथक् करके नही की जा सकती है। बहुतेरे विषयों में ये दोनों अभिन्न हैं। श्री क्रोपोटकिन का मत है कि सभ्यता के उद्भव का सबसे अनुकूल स्थान मैसोपोटामिया रहा होगा। श्री हड्डन (Haddon) के मत में मनुष्य का उद्विकास दक्षिणी एशिया के किसी स्थान पर हुआ होगा।[2] अत. स्पष्ट है कि भारत की बिल्कुल पृथक् रूप से विवेचना करना उचित न होगा।

प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी हमे 2,50,000 वर्ष पुरानी नर्मदा घाटी की सभ्यता तथा 5000 वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो से प्राप्त होती है। परन्तु ये प्रमाण इतने अपर्याप्त तथा अस्पष्ट हैं कि इन पर अधिक निर्भर रहना उचित न होगा। फिर भी इनके आधार पर उस युग की भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्वों की एक रूपरेखा अवश्य ही प्रस्तुत की जा सकती है।

भारतवर्ष के दक्षिणी प्रायद्वीप के हिस्से की ज़मीन सबसे अधिक प्राचीन कही जाती है और वहाँ पर पाषाण युग की संस्कृति के तत्त्व भी मिलते हैं। इस आधार पर श्री स्टुअर्ट पिगट (Stuart Piggot) का मत है कि यहाँ के निवासी पूर्व-पुरुषभ (Palaeo-anthropoid) के प्रतिनिधि और जावा (Jova) मे पाये जाने वाले सर्वप्रथम 'सीधे चलने वाले मनुष्य' (Pithecanthropuseractus) से सम्बन्धित हो सकते हैं।

नवपाषाणकालीन (Neolithic) संस्कृति के तत्त्व भारत के पूर्वी भाग मे मिलते हैं। इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उस समय भारत के पूर्वी

---

1 "In any case, all the knowledge of the Indian pre-historic age we have had so far could be written on the back of an anna postage stamp."—D N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p. 20

2 *Ibid*, p 21.

भाग में रहने वाली प्रजाति ने ही इस संस्कृति को जन्म दिया था। परन्तु यह प्रजाति कौनसी थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें क्रो-मैगनन (Cro-Magnon) प्रजाति से सम्बन्धित मानते हैं और कुछ लोग इन्हें प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid) से सम्बन्धित करते हैं। इस विषय में कोई निश्चित निष्कर्ष आज भी नहीं हो पाया है।

मोहनजो-दड़ो, हड़प्पा, चानूदारो आदि की खुदाई से प्राप्त वस्तुओं से इस प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय तत्त्वों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इन खुदाइयों से पचास नर-कंकाल और ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनके अध्ययन से एकाधिक प्रजातीय तत्त्वों का प्रमाण मिलता है। इनमें से (अ) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid), (ब) भूमध्यसागरीय (Mediterranean), और (स) आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine Race) प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन प्रजातियों के विषय में विस्तारपूर्वक कुछ बताना सम्भव न होगा क्योंकि इनसे सम्बन्धित बहुत ही थोड़े शारीरिक अवशेष जैसे कर्पर, कंकाल, हड्डियाँ आदि प्राप्त किये जा सके हैं। सन् 1912 में एक कर्पर (crania) बयाना में और एक कर्पर स्यालकोट में पाया गया था। ये दोनों कर्पर बहुत प्राचीन नहीं थे और इनकी हड्डियों का रंग मटमैला भूरा था। सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) ने इन कर्परों की जांच बम्बई मानवशास्त्रीय समिति (Bombay Anthropological Society) के अनुरोध से की थी। आपके अनुसार ये कर्पर पुरुषों के थे, पर इनका आकार छोटा था। श्री कीथ के मत में इन कर्परों के आकार और प्रकार बहुत-कुछ वैसे ही हैं जैसे आज के पंजाब के लोगों के हैं और बयाना में पाये गये कर्पर की पतली नाक की हड्डियों के आधार पर आपने उन्हें प्रमुख आर्य पुरुष के ही प्रतिनिधि माना है।[1] मोहनजो-दड़ो में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के उपलब्ध तीन कर्परों को सर्वश्री फ्रेडरिक और मुलर ने वेड्डॉयड (Veddoid) बताया है और हड़प्पा के कब्रिस्तान की दो तहों में विशेषतः निचली तह में प्राप्त कर्पर ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित माने जाते हैं। स्यालकोट में पाया गया कर्पर प्रमुख रूप से भूमध्यसागरीय प्रजातीय स्कन्ध (Stock) से मिलता है, जबकि बयाना के कर्पर को मिश्रित प्रकार का माना जा सकता है। हैदराबाद के रायचूर जिले के मस्की नामक स्थान में प्राप्त कंकालों में दो प्रजातीय तत्त्व पाये गये हैं—एक भूमध्यसागरीय तथा दूसरी पश्चिमी आल्पाइन की आर्मीनॉयड शाखा। मस्की के उन कंकालों में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व नहीं पाये गये परन्तु वहाँ एक दूसरा प्रमाण उपलब्ध है जिसके आधार पर प्रोटो-आट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी होना प्रमाणित होता है। मस्की की वर्तमान जनसंख्या लम्बे तथा चौड़े सिर और पतली नाक वाली है परन्तु वहाँ लम्बे सिर और चपटी नाक वाले लोगों का भी अभाव नहीं है। ये लक्षण प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित हैं। इससे वहाँ प्रोटो- ऑस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी आभास होता है।[2] संक्षेप में बयाना, स्याल-

1. *Ioid.*, p. 25.
2. *Ibid.*, p. 26

कोट, नाल, मरकान, मस्की मे पाई गई सामग्रियाँ या अवशेष प्रागैतिहासिक युग मे भारतीय जनसख्या मे तीन प्रजातीय तत्त्वो—प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, भूमध्यसागरीय तथा अल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा की ओर सकेत करते हैं।

मोहनजोदडो तथा हडप्पा मे पाई गई विभिन्न प्रजातियो के अस्थि-पजरो के विश्लेषण के आधार पर प्रागैतिहासिक युग मे भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वो के सम्बन्धो मे कर्नल स्युअल तथा डा० गुहा का मत कुछ भिन्न है। इन विद्वानों के अनुसार उक्त स्थानों मे पाये गये अस्थि-पजर चार प्रजातियों की सत्ता को सिद्ध करते हैं। वे चार प्रजातियाँ है—प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, मगोलॉयड, भूमध्यसागरीय तथा अल्पाइन। मगोलॉयड तथा अलपाइन प्रजातियो का केवल एक-एक कर्पर इन स्थानो मे मिला है, अधिक सख्या प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड तथा भूमध्यसागरीय कर्परो की है। इनमे भी प्रधानता भूमध्यसागरीय कर्परो की है। दूसरे शब्दो मे, सिन्धु-सभ्यता के मुख्य केन्द्र मोहनजोदडो तथा हडप्पा की जनसख्या मे भूमध्यसागरीय प्रजातीय तत्त्व सर्वप्रमुख थे। इसी आधार पर यह माना जाता है कि सिन्धु-सभ्यता को विकसित करने का श्रेय भूमध्यसागरीय प्रजातीय को ही है। डा० गुहा (Dr Guha) के इस मत से डा० मजूमदार, जैसा कि हम आगे पढ़ेंगे, भी सहमत हैं परन्तु आप (डा० मजूमदार) उस समय भारतीय जनसख्या मे मगोलॉयड प्रजातोय तत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार नही करते हैं। कुछ भी हो, इतना आज प्राय: सभी मानते हैं कि भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोगो (जिन्हे हम भारत मे द्राविड कहते हैं) ने ही सिन्धु-सभ्यता को जन्म दिया था। यह सत्य निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायगा।

मोहनजोदडो तथा हडप्पा की सिन्धु-सभ्यता का काल आज से पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व माना जाता है। यह सभ्यता ईसा से 3250 वर्ष पूर्व (3250 B. C.) से लेकर 2750 वर्ष पूर्व (2750 B C) के बीच की है और सम्भवत इस सभ्यता के मुख्य लक्षण मेसोपोटामिया (Mesopotamia) से आये थे जहाँ कि भूमध्यसागरीय प्रजाति का निवास था। अनुमान है कि भारत मे भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग समुद्र के मार्ग से आये थे, यद्यपि स्थल मार्ग (land route) से भी आना सम्भव था। यदि इस प्रकार जल मार्ग द्वारा मेसोपोटामिया से भूमध्यसागरीय लोगो के भारत आने की बात को सिद्ध न भी किया जा सके फिर भी मोहनजोदडो और हडप्पा मे पाये गये सिंचाई के साधन, कृषि के उद्देश्य से बनाये गये बाँध, बिलोचिस्तान के नाल नामक स्थान मे पाये गये मिट्टी के बर्तनो, जैसे बर्तन, काँसे की वस्तुएँ आदि, नि सन्देह उत्तर-पश्चिम से भूमध्यसागरीय सस्कृति के प्रवेश को सिद्ध करती हैं। अत स्पष्ट है, मोहनजोदडो या सिन्धु-सभ्यता को द्राविड लोगों ने जन्म दिया था और मोहनजोदडो के लोगों का प्रमुख प्रजातीय प्रकार सम्भवत. भूमध्यसागरीय था।[1]

कुछ विद्वानो का मत है कि मोहनजोदड़ो की सभ्यता का विकास भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोगो द्वारा नहीं हुआ है; यह सभ्यता प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति की देन

1. *Ibid.*, pp. 26-27.

है। परन्तु ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय प्रमाण प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के पक्ष में नही है। डा० मजूमदार (Majumdar) के अनुसार जिस समय कि 'द्राविड़' लोग सिन्धु घाटी मे एक उच्चकोटि की सभ्यता का निर्माण कर रहे थे, उस समय भारत के सबसे पुराने आदिवासी प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड नवपाषाणकालीन अवस्था मे थे। अपने तर्क को और भी स्पष्ट करते हुए डा० मजूमदार ने लिखा है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई से जो मूर्तियाँ मिली हैं उससे इस सम्बन्ध मे सारे वाद-विवाद का ही अन्त हो जाता है, क्योकि प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग अवैयक्तिक सत्ता (impersonal power) पर विश्वास करते हैं और आज भी वे इस शक्ति को देवताओ के रूप मे या उनको व्यक्त करने वाली मूर्तियो के रूप मे स्थूल या साकार रूप देने मे सफल नहीं हुए हैं।[1] चूंकि मोहनजोदडो की खुदाई से मूर्तियाँ मिली हैं और चूंकि प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग मूर्तिपूजक नही थे, इससे स्पष्टत यह प्रमाणित होता है कि सिन्धु-सभ्यता का निर्माण प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के द्वारा नही हुआ है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो मे अनेक स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं जो नग्न दशा मे हैं। ऐसी नग्न-मूर्तियाँ बिलोचिस्तान, मेसोपोटामिया आदि मे भी मिली हैं। यह प्रमाण भी सिन्धु-सभ्यता के निर्माण मे भूमध्यसागरीय प्रजातीय तत्त्व की प्रधानता की ओर सकेत करता है।

मोहनजोदडो तथा हड़प्पा मे पाये गये कुछ मृतक अवशेषों की अस्थि-परीक्षा से यह पता चलता है कि उनमे से कई की आक्रमण द्वारा हत्या हुई है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह आक्रमण सम्भवतः आर्य लोगो का रहा होगा। जब आर्य लोग भारत मे आये तब यहाँ सिन्धु-सभ्यता विकसित और पुष्पित हो चुकी थी। आर्यों ने द्राविड लोगो पर आक्रमण किया और उन्हें हराया। द्राविड लोग कुछ तो युद्ध मे मरे और कुछ आर्यों की मार खाकर दक्षिण भारत की तरफ भाग खड़े हुए और वहीं जा बसे। ये लोग भारत मे आने वाली भूमध्यसागरीय प्रजाति की सबसे पुरानी शाखा से सम्बन्धित थे जो कि अब कन्नड, तामिल तथा मलयालम भाषा-भाषी प्रदेशो मे पाई जाती है। परन्तु ये सभी निष्कर्ष बहुत-कुछ कल्पनाओ पर आधारित हैं, इस कारण इनमे कितनी सत्यता है यह कहा नही जा सकता।

उपर्युक्त विवेचना से प्रागैतिहासिक युग की भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वों के सम्बन्ध मे एक अस्पष्ट या धुंधली धारणा मात्र होती है और इसी कारण इसके आधार पर हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। पर हाँ, इस सम्बन्ध मे इतना निश्चित ही है कि अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष की भूमि मे एक से अधिक प्रजातियो का जमघट रहा है और उनमे कुछ-न-कुछ समिश्रण भी होता रहा है।

---

1 "The iconic character of Mohenjodaro civilization also puts the lid on the controversy for the proto-Australoids believe in impersonal force or power and even today they have not succeded in concretizing this power in the shape of gods or idols representing them."—D. N. Majumdar, *Ibid*, p 27.

(2) ऐतिहासिक युग
(Historical Age)

ऐतिहासिक युग भारत मे आर्यों के आने के बाद से ही प्रारम्भ होता है। आर्यों के आने के बाद अनेक प्रजातियाँ भारत मे आयीं। परन्तु उनके सम्बन्ध मे भी कोई निर्भर-योग्य जानकारी हमे प्राप्त न होने के कारण कोई निश्चित निष्कर्ष सम्भव नही है। ऐसे तो अनेक विद्वानो ने इस सम्बन्ध मे अनेक खोजें की हैं परन्तु पर्याप्त कर्परीय (cranial) और ककालीय (skeletal) सामग्रियो के अभाव के कारण उनके अध्ययनो को एक वैज्ञानिक आधार नही मिल पाया है। जैसा कि हम पीछे बता चुके है, भारत की उष्ण जलवायु शारीरिक अवशेषो को सरक्षित रखने के अनुकूल नही है और यही कारण है कि इस देश मे मानव-ककालीय सामग्रियो का सदैव अभाव अनुभव किया गया है। इसीलिए यहाँ कोई प्रजातीय अध्ययन भी यथार्थ नही हो पाता है। अधिकतर हमे अनुमान की ही साक्षी पर निर्भर रहना पडता है। ऐतिहासिक युग मे भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का मत निम्नलिखित है—

(1) रिजले (Risley)—जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है, भारतवर्ष की विभिन्न प्रजातियो के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक ढग से सामग्री एकत्र करने का सर्वप्रथम श्रेय सर हर्बर्ट रिजले (Sir Herbert Risley) को है। आपके अनुसार भारतवर्ष मे सात प्रजातीय तत्त्वो का समावेश है।[1] इनमे केवल तीन प्रजातियाँ—द्राविड़ (Dravidian), मगोल (Mongoloid) और इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)—मौलिक हैं। शेष चार प्रजातियाँ इन तीन मौलिक प्रजातियो के परस्पर समिश्रण का परिणाम हैं। ये चार मिश्रित प्रजातियाँ तुर्को-ईरानियन (Turko-Iranian), सीथो-द्राविडियन (Scytho-Dravidian), आर्यो द्राविडियन (Aryo-Dravidian), और मगोलो-द्राविडियन (Mongolo-Dravidian) है।

उपरोक्त सात प्रजातियो मे नीग्रिटो (Negrito) प्रजाति को सर रिजले ने सम्मिलित नही किया है क्योकि आपका मत है कि इस प्रजाति का भारत की जनसख्या के निर्माण मे कोई उल्लेखनीय हाथ नही है।

सर रिजले ने 'द्राविड प्रजाति' को भारत का प्राचीनतम आदिवासी माना है। आपने उन विद्वानो के मत को स्वीकार नही किया है जो कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियो और भारत मे द्राविडो मे सम्बन्ध मानते हैं। सर रिजले ने सर विलियम टर्नर (Sir William Turner) द्वारा आस्ट्रेलियन तथा द्राविड खोपडियो पर किये गये परीक्षणों के आधार पर इन दोनो को सर्वथा भिन्न माना है, साथ ही, आपने अण्डमान तथा फिलिप्पाइन्स द्वीपो के नीग्रिटो लोगो के साथ ही द्राविड़ो का कोई सम्बन्ध नही माना है।[2] सक्षेप मे सर रिजले अपने इस सिद्धान्त पर अटल रहे हैं कि द्राविड प्रजाति भारत की मूल और प्राचीनतम निवासी है। ये लोग प्रारम्भ से ही भारत मे रहते थे और इस कारण इनके बाहर से आने का प्रश्न नही उठता। द्राविड़ को छोड़-

1. H H. Risley, *The People of India*, 1915, pp. 32—61.
2. *Ibid*, pp 47—48.

कर शेष प्रजातियाँ भारत मे बाहर से आयी । इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोगों ने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त से भारत मे प्रवेश किया था । ये लोग एकसाथ भारत मे नही आये, बल्कि धीरे-धीरे आते रहे और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पजाब मे बस गये । सर रिजले के अनुसार उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे विशुद्ध आर्य प्रजाति के लोग नही पाये जाते । इन स्थानो के लोग आर्यों-द्राविडियन अर्थात् आर्य और द्राविड इन दो प्रजातियो के मिश्रण हैं ।[1] मगोल बाहर से आकर उत्तर-पूर्वी भारत विशेषत आसाम और नेपाल मे बसने वाली दूसरी प्रजाति थी । प्रागैतिहासिक काल मे ही मगोल प्रजातीय तत्त्व का भारतीय जनसख्या मे होने का कुछ आभास मिलता है परन्तु ऐतिहासिक काल मे इनके यहाँ आने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं । बाद मे इनका मिश्रण द्राविड लोगो से हुआ जो कि बगाल और उडीसा मे पाये जाते हैं । भारत मे बाहर से आकर बसने वाली तीसरी प्रजाति मध्य एशिया के रहने वाले सीथियन या शक थे । इन लोगो ने अपने को सिन्ध, पजाब, राजपूताना, काठियावाड, गुजरात और मध्यभारत मे विस्तृत कर लिया था; परन्तु बाद मे उन पर जो आक्रमण हुए उनके कारण उन्हे विवश होकर दक्षिण की ओर बढना पडा जहाँ द्राविड लोगो से उनका मिश्रण हुआ । मराठा लोग इसी समिश्रण के फल हैं ।[2] इस प्रकार, सर रिजले के अनुसार, भारत मे बाहर से आकर बसने वाली तीन प्रजातियाँ इण्डो-आर्यन, मगोल तथा सीथियन या शक थे । इन प्रजातियो के भारत मे फैलने और यहाँ के मूल निवासी द्राविडो से समिश्रित होने के फलस्वरूप अन्य तीन मिश्रित प्रजातियो आर्यों-द्राविडियन, मगोल-द्राविडियन तथा सीथो-द्राविडियन का जन्म हुआ । सातवी प्रजाति उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त की तुर्को-ईरानियन है । इन सातो प्रजातियो की शारीरिक विशेषताओ तथा भारतीय जनसख्या मे उनके वितरण का विस्तृत विवरण हम आगे देंगे ।

सन् 1931 की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J H. Hutton) ने सर रिज़ले के उपर्युक्त मत मे अनेक दोषों का उल्लेख किया है ।[3] इनमे सबसे प्रमुख यह है कि (क) सर रिजले ने भी भाषा-समूहो को प्रजातियाँ समझने की भूल की है । 'द्राविड' तथा 'आर्य' शब्द प्रजातिसूचक नही हैं, ये तो केवल भाषा-समूहसूचक हैं । बाद के अनुसधानो के आधार पर आज यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्राविड भाषा बोलने वाले सभी व्यक्तियो को एक प्रजाति समझना गलत है क्योंकि इनमे एकाधिक प्रजातीय तत्त्व पाये गये हैं । श्री रिजले ने यही गलती की है; उन्होंने जिन्हे एक प्रजाति 'द्राविड' के अन्तर्गत सम्मिलित किया है, वास्तव मे उसमे कम-से-कम तीन स्पष्ट प्रजातियो का समावेश है । (ख) सर रिज़ले की इस धारणा से भी अनेक विद्वान सहमत नही हैं कि द्राविड़ इस देश के सबसे प्राचीन आदिवासी थे । इन विद्वानों का कथन है कि, जैसा कि आगे की विवेचना से स्पष्ट होगा, प्रोटो-ऑस्ट्रेलायड यहाँ सबसे पहले रहने वाली प्रजाति थी । (ग) इसके अतिरिक्त सर रिज़ले ने भारत

1 *Ibid*, p. 55.
2. *Ibid.*, p 61.
3. *Census of India*, 1931, Vol. I, Part I, p. 440.

के प्रजातीय वर्गीकरण में ऐसी एकाधिक प्रजातियों का कोई भी उल्लेख नहीं किया है "जिनकी लहरें समय-समय पर भारत में आयी और जिनके शरीर-वैशिष्ट्य के गुण अभी भी, विश्लेषण करने पर, हमे भारतीय समाज मे मिलते हैं।"

(२) **हड्डन** (Haddon)—सर रिज़ले के बाद भारतवर्ष के प्रजातीय तत्त्वों के सम्बन्ध मे अनुसधान का दूसरा प्रयत्न श्री ए० सी० हड्डन (A. C. Haddon) द्वारा हुआ था। आपने सर रिज़ले के दो प्रमुख निष्कर्षों का खण्डन किया। प्रथम तो यह कि द्राविड भारत की सबसे पुरानी प्रजाति नही है। द्राविड प्रजाति भारत मे बाहर से आयी थी। उस प्रजाति के लोगो के भारत-प्रवेश के पूर्व यहाँ पूर्व-द्राविड (Pre-Dravidian) प्रजाति के लोग रहते थे। वास्तव मे भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति यही पूर्व-द्राविड है। दूसरे श्री हड्डन के अनुसार सर रिज़ले का यह कथन भी गलत है कि भारत मे पाये जाने वाले चौड़े सिर वाले व्यक्ति मगोल प्रजाति के हैं। श्री हड्डन के मतानुसार ये आल्पाइन (Alpine) प्रजाति के हैं और मगोल प्रजाति के भारत मे आने से पहले ही यहाँ आये थे।

अत स्पष्ट है कि श्री हड्डन ने भारत की सबसे पुरानी प्रजाति पूर्व-द्राविड मानी है। इस प्रजाति के अन्तर्गत वे सभी जगली जनजातियाँ (Jungle Tribes) आ जाती हैं जो कि द्राविड जाति के भारत मे आने से पूर्व यहाँ निवास करती थी। इन विभिन्न जनजातियो के सदस्यो मे स्पष्ट प्रजातीय समानताएँ थी। इस कारण श्री हड्डन ने इन्हे एक ही प्रजाति के अन्तर्गत माना है। आपका अनुमान है कि द्राविड प्रजाति सबसे पहले पश्चिमी बगाल मे गगा की घाटी मे रहती होगी। इसके बाद इस प्रजाति के लोग देश के अनेक स्थानो मे घूमते हुए अन्त मे मुख्यत छोटा नागपुर मे आकर बसे होगे। आर्य-भाषा बोलने वाली प्रजाति ईसा के लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत मे सर्वप्रथम आयी थी।[1] भारतीय जनसख्या मे चौड़े सिर वाले व्यक्ति, जैसा कि पहले ही कहा गया है, श्री हड्डन के अनुसार आल्पाइन प्रजातीय तत्त्व के होने का प्रमाण हैं; यद्यपि इस प्रजाति के भारत आकर बसने का इतिहास अभी अधूरा ही है। भारत मे मगोल प्रजाति का प्रवेश भारत के पूर्व तथा उत्तर-पूर्व की ओर से हुआ है, ऐसा अनुमान श्री हड्डन का है। इस प्रकार श्री हड्डन ने भारत की जनसख्या मे पाँच प्रजातीय तत्त्वो का समावेश पाया जो क्रम से (अ) प्राग या पूर्व-द्राविड (Pre-Dravidian), (ब) द्राविड (Dravidian), (स) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan), (द) इण्डो-आल्पाइन (Indo-Alpine), और (य) मगोल (Mongolian) है।[2]

(३) **हट्टन** (Hutton)—श्री जे० एच० हट्टन का कथन है कि यद्यपि भारतीय प्रजातियो के सम्बन्ध मे उनका मत अन्तिम (final) नही है, फिर भी

---

1 "The Dravidians may have been the original inhabitants of the valley of the Ganges in Western Bengal. . After many wanderings, apparently across India they settled mainly in Chhota Nagpur" "The Aryan speaking people first migrated into India early in the second millennium B C"—A C. Haddon, *cf* D. N Majumdar, *op. cit*, p 30

2 *Ibid*, pp, 30-31.

उन्होंने अब तक के प्राप्त तथ्यों के आधार पर अधिकृत रूप मे प्रजातियों का विश्लेषण एवं निरूपण करने का प्रयत्न किया है। आपके मतानुसार भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति नीग्रिटो (Negrito) है जिनकी जन्मभूमि अफ्रीका है। ये अफ्रीका से अरब होते हुए, ईरान और बिलोचिस्तान के समुद्रतट के साथ चलते हुए भारत आये थे।[1] चूँकि इन्हे इनके बाद आने वाली प्रजातियो ने पूर्णतया नष्ट कर दिया था, इस कारण नीग्रिटो प्रजाति का कोई चिन्ह अब भारत के मुख्य भागों मे नही है। नीग्रिटो प्रजाति के बाद भारत मे आने वाली दूसरी प्रजाति प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid) थी। श्री हट्टन का मत है कि इस प्रजाति के लोगो के पूर्वज पैलेस्टाइन मे निवास करते थे और ये लोग भारत मे पश्चिम से आये थे। यह परिणाम पश्चिमी एशिया और भारत मे पाये गये पुराने कर्परो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर निकाला गया है। इसके पश्चात् भारतवर्ष मे भूमध्यसागरीय (Mediterranean) प्रजाति का प्रवेश हुआ। इस प्रजाति का मूल स्थान सम्भवत पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश था। इस प्रजाति के लोग दो शाखाओं मे बँटकर भारत मे आये थे। इनमे पहली शाखा को खेती का ज्ञान था और दूसरी को धातुओ का प्रयोग आता था। श्री हट्टन का विश्वास है कि दूसरी शाखा ने सिन्धु-सभ्यता का विकास किया। भारतीय जनसख्या मे पाये जाने वाले चौड़े सिर वाले लोग अल्पाइन प्रजाति की आर्मीनायड शाखा (Armenoid branch of Alpine Race) से सम्बन्धित हैं। ये लोग द्राविड़ भाषा बोलते थे और इन लोगों ने मेसोपोटामिया मे ईसा के चार हजार वर्ष पूर्व अपनी सस्कृति का पर्याप्त विकास कर लिया था। इसके बाद पूर्व की ओर से मगोल (Mongoloid) प्रजाति की एक शाखा दक्षिण की ओर धीरे-धीरे बढती हुई बगाल की खाडी और इडोनेशिया (Indonesia) तक फैल गई। अन्त मे ईसा से 1500 वर्ष पूर्व इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan) प्रजाति ने पजाब मे प्रवेश किया।

(४) गुहा (Guha)—डा० बी० सी० गुहा (B C. Guha) ने भारतीय जनसख्या मे प्रजातीय तत्त्वो का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह सन् 1931 की जनगणना के समय किये गये मानवमितीय (anthropometric) नापों पर आधारित है और श्री हट्टन के प्रजातीय वर्गीकरण से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। डा० गुहा के मतानुसार नीग्रिटो प्रजाति भारतवर्ष की सबसे प्राचीन प्रजाति है, परन्तु वर्तमान मे इस प्रजाति के प्रमुख लक्षण भारतीय जनसख्या मे अब बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, नीग्रिटो प्रजाति के कुछ लक्षण कोचीन और ट्रावनकोर की पहाड़ियो तथा आसाम मे रहने वाली एक-दो जनजातियो मे मिलते हैं। इसके बाद भारत में प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजाति का प्रवेश हुआ था। इस प्रजाति के लोग सम्भवत पैलेस्टाइन से आये थे इनके तथा आस्ट्रेलिया के मूल निवासियो की शारीरिक विशेषताओं मे अनेक समानताएँ थी। प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजाति के बाद भारत मे आने वाली एक दूसरी प्रजाति मगोलॉयड थी। भारत मे इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाओं का प्रवेश हुआ

1. *Census of India, op cit*, p. 442.

है—प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलॉयड तथा दूसरी शाखा तिब्बती-मगोलॉयड है। भारतीय जनसंख्या मे पाई जाने वाली एक और प्रजाति भूमध्यसागरीय है। भारत मे इस प्रजाति की कई शाखाएँ तथा नमूने आये हैं। डा० गुहा के अनुसार भारतवर्ष मे चौडे सिर केवल आर्मीनॉयड शाखा की देन नही हैं, बल्कि यहाँ के चौडे सिर वाले लोग अल्पाइन, डिनारी तथा आर्मीनॉयड, इन तीन प्रजातियो से सम्बन्धित हैं। इन प्रजातियों के अतिरिक्त भारतीय जनसख्या मे नॉर्डिक प्रजातीय तत्त्व का भी समावेश है। डा० गुहा ने अपने प्रजातीय विश्लेषण का उपसहार निम्न शब्दो मे दिया है—'यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भारत मे प्रजातियो का कोई दृढ विभाजन या पृथक्करण सम्भव नही है क्योंकि यहाँ विभिन्न प्रजातीय तत्त्व एक-दूसरे के क्षेत्र मे मिले-जुले पाये गये हैं। फिर भी मोटे-तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत नॉर्डिक लोगो का क्षेत्र है और वे भूमध्यसागरीय तथा पूर्वी-प्ररूप (oriental-type) के साथ मिले हुए हैं। इस क्षेत्र को प्रायद्वीपीय दक्षिण भारत से स्पष्ट रूप से पृथक् किया जा सकता है जहाँ कि प्राचीन भूमध्यसागरीय तत्त्व पाया जाता है। इस क्षेत्र के दोनो ओर अन्य प्रजातीय प्रकारो से मिले हुए अल्पो-डिनारिक क्षेत्र हैं। आदिम काले तत्त्व (Primitive darker element) सर्वत्र अन्य प्रजातियो, विशेषकर प्राचीन भूमध्यसागरीय प्रजाति से मिश्रित हैं और जनसख्या के निम्न भाग का निर्माण करते हैं। मगोलॉयड उत्तरी तथा पूर्वी पहाडों के निचले भागो मे पाये जाते है और कई स्थानों पर जनसख्या के निर्माण मे इनका बहुत बडा योग रहा है।"[1]

डा० गुहा उपर्युक्त वर्गीकरण प्रजातीय दृष्टि से भारतीय समाज का प्राय पूर्ण विश्लेषण है और इसके नीग्रिटो तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी बातो को अधिकाश विद्वान स्वीकार करते हैं। डा० डी० एन० मजूमदार (D N. Majumdar) तथा कुछ अन्य विद्वान् श्री हट्टन और डा० गुहा के इस मत से सहमत नहीं हैं कि नीग्रिटो भारतवर्ष की सबसे पुरानी प्रजाति है। इन विद्वानो ने नीग्रिटो तत्त्व के विरोध मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

नीग्रिटो प्रजाति के सम्बन्ध में मतभेद
(Disagreement about Negrito Strain)

डा० मजूमदार ने इस मत की कडी आलोचना की है कि भारतवर्ष की सबसे पुरानी प्रजाति नीग्रिटो है। आपने अनेक विद्वानो के अनुसधानों तथा निष्कर्षों को आधार मानकर जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है, वे निम्न हैं[2]—

(1) अगर नीग्रिटो यहाँ की प्राचीनतम प्रजाति होती तो इसका प्रभाव और चिन्ह भारत के मूल भागो मे अवश्य ही होता। परन्तु ऐसा नही है, न तो उत्तरी, न ही दक्षिणी भारत मे इस प्रजाति के स्पष्ट लक्षण देखने को मिलते है। हाँ, अण्डमान

1. B C Guha, *Racial Elements in Indian Population*, Oxford Pamphlet on Indian Affairs No 22, Oxford University Press, Bombay, 1944, p 26.
2. D. N Majumdar, *op cit*, pp. 34—36.

द्वीप मे इस प्रजाति के लक्षण अवश्य ही मिलते हैं, परन्तु यह कल्पना करना कदापि उचित और वैज्ञानिक न होगा कि इस प्रजाति के लोग अण्डमान द्वीप से आकर भारतवर्ष मे फैले तथा इस बृहत् देश की जनसख्या मे अपने प्रभावो को विस्तृत किया। इसी कारण श्री रिज़ले (Risley) ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि अण्डमानी लोगो ने भारत की जनसख्या के निर्माण मे कोई भाग नही लिया।[1] सर विलियम फाउलर (Sir William Fowler) तथा सर विलियम टर्नर (Sir William Turner) भी इस मत से सहमत हैं। इन दोनो विद्वानों का मत है कि अण्डमान निवासियो की खोपडी द्राविड लोगो की खोपडी से अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो मे भिन्न है तथा सर टर्नर का कथन है कि भूतकाल मे या वर्तमान मे भारतीय जनसंख्या मे नीग्रिटो तत्त्व होने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक प्राप्त नही हो पाया है। श्री एल० ए० के० अय्यर (L. A K. Iyer) ने ट्रावनेकोर-कोचीन की कादर, उराली, कनिकर आदि जनजातियो मे कुंचित (frizzly) केश को देखकर भारत मे नीग्रिटो तत्त्व होने की बात कही है, परन्तु श्री अय्यर ने न तो यह बताया है कि कुंचित केश का लक्षण इन जनजातियो के कितने लोगो मे और किस मात्रा मे पाया जाता है और न ही इनके बालो की अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा ऐसी कोई परीक्षा की गई है जिससे श्री अय्यर के निष्कर्ष की पुष्टि हो सके। साथ ही, केवल कुंचित केश के आधार पर किसी समूह के लोगो को नीग्रिटो प्रजाति का समझ लेना कदापि उचित न होगा। श्री ऐयप्पन (Aiyappan) द्वारा किये *गये अनुसन्धानो से भी यह प्रमाणित होता है कि भारतीय जनसख्या मे नीग्रिटो प्रजा*तीय तत्त्व वास्तव मे नही है। आपने लिखा है कि दक्षिण भारत मे दो-एक जनजातियो के मुट्ठी-भर व्यक्तियो मे नीग्रिटो प्रजाति की विशेषताएँ मिलती हैं परन्तु उन जनजातियो के अधिकाश लोगो की विशेषताएँ प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति की भाँति हैं। श्री ऐयप्पन के अनुसार उक्त जनजातियो को मैदानो मे रहने वाले लोगो से प्रजातीय दृष्टि से पृथक् मानना गलत होगा। यद्यपि कादर आदि जनजातियो के कुछ लोगो मे कुंचित केश पाये जाते हैं, पर इस विशेषता को रखने वाले व्यक्तियों की सख्या उगलियो पर गिनी जा सकती है। अधिकाश जनजातियां प्रजातीय दृष्टि से आस-पास के मैदानी भाग मे रहने वाले उन लोगो से भिन्न नही है जोकि प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजातीय लक्षण वाले हैं।[2] भारतीय जनसख्या मे नीग्रिटो प्रजातीय तत्त्व होने के विपक्ष मे एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि सन् 1877 मे सर्वप्रथम भारतीय जनता मे नीग्रिटो तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले फ्रेंच विद्वान् श्री क्वाट्रेफेजेस (Quatrefages) ने नीग्रिटो लोगों को चौडे सिर वाला (brachy cephalic) बताया था और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह सही भी है। परन्तु डा० गुहा ने कादर जनजाति को लम्बे सिर वाला (dolicho cephalic) बतलाया है। इस कारण कादर जनजाति के लोग, जो कि डा०

1 H H Risley, *op cit*, p 32

2 For detailed discussion see A Aiyappan, *Report on the Socio-Economic Conditions of the Aboriginals Tribes in the Province of Dadras*, Madras Govt. s, 1948

और काश्मीर में पाये जाते हैं। इनके मुख्य शारीरिक लक्षण निम्न हैं—कद प्रायः ऊंचा, रंग गोरा, आँखें काली, चेहरे पर बाल घने, सिर लम्बा, नाक पतली और सुन्दर, पर अधिक लम्बी नहीं।

(3) सीथो-द्राविड़ियन (Scytho-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र और कुर्ग के पहाड़ी क्षेत्रों में अधिकतर पाये जाते हैं। इसके मुख्य प्रतिनिधि गुजरात के नागर ब्राह्मण, महाराष्ट्र के मराठा ब्राह्मण और कुर्गवासी कुर्ग हैं। इस प्रजाति का निर्माण सीथियन और द्राविड़ तत्त्वों के सम्मिश्रण से हुआ है। इनकी मुख्य शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—चौड़ा सिर, गोरा रंग, दाढ़ी-मूँछ का कम उगना, मध्यम कद, नाक सुन्दर, पर अधिक लम्बी नहीं।

(4) आर्यो-द्राविड़ियन (Aryo-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग पंजाब की पूर्वी सीमा, उत्तर प्रदेश, राजपूताना और बिहार के कुछ भागों में पाये जाते हैं। यह आर्य द्राविड प्रजातियों का एक सम्मिश्रण है। इस कारण उच्च जातियों में इस प्रजाति के लोगों की विशेषताएँ बहुत-कुछ आर्यों की भाँति और निम्न जातियों में द्राविडों की भाँति है। इनका लम्बा सिर, मध्यम कद और रंग हल्के भूरे से काले तक होता है। नाक इण्डो-आर्यन लोगों से अधिक चौड़ी होती है, पर कद उनसे कम होता है।

(5) मंगोलो-द्राविड़ियन (Mongolo-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग बंगाल और उड़ीसा में पाये जाते हैं। यह प्रजाति मंगोल और द्राविड से मिलकर बनी है। इनका रंग काला, सिर चौड़ा, नाक मध्यम, कभी-कभी चपटी, कद मध्यम और चेहरे पर बाल घने होते हैं।

(6) मंगोलॉयड (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोग अधिकतर उत्तर-पूर्वी भारत में पाये जाते हैं, जैसे नेपाल और आसाम। इनका सिर चौड़ा, रंग पीला, दाढ़ी-मूँछ के बहुत कम बाल, कद छोटा या औसत से कम, नाक पतली से चौड़ी, चेहरा चौरस और आँखों की पलकें झुकी हुई होती हैं।

(7) द्राविडियन (Dravidian)—इस प्रजाति के लोग मद्रास, हैदराबाद, मध्य प्रदेश के दक्षिणी भाग और छोटा नागपुर में पाये जाते हैं। इनके सर्वोत्तम प्रतिनिधि दक्षिणी भारत की पहाड़ियों के पनियन और छोटा नागपुर के सथाल हैं। इनका कद छोटा, रंग बहुत काला, बाल अधिक और घुंघराले, आँखें काली, सिर लम्बा और नाक बहुत चौड़ी होती है।

(2) हड्डन का वर्गीकरण
(Classification by Haddon)

श्री हड्डन के अनुसार भारत की जनसंख्या का आधार निम्नलिखित प्रजातियाँ हैं—

(1) प्राग-द्राविड़ (Pre-Dravidian)
(2) द्राविड़ (Dravidian)

(3) इण्डो-माल्पाइन (Indo-Alpine)
(4) मगोल (Mongolian)
(5) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)

(3) हट्टन का वर्गीकरण
(Classification by Hutton)

श्री हट्टन के मतानुसार भारतवर्ष की जनसख्या मे निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व पाये जाते हैं—

(1) नीग्रिटो (Negrito)
(2) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid)
(3) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
    (क) पूर्व भूमध्यसागरीय (East Mediterranean)
    (ख) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
(4) आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine)
(5) मंगोलॉयड (Mongoloid)
(6) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)

(4) गुहा का वर्गीकरण
(Classification by Guha)

पहले ही कहा जा चुका है कि डा० गुहा का वर्गीकरण श्री हट्टन के वर्गीकरण से मिलता-जुलता है। आपने श्री हट्टन के वर्गीकरण को और भी विस्तृत रूप मे प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार भारतवर्ष मे निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व पाये जाते हैं[1]—

(1) नीग्रिटो (Negrito)
(2) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid)
(3) मगोलॉयड (Mongoloid)
    (i) प्राचीन मगोलॉयड (Palaeo-Mongoloid)
        (क) लम्बे सिरे वाले (Long-headed)
        (ख) चौडे सिर वाले (Broad-headed)
    (ii) तिब्बती मगोलॉयड (Tibeto-Mongoloid)
(4) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
    (i) प्राचीन भूमध्यसागरीय (Palaeo-Mediterranean)
    (ii) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
    (iii) पूर्वी-प्ररूप (Oriental Type)

1. B S Guha, *Racial Elements in Indian Population*, Oxford Pamphlet on Indian Affairs No. 22, Oxford University Press, Bombay, 1944.

(5) पश्चिमी चौड़े सिरे वाले (Western Brachy Cephalic)

(i) श्रल्पाइन (Alpinoid)

(ii) डिनारी (Dinaric)

(iii) श्रार्मीनॉयड (Armenoid)

(6) नॉर्डिक (Nordic)

डा० गुहा द्वारा उल्लेखित उपरोक्त प्रजातियों के सम्बन्ध मे कुछ सक्षिप्त विवरण उपयोगी सिद्ध होगा—

(1) **नीग्रिटो** (Negrito)—यह नीग्रो प्रजाति की एक शाखा है जिसका कद बहुत नाटा होता है। इस उप-प्रजाति के लोगो की अन्य शारीरिक विशेषताएँ चौडा सिर, गहरा काला रग, काले ऊनी बाल, मोटे होठ और चौडी नाक हैं। डा० गुहा के अनुसार यह भारत की सबसे पुरानी प्रजाति है और इसके कुछ चिह्न कोचीन तथा ट्रावनकोर की पहाडियो मे रहने वाली कादर और पलयन नामक जनजातियों मे, श्रासाम के अगामी नागाश्रो मे और पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाड़ियो की जनजातियों मे मिलते हैं।

(2) **प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड** (Proto-Australoid)—इस प्रजाति के लोगो के सिर लम्बे, कद छोटा, बाल घुंघराले, खाल का रग चॉकलेटी, नाक चौड़ी और होठ मोटे होते हैं। इनके बालो का रग काला और आंखो का काला और भूरा होता है। मध्य भारत की अधिकाश जनजातियाँ इसी प्रजाति की हैं। दक्षिण भारत मे भी ये लोग पाये जाते है। भील और चेनचू जनजातियां इसी प्रजाति की मानी जाती हैं।

(3) **मंगोलॉयड** (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोगो की प्रमुख शारीरिक विशेषताएं पीला या भूरा रग, चपटा चेहरा, गालो की हड्डियां उभरी हुई, नाक छोटी और चपटी, सिर चौडा और होठ मोटे होते है। भारत मे इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएं हैं—प्रथम शाखा प्राचीन मगोलॉयड है। इनमे लम्बे सिर और चौडे सिर, यह दो भेद होते है। लम्बे सिर वाले आसाम और सीमान्त प्रान्त मे बसी जनजातियो मे, और चौडे सिर वाले चटगाँव तथा बर्मा मे पाये जाते हैं। दूसरी शाखा तिब्बती मगोलॉयड है। ये लोग सिक्किम और भूटान मे तिब्बत से आकर बस गये हैं।

(4) **भूमध्यसागरीय** (Mediterranean)—इस प्रजाति के लोगो की सामान्य विशेषताएँ निम्न है—मध्यम कद, लम्बा सिर, हल्का भूरा रग, चौडा मुँह, पतले होठ और घुंघराले बाल। भारत मे इसकी तीन शाखाएँ हैं, पर सभी लम्बे सिर वाले हैं। इन तीन शाखाश्रो मे सबसे पुरानी उप-प्रजाति प्राचीन-भूमध्यसागरीय है जो कि कन्नड, तामिल तथा मलयालम भाषा-भाषी प्रदेशो मे पाई जाती है। दूसरी शाखा भूमध्य-सागरीय है जो पजाब और गगा की ऊपरी घाटी मे मिलती है, और तीसरी शाखा पूर्वीप्ररूप है जो पजाब, सिन्ध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे पाई जाती है।

(5) **पश्चिमी चौड़े सिर वाले** (Western Brachy Cephalic)—भारतवर्ष की जनसख्या मे इस प्रजाति के भी तीन प्रकार हैं। पहला प्रकार अल्पाइन (Alpinoid) है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण शारीरिक लक्षण चौड़ा सिर है। इसके

अतिरिक्त मध्यम कद, नाक छोटी, पर ऊँची और खाल का रग पीलेपन के साथ भूरा होता है। यह गुजरात मे विशेष रूप से पाई जाती है और मध्य भारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में भी कहीं-कहीं मिलती है। इस प्रजाति की दूसरी शाखा डिनारी (Dinaric) है। यह बगाल, उडीसा, काठियावाड, कन्नड और तामिल भाषा-भाषी प्रदेश मे मिलती है। कुर्ग मे इस शाखा का सबसे शुद्ध रूप मिलता है। इस प्रजाति की तीसरी शाखा आर्मीनॉयड है। बम्बई के पारसी लोग इस शाखा के ही प्रतिनिधि हैं।

(6) नॉर्डिक (Nordic)—इस प्रजाति के लोगो के प्रमुख शारीरिक लक्षण लम्बे सिर, ऊँची और पतली नाक, लम्बे कद, पतले होठ, बाल सीधे और साधारण घुँघराले तथा रग गोरा या गेहुँआ होता है। इस प्रजाति के लोग सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी तथा स्वात, पचकोटा, कुनार, चितराल नदियो की घाटियो मे और हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण मे मिलते हैं। ये काश्मीर, पजाब और राजस्थान मे भी फैले हुए है।

उत्तरी भारत में प्रजातीय तत्त्व
(Race Element in Northern India)

(1) रिज़ले (Risley)—उत्तरी भारत मे एकाधिक प्रजातियो का एक अच्छा जमघट है। अगर हम सर रिज़ले के प्रजातीय प्रकारो को आधार माने तो उत्तरी भारत मे निम्न प्रजातीय तत्त्व स्पष्ट हैं—

(क) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)—इस प्रजाति के लोग पजाब और काश्मीर मे पाये जाते हैं। इसके सर्वोत्तम प्रतिनिधि पजाबी, खत्री और काश्मीरी ब्राह्मण हैं।

(ख) आर्यो-द्राविडियन (Aryo-Dravidian)—यह प्रजाति पजाब की पूर्वी सीमा से बिहार के दक्षिणी छोर तक फैली हुई है। यह प्रजातीय तत्त्व गगा-यमुना की घाटियो और हिमालय की तलहटी मे पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश की जनसख्या मे इस प्रजाति के लोग विशेष रूप से पाये जाते हैं।

(ग) मगोलॉयड (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोग विशेषकर हिमालय और नेपाल मे पाये जाते हैं। उत्तर-पूर्वी भारत मे इनकी सख्या अधिक है।

(2) गुहा (Guha)—यदि हम डा० बी० एस० गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण को आधार मानते है तो उत्तरी भारत में निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व हैं—

(क) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)—इस प्रजाति के लोग विशेषकर पजाब और गगा की ऊपरी घाटी मे बसे हुए हैं। इसी प्रजाति की एक दूसरी शाखा पूर्वी प्ररूप (Oriental Type) के लोग मुख्य रूप से पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे पाये जाते हैं।

(ख) आल्पाइन (Alpinoid)—इस प्रजाति के कुछ लोग उत्तर प्रदेश मे मिलते हैं।

(ग) मगोल (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोग उत्तरी भारत मे पहाड़ो के निचले भागो मे पाये जाते हैं।

(घ) नॉर्डिक (Nordic)—इस प्रजाति के लोग पजाब और गगा की ऊपरी

घाटी मे अन्य प्रजातियों के साथ संमिश्रित रूप में पाये जाते हैं।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना और भारत के प्रजातीय इतिहास से एक बात स्पष्ट ही है कि भारत की जनसंख्या के निर्माण मे एक नही, अनेक प्रजातियों का योग रहा है। ये विभिन्न प्रजातियाँ विभिन्न समय में भारत आयी और एक-दूसरे से मिश्रित होती रहीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि भारत की सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि इनमे से प्रत्येक प्रजाति को इसमे कोई न कोई स्थान मिल ही गया और वे यहाँ के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे की एक अभिन्न अग बन गई। इससे उनको आपस मे समिश्रित होने के अधिक अवसर प्राप्त हो सके। ऐसी परिस्थिति मे किसी भी प्रजाति के लिए यह सम्भव न था कि वह अपने शुद्ध रूप को बनाये रखे। यही कारण है कि आज संसार के अन्य देशो की भाँति भारत मे भी कोई विशुद्ध प्रजाति नही है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि "स्मरणातीत युगो से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियों और सभ्यताओ का सगमस्थल रहा है और इनमे आत्मसात्करण तथा समन्वय की प्रक्रियाए चलती रही हैं।" और इसी कारण यह कहने मे भी अतिशयोक्ति न होगी कि "भारत प्रजातियो का एक अजायबघर है" (India is a museum of races) या "भारत प्रजातियो का एक द्रावणपात्र है" (India is a melting pot of the races)।

SELECTED READINGS

1. Aiyappan, A. : *Report on the Socio-economic Conditions of the Aboriginals Tribes in the Province of Madras*, Madras Govt. Press, 1948.

2 Guha, B. C. : *Racial Elements in Indian Population*, Oxford University Press, Bombay, 1944

3. Govt of India Publication : *Census of India*, 1931, Vol. I, Part I.

4. Majumdar, D. N : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

5. Risley, H H : *The People of India*, 1915.

7 संस्कृति की अवधारणा
(Concept of Culture)

भूमिका—मानव : संस्कृति-निर्माता के रूप में
(Introduction—Man as a Creator of Culture)

मनुष्य एक अनोखा प्राणी है, और वह अनोखा इसलिए हो पाया है कि वह संस्कृति का निर्माता है। यह संस्कृति ही है जो कि मनुष्य को अन्य सभी पशुओं से अलग कर देती है। इसीलिए प्राय यह कहा जाता है कि संस्कृति का उद्भव मानव के मध्य ही होता है। पशु संस्कृति के अधिकारी नहीं होते और यदि होते भी हैं तो वह नाम मात्र के लिये या 'ना' के बराबर। किसी ने सच कहा है कि "मनुष्य के पास से उसकी संस्कृति को छीन लीजिए, जो कुछ शेष रहेगा वह निश्चय ही मानव नहीं, बल्कि एक प्रकार का बन्दर।" इसी कारण श्री हॉबल का कथन है कि संस्कृति अनोखे रूप में एक मानव-घटना (human phenomenon) है और वह इस अर्थ में कि पशु-जगत् में अन्य सभी प्राणियों में मनुष्य ही अकेला एक ऐसा प्राणी है जो कि संस्कृति को बनाने और उसे बनाये रखने की क्षमता रखता है। इसी संस्कृति की अवधारणा (concept) की सहायता से मानव के सम्बन्ध में अनेक रहस्यों (mysteries) का उद्घाटन होता है।

यह सच है कि मानव संस्कृति का निर्माता है, फिर भी संस्कृति-निर्माण की क्षमताएँ मानव को प्रकृति से ही मिली हैं और वह इस अर्थ में कि मानव को प्रकृति से कुछ इस प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ या क्षमताएँ मिल गई हैं जिनके सम्मिलित उपयोग से संस्कृति का निर्माण मनुष्य के लिए सम्भव हो गया है। श्री ह्वाइट (White) ने प्रकृति से मानव को प्राप्त इस प्रकार की पाँच क्षमताओं का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् हैं[1]—

(1) मानव की सीधे खड़े हो सकने की क्षमता जिसके कारण मनुष्य उन्हीं हाथों को, जिन्हें कि दूसरे पशु चलने के काम में लाते हैं, दूसरे उपयोगी कार्यों में लगा सकता है।

(2) स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथ (opposable thumb), जिनकी सहायता से मानव वस्तुओं को अधिक अच्छी तरह और सरलता से पकड़

1. Leslie A. White, *The Evolution of Culture*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1959, p 3.

सकता है। मानव के हाथो मे स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने की क्षमता उसे इस योग्य बना देती है कि वह मामान्य तीर-धनुष से लेकर बड़ी-से-बडी मशीनो को भी सरलता से चला सकता है और उन पर नियन्त्रण कर सकता है। यदि यह क्षमता न होती तो वास्तुकला (architecture) से लेकर चित्रकला तक कोई भी रचनात्मक सृष्टि मानव के लिए सम्भव न होती।

(3) मानव की तीक्ष्ण एव केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि (stereoscopic and chromatic vision) जिसके कारण मानव को यह योग्यता प्राप्त है कि वह प्राकृतिक तथा अन्य घटनाओं (Phenomena) का निरीक्षण करे और उनके सम्बन्ध मे नयी-नयी खोज करे।

(4) मेधावी मस्तिष्क जिसकी सहायता से मनुष्य अन्य पशुओं से कहीं अधिक अच्छी तरह विचार कर सकता है, योजना बना सकता है, तर्क प्रस्तुत कर सकता है, और कार्य-कारण सम्बन्ध को ढूढ सकता है। समस्त आविष्कार इसी मेधावी मस्तिष्क की उपज होते हैं, जो नित्य नयी शक्ति से मानव को शक्तिवान बनाता रहता है। इस प्रकार मेधावी मस्तिष्क मानव का सबसे प्रमुख बल है। कुछ विद्वान इस सत्य को स्वीकार नही करते। उदाहरणार्थ, श्री डार्विन (Darwin) ने यह घोषणा की थी कि मानसिक क्षमताओ के विषय मे मनुष्य तथा ऊँची जाति के दूध पिलाने वाले जानवरों (higher mammals) मे कोई भी आधारभूत अन्तर नहीं है, उनमे जो कुछ भी अन्तर है वह मुख्यत यह है कि मनुष्य मे विविध प्रकार की आवाज तथा विचारो को जोडने की अत्यधिक शक्ति है, और इस अर्थ मे उच्च जाति के जानवरो तथा मनुष्यो की मानसिक शक्ति मे जो अन्तर है वह प्रकार (kind) का नही, बल्कि मात्रा (degree) का है।[1] प्रोफेसर लिण्टन (Professor Ralph Linton) का भी कथन है कि "मनुष्यो तथा पशुओं के व्यवहारो मे अनेक अन्तर हैं, परन्तु ये अन्तर मात्रा (quantity) के है, न कि प्रकार (quality) के।" हम इन विचारों से सहमत नहीं हो सकते क्योकि यह प्रमाणित करना कठिन नहीं कि मनुष्यो तथा पशुओ की मानसिक शक्ति मे अन्तर केवल मात्रा का नही बल्कि प्रकार का भी है। इसी अन्तर के कारण मनुष्य अनेक ऐसे काम कर सकता है जो पशुओं के लिए करने असम्भव हैं। केवल मनुष्य ही गगाजल मे और नल के पानी मे अन्तर बता सकता है, कोई भी कुत्ता, बिल्ली या बन्दर इस अन्तर को नही समझ सकता; केवल मनुष्य ही बहन और बहू मे अन्तर जानता है, कोई पशु नही; केवल मनुष्य ही धनुष-बाण से लेकर जहाज तक बना सकता है, कोई भी जानवर ये काम कर सकता है—यह सोचना भी मूर्खता है। केवल मनुष्य जादू का चमत्कार दिखा सकता है, कोई भी पशु नहीं; केवल मनुष्य का

1 "There is no fundamental difference between man and the higher mammals in their mental faculties," that the difference between them consist "solely in his (man's) almost infinitely larger power of associating together the most diversified sounds ane ideas .. ....the mental powers of higher animals do not differ in kind, though greatly in degree, from corresponding powers of "—Charles Darwin, *The Descent of Man*, 1904, Chapter 3, p 18.

टायलर (Tylor) ने सर्वप्रथम संस्कृति शब्द को परिभाषित किया और इस शब्द का विस्तृत प्रयोग अपनी कृतियो मे किया। आपके अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता (complex whole) है जिसमे ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून प्रथा ऐसी ही अन्य क्षमताओ और आदतों का समावेश रहता है जिन्हे मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।"[1] इस परिभाषा मे इस बात पर बल दिया गया है कि सस्कृति मानव की सामाजिक विरासत (social heritage) है, यह व्यक्ति को समाज का 'उपसंहार' है जो कि उसे समाज के सदस्य के नाते प्राप्त होता है। और भी स्पष्ट रूप मे, श्री टायलर के अनुसार सस्कृति से हमारा तात्पर्य उस 'सब कुछ से होता है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन मे सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नही, बल्कि समाज की देन है; यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है। इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए लैण्डिस (Landis) ने लिखा है कि "संस्कृति वह दुनिया है जिसमे कि एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखता है।"[2]

श्री पिडिंगटन (Piddington) ने सस्कृति को एक दूसरे ढग से परिभाषित किया है। आपके शब्दों में, "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"[3] इस प्रकार श्री पिडिंगटन के अनुसार किसी भी मानव की संस्कृति मे दो प्रकार की घटनाओं (Phenomena) का समावेश होता है—प्रथमतः, भौतिक वस्तुएँ (material objects) जिन्हे कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाता है जैसे, उपकरण, औजार, बर्तन वस्त्र, मकान, मन्दिर, मूर्तियाँ आदि। द्वितीयतः, ज्ञान, विश्वास, मूल्य, (values) आदि अभौतिक या अमूर्त घटनाओ (phenomena) का भी समावेश सस्कृति मे होता है। सस्कृति के ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

श्री बिडने (Bidney) ने अपनी परिभाषा मे सस्कृति के तत्त्वो का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि सस्कृति कृषि सम्बन्धी तथ्यो (argo facts), प्राविधिक तथ्यो (arti facts), सामाजिक तथ्यो (soci facts) तथा मानसिक तथ्यों (menti-facts) की उपज है। दूसरे शब्दो मे, सस्कृति मे कृषि कला, प्रौद्योगिकी, सामाजिक संगठन, भाषा, धर्म, कला आदि का समावेश होता है।

---

1 Culture is "that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society "—E B Tylor, *Primitive Culture*, New York, 1874, p 1.

2. "Culture then is, in a very vital sense, the world in which one lives and moves and has his being from the time he is first housebroken to the time he is ceremoniously laid down "

3 "The culture of a people may be defined as the sum total of the material and intellectual equipment whereby they satisfy their biological and social needs and adapt themselves to their environment "—Ralph Piddington, *An Introduction Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, pp. 3-4.

प्रो० रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने संस्कृति को एक प्रतिमान (Pattern) के रूप में माना है। आपके शब्दों में, "व्यक्ति की भाँति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान है।"[1] इस अर्थ में संस्कृति एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान या व्यवस्था है जिसमें मानव के सामाजिक जीवन के विचार और क्रियाओं का समावेश होता है। एक समाज की संस्कृति का अध्ययन करने से हमें यह पता चल सकता है कि समाज के सदस्यों ने क्या-क्या सोचा और क्या-क्या किया। इस प्रकार संक्षेप में, संस्कृति मानव की समस्त कीर्तियों तथा मानसिक उपजों का एक सुस्थिर प्रतिमान है। उपरोक्त परिभाषा में 'प्रतिमान' शब्द पर अधिक बल दिया गया है क्योंकि लेखिका के अनुसार संस्कृति कोई अव्यवस्थित व असंबद्ध या बिखरी हुई व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसके विभिन्न तत्त्व या अंग एक-दूसरे से संबद्ध रहते हुए इस प्रकार क्रियाशील होते हैं कि वे एक प्रतिमान (Pattern) की रचना करते हैं। यह प्रतिमान प्रत्येक समाज में अलग-अलग होता है और प्रत्येक समाज में इस प्रतिमान की संबद्धता (integration), सुस्थिरता तथा सम्पूर्णता की मात्रा (degree) भी भिन्न-भिन्न होती है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowaski) के अनुसार, 'संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।"[2] आपके मतानुसार संस्कृति के अन्तर्गत जीवन के समग्र तरीके या ढंग (total ways of life) आ जाते हैं जो कि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और उसे प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करते हैं। इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की के अनुसार संस्कृति मानव का वह साधन है जिसके द्वारा या जिसके माध्यम से वह अपने साधनों को प्राप्त करता है अर्थात् अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

श्री हॉबल (Hoebel) के मतानुसार उन सब व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour-patterns) की समग्रता को संस्कृति कहते हैं जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। आपके शब्दों में, "संस्कृति संबद्धित सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो कि एक समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बतलाता है और जो इसीलिए, प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।"[3] श्री हॉबल के मतानुसार संस्कृति वंशानुसंक्रमण के द्वारा निर्धारित नहीं होती है। संस्कृति तो पूर्णतया सामाजिक आवि-

1. "A culture, like an individual, is a more or less consistent pattern of thought and action Within each culture there come into being characteristics purposes not necessarily shared by other types of society."—Ruth Benedict, *Patterns of Culture*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1904, p 46.

2. Culture may be defined as "a system of derived needs and an organized system of purposeful activities "

3 "Culture is the sum total of integrated learned behaviour-patterns which are characteristic of the members of a society and which are therefore not the result of biological inheritance "—E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co. , New York, 1958, p. 7.

प्कारों (social inventions) का परिणाम होती है । दूसरे शब्दों मे, संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप मे मानव का आविष्कार है । इसी कारण यह विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है और इस प्रकार इसकी निरन्तरता बनी रहती है। अत:, श्री हॉवल के अनुसार, संस्कृति मे किसी सामाजिक समूह विशेष की जीवन-विधि (life way) निहित होती है ।

सस्कृति की एक सक्षिप्त तथा उपयोगी परिभाषा श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) ने दी है । आपके शब्दों मे, "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित (man-made) भाग है ।"[1] यह परिभाषा हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करती है कि मानव-जीवन दो प्रकार के पर्यावरणों मे पलता है—प्रथम तो प्राकृतिक पर्यावरण *और दूसरा सामाजिक पर्यावरण । मानव का सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण ही उसकी* संस्कृति है । इस सामाजिक पर्यावरण को मानव स्वय बनाता है । इस निर्माण-कार्य मे प्राकृतिक घटनाओ या पर्यावरण का कुछ भी योग नही होता, ऐसी बात नही परन्तु एक प्राकृतिक चीज से जो कुछ भी मानव बनाता है वह उसकी कृति (work) होती है और *इनके सम्पूर्ण योग से ही संस्कृति का निर्माण होता है ।* उदाहरणार्थ मिट्टी एक प्राकृतिक वस्तु है परन्तु उसी मिट्टी से मनुष्य जब अपने लिए बर्तन, मूर्ति आदि बना लेता है तो वे सब उसकी सस्कृति के अंग बन जाते हैं । वायु या पानी या पहाड सस्कृति नहीं हैं क्योंकि ये सभी प्राकृतिक पर्यावरण के अग हैं और इनका निर्माण मानव ने नहीं किया है । संस्कृति के अन्तर्गत तो सम्पूर्ण पर्यावरण के उस भाग की उन वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें स्वयं मानव ने बनाया है । 'वस्तुओ' से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल भौतिक वस्तुओं (material things) से ही नही है बल्कि अभौतिक (non-material) वस्तुओ से भी है। इस प्रकार सस्कृति मे उपकरण, औजार, मशीन आभूषण, मकान, प्रथा, परम्परा, कला, आचार, धर्म, भाषा आदि सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं का समावेश रहता है, क्योंकि इन सभी को मनुष्य ने बनाया है । उपरोक्त परिभाषा से इस बात का भी स्पष्टीकरण होता है कि सस्कृति एक प्राणीशास्त्रीय घटना (biological phenomenon) से कहीं अधिक है और वह इस अर्थ में कि सस्कृति के अन्तर्गत मानव की परिपक्व क्षमताओ से भी सभी तत्त्व (elements) आ जाते हैं जिन्हें कि वह अपने समूह से सचेत रूप मे या अनिवार्य प्रक्रियाओं के माध्यम से सीखता है और इस सीखने की प्रक्रिया मे विविध प्रकार की प्रविधियों (techniques), सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओ, विश्वासो तथा आचरण के तरीकों का योग होता है । यह सच है कि सस्कृति का सृजन मानव-मस्तिष्क मे ही होता है, परन्तु सस्कृति के अन्तर्गत मस्तिष्क का समावेश नही होता है । दूसरे शब्दो मे, सस्कृति मानव-मस्तिष्क की ही उपज है, परन्तु सस्कृति नही है । सस्कृति तो मस्तिष्क से भी कुछ अधिक है। इस अर्थ मे, संस्कृति की तुलना उन कच्चे मालो (raw

1. "Culture is the man-made part of the environment "—M. J Herskovits. *Man and His Works*, Alfred A. Knopf, New York, 1956, p. 17.

materials) से की जा सकती है जिनमे कि संस्कृति का बाहरी तथा अन्दरूनी भाग बनता है। प्राकृतिक दुनिया से जो कच्चा माल प्राप्त होता है उनसे मानव अपनी विद्यमान (existing) आवश्यक्ताओं की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओ को बनाता है। यह सस्कृति का बाहरी रूप है। इसके विपरीत, मनुष्य अपने जन्मजात लक्षणो (inborn traits) या क्षमताओ को भी इस प्रकार ढालता है जिससे उसे व्यवहार करने के कुछ निश्चित प्रतिमान प्राप्त हो और जो कि ज्ञान, विज्ञान, विश्वास, प्रथा, परम्परा, धर्म, कला आदि के रूप मे अभिव्यक्त होते हो। ये सस्कृति के आन्तरिक पक्ष हैं। अत स्पष्ट है कि सस्कृति के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल हमे प्रकृति तथा वंशानुसक्रमण (heredity) या प्राणीशास्त्रीय घटनाओ (phenomena) से प्राप्त होता है, परन्तु इस कच्चे माल से जो कुछ भी तैयार होता है वह सम्पूर्ण पर्यावरण का मानव-निर्मित (man-made) भाग होता है जिसे कि सस्कृति कहा जाता है। इसलिए श्री हर्सकोविट्स के अनुसार 'सस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग है।'

श्री लिण्टन (Linton) ने सस्कृति की परिभाषा को और भी सक्षेप मे प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार सस्कृति, 'सामाजिक वशानुसक्रमण' (Social heredity) है और श्री लोई (Lowie) के शब्दो मे सस्कृति 'सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा' (the whole of social tradition) है। श्री लिण्टन ने अपनी परिभाषा मे जो 'वशानुसक्रमण' शब्द का प्रयोग किया है वह शायद उचित नही है, क्योकि इससे यह गलत धारणा बन सकती है कि शारीरिक विशेषताओ की भाँति सस्कृति भी प्रजनन के माध्यम से (genetically) व्यक्ति को मिलती है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। 'मनुष्य सस्कृति मे जन्म लेता है, सस्कृति सहित जन्म नही लेता।' सास्कृतिक गुण, लक्षण या विशेषताएँ तो उसे समाजीकरण या सस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होती हैं। इस अर्थ मे सस्कृति एक सामाजिक अवधारणा है, न कि एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा (concept), जैसा कि श्री लिण्टन की परिभाषा से प्रतीत होता है, परन्तु यदि आपकी परिभाषा मे 'वशानुसंक्रमण' (heredity) शब्द के स्थान पर 'विरासत' (inheritance) शब्द का प्रयोग किया जाय तो उनकी परिभाषा का बहुत-कुछ वही अर्थ होगा जो श्री लोई की 'सामाजिक परम्परा' से प्रकट होता है।

श्री क्लखौन (Kluckhohn) ने श्री लिण्टन की परिभाषा के एक और दोष या कमी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। सस्कृति को 'सामाजिक वंशानुसक्रमण' कहकर परिभाषित करने से यह गलत धारणा भी पनप सकती है कि वशानुसक्रमण की भाँति सस्कृति भी बहुत-कुछ स्थिर (stable) है और इसके निर्माण मे मानव का कोई भी हाथ या योग नहीं होता। यह परिभाषा यह सुझाती है कि मनुष्य बिना किसी प्रयत्न और बिना किसी विरोध के सस्कृति के तत्वों को उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे कि वह वाहकाणुओ (genes) को प्राप्त किया करता है। यह परिभाषा हमे यह स्वीकार कर लेने को प्रेरित करती है कि मनुष्य, जैसा कि श्री डोलार्ड (Dollard) का कथन है, "सामाजिक परम्परा का निष्क्रिय वाहक (passive porter) है।" परन्तु वास्तव मे ये सभी बाते गलत है। न तो सस्कृति वशानुसक्रमण की भाँति

स्थिर है, और न ही वाहकाणुओं की भाँति संस्कृति को मानव बिना किसी प्रयत्न और बिना किसी विरोध के प्राप्त करता है। जैसा कि श्री सिम्मन्स (Simmons) ने अभी हाल में ही हमे याद दिलाया है कि मनुष्य संस्कृति का केवल वाहक (carrier) और दास (creature) ही नहीं, बल्कि उसका निर्माता (creator) और संशोधक भी है।

श्री सी० एस० फोर्ड (C. S. Ford) के मतानुसार संस्कृति मे समस्याओं को सुलझाने के परम्परात्मक तरीकों (traditional ways of solving problems) या समस्याओं से सीखे हुए हलों (learned problem solutions) का समावेश होता है। श्री क्लूखौन का कथन है कि इस रूप से भी संस्कृति की परिभाषा असन्तोषजनक है। आपके मतानुसार यह सच है कि अन्य चीजों के साथ संस्कृति मे बाहरी पर्यावरण तथा दूसरे मनुष्यों के साथ अनुकूलन करने की कुछ प्रविधियों (techniques) का भी समावेश होता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि ये प्रविधियाँ या समस्याओं को सुलझाने के तरीके ही सब-कुछ हैं और इन्ही को संस्कृति समझा जा सकता है। इस प्रकार परिभाषाओं के लेखक यह भूल जाते हैं कि संस्कृति आवश्यकताओं को जन्म देती है और उनकी पूर्ति के साधनों को भी जुटाती है।

सर्वश्री लिण्टन, फोर्ड आदि की उपरोक्त परिभाषाओ की त्रुटियो को दूर करने के लिए संस्कृति को निम्न शब्दों मे परिभाषित किया है—"संस्कृति से तात्पर्य ऐतिहासिक रीति से रचित जीवनयापन के स्पष्ट और उपलक्षित, तर्कसगत, अतर्कसगत और तर्कहीन इन सभी नमूनों से है जो एक समय विशेष मे मनुष्यो के व्यवहार के शक्तिशाली पथप्रदर्शक के रूप मे विद्यमान होते हैं।"[1] इस परिभाषा मे 'एक समय विशेष में' (at any given time) यह वाक्यांश (phrase) यह सुझाता है कि संस्कृति एक गतिशील (dynamic) अवधारणा है। प्रत्येक समय या युग मे इसका रूप या स्वरूप एकसमान नही रहता बल्कि ऐतिहासिक विकास के दौरान मे अर्थात् समय-परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृति मे परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है जिसके फलस्वरूप एक संस्कृति मे अनेक नये तत्त्व जुडते हैं, अनेक पुराने तत्त्वों में परिवर्तन होता है और कुछ तत्त्वों का अन्त भी होता है। इस प्रकार श्री क्लूखौन ने इस बात पर बल दिया है कि संस्कृति की किसी भी परिभाषा से यह धारणा नही बननी चाहिए कि संस्कृति स्थिर या पूर्णतया स्थायी है। यदि ऐसा होता है तो वह परिभाषा दोषपूर्ण है। वास्तव मे नई आवश्यकताओं के अनुसार अपने-आपमे आवश्यक परिवर्तन कर लेने की शक्ति या गुण संस्कृति मे होता है। संस्कृति की किसी भी वैज्ञानिक परिभाषा के लेखक को इस सत्य को भूलना न चाहिए।

उपरोक्त परिभाषाओ की विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्री, जैसा कि

---

1. Culture may be defined as "all those historically created designs for living, explicit and implicit, rational irrational and nonrational, which exist at any given time as potential guides for the behaviour of men"—Clyde Kluckhohn and William Kelly. 'The Concept of Culture, "*The Science of Man in the World Crisis*, ed Ralph Linton, Columbia University Press, New York, 1945, p. 97.

सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals & Hoijer) ने लिखा है, सस्कृति शब्द का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों मे करते हैं जैसे, सस्कृति (1) समस्त मानव-जाति मे एक समय-विशेष मे सामान्य जीवन के तरीके (ways of life) या जीवनयापन या रहन-सहन के नमूने (designs for living) है; या (2) समाजों के एक समूह, जिनमे कि थोडी-बहुत अन्त क्रिया होती रहती है, के रहन-सहन के तरीके हैं, या (3) व्यवहार के प्रतिमान (patterns of behaviour) है जो कि एक समाज-विशेष मे विशिष्ट रूप मे पाये जाते हैं; या (4) व्यवहार करने के वे विशिष्ट तरीके हैं जो कि बड़े और जटिल रूप मे सगठित समाज के विभिन्न भागो मे विशेष रूप से पाये जाते हैं।[1]

संस्कृति की प्रकृति
(The Nature of Culture)

उपरोक्त परिभाषाओ से सस्कृति की प्रकृति का बहुत-कुछ स्पष्टीकरण हो गया होगा। फिर भी संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ उसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करने मे सहायक होगी—

(1) संस्कृति सीखी जाती है (Culture is learned)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानो (behaviour patterns) के सम्पूर्ण योग को सस्कृति कहते हैं। प्रजातीय या शारीरिक विशेषताओ की भाँति संस्कृति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त नही होती, बल्कि वह जिस सस्कृति मे जन्म लेता है उससे वह उसे सीखता है। मानव की भाषा व प्रतीको के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान की शक्ति इस बात की द्योतक है कि वह दूसरों से सस्कृति के तत्त्वो को सीख सकता है। सस्कृतियो मे भिन्नताएँ इस कारण नही होती हैं कि लोगो की जन्म-जात क्षमताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, बल्कि इसलिए होती हैं कि उन्हे अलग-अलग तरीके से पाला-पोसा जाता है। जन्म के समय बच्चो मे सस्कृति सगत व्यवहार करने का कोई भी तरीका नही होता है, इन्हे तो वह बडे होने के साथ-साथ सीखने की जटिल प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करता है।

इस सम्बन्ध मे एक बात यह स्मरणीय है कि जब हम यह कह सकते हैं कि सस्कृति सीखी जाती है, तो इसका यह अर्थ कदापि नही है कि सभी सीखे हुए व्यवहार सस्कृति हैं। पशु भी बहुत-कुछ सीख जाते हैं, परन्तु शायद ही कोई मानवशास्त्री उन्हें सस्कृति का अधिकारी मानता हो। पशुओ द्वारा सीखे हुए व्यवहार और मानव

---

1 "To summarise 'Culture', as the term is used by the anthropologist, may be applied (1) to the ways of life or designs for living common at any one time to all mankind, (2) to the ways of living peculiar to a group of societies between which there is a greater or less degree of interaction, (3) to the patterns of behaviour peculiar to a given society, and (4) to special ways of behaving characteristic of the segments of a large and complexly organized society"—Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959, pp. 228-229.

के संस्कृति पर आधारित व्यवहार में जो अन्तर है उसे समझे बिना संस्कृति की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझा जा सकता है।[1] यह सच है कि पशु मानव की भांति कुछ व्यवहारों को सीख सकता है व सीखता भी है और इसी के आधार पर उसमें कुछ आदतें भी पनप जाती हैं। परन्तु केवल आदतों के आधार पर ही संस्कृति की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं। इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति में आदतों या व्यवहारों का समावेश रहता है, परन्तु संस्कृति में निहित ये आदतें तथा व्यवहार-तरीके व्यक्तिगत (individual) आदतों तथा व्यवहारों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे आदतें तथा व्यवहार-तरीके किसी व्यक्ति विशेष के नहीं बल्कि एक समाज के सभी या अधिकतर सदस्यों की सामान्य (common) आदतें तथा व्यवहार-तरीके होते हैं। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार वैयक्तिक होते हैं इसीलिए उसे संस्कृति नहीं कहा जा सकता, इसके विपरीत मानव की सांस्कृतिक व्यवस्था के व्यवहार-तरीके या आदतें 'सामूहिक आदतें' (group habits) होती हैं जिसे कि हम जन-रीति (folk ways), रूढ़ि (mores) या प्रथा (customs) कहते हैं। इस प्रकार की कोई भी चीज पशु-समाज में नहीं मिलती। इस दृष्टिकोण से आज भी चिम्पाजी या बन्दर उसी स्तर पर हैं जिस पर कि वे सौ साल पहले थे, पर मानव आज वह नहीं है जो दस साल पहले था। नित्य नये ढंग से प्रकृति का विकास मानव ही कर सकता है और करता भी है, मानव ही एकमात्र संस्कृति का निर्माण करने वाला प्राणी है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति मानव-समाज में ही पनपती है, मानव द्वारा मानव-समाज में ही संस्कृति का निर्माण, विकास, परिमार्जन और विस्तार होता है।

(2) **संस्कृति में संचारित या हस्तान्तरित होने का गुण निहित है** (Culture has transmissive quality)—संस्कृति को केवल सीखा ही नहीं जा सकता, अपितु इसे एक मानव से दूसरे मानव तक फैलाया या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पशु भी बहुत-कुछ सीखने की क्षमता रखते हैं, परन्तु उनके इन सीखे हुए व्यवहारों व अनुभवों से दूसरे पशु लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि अपने विचारों तथा अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाने या फैलाने की क्षमता उनमें नहीं होती। मानव अपनी भाषा और प्रतीकों (symbols) की सहायता से यह काम बड़ी सरलता से कर सकता है और अपनी संस्कृति को दूसरे लोगों में फैला देता है या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देता है। संस्कृति के इस गुण का तात्पर्य यह हुआ कि मानव अपनी पिछली पीढ़ियों की कृतियों के आधार पर अपना वर्तमान जीवन-तरीका प्रारम्भ करता है और प्रत्येक पीढ़ी को फिर शुरू से सब-कुछ सीखना या आविष्कार करना नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि एक पीढ़ी बैलगाड़ी का आविष्कार करती है तो दूसरी पीढ़ी को फिर से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को नहीं खोजना पड़ेगा, वह अपनी पिछली पीढ़ी से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को सीख लेगी और इस प्रकार प्राप्त अनुभवों और ज्ञानों के

1. *Ibid*, p. 240

आधार पर बैलगाड़ी से अधिक उन्नत ढंग के यातायात के साधन का आविष्कार करने का प्रयत्न करेगी जिसके फलस्वरूप साइकिल या रेलवे इंजन का आविष्कार होगा। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति में, संचारित तथा हस्तान्तरित होने के गुण निहित होने के कारण ही संस्कृति का विकास, विस्तार, परिमार्जन और परिवर्द्धन सम्भव होता है। इससे संस्कृति की एक अन्य विशेषता स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि संस्कृति अपने विकास, विस्तार तथा निरन्तरता के लिए किसी एक व्यक्ति या समूह पर निर्भर नहीं रहती क्योंकि संस्कृति अनेक व्यक्तियों की अन्तःक्रिया तथा एकाधिक पीढ़ियों की कीर्तियों (achievements) का फल होती है।

(3) **संस्कृति प्रत्येक समाज में एक विशेष प्रकार की होती है** (Culture is distinctive in every separate society)—प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। संस्कृति पूर्णतया सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती है। आविष्कार करने की जरूरत मानव-आवश्यकताओं के कारण होती है। ये सामाजिक आवश्यकताएँ प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होती हैं; इसी कारण संस्कृति का रूप या स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग होता है। इन सांस्कृतिक भिन्नताओं का परिणाम यह होता है कि एक समाज के सदस्यों के व्यवहारों की विशेषताएँ दूसरे समाज के सदस्यों के व्यवहारों से पृथक् होती हैं। इतना ही नहीं संस्कृति में परिवर्तन तभी होता है जबकि उस समाज के विशिष्ट व्यवहारों में परिवर्तन होता है। इन विशिष्ट व्यवहारों में परिवर्तन सभी समाजों में एक-से नहीं होते, इस कारण सभी समाजों में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा, गति और स्वरूप भी एक-सा नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज में संस्कृति की भिन्नता स्वाभाविक ही है। फिर भी, संस्कृति के कुछ तत्त्व सभी समाजों में एक-से या सामान्य होते हैं जिन्हें कि श्री मुरडॉक (Murdock) ने 'संस्कृति का सामान्य हर' (The Common Denominator of Culture) कहा है।[1] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि न्यूयार्क या पेरिस और एस्किमो की संस्कृतियों में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु यदि इन दोनों संस्कृतियों का विश्लेषण किया जाय तो उनमें सामान्य विशेषताओं को ढूँढ़ा जा सकता है।[2] विभिन्न संस्कृतियों की सामान्यता को ढूँढ़ने का सबसे सीधा तरीका यह है कि उनके कार्यों का विश्लेषण किया जाय। ऐसा करने पर यह मालूम होगा कि कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक संस्कृति में अलग-अलग तरीके हैं। किसी भी संस्कृति के अध्ययन से यह पता चलता है कि संस्कृति समाज के सदस्यों की कुछ शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्कृति उन साधनों को प्रस्तुत करती है जिनकी सहायता से मनुष्य को वस्त्र तथा निवास प्राप्त होता है, वह जिन्दा रहता है

---

1 G P Murdock, 'The Common Denominator of Culture,' in Ralph Linton (ed), *The Science of Man in the World Crisis*, pp, 123-142

2 Beals and Hoijer, *op. cit*, p. 245

और समाज की निरंतरता बनी रहती है। परन्तु समाज की निरंतरता के लिए इतना ही पर्याप्त नही है; समाज-व्यवस्था (social order) भी आवश्यक है। संस्कृति समाज के सदस्यों के सम्बन्धों को नियमित (regulate) करती है और उन्हें ज्ञान और अनुभव हस्तान्तरित करती है। साथ ही, अनेक प्रकार की प्रथा, परम्परा, जन-रीति, धर्म आदि के माध्यम से भी संस्कृति अपने समाज के सदस्यों के व्यवहार मे एकरूपता उत्पन्न करती है। ये कुछ ऐसे कार्य हैं जो कि प्रत्येक समाज की संस्कृति की ही विशेषता हैं, यद्यपि इनके स्वरूपों में भिन्नताएँ होती ही हैं। इस प्रकार विभिन्न समाज की सस्कृतियो मे भिन्नताएँ और समानताएँ दोनों ही होती हैं। स्वरूपों मे भिन्नताएँ और अनेक कार्यों मे समानताएँ या एकता सभी सस्कृतियों की एक प्रमुख विशेषता है।

(4) संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है (Culture has social quality)—सस्कृति की प्रकृति निश्चय ही सामाजिक है क्योकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सस्कृति मानव-आवश्यकताओ की प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक आविष्कार का फल है। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति सामाजिक इस अर्थ मे भी है कि संस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की धरोहर नही होती; *उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है, अर्थात् सस्कृति* समाज के समस्त या अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होती है और इसीलिए सस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। इसी सामाजिक गुण के कारण समाज का प्रत्येक सदस्य सस्कृति *को अपनाता है। चूँकि सस्कृति 'सबका' सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान या व्यवहार-प्रकारो* की समग्रता है, इस कारण इसमे व्यक्तिगत व्यवहारो पर सामाजिक दबाव डालने की शक्ति होती है। इसी सामाजिक दबाव (social pressure) के कारण, सदस्यों की व्यवहार-विधि मे अधिक अन्तर या भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पाती और इसके फलस्वरूप समाज के व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) मे एकरूपता होती है और सस्कृति के रूप या स्वरूप मे भी एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। परन्तु इस 'स्थिरता' का तात्पर्य यह नहीं कि सस्कृति मे परिवर्तन होता ही नही है, इसका तात्पर्य केवल इतना है कि सस्कृति एक अव्यवस्थित अवधारणा (concept) नहीं है क्योकि, जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, यह तो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधियो का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही एक समाज के सदस्यों को अपनी संस्कृति से कुछ आशाएँ (expectations) होती हैं। सदस्यों की ये आशाएँ भी सस्कृति के सामाजिक गुण को ही बतलाती हैं और वह इस अर्थ में कि ये आशाएँ सामाजिक या सामूहिक अनुभवों, आदतों आदि की ही उपज होती हैं। सस्कृति के अन्तर्गत जो प्रथा, परम्परा जन-रीति, रूढि, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, उसी से यह स्पष्ट है कि सस्कृति मे सामाजिक गुण निहित होते हैं क्योकि ये प्रथा, परम्परा, जन-रीति, धर्म आदि व्यक्तिगत जीवन-विधि को नही बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन विधि को व्यक्त करते हैं।

(5) समूह के लिए संस्कृति आदर्श होती है (Culture is ideal for the

तथा प्रभाव होता है उनके सम्पूर्ण योग से ही संस्कृति के ढाँचे का निर्माण होता है और प्रत्येक भाग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था मे जो योगदान (contribution) होता है उसे उस भाग का कार्य (function) कहते हैं, जो कि उसके स्वरूप (form) से पृथक् होता है।[1] इस प्रकार एक नाव, जिसका कि स्वरूप नाप और चित्रों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, कुछ कार्यों को भी करती है जैसे, यातायात के साधन के रूप मे या मछली पकड़ने में सहायक के रूप मे कार्य करती है। उसी प्रकार बाहरी तौर पर, एक संस्कृति की एक प्रथा विशेष हमारे लिए अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो सकती है, परन्तु यदि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के सन्दर्भ मे उस प्रथा के कार्यों की हम सावधानी से विवेचना करें तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जायगा। फिर वह एक अनोखी या बेतुकी प्रथा न रहकर सामाजिक तौर पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरन्तरता को बनाये रखने में सहायक होता है। प्रत्येक के बिना सम्पूर्ण का अस्तित्व (existence) असम्भव है और सम्पूर्ण के बिना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का सम्पूर्ण शरीर को जीवित रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रथा या प्रत्येक संस्था का सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है। संस्कृति के अध्ययन में प्रकार्यवादियों (functionlists) ने, जिनमें सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) तथा मैलिनोवस्की (Malinowski) का नाम विशेष उल्लेखनीय है, संस्कृति के इस प्रकार्यात्मक (functional) पक्ष पर विशेष बल दिया है।[2]

(7) **संस्कृति मे अनुकूलन करने का गुण होता है** (Culture has adaptive quality)—संस्कृति की इस विशेषता या गुण के दो स्पष्ट पहलू हैं—**प्रथम** तो यह *कि संस्कृति जड और स्थिर नही होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता* है और **दूसरा** यह कि इस गतिशीलता या समय-समय पर संस्कृति मे होने वाले परिवर्तनो के फलस्वरूप इसका अनुकूलन बाहरी शक्तियों से होता रहता है। इस प्रकार के अनुकूलन मे संस्कृति का भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन विशेष रूप से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। एक जगल मे रहने वाला समुदाय अपनी सांस्कृतिक व्यवस्था का अनुकूलन जगल की परिस्थितियों से करता है या टुण्ड्रा निवासियों की संस्कृति वहाँ के बर्फीले पर्यावरण के अनुकूल होती है। परन्तु इसका यह मतलब कदापि नही है कि भौगोलिक पर्यावरण संस्कृति को निश्चित करता है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भौगोलिक पर्यावरण सांस्कृतिक विकास की कुछ सीमाओं को निश्चित करता है जिससे आगे एक निश्चित सांस्कृतिक स्तर के लोग नही जा सकते। बर्फ से ढँके हुए

1 E A Hoebel, *op cit*, p 164

2. See A. R. Radcliffe Brown, 'On the Concept of Function in Social Science', American Anthropologist, Vol. 37, 1935, pp 394 395 and B Malinowski. *'Culture', Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol 4, 1931, pp 621—646

ढंग से गुथी हुई या सम्बद्ध होती हैं। इस ढाँचे के अन्दर प्रत्येक इकाई की एक निश्चित स्थिति तथा कार्य होता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे मे सतुलन और सगठन होता है। और चूँकि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर आधारित होती हैं इस कारण संस्कृति के एक भाग मे कोई परिवर्तन होने पर उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव दूसरे भागों पर भी अवश्य पड़ता है। अत: सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि संस्कृति के विभिन्न भागों या इकाइयों में, जैसा कि श्री समनर (Sumner) ने कहा है, "एकरूपता की ओर एक खिचाव" (a strain towards consistency) होता है जिसके फलस्वरूप ये विभिन्न भाग एकसाथ मिलते हैं और एक बहुत-कुछ पूर्णतया संगठित समग्रता (more or less) completely integrated whole) का निर्माण करते हैं। यह सम्पूर्ण समग्रता ही संस्कृति है। सस्कृति की यह विशेषता सादे, छोटे तथा पृथक् समाजो मे अधिक स्पष्ट रूप मे देखने को मिलती है क्योंकि ऐसे समाजों मे तनाव उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ कम होती हैं और सस्कृति के विभिन्न पक्षों तथा तत्त्वों मे अधिक शीघ्रता से परिवर्तन भी नही होते।

(9) **संस्कृति अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी है** (Culture is both Super-individual and Super-organic)—संस्कृति की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि यह अधि-वैयक्तिक और अधि-सावयवी दोनों ही है। इन दोनों विशेषताओं की विवेचना हम पृथक्-पृथक् कर सकते हैं। पहले सस्कृति अधि-वैयक्तिक है, इस विशेषता को लीजिए। यह सच है कि व्यक्ति सस्कृति का वाहक (carrier) है और इन व्यक्तियो को निकालकर किसी भी संस्कृति के अस्तित्व की चिन्ता करना मूर्खता है। फिर भी सस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की रचना है, यह सोचना भी गलत है। "जो कुछ भी एक मानव प्राणी या व्यक्ति विशेष अपने अधिकार मे रख सकता है या अपने काम मे लगा सकता है, कोई भी सस्कृति उससे कहीं अधिक होती है" (Any culture is more than any individual human being can grasp or manipulate)। साथ ही, सस्कृति की स्थिरता या निरन्तरता किसी एक व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है क्योंकि सस्कृति व्यक्ति का व्यवहार नहीं है, वह तो समूह-व्यवहारों की समग्रता (The whole of group habits) है। एक वैयक्तिक आदत या व्यवहार-विधि उस व्यक्ति की मृत्यु के बाद समाप्त हो सकती है परन्तु सामूहिक आदतों या व्यवहार-विधियों की निरन्तरता इस प्रकार समाप्त नहीं होती है—यह तो असंख्य व्यक्तियो की अन्त क्रिया (interaction) और विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से पीढी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। चूँकि सस्कृति की रचना और निरन्तरता दोनो ही किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नही है, इसीलिए यह (संस्कृति) अधि-वैयक्तिक (*Super-individual*) है। *सस्कृति अधि-वैयक्तिक एक दूसरे अर्थ में भी है* और वह यह कि सस्कृति के सम्बन्ध में व्यक्ति एक स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है। व्यक्ति एक सस्कृति मे ही जन्म लेता है और उसी में पलता है। उसका यह पलना या व्यक्तित्व का निर्माण पूर्णतया व्यक्ति की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है। सास्कृतिक पर्यावरण हर

फल उसके जीवन पर अपना प्रभाव-विस्तार करता रहता है और व्यक्ति इन सांस्कृतिक प्रभावों से अपने को पूर्णतया मुक्त नहीं कर सकता। व्यक्ति चाहे या न चाहे, पर संस्कृति का प्रभाव उसके जीवन पर, व्यक्तित्व पर, आदतों, विचारों और अनुभवों पर जन्म से मृत्यु तक निरन्तर पड़ता रहता है। संस्कृति के इन प्रभावों से व्यक्ति अपने को मुक्त नहीं रख सकता। केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक सांस्कृतिक इकाई का अपना एक इतिहास होता है जो कि किसी एक व्यक्ति से सदैव परे होता है। संस्कृति सामाजिक आविष्कार का फल होती है, परन्तु ये आविष्कार किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं होते, इस प्रकार के सभी आविष्कारों का एक 'सांस्कृतिक आधार' होता है। श्री विली (Willey) ने स्पष्ट ही लिखा है कि यद्यपि एक आविष्कार एक व्यक्ति विशेष के द्वारा होता है, फिर भी इस दिशा में आविष्कार के लिए कोई भी कदम उठाना तब तक शायद ही सम्भव हो जब तक उसके लिए आवश्यक आधार उनसे पहले के लोगों के द्वारा प्रस्तुत न किया गया हो, चाहे वह आविष्कारक कितना ही क्षमतासम्पन्न क्यों न हो। चूंकि आविष्कारक उस हस्तान्तरित की गई संस्कृति का उपयोग करता है और उसके द्वारा सीमाबद्ध है, इस कारण यह कहा जा सकता है कि आविष्कार अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है।[1] यह कथन वैयक्तिक प्रतिभा को अस्वीकार नहीं करता, न ही उसके महत्त्व को नीचे गिराता है; यह तो केवल इतना ही कहता है कि इसके कारण ही संस्कृति का उद्भव, विकास और विस्तार होता है, यह सोचना गलत है। संस्कृति में निर्माण, विकास, परिमार्जन तथा विस्तार की प्रक्रिया ऐतिहासिक धारा-प्रवाह के साथ निरन्तर चलती रहती है। इस प्रवाह को रोकने या वश में करने की शक्ति किसी एक व्यक्ति में नहीं हो सकती। इस अर्थ में भी संस्कृति अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है।[2]

संस्कृति की इस विशेषता को श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने इस प्रकार समझाया है कि आज हमारे समाज में लाखों व्यक्ति अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, कुछ निश्चित ढंग से कुछ वर्णन-योग्य सीमाओं के अन्दर रहते हुए व्यवहार करते हैं। जैसे, साधारणतया स्त्रियाँ खेतों में जाकर हल नहीं चलायेंगी, परिवार में एक पति-पत्नी और बच्चे होंगे, न कि एक पुरुष की बहुत-सी पत्नियाँ, चर्च में हैट (hat) सिर पर न होगा, आत्मपरिजन के मर जाने पर उसे दफना या कब्र में दे दिया जायगा, इत्यादि। इन सब व्यवहारों के सम्बन्ध में हम पहले से ही बता सकते हैं क्योंकि इन निश्चित परिस्थितियों में इसी प्रकार का व्यवहार हमारे दादा-परदादा के समय से

1. "While each step in an invention is made by a specific individual, no step can be taken until necessary antecedents have been established, no matter what the abilities of the inventor Because the inventor utilizes the transmitted culture and is limited by it . it may be said that invention is Super-individual " M M Willey, 'The Validity of the Culture Concept', *American Journal of Sociology*, Vol 35, 1929, p. 210

2. See George P. Murdock, 'The Science of Culture', *American Anthropologist*, Vol. 34, 1932, pp. 200—215.

लोग करते आ रहे हैं। इसलिए उसी धारा-प्रवाह मे आज भी लोग जाने या अनजाने बहते जाते है और उस बहाव से अपने को पूर्णतया विमुक्त नही कर पाते। जीवन के ये परम्परात्मक तरीके, बिना किसी व्यक्ति विशेष के अस्तित्व या कार्य से प्रभावित हुए ही, पीढी-दर-पीढी चलते रहते हैं। इसीलिए संस्कृति अधि-वैयक्तिक है।

संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं, अधि-सावयवी (Super-organic) भी है। यह विचार श्री क्रोबर (Kroeber) का है। अधि-सावयवी की अवधारणा को सर्वप्रथम सन् 1886-87 मे श्री लिप्पर्ट ने प्रस्तुत किया था, यद्यपि यह अवधारणा श्री हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम के साथ अधिक प्रचलित व उनके लेखो मे अधिक विकसित है। परन्तु मानवशास्त्र मे इसका सुस्पष्ट विश्लेषण तथा निरूपण सन् 1917 मे श्री क्रोबर के द्वारा ही हुआ है।[1] आपके अनुसार इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नही है कि यह असावयवी (non-organic) या सावयवी के प्रभाव से विमुक्त (free of organic influence) है, और न ही इसका यह तात्पर्य है कि संस्कृति सावयवी जीवन (organic life) से परे है जैसे कि कुछ अध्यात्मवेत्ता यह कहते हैं कि एक आत्मा (soul) होती है जो कि जीवित शरीर से बिलकुल परे है या हो सकती है। 'अधि-सावयवी' (Super-organic) का अर्थ केवल इतना ही है कि जब हम संस्कृति की विवेचना करते हैं तो हमे यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह सावयवी तो है, पर सावयवी से कुछ अधिक भी है। इस अवधारणा के अनुसार प्रकृति की घटनाओं (phenomena of nature) को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—(1) ना-सावयवी (in-organic), (2) सावयवी (organic), और (3) अधि-सावयवी (Super-organic)। प्राकृतिक घटनाओं के उद्‌विकास (evolution) में सबसे निम्नतम स्तर ना-सावयवी (in-organic) है जिसके अन्तर्गत धरती-सम्बन्धी तथा ऐहिक (cosmic) चीजें आ जाती हैं। जीवन (life) के उद्‌भव से कुछ नवीन चीजो का योग हुआ। ना-सावयवी सावयवी हुई। सावयवी का उद्‌भव ना-सावयवी से ही हुआ परन्तु सावयवी ना-सावयवी नही है। सावयवी में प्राण या जीवन का होना ही उसे ना-सावयवी से प्रकार में (in Kind) पूर्णतया भिन्न या पृथक् कर देता है और उसके स्थान को भी ना-सावयवी से ऊपर उठा देता है। इसके बाद सावयवी उद्‌विकास के दौरान मे मानसिक या मस्तिष्क का विकास उत्तरोत्तर होता गया और केवल मस्तिष्क का विकास ही नहीं, मानव की शरीर-रचना मे भी कुछ विशिष्ट परिवर्तन हुए जैसे, सीधे खड़े हो सकने की क्षमता, स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथों की रचना, तीक्ष्ण तथा केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि, भाषा, बोल सकने की क्षमता, इत्यादि। संस्कृति-निर्माण की मानवीय क्षमता का रहस्य इस सावयवी उद्‌विकास मे ही छिपा हुआ है। दूसरे शब्दो मे, इन क्षमताओं के सम्मिलित उपयोग से ही मानव ने अपनी जटिल संस्कृतियाँ विकसित की हैं। स्मरण रहे कि इन

1. See A. L. Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press. Chicago, 1952 Chapter 3 on 'The Super-organic', 1917.

समस्त क्षमताओं का आधार सावयवी है, फिर भी इस सावयवी आधार पर आधारित जो संस्कृति विकसित हुई वह सावयवी से बढ़कर (the more than organic) है, अधि-सावयवी है। श्री क्रोबर के मतानुसार इसी अर्थ में संस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है।

अत: स्पष्ट है कि जिस प्रकार सावयवी (organic) घटनाएँ (phenomena) ना-सावयवी (in-organic) घटनाओं से उच्च कोटि की हैं, उसी प्रकार अधि-सावयवी घटनाएँ सावयवी घटनाओं से उच्चतर कोटि की हैं। संस्कृति के सम्बन्ध में 'अधि-सावयवी' शब्द का प्रयोग श्री क्रोबर ने इस अर्थ में तथा इस बात पर बल देने के लिए किया था कि चूँकि प्राणीशास्त्रीय (सावयवी) क्षमताएँ और संस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न कोटि की घटनाएँ (phenomena) हैं, इसलिए संस्कृति का स्थान सावयवी से ऊँचा मान लेना ही उचित है और वह भी इस अर्थ में कि संस्कृति मानव-जीवन को परिभाषित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है। मानव इसके प्रभावों से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता, संस्कृति के धारा-प्रवाह में उसे बहना ही पड़ता है। संस्कृति अधि-सावयवी इसलिए भी है कि केवल सावयवी घटनाएँ संस्कृति को जन्म नहीं दे सकतीं। अगर यह सम्भव होता तो सभी पशु संस्कृति के अधिकारी होते। पशु भी समाज में रहते हैं, पर वे संस्कृति को नहीं रखते क्योंकि संस्कृति, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शारीरिक विशेषताओं की भाँति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नहीं मिलती। सावयवी घटनाएँ अथवा वंशानुसंक्रमण सांस्कृतिक लक्षणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने की क्षमता नहीं रखते। श्री क्रोबर ने इस सत्य को एक उदाहरण देकर समझाया है। चींटियों के बहुत से ताजे अण्डों में से केवल दो अण्डों को चुन लीजिए, और बाकी सबको नष्ट कर दीजिए। उन दो अण्डों की गर्मी, नमी आदि के विषय में, थोड़ा-सा ध्यान रखिए। उन अण्डों से जो चींटियाँ उत्पन्न होंगी उनमें चींटी 'समाज' की समस्त विशेषताएँ अन्य चींटियों की भाँति ही स्पष्ट होंगी; उनमें क्षमता, शक्ति क्रियाशीलता आदि किसी भी विषय में कोई कमी नहीं होगी। परन्तु एक सर्वोच्च सभ्य राष्ट्र के सर्वोच्च वर्ग में से सर्वोत्तम वंशानुसंक्रमण वाले दो-चार सौ मानव-शिशुओं को चुनकर एक रेगिस्तानी प्रदेश या निर्जन स्थान में रख दीजिए और उन्हें खाने पीने, रहने आदि की चीजों को देते रहिए, पर उनको एक-दूसरे से पृथक् रखिए। यह सच है कि वे शिशु आयु में बढ़ते रहेंगे परन्तु और कुछ भी न होगा। उन्हें उस संस्कृति का एक-तिहाई तो क्या एक कण भी प्राप्त न होगा जिसमें कि उन्हें पृथक् रखा गया है, उनसे केवल कला, ज्ञान, विज्ञान धर्म आदि सबसे रहित गूंगों (mutes) के एक झुण्ड मात्र का ही निर्माण होगा। उनमें संस्कृति या सभ्य मानव की विशेषताओं का नाम मात्र न होगा। उन्हें देखकर यह कभी प्रतीत न होगा कि उनके बाप-दादा सभ्य थे। वंशानुसंक्रमण या सावयवी घटनाएँ उन मानव-शिशुओं को सभ्य या संस्कृति का अधिकारी बना सकती क्योंकि संस्कृति अधि-सावयवी है। श्री क्रोबर (Kroeber) के शब्दों में, चींटियों के लिए 'वंशानु-संक्रमण पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन सब गुणों को बनाये रखता है जो कुछ भी उनका होता है;

परन्तु वंशानुसंक्रमण सभ्यता या संस्कृति के एक कण को भी, जो विशेष रूप से मानवीय वस्तु है, बनाये नहीं रखता और न ही रखा है क्योंकि वह उसे बनाये रख भी नहीं सकता।"[1] अत स्पष्ट है, संस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है।

संक्षेप मे, संस्कृति इस अर्थ में अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी है कि यद्यपि संस्कृति का निर्माता, वाहक तथा उसमे अश ग्रहण करने वाले सावयवी व्यक्ति ही होते हैं, फिर भी संस्कृति को सामाजिक जीवन मे अनिवार्य संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखकर ही प्राप्त किया जाता है। 'मनुष्य-सस्कृति मे जन्म लेता है, सस्कृतिसहित जन्म नही लेता', और यह सस्कृति ही उसके अधिकतर कार्यों को निर्धारित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती हुई उसके जीवन की अन्तर्वस्तु (content of life) को निश्चित करती है। सस्कृति की इन दो विशेषताओ को एक अन्य उदाहरण की सहायता से और भी स्पष्ट रूप से समझा सकता है। हिन्दी भाषा को लीजिए। हिन्दी भाषा भारतीय संस्कृति का एक अग या भाग है। इस भाषा को बोलने या समझने की क्षमता सावयवी है। यह सच है कि इम भाषा मे प्रयोग होने वाले शब्दो की ध्वनि (sounds of words) व्यक्तियों के द्वारा ही उच्चारण की जाती है, वे ध्वनियां अन्य व्यक्तियों तक पहुँचती हैं और उन्हे समझने वाले भी व्यक्ति होते हैं; फिर भी शब्दावली, अक्षर, वाक्य, व्यंजन, व्याकरण, अर्थ आदि सबका योग, जिससे कि हिन्दी भाषा बनी है, संचयी (cumulative) तथा पिछली अनेक शताब्दियो के करोडो व्यक्तियो के संयुक्त प्रयत्नों का परिणाम है। हममे से किसी एक व्यक्ति ने उस हिन्दी भाषा का निर्माण या आविष्कार नही किया जिसे कि वह बोलता है। उसे वह उसी रूप मे बोलता है जैसी कि उसे उसके बडे-बूढो तथा साथियो से प्राप्त हुई है। इस हिन्दी भाषा मे वह कुछ नयी चीजें जोड सकता है, परन्तु किसी भी अर्थ मे वह यह दावा नही कर सकता कि अकेले वही इस भाषा का निर्माता है। स्पष्टत हिन्दी भाषा इस अर्थ मे अधि-वैयक्तिक है कि यह किसी भी व्यक्ति की भाषा या भाषण से कही अधिक ऊँचे स्तर की और कही अधिक महत्त्वकी है, और उस व्यक्ति की वह भाषा या भाषण हिन्दी भाषा को जितना प्रभावित करता है या कर सकता है उससे कही अधिक हिन्दी भाषा उस व्यक्ति की भाषा या भाषण को प्रभावित कर सकती है और करती भी है। उसी प्रकार हिन्दी भाषा इस अर्थ मे अधि-सावयवी है कि इसकी शब्दावली, अर्थ, व्याकरण आदि सावयवी घटनाओं का प्रत्यक्ष परिणाम नही है। हिन्दी भाषा बोलने की क्षमता या गुण या लक्षण (trait) हमे अपने वशानुसक्रमण से नही, अपितु अपने समाज से प्राप्त होता है। हम आज हिन्दी भाषा को किस प्रकार बोलते हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि हमसे पहले लोग उसे कैसे बोलते थे। इस प्रकार सस्कृति एक सावयवी घटना नही, बल्कि ऐतिहासिक घटना (historical phenomenon) है।

---

1 "Heredity saves for the ant all that she has, from generation to generation But heredity does not maintain, and has not maintained because it can not maintain, one particle of the civilization which is the one specifically human being"—A L. Kroeber, 'The Super-organic', *American Anthropologist*, Vol. 19, p. 178.

परन्तु, जैसा कि श्री क्लूखौन (Cluckhohn) का मत है, संस्कृति को अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी मानने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम यह मान लें कि संस्कृति का अस्तित्व उसमे भाग ग्रहण करने वाले सभी व्यक्तियों के मर जाने के बाद या सभी सावयवी घटनाओं के नष्ट हो जाने के बाद भी बना रहेगा। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि संस्कृति का निर्माण, अस्तित्व और निरन्तरता किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है और न ही संस्कृति हमे वंशानुसंक्रमण मे प्राप्त होती है। इसी अर्थ मे संस्कृति अधि-वैयक्तिक और अधि-सावयवी है।

संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ विरोधाभास
(Some Paradoxes about Culture)

संस्कृति की प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि श्री हर्सकॉविट्स (Herskovits) द्वारा उल्लिखित संस्कृति के सम्बन्ध मे कुछ विरोधाभासो की भी विवेचना यहाँ की जाय। ये विरोधाभास (paradoxes) निम्नवत् हैं[1]—

(1) **मानव के अनुभव मे संस्कृति विश्वव्यापी है फिर भी प्रत्येक समाज में इसका एक विशिष्ट या अनोखा रूप है** (Culture is universal in man's experience, yet each local or regional manifestation of it is unique)—'मानव संस्कृति के निर्माता है', यह कथन इस सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि दुनिया मे जहाँ-जहाँ भी मानव का निवास है वहाँ-वहाँ संस्कृति भी है। संस्कृति का अधिकारी होना मानव की एक विशिष्ट विशेषता है, चाहे यह मानव कही भी रहता हो या कैसे भी जीवनयापन करता हो। इतना ही नहीं, प्रत्येक संस्कृति मे कुछ ऐसी विशेषताएँ और पहलू (aspects) होते हैं जो कि सभी संस्कृतियो मे सामान्य रूप से (in common) पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक संस्कृति मे जीविका-पालन के कुछ न कुछ तरीके अवश्य ही होते है, सभी समाजो मे परिवार नामक संस्था होती है और राजनैतिक नियन्त्रण के लिए किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था भी होती है। उसी प्रकार प्रत्येक संस्कृति मे किसी-न-किसी रूप मे एक धार्मिक व्यवस्था का समावेश होता है। इतना सब-कुछ होते हुए भी अगर हम विभिन्न समाजों मे पाये जाने वाले संस्कृति के इन पहलुओं की विस्तारपूर्वक विवेचना करें तो स्पष्टत पायेंगे कि विस्तृत रूप मे कोई भी दो प्रथाएँ, धार्मिक व्यवस्थाएँ, राजनैतिक नियन्त्रण के साधन एक समान नही हैं। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक समाज मे संस्कृति के विभिन्न पक्ष विभिन्न रूप मे अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ मे कोई भी दो संस्कृतियाँ समान नहीं है। ये भिन्नताएँ अनेक स्थानीय (local) परिस्थितियों और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के कारण होती हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि एक संस्कृति को तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक उसकी स्थानीय प्रकृति तथा भूत (past) को भी ध्यान मे न रखा जाय।

---

1. M. J. Herskovits, *op. cit*, p. 18 21

(2) संस्कृति स्थिर है, पर संस्कृति गतिशील भी है और इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं (Culture is stable, yet culture is also dynamic, and manifests continuous and constant change)—अगर हम समस्त समावित प्रमाणों को इकट्ठा करें तो यह स्पष्ट होगा कि संस्कृति नि सन्देह ही गतिशील है; पूर्णतया जड या स्थिर सस्कृति तो विनाश प्राप्त संस्कृति (dead culture) ही हो सकती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति का रूप मानव की शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं से प्रभावित होता है और ये आवश्यकताएँ समय-समय पर बदलती रहती हैं और इनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही संस्कृति मे भी परिवर्तन होता है। परन्तु ये परिवर्तन इस प्रकार के नही होते हैं कि संस्कृति की व्यवस्था ही बिखर जाय। अनेक परिवर्तनों के बीच भी सस्कृति मे संतुलन तथा सगठन होता है जो कि उसे एक प्रकार की स्थिरता प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, लाखों वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्व आज भी स्थिर हैं, यद्यपि इस दौरान मे असख्य परिवर्तन भी इस सस्कृति के विभिन्न भागों मे हुए हैं। इसी कारण सास्कृतिक परिवर्तन का अध्ययन सास्कृतिक स्थिरता के सन्दर्भ मे ही किया जा सकता है। परन्तु इस 'स्थिरता' का यह अर्थ कदापि नही है कि एक सस्कृति के आधारभूत तत्त्वों मे कभी और किसी भी परिस्थिति मे परिवर्तन होता ही नही है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन तत्त्वों मे परिवर्तनशीलता के साथ स्थिरता भी होती है।

(3) संस्कृति हमारे जीवन की दिशा को अधिकतर निश्चित करती है, फिर भी हमारे सचेत विचार में शायद ही प्रवेश करती हो (Culture fills and largely determines the course of our lives, yet rarely intrudes into conscious thought)—सस्कृति हमारे जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक घेरे रहती है और हमारी जीवन-विधियो को निर्धारित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है, परन्तु उनमे से अधिकतर विषयो के सम्बन्ध मे हम प्राय सचेत नही होते। वास्तव मे, सस्कृति सीखे हुए व्यवहारो की समग्रता है और इस सीखने की प्रक्रिया मे केवल सचेत प्रयत्न ही नहीं, अनेक अचेत क्रियाओं का भी समावेश होता है। जो कुछ भी एक व्यक्ति विशेष अपने काम मे लाता है या अपने वश मे कर सकता है, सस्कृति उससे कहीं अधिक है। इसीलिए सस्कृति के अनेक पक्षो और प्रभावो के विषय मे हमे पूर्ण ज्ञान नही होता है।

संस्कृति के उपादान
(The Components of Culture)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सस्कृति मे सतुलन और संगठन होता है। यह सगठन अनेक तत्त्वो, इकाइयो भागों और उपभागो को मिलाकर बनता है। ये तत्त्व या भाग छोटे-से-छोटे या बडे-से-बड़े हो सकते हैं। इनमे जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त.निर्भरता पाई जाती है उसी के कारण सस्कृति के ढाँचे मे सतुलन और संगठन उत्पन्न होता है। मानवशास्त्री सम्पूर्ण संस्कृति को एकाएक या एकसाथ न समझ सकता है और न ही समझना सम्भव है। इसलिए सस्कृति की विभिन्न इकाइयों या उपादानो

की विवेचना आवश्यक हो जाती है। संस्कृति के विभिन्न उपादानों को, जिनसे कि उसके ढांचे का निर्माण होता है, सास्कृतिक तत्त्व, संस्कृति-संकुल, सस्कृति-प्रतिमान और सास्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी सस्कृति के क्रमशः बढने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ में कि सांस्कृतिक तत्त्व (culture trait) सस्कृति की सबसे छोटी इकाई है जो कि परस्पर मिलकर एक सस्कृति-सकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये सस्कृति-सकुल संस्कृति के ढांचे मे एक विशेष ढग से व्यवस्थित रहते हैं जिससे कि एक सस्कृति को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्राप्त होता है। सस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप को सस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) कहते हैं। इस संस्कृति-प्रतिमान का अर्थात् एक प्रकार की जीवन-विधियों का फैलाव एक विशिष्ट क्षेत्र मे पाया जाता है, जिसे कि सास्कृतिक क्षेत्र (culture area) कहते हैं। संस्कृति के इन उपादानों की विवेचना अब हम विस्तारपूर्वक करेंगे।

सांस्कृतिक तत्व
(Culture Trait or Element)

संस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन-विधियों (life ways) का समावेश होता है। अत स्पष्ट है कि सस्कृति मे अनेक विधियों या तरीको का एक सतुलित सगठन होता है। एक-एक विधि सस्कृति की एक-एक इकाई या तत्त्व है। सस्कृति की इन इकाइयो या तत्वो को सास्कृतिक तत्व कहते हैं। ये सास्कृतिक तत्व भौतिक और अभौतिक (material and non-material) दोनो प्रकार के ही हो सकते है। जैसे, एक बर्तन या एक मेज या एक कहावत या एक जन्म-रीति। इस प्रकार के असख्य सास्कृतिक तत्वो को मिलाकर सम्पूर्ण सास्कृतिक ढांचे का निर्माण होता है। अत हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढांचे की सबसे छोटी इकाई को सास्कृतिक तत्व कहते हैं। किसी भी सस्कृति के विश्लेषण और निरूपण मे इन इकाइयो या सास्कृतिक तत्वो को पहले एकत्रित करना परमावश्यक हो जाता है क्योकि इसके बिना सस्कृति के आधार-भूत तत्त्वो या उपादानो को समझा नही जा सकता। प्रत्येक सास्कृतिक तत्व की सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था मे एक निश्चित स्थान तथा कार्य होता है और इस प्रकार काम आने की दृष्टि से एक सास्कृतिक तत्व का आगे और विभाजन या टुकडा नही हो सकता है। जिस प्रकार पदार्थ या सूक्ष्म भाग परमाणु होता है कि फिर जो भी विभाजित नही किया जा सकता है, उसी प्रकार **सांस्कृतिक तत्त्व सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है जिसका कि मानव-जीवन में काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "एक सास्कृतिक तत्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे कि सास्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।"[1] श्री हर्षकॉविट्स ने सांस्कृतिक

1 "A culture element is a pattern of behaviour (or the material product of such behaviour) that may be treated as the smallest unit of its order."—A. E. Hoebel, *op. cit.*, p. 167.

तत्त्व को एक संस्कृति विशेष में सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई (the smallest identifiable unit in a given culture) कहा है;[1] और श्री क्रोबर ने इस "संस्कृति का न्यूनतम परिभाष्य तत्त्व" (minimal definable element of culture) के रूप में स्वीकार किया है।[2] अतः संक्षेप में, किसी काम में आ सके, इस प्रकार की एक संस्कृति की सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्त्व कहते हैं।

परन्तु परिभाषा से सांस्कृतिक तत्त्व का जो अति सरल स्वरूप प्रकट होता है, वास्तव में वह उतना सरल या सीधा नहीं है। समग्र रूप में, या केवल एक खण्ड में ही संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ इतनी अधिक घुली-मिली रहती हैं या इनमें इतना अधिक पारस्परिक योग और अन्त:निर्भरता होती है कि सबसे छोटी इकाई को पृथक् और परिभाषित करना एक प्रकार से असम्भव न सही फिर भी कठिन अवश्य ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक मकान को लीजिए जिसमें कि एक परिवार निवास करता है। इसका प्रत्येक कमरा इस मकान की एक-एक इकाई है। तो क्या इनमें से प्रत्येक कमरा एक सांस्कृतिक तत्त्व है? इस प्रश्न का उत्तर सूझने से पहले ही दूसरे और प्रश्न हमें परेशान कर सकते हैं। जैसे, इन कमरों में एक कमरा सोने का कमरा है जिसमें *कि दो पलग, दो-एक टेबुल, कुछ किताबें, एक घड़ी, एक-दो टेबुल लैम्प, चद्दर, तकिया* गद्दा, दरी आदि कितनी ही इकाइयाँ मौजूद हैं। अगर हम उस सोने के कमरे को एक सांस्कृतिक तत्त्व मानते हैं तो उसके अन्दर ये सब टेबुल, तकिया, लैम्प, दरी, चद्दर, किताबें, घड़ी आदि भी तो एक-एक सांस्कृतिक तत्त्व हैं। केवल इतना ही नहीं, इनमें से प्रत्येक इकाई में भी अनेक अन्य इकाइयों का समावेश हो सकता है जैसे, पलग में लकड़ी के अनेक टुकड़े, कील, पेंच (screw), निवाड़ आदि। वास्तव में ये सब भी एक-एक इकाइयाँ या सांस्कृतिक तत्त्व हैं, जो कि मानव के किसी-न-किसी काम में आते हैं। परन्तु इनका आगे और विभाजन सम्भव नहीं। जैसे, कील या पेंच के दो टुकड़े कर देने पर फिर उससे कील या पेंच का काम नहीं लिया जा सकेगा, उसी प्रकार पलग को दो-चार टुकड़ों में काट डालने से फिर वह पलग का काम नहीं देगा। घड़ी में भी अनेक पुर्जे हैं वे सभी घड़ी की एक-एक इकाई है, पर उनको अलग-अलग रखने से घड़ी की उपयोगिता हमें नहीं मिलेगी—वे सब एकसाथ मिलकर ही घड़ी का निर्माण करते हैं और उस प्रकार की निर्मित घड़ी को एक निश्चित काम में लाते है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के किसी काम में आने की दृष्टि से आगे विभाजित न हो सकने वाली सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्त्व कहते हैं।

सांस्कृतिक तत्त्व की तीन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जो कि निम्नवत् हैं—

(1) प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व का, उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में, एक इतिहास

---

1. M J Herskovits, *op. cit*, p 170
2. A L. Kroeber, 'Culture Element Distributions : III Area and Climax', *University of California Publications in American and Ethnology*, 1936, p. 101.

होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो या बड़ा। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम घड़ी का आविष्कार किसने किया और कब किया, पहले की सूर्य घडी से आधुनिक स्वय-क्रियाशील या आप-से-आप चलने वाली (automatic) घडी का क्रम-विकास कैसे हुआ, इत्यादि के सम्बन्ध मे एक इतिहास है। उसी प्रकार एक विशेष प्रकार के विश्वास का या किसी पशु या पौधे को टोटम (totem) के रूप मे स्वीकार करने का एक इतिहास ढूँढा जा सकता है।

(2) सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति की भाँति, स्थिर नही होता, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। सांस्कृतिक तत्व से सम्बन्धित व्यक्ति (अर्थात् जो लोग सांस्कृतिक तत्व के अधिकारी होते हैं या उन्हे काम मे लाते हैं) जैसे-जैसे एक-स्थान से दूसरे स्थान को फैलते हैं या दूसरे लोगो के सम्पर्क मे आते हैं, वैसे-वैसे सांस्कृतिक तत्व भी फैलते रहते हैं। एक संस्कृति-समूह दूसरे संस्कृति-समूह से मिलता है, तो सांस्कृतिक तत्वो का आदान-प्रदान होता है। आधुनिक युग मे यातायात तथा सचार के साधनो मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक तत्वो की गतिशीलता और भी बढ गई है। अब तो अनेक जनजातियो (tribes) के सांस्कृतिक तत्व सभ्य समाजो मे भी तेजी से फैलते जा रहे हैं और बहुत-से फैल भी गये हैं। सांस्कृतिक तत्व की यह विशेषता अन्त तक सांस्कृतिक परिवर्तन का एक कारण बन जाती है और संस्कृति के ढाँचे मे परिवर्तन लाती भी है।

(3) सांस्कृतिक तत्वो मे पृथक्-पृथक् या छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नही होती है। वे फूलो के गुलदस्ते की तरह एकसाथ घुल-मिलकर रहते हैं क्योकि कोई भी तत्व अकेला स्थायी नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, घडी एक सांस्कृतिक तत्व है, परन्तु समस्त मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति केवल घडी से ही नही हो सकती, इसके लिए अन्य अनेक सांस्कृतिक तत्वो की आवश्यकता होगी। इस कारण ये सभी सांस्कृतिक तत्व एकसाथ मिलकर संस्कृति की एक या विविध आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। यदि केवल घडी को ही लिया जाय तो भी हम यही पायेंगे कि घडी के विभिन्न पुर्जों या इकाइयो मे एक शृ खला या सगठन है, सभी पुर्जों को एक क्रम से लगाया जाना चाहिए, नही तो घडी नही चलेगी। कोई भी पुर्जा इधर-उधर हो जाने से घडी बेकार हो जायेगी इस अर्थ मे भी सांस्कृतिक तत्वो से छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नहीं होती है।

सांस्कृतिक तत्वो का सर्वप्रमुख महत्व यह है कि इन तत्वो को समझे बिना किसी भी संस्कृति को पूर्णतया समझना सम्भव नही है। किसी भी संस्कृति के अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण मे ये सांस्कृतिक तत्व वे प्राथमिक चरण या आधार हैं जिस पर कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचा निर्भर रहता है। सर्वश्री गिफोर्ड तथा क्रोबर (Gifford and Kroeber) ने संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्व सम्बन्धी प्रश्नावली (a trait question list) की सहायता से किया था। उसी प्रकार सर्वश्री रे (Ray), विलमेक आदि ने भी सांस्कृतिक तत्वो के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। इन तत्वो के अध्ययन से एक और लाभ यह होता है कि इनके आधार पर दो या अधिक संस्कृतियो का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो जाता है। श्री टायलर (Tylor) ने इसी आधार पर विभिन्न

संस्कृतियों का अध्ययन किया था। उसी प्रकार श्री बोग्रास (Boas) ने यह अध्ययन करने के लिए कि पौराणिक कथाओं (Mythology) का क्या प्रभाव मानव-जीवन के तरीकों पर पड़ता है, विभिन्न संस्कृतियों के सांस्कृतिक तत्वों को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। कुछ भी हो, अध्ययन-कार्य में इनको प्रयोग करने के सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानी बरतनी पड़ती है क्योंकि ये सांस्कृतिक तत्व आपस में इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि इनमें से किसी एक का पृथक् मूल्यांकन सम्भव नहीं होता।

संस्कृति-संकुल
(Culture Complex)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सांस्कृतिक तत्वों की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि वे फूलों के गुलदस्तों की भाँति घुले-मिले रहते हैं। मानव-संस्कृति या समाज में एक सांस्कृतिक तत्व का कोई अर्थ ही नहीं होता है। प्रायः अनेक सांस्कृतिक तत्व एक-साथ गुँथे हुए रहकर मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जब कुछ या अनेक सांस्कृतिक तत्व आपस में घुल-मिलकर मानव-आवश्यकता की पूर्ति करते हैं या मानव-उपभोग (use) में उनका महत्वपूर्ण स्थान होता है तो सांस्कृतिक तत्वों के उस गुच्छे या संकुल को संस्कृति-संकुल कहते हैं। और भी संक्षेप में, **संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप है जो कि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "संस्कृति-संकुल परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित प्रतिमानों का एक जाल है।"[1]

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दों में संस्कृति-संकुल "सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो कि अर्थपूर्ण अन्तःसम्बन्ध में परस्पर गुथे होते हैं।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का ही एक मिलित रूप या गुच्छा (cluster) है जिनमें कि मिलित होने पर एक अर्थपूर्ण ढंग का पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है और जो सम्पूर्ण संस्कृति के अन्तर्गत उसके एक अंग के रूप में कार्य करता है जिसके फलस्वरूप मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव होती है। भाषा एक संस्कृति-संकुल है क्योंकि इसके अन्तर्गत अनेक शब्दों वाक्यों, कहावतों, व्याकरण आदि का, जो कि एक-एक सांस्कृतिक तत्व हैं, समावेश होता है। स्मरण रहे कि केवल शब्दों या वाक्यों के मनमाने संग्रह से ही भाषा नहीं बन जाती है; इन शब्दों और वाक्यों का अर्थपूर्ण ढंग से मिलन भी भाषा के निर्माण में आवश्यक है। उदाहरण के लिए, एक सामान्य वाक्य (sentences) के निर्माण को

1. "A complex is a network of closely related pattern."—Hoebel, *op. cit.*, 167.

2. Culture Complex is "a whole set of culture traits that 'cluster' together in a meaningful interrelationship."—Sutherland and Wohdward *Introductory Sociology*, J B Lippin Cott Co., New York, 1948, p. 34.

ही लीजिए। 'हम', 'खाना', 'आज', 'साथ', 'तुम', 'साथ' खायेंगे—ये सभी अलग-अलग शब्द हैं इन्हें इसी रूप या क्रम से प्रस्तुत करने से इनमे कोई भी अर्थ नहीं निकलता है परन्तु अगर हम इन्हीं शब्दों को अर्थपूर्ण ढग से परस्पर सम्बन्धित कर दें तो उसका रूप इस प्रकार होगा—'अच्छा हम तुम साथ-साथ खाना खायेंगे।' और इस रूप में इन शब्दो के द्वारा हम अपने विचार को व्यक्त कर सकते हैं। यही बात भाषा के सम्बन्ध मे भी सत्य है जो कि अनेक शब्दो, विचारों, व्याकरण, कहावत आदि का एक अर्थपूर्ण संग्रह है और जिसके द्वारा विचारो का आदान-प्रदान सम्भव है। इसीलिए मैंने अपनी संस्कृति-संकुल की उपरोक्त परिभाषा में इसे (संस्कृति-संकुल) सांस्कृतिक तत्त्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप कहा है जो कि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यहाँ पर 'मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है' इस वाक्यांश से यह भ्रम न होना चाहिए कि संस्कृति-संकुल एक संस्था नहीं है क्योंकि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करने के स्वीकृति (accepted) या स्थापित (established) साधनों को ही संस्था कहा जाता है। पर संस्कृति-संकुल मे यह जरूरी नहीं कि वह मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति का स्वीकृत या स्थापित साधन ही हो। वास्तव मे, जैसा कि श्री पिडिंगटन (Piddington) का कथन है, संस्कृति-संकुल मे सांस्कृतिक तत्त्वो का संयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) के कारण या महज आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण हो।[1] उदाहरणार्थ, भारत मे खेती, यह एक सांस्कृतिक तत्त्व (culture trait) है परन्तु इस खेती से सम्बन्धित अन्य तत्त्व हैं जैसे, खेत जोतने के पहले हल और बैल की पूजा करना, चिड़ियों से फसल की रक्षा के लिए खेत मे 'धोख' लगाना, फसल काटकर खलिहान मे रखना व नौ प्रकार के नये अनाज से खाना पकाना आदि अन्य सांस्कृतिक तत्त्वो का संयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) ही है। इसके विपरीत हिन्दू स्त्रियों के सौन्दर्य-संकुल (beauty complex) के अन्तर्गत कौन-कौन से सांस्कृतिक तत्त्वों (culture traits) का समावेश होगा यह अनेक आकस्मिक कारणो पर निर्भर करेगा क्योंकि उपरोक्त खेती-संकुल की भाँति सौन्दर्य-संकुल के अन्य सांस्कृतिक तत्त्वो का सम्मिलन किसी प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (functional point of view) से अनिवार्य या आवश्यक नही है। इसीलिए हिन्दू स्त्रियो के सौन्दर्य-संकुल के अन्तर्गत चूड़ी, कंगन तथा अन्य आभूषण (ornaments), सिन्दूर, बिन्दी, सुर्मा, पाउडर, लिपिस्टिक, नाखूनो की लाली, आलता, तेल, सेण्ट आदि का समावेश आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण कहा जा सकता है, क्योंकि फैशन आदि मे परिवर्तन के साथ-साथ इस संकुल मे सांस्कृतिक तत्त्वो का प्राय नये तौर पर घटना-बढ़ना सम्भव है। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि संस्कृति-संकुल मे एकाधिक सांस्कृतिक तत्त्वो का समावेश होता है, और ये सांस्कृतिक तत्त्व परस्पर अन्त:क्रिया करते हुए एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान

1. "The aggregation of traits in a complex may be due to functional association or to what is called *adhesion* that is, the apparently accidental co-existence of culture traits."—Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 22.

(behaviour pattern) को निश्चित करते हैं। इसीलिए संस्कात-संकुल को सास्कृतिक तत्त्वों की अन्त क्रिया का प्रतिमान (pattern of the interaction of culture traits) कहकर भी परिभाषित किया जाता है।

सस्कृति-सकुल के अनेक उदाहरण हमे अपने समाज तथा आदिम समाज दोनो मे ही मिल सकते हैं। श्री विली (Willey) ने 'फुटबाल-संकुल' (football complex) का अति रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है कि खेल मे प्रयोग की जाने वाली हर चीज एक-एक तत्त्व (trait) है जैसे स्वय गेंद, गोल-पोस्ट (goal posts), मैदान (stadium), वर्दी (uniform), विशेष प्रकार के जूते, गोलकीपर के दस्ताने, रेफरी की सीटी (whistle) आदि। परन्तु ये सब चीजें सम्पूर्ण फुटबाल के खेल के केवल कुछ ही तत्त्व हैं; इनके अलावा भी अनेक तत्त्वों (traits) का समावेश इस खेल मे है जैसे, खेल से सम्बन्धित अनेक नियम स्वयं ही अनेक तत्त्वों का सग्रह है। इसके अतिरिक्त खेल के समय बजने वाले बैण्ड (band), दर्शकों का हर्ष-ध्वनि या ताली पीटना और खिलाडियों को प्रोत्साहित करना, मैदान के चारो कोनो मे लगे हुए झण्डे, टिकट, सीट सुरक्षित (reserve) कराने की व्यवस्था, टिकट-घर, बेंच या कुर्सियां, पत्रकारो तथा विशेष अतिथियों (guests) के लिए बैठने का विशेष प्रबन्ध, सोडा वाटर की बोतलें, चनाचूर और चीना बादाम के पैकेट आदि सभी चीजें फुटबाल के खेल मे ही आ जाती हैं और इनके बिना खेल पूरा भी नही हो सकता। परन्तु फुटबाल सकुल का अन्त यही नही होता क्योकि खेल समाप्त होने के बाद खेल का जो विस्तारित विवरण समाचार-पत्र मे निकलता है, कालेज आदि मे विशेष खेल के दिनो मे जो छुट्टियां होती हैं, खेल के बाद जो कप और शील्ड विजयी दल को दिया जाता है और उस विजय की खुशी मे उसी रात को जो पार्टियां दी जाती हैं, वे सभी मिलकर वास्तव मे इस सकुल को पूरा करते हैं क्योकि इन सबका आधार फुटबाल का खेल ही है। इन तमाम तत्त्वों (traits) के इस 'महा मिलन' या सम्पूर्ण योग को ही फुटबाल-सकुल कहते हैं।[1] उसी प्रकार हिन्दुओं मे 'विवाह-सकुल' के अन्तर्गत केवल ऐसे सास्कृतिक तत्त्व जैसे मगल कलस, मडवा, हवन-सामग्री, आभूषण, वस्त्र, दान-सामग्री, दहेज, भोज की चीजें, सप्तपदी, मन्त्र तथा ऐसी ही अनेक प्रथाएं, रीति-रस्म व सस्कार ही सम्मिलित नही हैं, बल्कि सोहागरात मनाने के लिए आवश्यक वस्तुएँ तथा रीतियाँ, 'गौना' (द्विरागमन) से सम्बन्धित चीजें तथा रीति-रिवाज पत्नी के पहली बार 'मां' बनने पर 'पचवासा' या 'सतवासा' के अवसर पर होने वाली रस्मे या पत्नी के बाँझ होने पर पुत्र-प्राप्ति के लिए दूसरी शादी आदि कितने ही सास्कृतिक तत्त्वो का समावेश हिन्दुओ के विवाह-संकुल मे होता है।

ऐसे भी कुछ सस्कृति-सकुल होते हैं जिन्हें कि सह-संकुलो (component complexes) मे विभाजित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक समाज के यातायात-सकुल (transport complex) मे विभिन्न सह-सकुलों का समावेश होता है, जैसे, वायु

1. M. M. Willey, in Davis, Barnes, *An Introduction to Sociology*, D.C. ..th and Co., p. 524.

यातायात-संकुल, रेल यातायात-सकुल, जल यातायात-सकुल आदि।

संस्कृति-प्रतिमान
(Culture Pattern)

जैसा कि अब तक की विवेचना से स्पष्ट है, अनेक सांस्कृतिक तत्त्वो के सम्मिलन से एक सस्कृति-सकुल बनता है, परन्तु सस्कृति के ये सकुल शून्य मे रहकर कार्य नही करते, बल्कि सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत प्रत्येक सकुल का एक निश्चित स्थान या स्थिति और कार्य होता है। ये सब मिलकर या मिलित रूप मे एक सस्कृति की प्रमुख विशेषताओ को व्यक्त करते हैं। **सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत संस्कृति संकुलों को उस व्यवस्था (arrangement) को, जिससे कि सम्पूर्ण संस्कृति की विशेषताएँ व्यक्त हों, संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं।**

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दो मे 'सम्पूर्ण संस्कृति के एक प्रकार का सामान्यकृत चित्र के रूप मे सकुलो का एक सग्रह सस्कृति-प्रतिमान है।'[1] श्री हर्सकोविट्स ने सस्कृति-प्रतिमान की परिभाषा और भी विस्तृत रूप मे प्रस्तुत की है। आपके मतानुसार, सस्कृति-प्रतिमान "एक सस्कृति के तत्त्वो का वह डिजाइन है जो कि, उस समाज के सदस्यो के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ, जीवन के तरीके को सबद्धता, निरन्तरता तथा विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।[2]

उपरोक्त परिभाषाओ से सस्कृति-प्रतिमान की प्रकृति का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। सस्कृति प्रतिमान की किसी भी विवेचना मे यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि सस्कृति कोई गडबड-झाले की या अव्यवस्थित चीज नही है। प्रत्येक सस्कृति मे, चाहे वह आदिम समाज की हो या सभ्य समाज की, एक सगठन होता है। यह सगठन इस कारण दिखायी पडता है कि सस्कृति के विभिन्न पक्ष और तत्त्व या सकुल एक विशिष्ट ढग या फैशन से सस्कृति के ढाचे के अन्दर सजे हुए होते हैं। सस्कृति इन तत्त्वो या सकुलो से इस प्रकार बनी होती है जिस प्रकार पत्थरो से एक मकान। परन्तु केवल सस्कृति-सकुलो (culture complexes) का एकत्रीकरण उसी प्रकार सस्कृति नही कहा जा सकता जिस प्रकार पत्थरो के ढेर को मकान नही कह सकते। मकान कहलाने के लिए इन पत्थरो मे एक व्यवस्था (arrangement) क्रम (order), या ढग होना चाहिए। एक विशिष्ट ढग से पत्थरो को सयुक्त करने से एक कमरा बनता है और इन कमरो को एक क्रम से लगाने या सजाने पर मकान बनता है। ठीक उसी प्रकार सस्कृति-सकुलो के

---

1. "The culture pattern is a grouping of trait complexes into a sort of generalized picture of the culture as a whole."—Sutherland and Woodward, *op cit*, p 36.

2. Culture pattern is "the designs taken by the elements of a culture which as consenses of the individual behaviour patterns manifest by the members of a society, give to this way of life coherence, continuity, and distinctive form." —M. J. Herskovits, *op cit*, p. 202.

एक विशिष्ट ढंग से व्यवस्थित हो जाने से संस्कृति-प्रतिमान बनता है और इन संस्कृति-प्रतिमानो की सम्पूर्ण व्यवस्था को सस्कृति कहते हैं। अत. स्पष्ट है कि **सम्पूर्ण संस्कृति के ढाँचे के अन्दर एक विशिष्ट ढंग या क्रम से सजे हुए संस्कृति-संकुलों के मिलित रूप को संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं।**

संस्कृति-प्रतिमान के सम्बन्ध मे प्रो० रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने महत्त्वपूर्ण विचारों को प्रस्तुत किया है। इसकी विवेचना हम इसी अध्याय मे 'संरूपणात्मक दृष्टिकोण' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक करेंगे। यहाँ केवल इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि एक संस्कृति के अन्तर्गत छोटे-छोटे अनेक खण्ड या इकाइया होती हैं; ये इकाइयाँ अलग-अलग नही रहती बल्कि एकसाथ इस प्रकार सगठित हो जाती हैं कि सस्कृति को एक विशिष्ट रूप या डिजाइन प्राप्त हो जाता है। सस्कृति के विभिन्न खण्डो या उपखण्डो के इस सम्बद्ध रूप को ही सस्कृति-प्रतिमान कहते हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन से एक सस्कृति की प्रमुख विशेषताओ का ज्ञान सरलता से हो सकता है और सस्कृति-प्रतिमान की अवधारणा का यही सबसे उल्लेखनीय महत्त्व है। उदाहरणार्थ, भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत पाये जाने वाले सस्कृति-प्रतिमान जैसे, जाति-प्रथा, पचायत, सयुक्त-परिवार, धार्मिक भिन्नता, खेती, गाधीवाद, अध्यात्म जीवन-दर्शन आदि भारतीय सस्कृति की विशेषताओ और आधारो को बताते हैं। सामाजिक मानवशास्त्र में इसी कारण सस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन का महत्त्व किसी-न-किसी रूप मे दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

सांस्कृतिक क्षेत्र
(Culture Area)

उपरोक्त पक्षो के अतिरिक्त प्रत्येक सस्कृति का भौगोलिक पक्ष भी होता है जिसके सम्बन्ध मे कुछ विवेचना कर लेना आवश्यक है। अगर हम एक महाद्वीप (continent) के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करें तो हम यह पायेंगे कि दो अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रो के सास्कृतिक तत्त्वो (culture traits) और सस्कृति-सकुलों (culture complexes) मे कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य ही है। दो आस-पास के क्षेत्रो की अपेक्षा यदि हम दूर-दूर के क्षेत्रो का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह भिन्नता या अन्तर और भी स्पष्ट हो जायेगा कि दो क्षेत्रों के सास्कृतिक तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। इसी को दूसरे शब्दों मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि सास्कृतिक तत्त्वो या सकुलो का फैलाव एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र मे ही विशेप रूप से होता है। **यह भौगोलिक क्षेत्र, जिसमें कि संस्कृति के एक-से तत्त्व (traits) या सकुल (complexes) विशेष रूप से पाये जाते हैं, सांस्कृतिक क्षेत्र कहलाता है।** श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) के शब्दो मे, "उस क्षेत्र को, जिसमे कि एक-सी सस्कृतियाँ पाई जाती हैं, एक सास्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है।"[1]

1 · "The area in which similar cultures are found is called a culture area." —M.J. Herskovits, *op. cit.*, p. 183.

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति या उसके तत्वो का फैलाव एक भौगोलिक क्षेत्र मे विशेष रूप से होता है। सस्कृति को चूकि सीखा जाता है इस कारण कोई भी व्यक्ति किसी भी संस्कृति को सीख सकता है। परन्तु अपने पास-पडोस वाली संस्कृति को सीखना जितना सरल है उतनी सरलता से दूर की सस्कृतियो को नही सीखा जा सकता। इस कारण सास्कृतिक तत्त्वों मे गतिशीलता का गुण होते हुए भी एक निश्चित भूभाग मे ही वे विशेष रूप से पाये जाते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही सास्कृतिक तत्त्व विभिन्न क्षेत्रो मे समान या एक-से हो, फिर भी सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यवस्था या सस्कृति-सकुल मे उनका स्थान और विशेषता भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे अलग-अलग होती है। सास्कृतिक क्षेत्र की किसी भी विवेचना मे इस सत्य को न भूलना चाहिए।

श्री क्लार्क विसलर (Clark Wissler) का कथन है कि सास्कृतिक तत्त्व और सकुल, विशेषकर अगर वे अभौतिक (non material) हैं, दूसरे सस्कृति के तत्त्वो और सकुलो के साथ मिश्रित हुए बिना अधिक दूर तक फैल नही सकते। इसका प्रभाव यह होता है कि ये सास्कृतिक तत्त्व और सकुल अपने मूल रूप मे केवल एक सीमित क्षेत्र मे ही पाये जाते हैं। श्री विसलर के मतानुसार प्रत्येक सास्कृतिक क्षेत्र का, जिसमे कि कुछ सस्कृति-सकुल पाये जाते हैं, एक केन्द्रीय भाग या 'केन्द्र स्थान' ढूंढा जा सकता है जहाँ से कि सास्कृतिक तत्त्व अन्य क्षेत्रो मे फैलते हैं और वहाँ के सास्कृतिक तत्त्वो से मिश्रित होते रहते हैं। दूसरे शब्दो में, श्री विसलर का यह विश्वास है कि एक सास्कृतिक क्षेत्र मे एक ऐसा भी स्थान होता है जहाँ कि कुछ सास्कृतिक तत्त्व अपने विशिष्ट रूप मे पाये जाते हैं और वे सास्कृतिक तत्त्व उस रूप मे और कही नही मिलते। अगर मिलते भी हैं तो मिश्रित रूप मे। श्री विसलर का यह भी कहना है कि अधिक दूरी, पर्वत, सागर व महासागर, घने जगल या विस्तृत रेगिस्तान सास्कृतिक तत्त्वो के फैलने मे प्रमुख बाधा है।

वैसे तो श्री सापिर (Sapir) तथा अन्य विद्वानो ने सास्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा को सैद्धान्तिक रूप मे प्रयोग किया था, पर श्री विसलर ही प्रथम विद्वान थे जिन्होने इसकी क्रमबद्ध और वास्तविक विवेचना प्रस्तुत की। आपकी यह विवेचना अमेरिकन, इण्डियन की सस्कृतियो के अध्ययन पर आधारित है। इसी विवेचना के दौरान मे आपने सास्कृतिक क्षेत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि नयी दुनिया (New World) के आदि-वासियो को सास्कृतिक तत्त्वों के अनुसार बाँटा जाय तो हमे भोजन-क्षेत्र, वस्त्र-क्षेत्र, धर्म-क्षेत्र आदि प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि हम एकसाथ सभी तत्त्वो (traits) को ध्यान मे रखें और अपने दृष्टिकोण को सामाजिक या जनजातीय इकाइयो की ओर घुमायें, तो हम बहुत-कुछ निश्चित समूहो का पता लगा सकते हैं। यही सास्कृतिक क्षेत्र है अर्थात् सास्कृतिक तत्त्वो के आधार पर सामाजिक समूहों का वर्गीकरण।"[1] श्री विसलर ने सामाजिक समूहों

1 If "the natives of the New World could be grouped according to culture traits, this would give us food areas, textile areas, ceramic areas etc If, however, we take all traits into simultaneous consideration and shift our point of view to the social, or tribal units, we are able to form fairly definite groups This will give us culture area, or a classification of social groups according to their culture traits"—C Wissler, *The American Indian*, 2nd edition, New York, 1922, p 218

को ही आधार मानकर सास्कृतिक क्षेत्र की परिभाषा निम्न शब्दो में की है—'सांस्कृतिक क्षेत्र वह भौगोलिक प्रदेश है जिसमे काफी सख्या मे एक-सी संस्कृति वाली बहुत-कुछ स्वतन्त्र जनजातियाँ निवास करती हैं।"[1] परन्तु इस सम्बन्ध मे, श्री विसलर के मतानुसार, यह ध्यान मे रखना होगा कि यह समानता संस्कृति के कुछ छिटके हुए तत्त्वों मे पाये जाने से ही काम नही चलेगा; यह समानता आम जनता के द्वारा अपनाये गये महत्त्वपूर्ण सस्कृति-संकुलों मे होनी चाहिए।

जैसा कि 'क्षेत्र' शब्द से पता चलता है, सांस्कृतिक क्षेत्र की कोई निश्चित सीमारेखा नही होती है और वह इस अर्थ में कि हम स्पष्टतः यह नही कह सकते कि अमुक स्थान पर एक सास्कृतिक क्षेत्र समाप्त हुआ और दूसरा सांस्कृतिक क्षेत्र आरम्भ हुआ। एक सास्कृतिक क्षेत्र के जितने भी आस-पास के क्षेत्र या प्रदेश होंगे, उन सबमे उस सास्कृतिक क्षेत्र की विशेषताएँ अनेक रूप में देखने को मिल सकती हैं। परन्तु सांस्कृतिक *क्षेत्र का यह फैलाव अनेक बातो पर निर्भर करेगा जैसे, यातायात और संचार के उपलब्ध* साधन, सास्कृतिक सम्पर्क स्थापित करने मे प्राकृतिक बाधाएँ, उस प्रदेश की अन्य भौगोलिक परिस्थितियाँ इत्यादि। आधुनिक युग मे यातायात और संचार के साधनों में उत्तरोत्तर प्रगति होने के कारण सास्कृतिक आदान-प्रदान के अवसर तथा साधन दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं जिनके कारण सास्कृतिक क्षेत्र की सीमा-रेखाएँ (boundary lines) और भी अनिश्चित होती जा रही हैं।

अतः स्पष्ट है कि अब सास्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा केवल उन केन्द्रो (centres) *का पता लगाने का एक मोटा-सा या साधारण तरीका है जहाँ कि कुछ सास्कृतिक तत्त्व या* सकुल विशेष रूप से या अपने 'विशुद्ध' (pure) रूप मे पाये जाते हैं। इस अवधारणा की उपयोगिता अब केवल सभ्य समाज से सम्पर्क से दूर आदिम समाजो की सस्कृतियो के अध्ययन तक ही सीमित है। क्योकि अब केवल ऐसे ही समाजो की संस्कृति को एक भौगोलिक क्षेत्र विशेष मे कुछ हद तक सीमाबद्ध कहा जा सकता है। आधुनिक समाजो से यातायात तथा सचार के साधनो ने तो इस सीमा को तोड दिया है। आधुनिक समाज की सस्कृति का वास्तविक भौगोलिक क्षेत्र या सास्कृतिक क्षेत्र तो सारी दुनिया है।

संस्कृति का विकास
(Growth of Culture)

प्रारम्भ से ही मानवशास्त्रीय अध्ययन की एक प्रमुख समस्या यह रही कि विभिन्न सस्कृतियो का विकास कैसे और किन अवस्थाओ से गुज़रता हुआ होता है। क्या सभी समाजों मे सास्कृतिक विकास की प्रक्रिया एक-सी होती है ? क्या सास्कृतिक विकास के कुछ निश्चित स्तर होते हैं ? इसी सास्कृतिक विकास में कौन-कौनसे कारक सहायक सिद्ध

1. "Culture is a geographical region in which residea considerable number of relatively independent tribes with similar cultures."—Clark Wissler *An Introduction to Social Anthropology*, Henry Holt and Co., New York, 1929, p. 345.

होते हैं ? इसी प्रकार के अनेक प्रश्नो का उत्तर विभिन्न समय के मानवशास्त्रियो ने देने का प्रयत्न किया है। अब हम इन विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत सास्कृतिक विकास के विभिन्न सिद्धान्तो की विवेचना करेंगे।

(1) उद्‌विकास
(Evolution)

श्री डार्विन (Darwin) के प्राणीशास्त्रीय उद्‌विकास के सिद्धान्त के आधार पर अनेक मानवशास्त्रियो ने, जिनके कि नेता श्री हर्बर्ट स्पेन्सर थे, समाज तथा सस्कृति के विकास को भी समझाने का प्रयत्न किया। श्री डार्विन के उद्‌विकासीय सिद्धान्त मे चार प्रमुख बातें थी —(1) प्रारम्भ मे प्रत्येक जीवित वस्तु सरल होती है और उसके विभिन्न अग इस प्रकार एकसाथ घुले-मिले होते हैं कि उन्हे अलग नही किया जा सकता; पर धीरे-धीरे विभिन्न अग स्पष्ट तथा पृथक् हो जाते हैं। जैसे, एक बीज प्रारम्भ मे बहुत सरल होता है और उसके विभिन्न अग (जैसे जड, तना, फल, फूल इत्यादि) अलग-अलग नही होते पर धीरे-धीरे ये अग स्पष्ट हो जाते हैं और उनमे भिन्नता उत्पन्न होती है। इस प्रकार अभिन्न समग्रता (undifferentiated totality) का विभिन्न भागो मे विकसित होना उद्‌विकास का प्रथम सिद्धान्त है, (2) विभिन्न अगो के विकसित होने पर भी इनमे अन्त सम्बन्ध तथा अन्त निर्भरता का बना रहना, (3) उद्‌विकास की प्रक्रिया का निरन्तर जारी रहना, तथा (4) उद्‌विकास का कुछ निश्चित स्तरो से गुज़रकर होना जिस दौरान मे सरल धीरे-धीरे जटिल रूप धारण कर लेता है। वास्तव मे एक सादा और सरल चीज़ का धीरे-धीरे एक जटिल अवस्था मे बदल जाना ही उद्‌विकास है।

श्री डार्विन के उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर ही श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने उद्‌विकास की परिभाषा निम्न शब्दो मे की है— उद्‌विकास तत्त्व (matter) का समन्वय तथा उससे सम्बन्धित गति है जिसके दौरान मे तत्त्व एक अनिश्चित, असबद्ध समानता से निश्चित, सबद्ध भिन्नता मे बदलता है।'[1] श्री स्पेन्सर के मतानुसार यही नियम समाज और सस्कृति के सम्बन्ध मे भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, अति आदिम युग मे प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने बारे मे ही जानता और करता था। सामाजिक सगठन या सस्कृति के सम्बन्ध मे उन्हे कोई ज्ञान भी नहीं था। इस दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति बहुत-कुछ एक-से थे। साथ ही, इस स्तर पर कुछ भी निश्चित न था—न तो जीवन और न ही सामाजिक सगठन और सस्कृति। उन्हे एकसाथ मिलकर काम करना तक नही आता था। इस प्रकार उनकी यह अवस्था 'अनिश्चित असबद्ध समानता' की होती है। परन्तु धीरे-धीरे उनके अनुभव, विचार तथा ज्ञान मे उन्नति होती है, उन्हे मिलकर काम करना आ जाता है, सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन के विभिन्न अग

1 "Evolution is the integration of matter and concomitant dissipation of motion during which matter passes from an indefinite incoherent homogeneity to a definite, coherent heterogeneity"—Herbert Spencer, *First Principles*, D. Appleton & Co, New York, 1906, p 396

स्पष्ट और पृथक् हो जाते हैं, श्रम-विभाजन होता है, प्रत्येक व्यक्ति वही काम करता है जिसे वह सबसे अच्छी तरह कर सकता है और इस प्रकार सब मिलकर, संगठित रूप मे एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढते हैं। यह स्थिति 'निश्चित संबद्ध भिन्नता' की होती है।

उपरोक्त उद्‌विकासीय योजना को प्रत्येक सामाजिक घटना के विकास को समझाने में प्रयोग किया गया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सर्वश्री मॉर्गन (Morgan), टायलर (Tylor), हड्डन आदि की कृतियों में मिलता है। मानवशास्त्र का कोई भी क्षेत्र इससे अप्रभावित न रहा। आर्थिक क्षेत्र में उद्‌विकास के तीन प्रमुख स्तरों (stages) का उल्लेख किया जाता है। वे स्तर हैं—(क) शिकार करने और फल इकट्ठा करने की स्थिति, (ख) चारागाह की स्थिति, और (ग) कृषि की स्थिति। उसी प्रकार प्रौद्योगिकी (technology) के उद्‌विकास के भी तीन स्तर बताये जाते हैं—(अ) पाषाण युग, (ब) ताम्र युग, और (स) लौह युग।

इस सम्बन्ध में श्री लूईस मॉर्गन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने मानव-समाज के उद्‌विकास मे तीन प्रमुख स्तरों का उल्लेख किया। आपके मतानुसार विकासवाद का 'सरल का धीरे-धीरे जटिल रूप में बदल जाने का सिद्धान्त' मानव-समाज व संस्कृति के विकास में भी सत्य प्रतीत होता है। सर्वप्रथम मानव की संस्कृति जंगली-अवस्था (savage stage) मे थी, उसके बाद असभ्य-अवस्था (barbarian stage) मे और अन्त में सभ्य-अवस्था (civilized stage) में आयी है। इस प्रकार श्री मॉर्गन के मतानुसार मानव की संस्कृति जंगली अवस्था से असभ्य-अवस्था मे से गुजरती हुई सभ्य-स्तर तक एक क्रम से धीरे-धीरे विकसित हुई है। आपका यह भी कथन है कि इन तीनों स्तरों के तीन-तीन उप-स्तर (sub-stages) हैं—प्राचीन काल, मध्य-काल तथा उत्तर-काल। जंगली-स्तर के प्रथम उप-स्तर मे मानव जंगल में मारा-मारा फिरता था और शायद ही किसी प्रकार की उल्लेखनीय संस्कृति का अधिकारी था। इस स्तर के मध्य-काल में लोगो को मछली पकड़ने तथा आग जलाने की कला आ गई और उत्तर-काल में तीर-धनुष को भी प्रयोग मे लाना सीखा। इसके पश्चात् मानव ने जब बर्तनों का आविष्कार किया तो उसने असभ्य-अवस्था के प्रथम उपस्तर मे कदम रखा। इस अवस्था का मध्यम काल तब आया जब कि मानव को पशु पालने तथा पौधे उगाने की कला आ गई थी। इसके बाद जब तक लोगों को लोहे को गलाकर उससे लोहे के बर्तन तथा औजार बनाना न आया तब तक वे असभ्य-अवस्था के उत्तर-काल में बने रहे। इसके पश्चात् मानव-संस्कृति का सभ्य-अवस्था में प्रवेश तब हुआ जबकि अक्षरों और लिखने की कला का श्रीगणेश हुआ।

श्री मॉर्गन (Morgan) ने विवाह तथा परिवार की उत्पत्ति व विकास को भी उद्‌विकासीय सिद्धान्त के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। आपके मतानुसार प्रारम्भ मे मानव-समाज मे विवाह नामक कोई भी संस्था न थी; जो भी जिससे चाहे यौन-सम्बन्ध (sex relation) स्थापित कर सकता था। इसके बाद विवाह सम्बन्धी कुछ अस्पष्ट नियमों का विकास हुआ और एक समूह के समस्त लड़को के साथ दूसरे समूह की समस्त लड़कियों का विवाह अर्थात् समूह-विवाह (group marriage) की

स्थिति आयी। इस अवस्था के बाद समान-रुधिर-विवाह (consanguine marriage) प्रारम्भ हुआ। और इसी प्रकार धीरे-धीरे आधुनिक युग में पाये जाने वाले एक-विवाह (monogamy) का उद्विकास हुआ।

जहाँ तक परिवार के उद्विकास का प्रश्न है, श्री मॉर्गन ने ऐसी पाँच अवस्थाएँ बतलायी हैं जिनको पार कर परिवार अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुँचा है। वे पाँच स्तर क्रमशः निम्नलिखित हैं—(अ) प्रथम अवस्था समान रुधिर वाले परिवार (consanguine family) की थी जिसमे केवल रक्त-सम्बन्धी ही रहते थे और रक्त का कोई भी संकोच किये बिना भाइयों और बहनों तक मे परस्पर विवाह होते थे। (ब) दूसरी अवस्था समूह-परिवार (punaluant family) की थी। इसमें एक परिवार के भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ हुआ करता था, परन्तु उनमें आपस में यौन-सम्बन्ध अनिश्चित था अर्थात् प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियों का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी होती थी और इसी के अनुसार उनमें यौन-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। (स) तीसरी अवस्था सिंडेस्मियन परिवार (syndasmian family) की थी। इस प्रकार के परिवार मे यद्यपि एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह होता था, परन्तु उसी परिवार मे ब्याही हुई अन्य स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की प्रत्येक पुरुष को स्वतन्त्रता रहती थी। (द) चौथी अवस्था पितृसत्तात्मक परिवार (patriarchal family) की थी। इसमें पुरुष का एकाधिपत्य था। वह एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता था और उन सबके साथ यौन-सम्बन्ध रखता था। (र) पाँचवीं अवस्था एक-विवाह परिवार (monogamous family) की है। इसमे एक समय मे एक पुरुष की एक पत्नी होती है। यही विवाह और परिवार का वर्तमान रूप है।

धर्म के उद्विकास के सम्बन्ध मे किसी भी विद्वान ने निश्चित स्तरो का उल्लेख करने का उतना साहस नहीं किया जितना कि श्री स्पेन्सर ने किया था। आपके विचार े टायलर के विचारो से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। श्री टायलर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति आत्मा में विश्वास के कारण हुई है। श्री स्पेन्सर भी यही बात मानते थे। साथ ही, उनका विश्वास था कि समस्त धार्मिक संस्कार, कृत आदि का उद्भव पूर्वज पूजा से हुआ है और इन सबका आधार 'डर' (fear) था। इसी आधार पर श्री स्पेन्सर ने अपने प्रख्यात नियम को प्रतिपादित किया था। आपके मतानुसार, "सभी धर्मों की उत्पत्ति मरे हुए लोगों के डर के कारण और समस्त समाजों की उत्पत्ति जिन्दा लोगों के डर के कारण हुई है।"[1] इस सम्बन्ध मे श्री टायलर का मत यह है कि चूंकि धर्म की उत्पत्ति आत्मा में विश्वास के आधार पर हुई और चूंकि आत्माएँ अनेक हैं इसलिए धर्म का सर्वप्रथम और सबसे सरल स्वरूप बहु-दैवत्ववाद (polytheism) था जो कि धीरे-धीरे उद्विकासीय प्रक्रिया मे से गुजरता हुआ अद्वैतवाद (monotheism) की

1. "All religion had come from the fear of the dead and all society from the fear of living." —Spencer

स्थिति मे आ पहुँचा है। यही अद्वैतवाद या एक ईश्वर पर विश्वास धर्म की आधुनिक अवस्था है।

इस सम्बन्ध मे स्मरण रहे कि धर्म के सम्बन्ध में श्री टायलर की उपरोक्त उद्विकासीय योजना श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte : 1798—1857) से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। श्री कॉम्ट के अनुसार इस दिशा में तीन स्तर रहे हैं और वे हैं—(1) जीवित सत्तावाद (fetichism), (2) बहु-देवत्ववाद (polytheism) और (3) अद्वैतवाद (Monotheism)। प्रथम अवस्था में मानव अलौकिक शक्ति के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध मे बिल्कुल ही अज्ञान था और वह प्रत्येक चीज में एक जीवित सत्ता का अनुभव करता था। इसी के आधार पर इस स्तर पर अनेक जादू-टोनो पर विश्वास किया जाता था। द्वितीय स्तर पर मनुष्य का मस्तिष्क अधिक सुसंगठित हुआ और इस कारण जादू-टोनों से मानव परेशान हो गया और उन्हें एक सम्मिलित रूप देने की भावना उसमे जागृत हुई जिसके फलस्वरूप जीवन के विभिन्न पहलुओ से सम्बन्धित एक-एक देवी-देवता का जन्म होता है। यही बहु-देवत्ववाद का स्तर था। परन्तु इन अनेक देवी-देवताओ के कारण भी मानसिक उलझनें बनी रहीं। इस कारण मानव अपने समस्त श्रद्धा-विश्वास को अनेक देवी-देवताओ मे न बाँटकर किसी एक ईश्वर पर अपनी समस्त श्रद्धा, विश्वास आदि को निछावर करने के लिए उन्मुख हुआ जिसके फल-स्वरूप तृतीय स्तर या अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव होता है।

कला का क्षेत्र भी उद्विकासीय योजना से विमुक्त न हुआ। अपनी पुस्तक *Evolution in Art* में श्री हड्डन (Haddon) ने कला के क्षेत्र में होने वाली उद्विका-सीय प्रक्रिया का सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार कला अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे 'यथार्थवादी' (realistic) थी। इस कारण इस अवस्था मे वस्तुएँ या प्राकृतिक चीज़ें पशु, पक्षी और पेड जैसी दीखती थीं, उनका उसी रूप मे चित्रण कर दिया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे इस अवस्था मे परिवर्तन हुआ और कला का स्वरूप सरल से जटिल होता गया। दूसरे शब्दो मे, कला का यथार्थवादी स्वरूप धीरे-धीरे सकेतवादी (symbolic) मे बदलता गया और रेखागणित के ढंग से (geometrically) कला का चित्रण होने लगा।

यह सच है कि उदविकासीय सिद्धान्त के उपरोक्त प्रवर्तको ने अपने सिद्धान्तों द्वारा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने तथा आगे और कुछ छानबीन करने मे काफी सहायता की है, फिर भी उनका एकतरफा (one-sided) विश्लेषण ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है। इन विद्वानो ने सांस्कृतिक विकास को जिन निश्चित सीमाओ मे बाँधा था, उससे आज के अधिकतर मानवशास्त्री सहमत नहीं हैं। उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों की प्रमुख दुर्बलताएँ निम्नलिखित थी—

(1) इन विद्वानो ने यह मान लेने की भूल की कि प्रत्येक समाज मे सांस्कृतिक विकास का एक समान तथा निश्चित स्तर या अवस्था रही होगी। अगर ये विद्वान विभिन्न समाजो के ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक प्रमाणों का विश्लेषण करते तो उन्हे उनकी गलती स्वयं पता चल जाती। यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक

तथा अन्य परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं और इसका प्रभाव सांस्कृतिक विकास-प्रक्रियाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि परिस्थितियाँ अलग-अलग होते हुए भी प्रत्येक समाज में उद्‌विकासीय प्रक्रिया एकसमान ही रही होगी ? वास्तविकता यह है कि प्रत्येक समाज मे भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार उद्‌विकासीय प्रक्रिया भी अलग-अलग ढंग से होती है।

(2) उद्‌विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों का यह दावा (claim) भी गलत है कि प्रत्येक समाज मे सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर (stages) एक ही क्रम से आये हैं। उदाहरणार्थ, यह कहना ठीक न होगा कि प्रत्येक समाज मे आर्थिक जीवन का उद्‌विकास शिकार करने की स्थिति से पशुपालन की स्थिति और उससे कृषि स्थिति—सी क्रम से हुआ है। मानवशास्त्रीय प्रमाणों से इस विचार की पुष्टि नही होती। से, हम यह कह सकते हैं कि शिकार करने की स्थिति यद्यपि जंगली अवस्था की परिचायक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक प्राचीन है, फिर भी शिकार की स्थिति र्थिक विकास के अन्य सभी स्तरों मे अब तक विद्यमान है। साथ ही, आर्थिक विकास कोई ऐसा भी समय था जबकि लोग 'केवल' शिकार करते थे, इसका भी प्रमाण हमें ही मिलता। आदिम दुनिया के सर्वेक्षण (survey) से यह पता चलता है कि अनेक ऐसी जनजातियाँ भी हैं (जैसे उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की जनजातियाँ) जो कि ती तो करती हैं, पर वे पशुपालन की स्थिति से भी गुजरी हैं, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता इसका अर्थ यह हुआ कि अमेरिका मे, जैसा कि अफ्रीका मे भी हुआ है, शिकार करने फल इकट्ठा करने की स्थिति के बाद, बिना पशु-पालन या चरागाह की स्थिति से गुजरे कृषि अवस्था आ गई। इसी प्रकार प्रौद्योगिकी (technology) के उद्‌विकास के तीन स्तर—पाषाण युग, ताम्र युग तथा लौह युग—इसी निश्चित क्रम से प्रत्येक ज मे प्रकट हुए हैं, यह निष्कर्ष उचित नही है। यद्यपि यूरोप के देशों के अध्ययन से गिकीय उद्‌विकास के उपरोक्त तीनों स्तर स्पष्ट रूप मे देखने को मिलते हैं, फिर फ्रीका आदि देशों में जो प्रमाण हमे प्राप्त होते हैं उससे यही मालूम होता है कि पाषाण युग के बाद एकदम लौह युग का प्रादुर्भाव हुआ, ताम्र युग के सम्बन्ध मे निश्चित प्रमाण नही मिलता है। अतः स्पष्ट है कि उद्‌विकासीय सिद्धान्त की त सीमा-रेखा के अन्दर मानव संस्कृति के क्रम-विकास की यथार्थ व्याख्या सम्भव।

(3) उद्‌विकासवादी लेखकों की पद्धति भी दोषपूर्ण थी। वास्तव मे ये सभी न, यहाँ तक कि श्री स्पेन्सर भी, अपने अध्ययन मे वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने के य मे बहुत-कुछ उदासीन रहे और वह इस अर्थ मे कि इन विद्वानों ने अपने सिद्धान्त थनों को वास्तविक तथ्यों की कसौटी पर कसकर नही देखा, अर्थात् विभिन्न जनीय समुदायों का अध्ययन वास्तविक निरीक्षण (actual observation) के आधार करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। इन्हें तो जो कुछ विवरण पर्यटकों (travellers) मिशनरियों (missionaries) से प्राप्त हो जाते थे उसी पर निर्भर रहकर वे अपना र्ष निकालते थे। ये विवरण गलत हैं या सही, इसकी जाँच करने का इन विद्वानों ने

कभी प्रयत्न नहीं किया।

(4) अपनी पूर्वधारणाओं (preconceptions) से उद्विकासवादी लेखक इतने अधिक प्रभावित रहे कि वे प्रसार (diffusion) के सिद्धान्त तक को भूल गये, अर्थात् वे यह भी भूल गये कि संस्कृति एक जगह से दूसरी जगह को फैलती है। वास्तव में, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, गतिशीलता संस्कृति की एक उल्लेखनीय विशेषता है। एक संस्कृति को मानने वाले लोग जैसे-जैसे दूसरी संस्कृति के सम्पर्क में आते हैं वैसे-वैसे संस्कृति का लेन-देन या प्रसार बढ़ता जाता है। वास्तविक निरीक्षण से यही बात स्पष्ट होती है कि अनेक सांस्कृतिक परिवर्तन व विकास इसी प्रकार के सिद्धान्त के आधार पर होते हैं।

(5) श्री गोल्डनविज़र (Goldenweiser) ने उद्विकासीय सिद्धान्त की एक और दुर्बलता का उल्लेख किया है और वह यह कि इस सिद्धान्त के प्रवर्तक 'प्रसार' की भाँति आविष्कार के महत्त्व को भी भूल गये हैं। 'संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा जीवित मानव का आविष्कार है।' ऐतिहासिक प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति में उस अर्थ में उद्विकास नहीं होता जिस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग उद्विकासवादी लेखक करते हैं। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है और इसके निर्माण में अनेक पीढ़ियों का योग रहता है। प्रत्येक पीढ़ी मे नवीन ज्ञान, विचार, वस्तुएँ आदि निरंतर संस्कृति को विकसित, परिमार्जित तथा विस्तृत करते रहते हैं। परन्तु क्या इस प्रक्रिया को उद्विकास कहा जाय? यदि कहा भी जाय तो भी इस सत्य को नही भूलना चाहिए कि उद्विकास तात्पर्य केवल आकार में ही परिवर्तन नहीं, बल्कि गुण में भी परिवर्तन है। गुणात्मक परिवर्तन रचनात्मक क्रियाओं के माध्यम से ही सम्भव होता है जिसकी अभिव्यक्ति (expression) सामाजिक आविष्कार के रूप मे होती है। संस्कृति सामाजिक आविष्कारों की ही उपज है। श्री गोल्डनविज़र के अनुसार संस्कृति न तो पृथक्-पृथक् या असंबद्ध पक्षों का संकलन है और न ही शरीर की भाँति पूर्णतया संगठित (integrated) एक समग्रता है। वास्तव में संस्कृति तो एक जटिलता है जिसके विभिन्न पक्ष अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाये रखते हुए एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित रहते हैं। परन्तु इस स्वतन्त्र सत्ता या पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्येक समाज में अलग-अलग गति व रूप होता है और प्रत्येक समाज मे इसकी पूर्णता भी विभिन्न मात्रा मे पाई जाती है।[1]

उपरोक्त कमियों को ध्यान मे रखते हुए कुछ विद्वानो ने उद्विकासीय सिद्धान्त को संशोधित रूप मे प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि इस सिद्धान्त की प्रायः सभी कमजोरियाँ दूर हो सकती हैं, यदि हम इस सत्य को स्वीकार कर लें कि उद्विकास की एक सीधी दिशा नही होती है बल्कि उसमें एक 'एकेन्द्रीय घुमाव' (parabolic curve)

---

1. "Culture is neither an aggregate of disparate aspects nor is it a thoroughly integrated or organic whole Rather it is a complex the different aspects of which, while preserving their autonomy, ever tend to enter into interrelations with each other, but at different rates and with varying degree of completeness." —A. Goldenweiser

की प्रवृत्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि कोई एक संस्था पहले एक विशेष रूप में शुरू होती है, फिर धीरे-धीरे उसका बिल्कुल विपरीत रूप विकसित हो जाता है और फिर वह रूप अपने मूल रूप की ओर घूमता या मुड़ता है, यद्यपि बाद का यह रूप मूल रूप से अधिक उच्च-स्तर का होता है। कुछ उदाहरणों की सहायता से इसे और सरलता से समझा जा सकता है। आदिम समाज में सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार (communal ownership) हुआ करता था। धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप निजी सम्पत्ति (private property) की संस्था विकसित हुई। परन्तु अब झुकाव इस ओर है कि जनता के संरक्षक के रूप में राज्य के माध्यम से एक उन्नत ढंग का सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होना चाहिए। उसी प्रकार पहले आदिम लोग कपड़ों का प्रयोग नहीं करते थे, धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप विकसित हुआ और लोग अपने सारे शरीर को वस्त्र से ढँकने लगे, पर अब हम फैशन का नाम देकर फिर से अपनी आदिम दशा में लौटते जा रहे हैं और शरीर का अधिकांश भाग खुला रखना भी आपत्तिजनक (objectionable) या अनुचित नहीं समझा जाता है। उसी प्रकार यौन-सम्बन्ध को भी लीजिए। पहले यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध ना के समान थे, धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप विकसित हुआ और एक-विवाह (monogamy) को आदर्श के रूप में अपनाते हुए यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध कठोरतम किये गये। पर आज फिर से ये प्रतिबन्ध धीरे-धीरे ढीले पड़ते जा रहे हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि उद्‌विकासीय सिद्धान्त की अपनी अनेक कमजोरियाँ हैं जिसके कारण आधुनिक मानवशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। फिर भी इस सिद्धान्त से सांस्कृतिक विकास के अध्ययन का एक अच्छा सिलसिला मिल जाता है।

(2) प्रसार

(Diffusion)

यह सिद्धान्त, एक अर्थ में, उद्‌विकासीय सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया गया। उद्‌विकासवादी लेखक इस बात पर बल देते थे कि शरीर के विकास की भाँति सांस्कृतिक विकास भी आप-से-आप तथा कुछ आन्तरिक कारकों (internal factors) के कारण होता है। दूसरे शब्दों में, इन विद्वानों का मत था कि सांस्कृतिक विकास में बाहरी कारकों का कोई हाथ नहीं रहता है। अनेक विद्वान इस मत से सहमत नहीं हो पाये क्योंकि विभिन्न समाजों की संस्कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अनेक सांस्कृतिक तत्वों (culture traits) का आदान-प्रदान विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में हुआ है। उपलब्ध तथ्यों (available facts) के आधार पर उद्‌विकासीय सिद्धान्त को इसीलिए अनेक विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि साधारण निरीक्षण से भी हम यह जान सकते हैं कि सांस्कृतिक तत्व और सांस्कृतिक संकुल भी यातायात तथा संचार के साधनों के माध्यम से तथा लोगों के एक देश से दूसरे देश को आने-जाने से एक समूह से दूसरे समूह को गतिशील रहते हैं। यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान, या सांस्कृतिक विस्तार विशेषकर उन सांस्कृतिक समूहों में अधिक होता है जो कि एक-दूसरे

के आस-पास होते हैं। चूंकि संस्कृति सीखी जाती है इस कारण यह सीखने की प्रक्रिया उनके लिए आसान हो जाती है जो कि एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे रहते हैं क्योंकि इस प्रकार के सम्पर्क से वे एक-दूसरे के वस्त्र, बर्तन, मकान, भाषा, आचार तथा प्रथाओं को देखकर और सुनकर सीखते रहते हैं। उसी प्रकार सास्कृतिक तत्त्व या संकुल एक देश से दूसरे देश या एक सास्कृतिक समुदाय से दूसरे सास्कृतिक समुदाय मे जाकर बसने वाले लोगो के साथ-साथ प्रसारित हो सकता है और होता है। उदाहरणार्थ, भारत के देश-विभाजन के बाद भारत मे पाकिस्तान से आ बसने वाले शरणार्थियों के साथ-साथ उनका सास्कृतिक तत्त्व भी यहाँ आ गया है और यहाँ के लोगो मे फैल गया। पाश्चात्य संस्कृति का भारतवर्ष मे प्रसार तब हुआ जब कि इंगलैंड के निवासियो ने यहाँ आकर शासन की बाग-डोर अपने हाथो मे ले ली। इस प्रकार एक सास्कृतिक समूह से दूसरे सास्कृतिक समूह में सास्कृतिक तत्त्वों या संकुलो के फैलाव या विस्तार को 'प्रसार' (diffusion) कहते हैं।

इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि प्रसार होता क्यों है? इस प्रश्न के दो सम्भावित उत्तर हो सकते हैं—**प्रथम** तो यह कि संस्कृति को सीखा जा सकता है और सीखा जाता भी है। इस कारण देखकर, सुनकर, जान-बूझकर अनुकरण (imitation) करके दूसरो की सस्कृति को अपना लेने से सस्कृति का प्रसार होता है। और दूसरा स्वय कोई चीज आविष्कार करने की अपेक्षा दूसरो से नई चीजें ग्रहण करना आसान मालूम होता है। इसीलिए देखा गया है कि अनेक सास्कृतिक तत्त्व व संकुल सारी पृथ्वी पर फैल जाते हैं, यद्यपि इस प्रकार से फैलने मे उन्हे काफी समय लग जाता है। श्री क्रोबर ने लिखा है कि तम्बाकू (tobacco) का प्रयोग सर्वप्रथम मध्य अमेरिका मे प्रारम्भ हुआ और वहाँ बहुत तेजी से दूसरे स्थानो को फैलने लगा, परन्तु एस्किमो (Eskimo) प्रदेश तक फिर भी पहुँच न सका। फिर जैसे ही स्पेन के निवासियों ने इसे अपनाया वैसे ही यह प्रथा फिर नयी गति से पूर्व की ओर के देशो मे प्रसारित होने लगी और दुनिया का चक्कर लगाती हुई अमेरिका मे फिर से प्रवेश किया और अलास्का (Alaska) के उन प्रदेशो मे फैल गई जहाँ इसके पहले धूम्रपान (smoking) नहीं किया जाता था। इस प्रकार धूम्रपान दुनिया का चक्कर लगाकर फिर कहीं एस्किमो प्रदेश में प्रसारित हुआ।[1]

सास्कृतिक प्रसार के सम्बन्ध मे एक यह बात स्मरणीय है कि प्रसार बिना किसी शर्त के प्रायः नही होता है। एक नयी चीज या एक सास्कृतिक तत्त्व (trait) का एक दूसरे प्रदेश या सास्कृतिक समूह मे तभी प्रसार होगा जब उस तत्त्व को उस नये प्रदेश मे एक सास्कृतिक आधार प्राप्त हो जाय। दूसरे शब्दो मे, एक सास्कृतिक समूह दूसरे के सास्कृतिक तत्त्व को तभी अपनायेगा जब कि उसकी अपनी सस्कृति के दृष्टिकोण से वह सास्कृतिक तत्त्व अर्थपूर्ण तथा लाभकारी हो। यदि ऐसा नही है तो उस समूह मे उस तत्त्व का प्रसार असम्भव न सही, कठिन अवश्य है। दूसरे समूहो से कोई भी चीज व्यर्थ

1. A L Kroeber, *Anthropology*, Harcourt Brace & Co., New York, 1 p. 213.

मे कोई अपनाता नहीं है। आधुनिक समाज मे अत्यधिक प्रयोग मे आने वाली अलार्मदार घड़ी (alarm clock) का प्रसार एक आदिम या जगली समाज के लोगो मे शायद ही हो, इसके सिवा कि वे उस घड़ी को एक अनोखी चीज़ या खिलौने के रूप मे दो-चार बार उठाएँ और रखें क्योंकि उस घड़ी को और उसके जटिल यत्रो (complicated machinery) को अपनाने के लिए जिस आधार की आवश्यकता होती है उनमे उसका अभाव है। साथ ही, समय की पाबन्दी की भी वे आवश्यकता नहीं अनुभव करते और जब तक इस प्रकार की आवश्यकता न होगी तब तक वह घड़ी उन आदिवासियो की सस्कृति का एक अग नही बन सकती क्योकि सस्कृति का कोई अग या इकाई बेकार की और अर्थहीन नहीं होती है।

इस सम्बन्ध मे दूसरी स्मरणीय बात यह है कि प्रसार के दौरान मे प्राय. सास्कृतिक तत्त्व (culture trait) काफी परिवर्तित हो जाते हैं ताकि वे नवीन पर्यावरण मे फिट (fit) बैठ सके। वास्तव मे एक समाज दूसरे के सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण करते समय अपने सास्कृतिक प्रतिमान के अनुरूप उनमे आवश्यक परिवर्तन कर लेता है। उदाहरणार्थ, ईसाई मिशनरियो को प्राय यह देखकर दु ख और आश्चर्य होता है कि उन हिन्दुओ को, जिन्हें कि उन्होंने ईसाई बनाया है, ईसाइयों के केवल एक ईश्वर को अपने परम्परागत असख्य देवी देवताओ के साथ अजीब ढग से मिला दिया है। उसी प्रकार कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी व्यवस्था का जो रूप रूस मे है उसको उसी रूप मे अमेरिका मे पाने की आशा करना मूर्खता ही होगी।

इस सम्बन्ध में तीसरी बात यह याद रखनी है कि यद्यपि प्रसार की दिशा साधारणतया 'उच्च' या अधिक जटिल सस्कृति से 'निम्न' या कम जटिल सस्कृति की ओर होती है, फिर भी इस रूप मे एक-दूसरे के सम्पर्क मे आयी हुई दोनो ही सस्कृतियो मे कुछ-न-कुछ आदान-प्रदान सदैव होता है। जब 'उच्च' सस्कृति वाले समूह का शासन निम्न सस्कृति वाले समूह पर होता है और जब शासन-प्रबन्ध को चलाने के लिए प्रथम समूह को दूसरे समूह के देश मे आकर बस जाना होता है, तब उपरोक्त आदान-प्रदान की प्रक्रिया और भी तेजी से क्रियाशील होती है।

इस सम्बन्ध मे चौथी स्मरणीय बात यह है कि सास्कृतिक प्रसार सास्कृतिक या सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण भी बन सकता है। प्राय. देखा जाता है कि जो नये सास्कृतिक तत्त्व प्रसार के द्वारा एक समाज मे आते है उनसे दो परिणाम होते हैं। पहला तो यह कि इस प्रकार प्रसारित हुए कुछ सास्कृतिक तत्त्व तो सरलता से नये समाज के सास्कृतिक प्रतिमान मे घुल-मिल जाते है, और दूसरा यह कि कुछ सास्कृतिक तत्त्व उस प्रतिमान मे बिना उथल-पुथल मचाये नही रहते या उन सास्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करने से आगे चलकर ऐसे परिणाम भी होते हैं जिनकी कि प्रारम्भ मे कोई आशा नही थी। कुछ सास्कृतिक तत्त्वो की प्रकृति ही ऐसी होती है कि उन्हे ग्रहण करने का अर्थ ही होता है सामाजिक परिवर्तन। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य देश के अनेक प्रकार के यत्रो और मशीनों को भारतीय समाज ने अपनाया है जिसके फलस्वरूप इस देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस परिवर्तन का दबाव प्रत्येक समाज मे समान नहीं होता, फिर भी ऐसा देखा

जाता है कि कुछ सांस्कृतिक तत्वों का प्रभाव ग्रहण करने वाले समाज पर भी प्राय: उतना ही पड़ता है जितना कि उस समाज पर पड़ा था जहां उस तत्व का आविष्कार हुआ था। उदाहरणार्थ, भाप से चलने वाली मशीन का प्रभाव यूरोप के देशों पर जितना पड़ा, प्राय: उतना ही प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा है। परन्तु एक सांस्कृतिक तत्व को सारे मानव-समाज मे फैलने मे काफी समय लगता है और इसके लिए यह आवश्यक है कि इस प्रक्रिया में निरंतरता बनी रहे। अत: स्पष्ट है कि सास्कृतिक प्रसार मे निरंतरता के साथ फैलने का गुण होता है। कुछ भी हो, प्रसार से सांस्कृतिक तत्व को ग्रहण करने वाले समाज मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य ही हो जाते हैं।[1]

उपरोक्त आधारो पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कोई भी सास्कृतिक तत्त्व स्पष्ट रूप से स्थापित हो जाने के बाद आप-से-आप ही दूसरे समाजों को संस्कृति मे फैलने लगता है। दुनिया के सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन से यही बात प्रमाणित होती है परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि सास्कृतिक तत्त्व का प्रसार होगा ही। हाँ, मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि सास्कृतिक तत्त्व का प्रसार होगा यदि उस प्रसार को रोकने के लिए कोई या कुछ कारक (factors) क्रियाशील न हों।[2]

सास्कृतिक इतिहास य' सास्कृतिक गतिशीलता या दोनो के अध्ययन मे तीन विभिन्न सम्प्रदायों (schools) ने प्रसार के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया है। वे सम्प्रदाय हैं—(अ) ब्रिटिश प्रसारवादी सम्प्रदाय या पॉन-इजिप्शियन (Pan-Egyption) सम्प्रदाय; (ब) जर्मन-आस्ट्रियन संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय (German-Austrain Culture-historical School); तथा (स) अमेरिकन सम्प्रदाय (American School)। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है[3]—

(अ) ब्रिटिश प्रसारवादी या पॉन-इजिशियन सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक सर्वश्री इलियट स्मिथ (Elliot Smith) तथा पैरी (W J. Perry) हैं। श्री स्मिथ एक मानव-शास्त्री नही, वरन् एक शरीर-रचना-विशेषज्ञ (anatomist) थे और काफी दिनो तक अपने शोध-कार्य (research work) के लिए मिस्र (Egypt) मे रहे। आप उस देश की प्राचीन संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे और उसके विभिन्न पक्षो का अध्ययन करके इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ससार से सबसे प्रथम सस्कृति का जन्म मिस्र मे हुआ और वही से उसके तत्त्व (traits) दुनिया के अनेक देशो मे प्रसारित हुए। आपका विश्वास था कि केवल भूमध्यसागरीय देशो मे अफ्रीका, भारतवर्ष आदि की सस्कृतियों का ही नही बल्कि इण्डोनेशिया, पॉलीनेशिया तथा अमेरीका की सस्कृतियों का भी आदि-स्रोत मिस्र की संस्कृति है। श्री पैरी (Perry) ने भी इसी मत का समर्थन किया है। आपके विचारों का विस्तृत विवरण आपकी पुस्तक *The Children of the Sun* मे मिलता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रसार ही एक मात्र साधन है जिससे सास्कृतिक परिवर्तन सम्भव हो,

1. A. L. Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace & Co , New York, 1948, p. 412.
2. *Ibid* , p. 415.
3. M. J. Herskovits, *op. cit* , 505—522.

सकता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मनुष्य का मस्तिष्क स्वभाव से ही आविष्कार के लिए उपयुक्त नहीं है; आविष्कार तो तभी सम्भव होता है जबकि उसे अत्यधिक अनुकूल (favourable) परिस्थितियों या पर्यावरण से प्रेरक-शक्ति प्राप्त हो। इस सम्प्रदाय के अनुसार इस प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ केवल प्राचीन मिस्र में ही पाई जाती थीं। इसलिए सूर्य-पुत्र (the Children of the Sun) मिस्रवासी ही समस्त उच्च संस्कृति के जनक हैं। मिस्र को ही संस्कृति और सभ्यता का आदि-स्रोत मानने के कारण ही इस सम्प्रदाय को पॉन-इजिप्शियन सम्प्रदाय (Pan-Egyptain School) कहा जाता है।

उपरोक्त सिद्धान्त को देखकर हम कह सकते हैं कि उसमें बातों को बिना किसी प्रमाण के अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। यह बात कोई भी वैज्ञानिक स्वीकार नहीं कर सकता कि एक मिस्र की ही संस्कृति आदि संस्कृति है और अन्य सभी संस्कृतियों का उद्भव उसी से हुआ है। यह हो सकता है कि विभिन्न देशों के सांस्कृतिक तत्त्व एक-समान हों, परन्तु इन समानताओं से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि सबका मूल-स्रोत भी एक ही होगा। ऐसा देखा गया है और इसके अनेक प्रमाण भी है कि बिल्कुल ही पृथक् कारणों से तथा भिन्न प्रदेशों में एक ही प्रकार का सामाजिक आविष्कार हुआ है। उदाहरणार्थ बन्दूक का आविष्कार स्वतन्त्र रूप में एशिया तथा फ्रांस दोनों ही देशों में हुआ था। अतः स्पष्ट है कि उपरोक्त सम्प्रदाय के विचारों से सहमत होना एक प्रकार से असम्भव ही है।

(ब) जर्मन-प्रसारवादी या संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय *(Kulturhistorische Schule)* के प्रमुख प्रवर्तक सर्वश्री ग्रेबनर (F. Graebner), फॉय (E. Foy) आदि थे। इनका सिद्धान्त प्रसारवादी होते हुए भी इसमें उद्विकासीय सिद्धान्त का स्पर्श है। इन विद्वानों के अनुसार विकासवादियों का यह निष्कर्ष ठीक है कि अलग-अलग स्थानों में स्वतन्त्र रूप से विविध सांस्कृतिक-संकुल उत्पन्न हुए, परन्तु इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि उन सांस्कृतिक-संकुलों (culture complexes) का बाद में वहाँ से संसार के अन्य भागों में प्रसार भी हुआ। अतः स्पष्ट है कि ब्रिटिश-प्रसारवादी और जर्मन-प्रसारवादी विचारधारा में एक प्रमुख अन्तर यह है कि ब्रिटिश-प्रसारवादी लेखकों के मतानुसार संस्कृति का विकास या प्रसार एक ही स्थान (मिस्र) से संसार-भर में हुआ जबकि जर्मन-विकासवादी लेखकों के अनुसार संस्कृति का विकास या विस्तार एक किसी स्थान-विशेष से नहीं, बल्कि विभिन्न स्थानों से हुआ। एक ही जगह प्रत्येक चीज का आविष्कार सम्भव नहीं; विभिन्न चीजों का आविष्कार तो विभिन्न स्थानों व विभिन्न समय में होता है और हुआ भी है। फिर उन विभिन्न स्थानों से वे आविष्कार या संस्कृति-संकुल संसार के विभिन्न स्थानों या समाजों में फैल गये। संस्कृति का विकास इसी प्रकार की 'प्रक्रिया' का परिणाम है। इसे 'प्रक्रिया' इस अर्थ में कहा गया है कि विभिन्न स्थानों से संसार के अन्य भागों में सांस्कृतिक-संकुलों का प्रसार निरन्तर रूप में (continuously) चलता रहता है। जर्मन-प्रसारवादी लेखकों का कथन है कि यदि हम एक संस्कृति का सतर्कता से विश्लेषण करें तो हम उसमें उन भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों (culture traits) की तहों (layers) को स्पष्टतः देख सकते हैं जो कि दूसरे स्थानों से विभिन्न समय में प्रसार की

प्रक्रिया के माध्यम से उस संस्कृति मे आ मिली हैं। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न स्थानो से सास्कृतिक तत्त्वो के चक्र अलग-अलग समय पर उठते रहते हैं और इनका प्रसार संसार के अन्य भागों मे होता रहता है। परन्तु इस प्रसार की प्रक्रिया मे यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व या संकुल ससार के हर भाग मे फैल ही जाय; प्रत्येक तत्त्व या सकुल के प्रसार का एक घेरा (circle) या प्रदेश (District) हो सकता है। इसलिए इस सम्प्रदाय को सस्कृति-चक्रवादी या संस्कृति-प्रदेशवादी सम्प्रदाय (The *Kulturkreise* School) भी कहते हैं। परन्तु इससे यह तात्पर्य कदापि न लगाना चाहिए कि सास्कृतिक तत्त्वों या सकुलों का एक निश्चित घेरे या प्रदेश के अन्दर ही प्रसार होता है। इनके प्रसार की कोई सीमा नहीं है, फिर भी ऐतिहासिक प्रमाणों से यह जाना जा सकता है कि एक संस्कृति की अमुक इकाई का अमुक स्थान से प्रसार हुआ। 'प्रदेश', 'चक्र' या 'घेरा' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

इस सम्बन्ध मे श्री ग्रैबनर (Graebner) की प्रमुख देन यह है कि सास्कृतिक प्रसार के अध्ययन में उन्होंने दो स्पष्ट आधारो को निश्चित कर दिया है। वे आधार हैं स्वरूप (form) तथा परिणाम (quantity) का आधार। यदि हमे दो समूहो की संस्कृतियों मे समानताएँ दिखलायी पड़ें, तो उन्हीं समानताओं के आधार पर ही प्रसार का निर्णय कर लेना उचित न होगा। समानताओ की विवेचना मे दो बातो को ध्यान मे रखना होगा। प्रथम तो स्वरूप की समानता और द्वितीय परिणाम की समानता। इन दोनों बातों मे दो सस्कृतियों मे जितनी अधिक समानता हो, प्रसार की सम्भावना भी उसी अनुपात मे अधिक होगी।

उपरोक्त सिद्धान्त की सबसे प्रमुख कमजोरी यह है कि इस प्रकार के सिद्धान्त से हमे अधिक-से-अधिक सास्कृतिक प्रसार 'क्या है' केवल इतने का ही उत्तर मिलता है। सास्कृतिक प्रसार 'क्यो' होता है इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि सास्कृतिक प्रसार के कारणो का विश्लेषण इसके क्षेत्र (scope) से बिल्कुल ही बाहर है। अत. सास्कृतिक विकास या परिवर्तन को पूर्णतया समझाने में यह सिद्धान्त सफल न हो सका।

(ख) अमेरिकन प्रसारवादियों (American diffusionists) ने, जिसके नेता श्री फ्राज बोआस (Franz Boas) थे, संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय की उपरोक्त कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और सास्कृतिक प्रसार 'क्यो' होता है इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया। साथ-ही-साथ, इस सास्कृतिक प्रसार का क्या प्रभाव सास्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करने वाले समुदायो पर पड़ता है, इसकी विवेचना भी इस सम्प्रदाय के विद्वान करते हैं। इन विद्वानों ने समस्त संसार के सास्कृतिक प्रसार की एकसाथ विवेचना करने के बजाय यह अधिक अच्छा समझा कि ससार को विभिन्न सास्कृतिक क्षेत्रों (culture areas) मे बाँट लिया जाय और तब तक एक-एक सास्कृतिक क्षेत्र के उन सास्कृतिक तत्त्वों का विश्लेषण किया जाय जो कि उस क्षेत्र मे प्रसार के द्वारा आये हैं, और अन्त मे इस प्रकार के कारणों को ढूंढा जाय। इन कारणो को ढूढने मे, श्री बोआस के अनुसार, हमें मानव के मनोवैज्ञानिक या मानसिक (psychic) आधारो की अवहेलना न करनी

चाहिए। श्री बोआस के अनुयायी श्री क्लार्क विसलर (Clark Wissler) ने इस बात पर बल दिया कि प्रसार के दौरान मे सास्कृतिक तत्त्वो या सकुलो के मूल रूप (original forms) में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। विशेषत. यदि सास्कृतिक तत्त्व अभौतिक हैं तब तो ऐसे तत्त्व बिना परिवर्तित हुए अधिक दूर तक फैल नही सकते। सास्कृतिक तत्त्वो के इस प्रसार मे, श्री विसलर के अनुसार, पहाड़, महासमुद्र, रेगिस्तान, घने जगल आदि प्रमुख बाधाएँ हैं।

(3) नवीनीकरण

(Innovation)

सस्कृति के विकास की एक और महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया नवीनीकरण है। सास्कृतिक विकास मे नवीनीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत नवीन आविष्कारो व ज्ञान के आधार पर सस्कृति के तत्त्वो को नया या सशोधित रूप दिया जाता है। नवीनीकरण मे यह आवश्यक नही है कि आविष्कार या ज्ञान जिसके आधार पर हम अपनी सस्कृति को नवीन रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह हमारे ही समाज का हो। यह आविष्कार या ज्ञान किसी भी समाज का हो सकता है, और एक समाज दूसरे समाज या समाजो से ऐसे आधारो को प्राप्त कर सकता है जिनसे उस समाज के सास्कृतिक तत्त्वो का पुराना रूप बदल सके। यही कारण है कि श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) के अनुसार नवीनीकरण के अन्तर्गत पुराने कामो को नये ढग से करने के लिए नये तरीको को स्वीकार करना (the acceptance of new ways of doing old things), या पुरानी रीतियो मे सशोधनो को स्वीकार करना (the acceptance of modifications of old ways), या दूसरो से ग्रहण करके नये परिवर्तनो को करना सम्मिलित है।[1] यातायात और सचार के साधनो मे उन्नति होने के साथ-साथ दूसरे समाजो से ग्रहण करने की प्रक्रिया बढती जाती है। ससार मे पाश्चात्य सस्कृति और विशेषकर प्रौद्योगिकीय (technological) वस्तुओ के विस्तार से विभिन्न समाजो मे नवीनीकरण की रफ्तार बराबर बढ रही है। इस बात को आदिम समाजो के सम्बन्ध मे भी लागू किया जा सकता है। परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि इस विस्तार द्वारा प्रस्तुत तत्त्वो को जन-जातीय लोगो ने बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया है या उन तत्त्वो मे कोई सशोधन किये बिना ही उन्हे ले लिया है। इसके विपरीत, उन्होने वही किया जो कि सभी मानव-समूह किसी नई चीज के प्रस्तुत किये जाने पर करते हैं। उन्होने अपने पूर्व अनुभवो के आधार पर ही नई वस्तुओ के प्रति प्रतिक्रिया की है—जो उन्हे लाभकर लगा उसे स्वीकार किया है और जो उन्हे अव्यावहारिक या अलाभकर प्रतीत हुआ, उसे उन लोगो ने त्याग दिया अर्थात् स्वीकार नहीं किया। जहाँ पर उन पर परिवर्तन जबरदस्ती लादा गया है वहाँ पर भी उन लोगो ने अपने अनुभवो के आधार पर ही प्रतिक्रिया की है—या तो उन परिवर्तनो को लोगो ने हृदय से ग्रहण नही किया और आन्तरिक रूप मे उनको

---

1. M. J. Herskovits, *op. cit.*, pp. 481-482.

त्याग दिया, या फिर खुले तौर पर विद्रोह किया अथवा अपनी अस्वीकृति को व्यक्त किया।

इसी के आधार पर हम नवीनीकरण की **प्रथम विशेषता** का उल्लेख कर सकते हैं और वह यह कि नवीनीकरण की प्रक्रिया, प्रसार की ही भाँति बिना किसी शर्त के प्राय. नही होती है। एक समाज अपने सास्कृतिक तत्त्व या तत्त्वों को एक नवीन रूप देने *या उन्हे सशोधित करने के लिए तभी राजी होता है जबकि उसके पिछले अनुभवो की* कसौटी पर वह नवीन रूप या सशोधन खरा उतरता है, अर्थात् जब पूर्व अनुभव के आधार पर वह यह समझता है कि वह नवीनीकरण उस समाज के लिए हितकर या कम-से-कम व्यावहारिक है। यदि ऐसा नही हैं तो आन्तरिक या बाह्य रूप में वह समाज, उसकी परम्परा प्रथा, रूढि, धर्म आदि उस नवीनीकरण का विरोध करता है।

इसी से नवीनीकरण की **दूसरी विशेषता** भी स्पष्ट है और वह यह कि नवीनीकरण की प्रक्रिया अचेत नही, अपितु सचेत प्रक्रिया है। इसे जान-बूझकर अपनाया जाता है। दूसरे शब्दों मे, सास्कृतिक तत्त्वो मे नवीनता या संशोधन आप-से-आप नही हो जाता है, उसके लिए सामाजिक आविष्कार या ज्ञान के आधार पर कुछ-न-कुछ प्रयत्न अवश्य ही करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, *आज भारत मे हम ग्रामीण सास्कृतिक तत्त्वों मे नवीनता* लाने या उन्हें सशोधित करने के लिए औद्योगिकीय उपकरणो, वैज्ञानिक ज्ञान आदि का उपयोग सचेत रूप मे कर रहे हैं। पचायत और सामुदायिक विकास कार्यक्रम हमारे उस *सचेत प्रयत्न का ही प्रमाण है।*

नवीनीकरण की **तीसरी विशेषता** यह है कि यह अपने मे एक चक्र को उत्पन्न करता है। इसका तात्पर्य यह है कि अगर किसी एक समाज मे नवीनीकरण की प्रक्रिया से सास्कृतिक तत्त्वों को नया या सशोधित रूप प्राप्त हो गया है तो वह नया या सशोधित तत्त्व दूसरे समाजों का भी ध्यान आकृष्ट कर सकता है जिसके फलस्वरूप दूसरे समाज के कुछ सास्कृतिक तत्त्वो मे नवीन या सशोधित रूप प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार दूसरे समाज का प्रभाव तीसरे पर पड सकता है। इसी प्रकार सास्कृतिक तत्त्वों मे परिवर्तन लाने या उन्हे सशोधित करने का एक चक्र चल पडता है।

नवीनीकरण की **चौथी विशेषता** यह है कि यह आवश्यक नही है कि नवीनीकरण मे केवल उन्ही सास्कृतिक तत्त्वों को नवीन रूप मिलता है या केवल उन्ही सांस्कृतिक तत्त्वो मे सशोधन होना है जो कि उसी समाज के सास्कृतिक तत्त्व हैं। नवीनीकरण के अन्तर्गत एक समाज दूसरे समाज या समाजो से एक या एकाधिक ऐसे सास्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण कर सकता है जो कि ग्रहण करने वाले समाज के लिए नवीन हों। दूसरे समाज से इस प्रकार नवीन सास्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करके भी नवीनीकरण किया जा सकता है।

पर इससे हमे वह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि ग्रहण करने का कार्य एक-तरफा होना है, *चाहे ग्रहण करने वाला समाज आदिम समाज ही क्यों न हो। आदिम* समाज जब सभ्य समाजो से कुछ ग्रहण करता है तो चूंकि उस ग्रहण कार्य से उस आदिम समाज मे कुछ स्पष्ट परिवर्तन या नवीनीकरण हो जाता है, इसलिए हम प्राय. यह निष्कर्ष

निकाल लेते हैं कि ग्रहण करने का कार्य एक-तरफा होता है। परन्तु यह निष्कर्ष गलत है। ग्रहण करने का कार्य दोनो ही पक्षों द्वारा होता है। हाँ, कोई समाज अधिक ग्रहण करता है और कोई समाज उससे कम। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद से पाश्चात्य संस्कृति के साथ भारतीयों का सम्पर्क बढता ही गया और हम लोगों ने उनसे अनेक बातों या सास्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण किया है जिसके फलस्वरूप हमारी वेश-भूषा, खाने-पीने की आदतो, भाषा, सगीत, जाति-प्रथा, सयुक्त परिवार, जीवन-दर्शन आदि जीवन के उल्लेखनीय पहलुओ मे अति नवीनता व सशोधन आज पनप गया है। परन्तु इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि यूरोपीय-अमेरिकी समाजों ने भारतीय समाज से कुछ भी ग्रहण नहीं किया है या हमारे साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने के बाद उनके सास्कृतिक तत्त्वों मे कोई नवीन बात या सशोधन नही हुआ है। ऐसा सोचना गलत है। अत. स्पष्ट है कि नवीनीकरण की प्रक्रिया एक-तरफा प्रक्रिया नही है। यह इस प्रक्रिया की पाँचवीं विशेषता है।

इस सम्बन्ध मे छठी या अन्तिम बात यह है कि नवीनीकरण की प्रक्रिया किसी एक या कुछ समाज तक ही सीमित नही है। यह तो सार्वभौम (universal) प्रक्रिया है। किन्हीं भी दो सस्कृतियो का रूप या स्वरूप बिलकुल एक-सा नही होता और कोई भी संस्कृति बिलकुल स्थिर नही होती। सस्कृति परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन जितने कारणो से घटित होता है उनमे नये सास्कृतिक तत्त्वो को स्वीकार करना या पुरानी रीतियो मे सशोधन करना या दूसरे समाज से कुछ तत्त्वों को ग्रहण करके अपने समाज मे नवीनता लाना भी सम्मिलित है। और यदि ऐसा है तो सास्कृतिक परिवर्तन व विकास के साधन के रूप मे नवीनीकरण की सार्वभौमता को भी हमे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

(4) संस्कृतिकरण
(Acculturation)

सास्कृतिक विकास की प्रक्रिया को कुछ विद्वानो ने सस्कृतीकरण के आधार पर भी समझाने का प्रयत्न किया है। जब सास्कृतिक तत्त्व या सकुल एक समूह से दूसरे समूह को फैल जाते हैं तो उसे प्रसार (diffusion) कहते हैं, परन्तु जब दूसरी सस्कृति के प्रभाव से एक सास्कृतिक समूह की सम्पूर्ण जीवन-विधि (life way) ही बदलने की प्रक्रिया मे होती है तो उसे सस्कृतीकरण कहते हैं। इसीलिए श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने स्पष्ट ही लिखा है कि प्रसार 'प्राप्त सास्कृतिक सप्रेषण' (achieved cultural transmission) है जबकि सस्कृतीकरण 'सास्कृतिक संप्रेषण की प्रक्रिया' (cultural transmission in process) है।[1] अत स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक संस्कृति के मूल प्रतिमान में, दूसरी संस्कृति के निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण, उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है; यद्यपि इस प्रकार

1. M. J. Herskovits, *op. cit*, p. 525.

परिवर्तित होने वाला सांस्कृतिक समूह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व या आधारभूत विशिष्टता को पूर्णतया नहीं खो देता है।

संस्कृतीकरण की परिभाषा सर्वप्रथम सन् 1936 मे सर्वश्री रेडफील्ड (Redfield), लिण्टन (Linton) तथा हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने स्पष्ट तथा क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत की थी। इन विद्वानो के अनुसार, "संस्कृतीकरण से उन घटनाओं (phenomena) को समझा जाता है जो कि तब होती हैं जबकि विभिन्न संस्कृति वाले व्यक्तियों के समूह एक-दूसरे के निकट व निरन्तर सम्पर्क मे आते हैं जिसके फलस्वरूप उन समूहों में से किसी एक के या दोनो के मूल सांस्कृतिक प्रतिमान मे परिवर्तन हो जाते हैं।"[1] यद्यपि इस परिभाषा की कटु आलोचना अन्य विद्वानों ने ही नहीं बल्कि उक्त लेखको ने भी है, फिर भी इसी परिभाषा का प्रयोग सर्वाधिक होता है।

इस सम्बन्ध मे श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि 'सांस्कृतिक परिवर्तन दो प्रकार के कारको और शक्तियों का परिणाम हो सकता है—प्रथम तो वे कारक और शक्तियाँ, जो कि आप-से-आप समुदाय मे उत्पन्न होती हैं जिनके फलस्वरूप आविष्कार होता है। दूसरे, सांस्कृतिक परिवर्तन विभिन्न संस्कृतियो के पारस्परिक या प्रभाव के कारण भी हो सकता है। यह दूसरी प्रक्रिया वह है जिसे कि मानवशास्त्र मे प्राय: प्रसार कहा जाता है।" श्री मैलिनोवस्की जिस प्रक्रिया को 'प्रसार' कहते हैं उसी को अमेरिका के अधिकतर मानवशास्त्री संस्कृतीकरण की प्रक्रिया मानते हैं।

कुछ भी हो, सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि दो विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के निरन्तर सम्पर्क के फलस्वरूप संस्कृति मे होने वाले परिवर्तन को संस्कृतीकरण कहते है। संस्कृतीकरण, जैसा कि श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने उचित ही कहा है, "एक प्रक्रिया है, न कि एक पृथक् घटना। जीवन की नवीन अवस्थाओं से अनुकूलन करने की इस प्रक्रिया को हम संस्कृतीकरण कहते हैं।" अत स्पष्ट है कि एक सांस्कृतिक समूह से दूसरे सांस्कृतिक समूह मे तत्त्वो (traits) के चले या फैल जाने को ही संस्कृतीकरण नही कहते हैं, संस्कृतीकरण तो विभिन्न संस्कृति वाले समूहों मे होने वाली अन्त.-क्रियाओं (interactions) की एक निरन्तर प्रक्रिया है।

इस सम्बन्ध मे संस्कृतीकरण (acculturation) और सात्मीकरण (assimilation) मे जो अन्तर है उसे भी समझ लेना चाहिए। एक अर्थ मे, जैसा कि अधिकतर मानवशास्त्री आज मानते हैं, इन दोनो मे केवल मात्रा (degree) का अन्तर है। सात्मीकरण से तात्पर्य संस्कृतीकरण की उस मात्रा (degree) से है जबकि एक संस्कृति अपने मूल स्वरूप को पूर्णतया खो बैठती है और दूसरे की संस्कृति मे इस प्रकार घुल-मिल जाती है कि उसका पृथक् या विशिष्ट अस्तित्व कुछ रह ही नहीं जाता। इसके विपरीत संस्कृती-

1. "Acculturation comprehends those phenomena which result when groups of individuals having different cultures come into continuous first-hand contact with subsequent changes in the original cultural patterns of either or both groups "—Redfield, Linton and Herskovits, 'Memorandum on the Study Acculturation', *American Anthropologist*, XXXVIII, 1936, p. 149.

करण की प्रक्रिया के अन्तर्गत एक-दूसरे के सम्पर्क मे आई हुई दो संस्कृतियों में से दोनो संस्कृतियां परस्पर के सास्कृतिक तत्त्वो से मिश्रित (mixed) तो हो जाती हैं, पर अपने पृथक् अस्तित्व या मूल स्वरूप को नही खो बैठतीं। और भी स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि संस्कृतीकरण से एक सस्कृति के मूल स्वरूप या तत्त्वों मे कुछ रूपान्तर (modification) तो अवश्य ही हो जाता है, फिर भी उसके विशिष्ट गुण वैसे ही बने रहते हैं और इस कारण उसे दूसरी सस्कृतियो से अलग पहचाना जा सकता है।

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण एक दो-तरफा प्रक्रिया (two-way process) है जिससे कि एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने वाली दोनों ही सस्कृतियाँ प्रभावित होती हैं। फिर भी ऐसी कुछ अवस्थाएँ (conditions) हैं जिनमें कि यह प्रक्रिया अधिक तेजी से क्रियाशील होती है। ये अनुकूल अवस्थाएँ या परिस्थितियां निम्नवत् हैं— (1) दोनो सास्कृतिक समूहो मे घनिष्ठ तथा निरन्तर (close and continuous) सम्पर्क हो। कभी-कभी के सम्पर्क से सस्कृतीकरण शायद ही सम्भव हो। (2) दोनों समूहों के सास्कृतिक प्रतिमानो मे कुछ-न-कुछ समानता हो। यदि दोनो मे अत्यधिक भिन्नता है तो उन दोनो के लिए परस्पर के घनिष्ठ सम्पर्क में आना सम्भव न होगा जिसके फलस्वरूप एक-दूसरे मे सास्कृतिक आदान-प्रदान रुक जायगा। (3) दोनो समूहो मे उद्देश्यो की समानता भी सस्कृतीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित कर सकती है।

वास्तव मे सस्कृतीकरण की प्रक्रिया का रहस्य मानव के ही विशिष्ट स्वभाव मे नेहित है। श्री हैलोवेल (Hallowell) ने उचित ही कहा है कि मानव-जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि अन्य पशुओ की भांति मानव की भी अनुकूलन करने की कोई सुस्थिर सीमा वशानुसक्रमण (heredity) के द्वारा निश्चित नहीं होती। मनुष्य अपने आविष्कार करने, सीखने तथा प्रतीको (symbols) के माध्यम से विचारो के आदान-प्रदान करने की क्षमता के कारण अनुकूलन की प्रक्रिया को किसी भी सीमा तक और किसी भी दिशा की ओर ले जा सकता है। मानव-अनुकूलन वास्तव मे सास्कृतिक अनुकूलन ही है। सस्कृतीकरण उसी अनुकूलन का एक पक्ष है।

संस्कृति का संगठन
(Integration of Culture)

पिछले पन्नो मे 'सस्कृति की प्रकृति' की विवेचना करते हुए हमने लिखा है कि स्कृति के अन्तर्गत अनेक खण्ड, इकाइयाँ या तत्त्व (element or trait) होते हैं। परन्तु ा इकाइयो या तत्त्वों को मनमाने ढग से इकट्ठा कर देने या जोड़ देने या मिला देने से ही ऽसी समाज की सस्कृति बन नही जाती। यहाँ तक कि इन इकाइयो को एक-दूसरे से र्णतया पृथक् करके अध्ययन करने पर सस्कृति के सम्बन्ध मे कोई यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही सकता। इसका कारण यह है कि ये सब इकाइयाँ, आकस्मिक या अव्यवस्थित नही ती हैं। सस्कृति के इन खडो या इकाइयो मे एक पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त-निर्भरता ती है जिसके कारण सस्कृति मे एक प्रकार का सन्तुलन पाया जाता है। इस सन्तुलन तात्पर्य यह है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइया पृथक्-पृथक् कार्य नहीं करतीं, अपितु

उनमे एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने की एक प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही ये सास्कृतिक तत्त्व एक सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाचे के अन्तर्गत व्यवस्थित ढंग से एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। सास्कृतिक इकाइयों या तत्त्वो की इसी व्यवस्थित सम्बद्धता को सस्कृति का सगठन (integration of culture) कहते है। यह सगठन कैसे सम्भव होता है और किस भाँति बना रहता है, इसकी चर्चा विभिन्न सम्प्रदायो या विद्वानों द्वारा अलग-अलग ढग से की गई है। इनमे प्रकार्यात्मक (functional), सरूपणात्मक (configurational) तथा लयात्मक (themetic) दृष्टिकोण (approaches) उल्लेखनीय हैं। अब हम इन्हीं के बारे मे विवेचना करेंगे।

प्रकार्यवाद या प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
(Functionalism or Functional Approach)

सस्कृति की अवधारणा (concept) को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए सर्वश्री मैलिनोवस्की तथा रैडक्लिफ-ब्राउन के प्रकार्यवादी दृष्टिकोण (functional point of view) की भी विवेचना आवश्यक है। श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार संस्कृति वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने शारीरिक तथा मानसिक और अन्तिम रूप में बौद्धिक अस्तित्व को बनाए रखने मे सफल होता है। मानव केवल एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी ही नही, अपितु एक सामाजिक प्राणी भी है और इन दोनों ही रूपों मे उसकी अनेक शारीरिक-मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किए बिना सामाजिक प्राणी के रूप मे मानव का अस्तित्व कदापि बना नहीं रह सकता। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव सस्कृति का निर्माता बनता है और उसके द्वारा अपने शारीरिक तथा मानसिक या बौद्धिक अस्तित्व को बनाये रखता है। दूसरे शब्दों मे, सस्कृति के विभिन्न अगो का विशिष्ट स्वरूप (form) ही नहीं होता बल्कि एक विशिष्ट कार्य (function) भी होता है। सस्कृति का कोई भी तत्त्व (trait) या इकाई बेकार की नही होती है, उससे मानव का कोई-न-कोई काम अवश्य ही निकलता है। किसी भी सास्कृतिक तत्त्व का अस्तित्व इसी बात पर निर्भर करता है कि वह मानव के किसी काम मे आ रहा है या नही। सक्षेप मे, यही श्री मैलिनोवस्की का प्रकार्यवाद है।

मानव की आवश्यकताएँ अनेक हैं जैसे कि आर्थिक आवश्यकताएँ, सामाजिक आवश्यकताएँ तथा मानसिक आवश्यकताएँ। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव धर्म, भाषा, कला, प्रविधि, साहित्य तथा अन्य भौतिक एव अभौतिक (material and non-material) वस्तुओं का, जिनके सम्पूर्ण योग या समग्रता को हम संस्कृति कहते हैं, सहारा लेता है। अगर हम ध्यानपूर्वक यह जानने का प्रयत्न करें कि इन सब चीजो का अर्थात् सस्कृति की विभिन्न इकाइयों का उद्‌भव क्योंकर हुआ तो हमे स्पष्टत: ज्ञात होगा कि इनमे से प्रत्येक इकाई की जड़ मानव की कोई न कोई आवश्यकता ही है। मानव अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही धनुष-बाण से लेकर बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग करता है, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक सस्थाओं को काम मे लगाता है, मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषा, धर्म,

कला आदि की सहायता लेता है। अत स्पष्ट है कि संस्कृति की इकाई का किसी-न-किसी रूप मे कोई-न-कोई कार्य (function) अवश्य ही होता है। अगर एक मोमबत्ती भी है तो उसका भी सास्कृतिक ढाचे मे या मानव की सम्पूर्ण जीवन-विधि में कोई-न-कोई कार्य होगा ही। यह मोमबत्ती रोशनी देने का काम करती है, यही मोमबत्ती धार्मिक जीवन का प्रतीक हो सकती है या किसी कम्पनी का व्यापार-चिह्न भी हो सकती है। किसी भी संस्कृति मे इस मोमबत्ती के समस्त कार्यों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस मोमबत्ती का सस्कृति की सभी इकाइयों या पक्षों से जो प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) है उसे ढूढ निकालें। इसी तरह जब हम संस्कृति की प्रत्येक इकाई का अन्य इकाइयो मे प्रकार्यात्मक सम्बन्ध मालूम कर लेंगे, तब कहीं हमें निश्चित रूप से पता चलेगा कि उस समूह के सदस्यो की सम्पूर्ण जीवन विधि को बनाये रखने मे वे सब इकाइया किस प्रकार सब मिलकर कार्य करती हैं।

अत स्पष्ट है कि सस्कृति की विभिन्न इकाइयो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व न तो होता है और न ही होना सम्भव है। इनमे से प्रत्येक का प्रत्येक के साथ एक प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध होता है। परन्तु यह सम्बन्ध क्यो होता है ? इसका सरल उत्तर यह है कि मानव की आवश्यकताएँ भी अलग-अलग नही हैं, वे एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं क्योंकि इन सबका उद्भव-स्थान एक ही है और वह उद्भव-स्थान है मानव स्वयं। क्योकि मनुष्य स्वयं इन सब आवश्यकताओ का स्रोत है, इसलिए ये सब आवश्यकताएँ एक-दूसरे से जुडी हुई हैं और इसलिए इन आवश्यकताओ को पूरा करने के साधन के रूप मे काम मे आने वाली सस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ या पक्ष भी अन्त सम्बन्ध से बँधे हुए हैं। इस अन्त सम्बन्ध का आधार मानव की प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाएँ तथा आवश्यकताएँ हैं। किसी भी सस्कृति के सगठन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानव की उपरोक्त प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाओ और आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध करना है।

इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की का विश्वास है कि सस्कृति का कोई भी तत्त्व, अंग या इकाई ऐसी नही हो सकती जो कुछ भी काम नही देती अर्थात् जो कार्यहीन (functionless) है। आपका कथन है कि सस्कृति का प्रत्येक तत्त्व (trait) किसी-न-किसी कार्य को करने के लिए हुआ करता है और उसका अस्तित्व उसी समय तक बना रहता है जब तक वह सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था मे कोई-न-कोई कार्य करता रहता है। किसी भी सस्कृति के संगठन का, जैसा कि हम अभी ऊपर बता चुके हैं, एक आधारभूत उद्देश्य मानव-जीवन की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य करना है। यदि यह सच है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी भी सास्कृतिक तत्व का कार्यविहीन अस्तित्व (functionless survival) हो। चूकि सम्पूर्ण जीवन-विधि या जीवन-व्यवस्था को बनाये रखने मे प्रत्येक सास्कृतिक तत्त्व का कुछ-न-कुछ योगदान अर्थात् कोई-न-कोई कार्य (function) होता है; इसलिए संस्कृति के प्रत्येक तत्त्व (trait) का हर दूसरे तत्त्वो के साथ एक आन्तरिक व प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है जिसके फलस्वरूप ये असंख्य सास्कृतिक तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् नहीं, बल्कि एक-दूसरे से जकड़े हुए या सम्बन्धित होते हैं और सब मिलकर संस्कृति को एक समग्रता (wholeness) प्रदान करते हैं। इस

प्रकार, श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार, सास्कृतिक संगठन (cultural integration) का आधारभूत कारण उस संस्कृति की प्रत्येक इकाई द्वारा किया जाने वाला कार्य (function) है। सास्कृतिक सगठन के सम्बन्ध मे यही श्री मैलिनोवस्की का प्रकार्यवादी सिद्धान्त (functional theory) या दृष्टिकोण है। निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार संस्कृति मानव की प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओ द्वारा जनित मानव का आविष्कार है। मानव का शारीरिक-मानसिक अस्तित्व (bio-psychic survival) जिन साधनो से बना रहता है, उन साधनो की समग्रता को ही संस्कृति कहते हैं। श्री मैलिनोवस्की ने मनुष्य की सात आधारभूत प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं (biological needs) का उल्लेख किया है। वे हैं—शरीर पोषक (metabolic), उत्पादक (reproductive), शारीरिक आराम (bodily comforts), सुरक्षा (safety), गति (movement), वृद्धि (growth), तथा स्वास्थ्य (health) सम्बन्धी आवश्यकताएँ। इनमें से प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति मानव-निर्मित विभिन्न सास्कृतिक तत्त्वों के द्वारा होती है। दूसरे शब्दो मे, इन सात आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति विविध सास्कृतिक तत्त्व एकसाथ मिलकर या संयुक्त रूप में कार्य करते हुए करते हैं। यह सच है कि ये सास्कृतिक तत्व या उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन प्रत्येक समाज मे एक-से नही होते; प्रत्येक समाज मे इन सास्कृतिक तत्त्वों के प्रकार तथा स्वरूप भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं और इसीलिए प्रत्येक समाज की संस्कृति का गठन या ढांचा या रूप भी अलग-अलग होता है। रूप या स्वरूप कुछ भी हो, पर मानव की उपरोक्त सात महत्त्वपूर्ण शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति की योजना प्रत्येक संस्कृति मे पाई जाती है। योजना की सफलता इसकी विभिन्न इकाइयो के संगठन (integration) पर निर्भर है। अगर विभिन्न इकाइयां बिखरी हुई हैं, एक-दूसरे से असंबद्ध या पृथक् हैं तो कोई भी योजना कदापि सफल नही हो सकती। उसी प्रकार संस्कृति की विभिन्न इकाइयां भी एक-दूसरे से सबद्ध रहती हैं, उनमें एक प्रकार का संगठन होता है क्योकि सगठित रूप मे मानव की महत्त्वपूर्ण शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओ की नियमित पूर्ति करना ही इन तत्त्वो का प्रमुख कार्य और इनके अस्तित्व का आधार है। अपने-अपने कार्य मे लगे हुए इन सब सास्कृतिक तत्त्वो के समग्र रूप को ही, श्री मैलिनोवस्की के अनुसार, संस्कृति कहते हैं। इनके कार्यों से पृथक् करके इन सास्कृतिक तत्त्वो के या समग्र संस्कृति के अस्तित्व की कल्पना करना भी मूर्खता है। चूंकि श्री मैलिनोवस्की सास्कृतिक तत्त्वो के कार्यों (functions) पर अत्यधिक बल देते हैं, इस कारण उनके दृष्टिकोण को प्रकार्यवाद (functionalism) कहते हैं।

श्री मैलिनोवस्की के दृष्टिकोण मे सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि आपने मनुष्य को आवश्यकताओ और इच्छाओं का बंडल मात्र मान लिया है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना मानव की उच्चतर भावनाओ और आदर्शों की अवहेलना करना है।

प्रकार्यवाद के दूसरे प्रमुख प्रवर्तक श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) थे। आपने श्री मैलिनोवस्की की भांति सास्कृतिक तत्वो के कार्यों पर अत्यधिक बल

दिया। परन्तु श्री मैलिनोवस्की की तरह श्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने सांस्कृतिक तत्त्वों के इन कार्यों के द्वारा 'व्यक्ति' के अस्तित्व पर अधिक ज़ोर न देकर 'समाज' के अस्तित्व को अधिक प्रधानता दी। आपके मतानुसार सांस्कृतिक तत्त्व जो कार्य करते रहते हैं उनसे अन्तिम रूप मे समाज का ही अस्तित्व बना रहता है या बना रहना सम्भव होता है। आपने अपने विचार को और भी स्पष्ट करने के लिए सास्कृतिक संगठन की सावयवी संगठन (organic integration) से तुलना की है।[1] एक सावयव (organism) अनेक कोष्ठों (cells) की एक संगठित तथा जटिल व्यवस्था होती है और इन कोष्ठों से ही सावयव या शरीर के विभिन्न अंग बनते हैं। इन अंगों मे से प्रत्येक अंग की सम्पूर्ण सावयवी व्यवस्था (organic system) मे एक या कुछ विशेष कार्य होता है। कोई भी यह नही कह सकता कि इनमें से कोई अंग किसी प्रकार का भी कार्य नहीं करता। प्रत्येक अंग का कार्य बँटा हुआ है, फिर भी ये अंग एक-दूसरे से परे नही हैं, प्रत्येक अग अपने कार्यों को उचित ढंग से करने के लिए दूसरे अगों से सम्बन्धित तथा उनपर आश्रित होता है। इस प्रकार कार्यों के आधार पर शरीर के विभिन्न अंगो मे अन्त सम्बन्ध तथा अन्तः-निर्भरता हुआ करती है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर या सावयव में एक प्रकार का सगठन पाया जाता है। जब तक सावयव जीवित है तब तक यह संगठन भी अनिवार्य है। साथ ही, यह स्मरण रहे कि सम्पूर्ण सावयव या कोष्ठ इनके कार्यों के बिना वास्तव मे अर्थहीन ही है। जो बात सावयव और इसके विभिन्न कोष्ठों के सम्बन्ध मे सच है, वही बात संस्कृति, उसके तत्त्वों और उनमे पाये जाने वाले सगठन के सम्बन्ध में भी सच है।

प्रकार्यवादी लेखक सस्कृति के कार्यों पर अधिक बल देने की धुन मे इतना मस्त रहे कि इनकी कृतियों में सस्कृति के अन्य पक्षो की अवहेलना हुई है। इस कारण इनके सिद्धान्त मे पर्याप्त सत्यता होते हुए भी वह संस्कृति की प्रकृति व विशेषताओं का केवल आशिक विश्लेषण तथा निरूपण है।

संरूपणात्मक दृष्टिकोण
(Configurational Approach)

कुछ विद्वानो ने सस्कृति को एक सरूपण (configuration) के रूप मे देखा है। उदाहरणार्थ, श्री रेल्फ लिण्टन (Ralph Linton) के मतानुसार संस्कृति सीखे हुए व्यवहारो का एक सरूपण है और उन व्यवहारों का फल है जिसके तत्त्व एक विशेष समुदाय के सदस्यों मे पाये जाते हैं तथा उनके द्वारा प्रसारित किये जाते हैं। संस्कृति के ये तत्त्व आपस मे इस प्रकार संगठित होते हैं कि ये सब तत्त्व एक-साथ मिलकर एक समाज की सस्कृति को एक विशिष्ट 'रूप' या स्वरूप प्रदान करते हैं। यह इसलिए होता है कि प्रत्येक समाज में सीखे हुए व्यवहारो की एक परम्परा होती है। यह परम्परा प्रत्येक

---

1. A. R. Radcliffe-Brown, 'On the Concept of Function in Social Science', *American Anthropologist*, Vol. 37, 1935, pp. 394 395.

समाज में अलग-अलग होती है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की संस्कृति को अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ प्राप्त हो जाती हैं और उन्हीं विशेषताओं के आधार पर एक समाज की संस्कृति को हम दूसरे से अलग कर सकते हैं।

संरूपणात्मक दृष्टिकोण से संस्कृति की विवेचना प्रोफेसर रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) के अध्ययनों तथा कृतियों में भी देखने को मिलती है। वास्तव में संस्कृति के संरूपण की चर्चा प्रो० बेनेडिक्ट ने संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) की अवधारणा को विकसित करते हुए ही की है और इस अवधारणा की लोकप्रियता प्रो० बेनेडिक्ट की कृतियों के कारण ही हुई है। *आपका कथन है कि एक संस्कृति में संगठन* (integration) इसकी अन्तर्वस्तु (content) के विभिन्न खण्डों का एक स्थायी या अर्द्ध-स्थायी (semi-permanent) रूप या डिजाइन में व्यवस्थित हो जाने पर उत्पन्न होता है। प्रो० बेनेडिक्ट के मतानुसार प्रत्येक संस्कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण तथा बड़े खण्ड (segment) होते हैं। इन खण्डों में भी छोटे-छोटे उपखण्ड होते हैं। ये उपखण्ड *एक विशिष्ट ढंग या 'स्टाइल' (style) से परस्पर संयुक्त होकर या मिलकर एक* बड़े खण्ड को एक विशिष्ट रूप या डिजाइन प्रदान करते हैं और इन बड़े खण्डों के ये विशिष्ट रूप या डिजाइन परस्पर मिलकर सम्पूर्ण संस्कृति के डिजाइन को निर्धारित करते हैं। इसे ही संस्कृति की सम्बद्ध स्थिति या संरूपण (configuration) कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रो० बेनेडिक्ट के मतानुसार संस्कृति के इन महत्त्वपूर्ण और बड़े-बड़े खण्डों, जो कि अन्य अनेक उपखण्डों का सम्बद्ध रूप है, को ही संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रतिमानों के मिलने से एक विशाल प्रतिमान बन जाता है जो कि *सम्पूर्ण संस्कृति होती है। इस प्रकार अनेक प्रतिमानों से सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माण* होता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में, प्रो० बेनेडिक्ट के अनुसार यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि संस्कृति-प्रतिमान या सम्पूर्ण संस्कृति अनेक भागों (parts) से मिलकर बनते हैं फिर भी इन भागों के केवल *मात्र योग से ही न तो संस्कृति संकुल का निर्माण होता है और न ही* संस्कृति का। सम्पूर्ण संस्कृति या संकुल तो इन भागों की एक विशिष्ट व्यवस्था (unique arrangement) तथा अन्तःसम्बन्ध का ही परिणाम होता है, जिसके फलस्वरूप एक *नवीन चीज की सृष्टि होती है।*[1] *जिस प्रकार ईंटों के योग मात्र से ही मकान नहीं बनता* है बल्कि इन ईंटों की एक विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्तःसम्बन्ध से ही एक नई चीज का निर्माण होता है और निर्माण हो जाने के बाद उसे ईंट या ईंटों का ढेर या एकत्रीकरण नहीं कहते बल्कि 'मकान' के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों की विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्तःसम्बन्ध से जिस नवीन चीज की सृष्टि होती है उसे तत्त्वों

---

1 "The whole, as *modern science is insisting in many fields, is not merely* the sum of all its parts, but the result of a unique arrangement and interrelation of the parts that has brought about a new entity."—Ruth Benedict, *Patterns of Culture*, p 47.

का योग मात्र नहीं बल्कि संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं और इन सस्कृति-प्रतिमानो से बने हुए विशाल प्रतिमान को संस्कृति कहते हैं।

उपरोक्त आधार पर ही प्रो० बेनेडिक्ट ने लिखा है कि, "व्यक्ति की भाति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान है। प्रत्येक सस्कृति के अन्तर्गत ऐसे विशिष्ट लक्ष्यों या उद्देश्यों का जन्म होता है जो कि अन्य प्रकार के समाज मे न पाये जाते हो। इन उद्देश्यो का पालन करते हुए प्रत्येक समाज अपने अनुभव का उत्तरोत्तर एकीकरण करता जाता है जिसके फलस्वरूप व्यवहार के विभिन्न मदो (item) मे अधिकाधिक एकरूपता उत्पन्न हो जाती है।[1]

यहां पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रत्येक सस्कृति मे अनेक सास्कृतिक तत्त्व समान होते हैं, फिर उन तत्त्वो के बनने वाले संस्कृति-प्रतिमान एक-से क्यो नही होते हैं। इस प्रश्न को अति सरल उत्तर यह है कि सास्कृतिक तत्त्व एक-से होते हुए भी उनमे सम्बद्ध या संगठित (integrate) होने का तरीका या डिजाइन या रूप एक-सा नही होता है, जिसके कारण सस्कृति-प्रतिमान का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार के सास्कृतिक तत्त्वो (culture traits) को अपनी आवश्यकताओ, अनुभव या समझ के अनुसार प्रत्येक समाज के सदस्य विभिन्न रूप मे सम्बद्ध या सगठित करते हैं जिसके फलस्वरूप सस्कृति-प्रतिमान का डिजाइन या रूप भी प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार का ईंट, सिमेंट आदि दो-तीन अलग-अलग राज (mason) को दे दीजिए; पर एक राज उस सामान से जिस डिज़ाइन का कमरा बनायेगा, यह जरूरी नहीं कि दूसरा या तीसरा राज भी उसी डिजाइन का कमरा बनायेगा; प्रत्येक के डिजाइन मे कुछ पृथकता, भिन्नता या विशेषता होगी ही। उसी प्रकार प्रत्येक समाज मे सास्कृतिक तत्त्वो से बनने वाले सस्कृति-प्रतिमान के डिजाइन मे या उनके सगठन (integration) मे भिन्नता अवश्य ही होती है, परन्तु हां, सगठन प्रत्येक सस्कृति मे होता अवश्य है।

प्रो० बैनेडिक्ट का कथन है कि सस्कृति मे यह सगठन (integration) प्रत्येक सस्कृति मे अन्तर्निहित एक अन्दरूनी प्रवृत्ति (tendency) या झुकाव (trend) के कारण ही होता है। आपने इस प्रवृत्ति या झुकाव को सस्कृति की 'आत्मा' (genius) कहकर पुकारा है। सस्कृति की सम्बद्ध-स्थिति (configuration) सस्कृति की आत्मा से ही बनती है। श्रीमती बेनेडिक्ट का यह विश्वास था कि सस्कृति की आत्मा दो प्रकार की हो सकती है—या तो यह आत्मा 'अपोलोनियन' (Apollonian) हो सकती है या 'डायोनीसियन' (Dionysian) भी हो सकती है। 'अपोलोनियन' शब्द 'अपोलो'

---

1 "A culture like individual, is a more or less consistent pattern of thought and action Within each culture there come into being characteristic purposes not necessarily shared by other types of society In obedience to these purposes, each people further and further consolidate its experience, and in proportion to the urgency of these drives the heterogeneous items of behaviour take more and more congruous shape."—*Ibid.*, p. 46.

(Apollo) से बना है। अपोलो ग्रीसवासियो के कृपालु तथा सुखदायक सूर्य-देवता का नाम है। अत. स्पष्ट है कि अपोलोनियन-संस्कृति से श्रीमती बेनेडिक्ट का अभिप्राय ऐसी संस्कृति से है जिसमे शान्त-गुण प्रधान हो जिसके कारण संस्कृति के विभिन्न भागों मे एक प्रकार का सगठन बना रहता है। इसके विपरीत, 'डायनीशियन' शब्द डायोनीसियस (Dionysius) से *बना है। डायोनीसियस ग्रीसवासियो के कष्टदायक, मदमस्त* देवता का नाम है। इस प्रकार डायोनीशियन आत्मा वाले सस्कृति मे संगठन भोग-विलास तथा अहिंसा के आधार पर होगा। प्रो० बेनेडिक्ट ने इन दो प्रकार की आत्माओं के आधार पर विभिन्न सस्कृति के विभिन्न अंगों या पक्षों मे पाये जाने वाले सगठन (integration) को समझाया है।

उपर्युक्त दो प्रकार की 'आत्माओं' की प्रकृति को दो विरोधी संस्कृति-प्रतिमानो की विवेचना से अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। ये दो सस्कृतियाँ हैं—प्युब्लो *(Pueblo) सस्कृति* तथा अलोरेस (Alorese) *सस्कृति।* अमेरिका के दक्षिण-पश्चिमी भाग मे रहने वाली प्युब्लो प्रजाति की सस्कृति अपोलोनियन सस्कृति का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस सस्कृति मे एक प्रकार का सयम तथा व्यवस्था देखने को मिलती है और इसके सदस्य अपने व्यवहार मे किसी भी प्रकार से उद्वेगात्मक आधिक्य (emotional excess) को प्रकट नही करते हैं और शान्तिपूर्ण ढंग से सह-योगिता के सिद्धान्त को *अपनाते हुए अपनी आवश्यकताओं* की पूर्ति मे लगे रहते हैं। उनका विश्वास है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक निश्चित स्थिति तथा कार्य है और इस विषय मे सचेत रहना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। जब तक समाज का प्रत्येक सदस्य परम्परा द्वारा निर्धारित कार्यों को उचित ढग से करता रहता है, तब तक सबकी प्रगति निश्चय ही होती रहती है, क्योंकि समस्त का या सबका प्रत्येक से अन्त.सम्बन्ध अति घनिष्ठ तथा परस्पर आदान-प्रदान का है। प्रत्येक को सबसे और सबको प्रत्येक से बहुत-कुछ मिलता रहता है। प्युब्लो लोगो का विश्वास है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति सहयोग *द्वारा अपने-अपने कार्यों को करते रहेंगे तब तक वर्षा के देवता वर्षा लायेंगे,* पेड़-पौधों के देवता फसल को उगायेंगे और उसे पकायेंगे और आनन्द-दायक देवता उनके आमोद-प्रमोद के साधनो को जुटायेंगे। परन्तु अगर किसी ने अपने कार्यों को ठीक से नही किया तो यह सब-कुछ नही होगा और उनका जीवन विघटित हो जायगा। पूजा, प्रार्थना, उत्सव, खेती, मकान आदि सभी वस्तुओ मे प्युब्लो लोग अपने सहयोगपूर्ण या सहकारी उत्तरदायित्व को भूल नही जाते हैं।

इनके विपरीत इण्डोनेशिया (Indonesia) की अलोर जनजाति की सस्कृति मे समस्त रजोगुणों का समावेश मिलता है। इनका प्रदेश जगल का है और उनमे ये लोग बगीचा लगाते है। स्त्रियों का प्रमुख कार्य इन बगीचों मे काम करना है जबकि पुरुष धन के लेन-देन तथा सूद *इकट्ठा करने के काम मे* अपने को अत्यधिक व्यस्त रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यही प्रयत्न करता है कि वह उधार देकर दूसरो को अपने पंजे मे कर ले। अपनी सम्पत्ति का दूसरो के सामने दिखावा करने की प्रवृत्ति भी इनमे अत्यधिक होती है। इसी *कारण विवाह, जन्म, मृत्यु आदि* के अवसरो पर वे *धन की खूब बर्बादी करते*

है। आमोद-प्रमोद तथा उत्सवों मे भी समस्त वासनाओं को नंगा रूप दिया जाता है और अनेक प्रकार के हुरदंगे मचाये जाते हैं। इन लोगों मे धन का सचय अपनी ही जाति के दूसरे लोगो पर धाक जमाने के उद्देश्य से किया जाता है। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन मे पति-पत्नी तक मे कोई सहयोग की भावना नही होती है। इसके फलस्वरूप पारिवारिक तनाव इनके समाज मे एक सामान्य घटना बन जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि बच्चो के व्यक्तित्व का विकास भी असबद्ध रूप मे होता है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में असुरक्षा (insecurity) का भय सदा घेरे रहता है और यही भय लोगो को एक-दूसरे से संबद्ध करता है। दूसरे शब्दों मे, व्यक्ति के जीवन मे पाये जाने वाली असुरक्षा ही अलोरेस संस्कृति मे पाये जाने वाले संगठन का आधार है।

लयात्मक दृष्टिकोण या सांस्कृतिक लय
(Themetic Approach or Culture Theme)

सस्कृति के सगठन को समझाने के लिए प्रकार्यात्मक तथा सरूपणात्मक दृष्टिकोणो (approaches) के अतिरिक्त एक और दृष्टिकोण लयात्मक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण सरूपणात्मक दृष्टिकोण को यथार्थ (exact) मानने से इन्कार करता है और सास्कृतिक लय की अवधारणा को विकसित करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सास्कृतिक लय मे ही सास्कृतिक सगठन का वास्तविक रहस्य छिपा हुआ है। यह दृष्टिकोण प्रो० बेनेडिक्ट के विचारो की आलोचना से आरम्भ होता है। जैसा कि श्री मोरिस ओपलर (Morris Opler) का कथन है, "डाक्टर बेनेडिक्ट की व्याख्या मे अनेक कमियाँ हैं जिन्हे कि उचित ढग से कभी भी नही समझाया गया है।" आपके मतानुसार अगर हम प्रो० बेनेडिक्ट के सिद्धान्तो को अपनायें तो हम यही पायेंगे कि उस दृष्टिकोण से अधिकतर सस्कृति असगठित ही है, क्योंकि प्रो० बेनेडिक्ट ने सास्कृतिक सगठन (cultural integration) के केवल दो सम्भावित आधारो या आत्माओ—अपोलोनियन और डायोनीशियन—को निश्चित कर दिया है। यह सास्कृतिक सगठन की अति सकुचित व्याख्या है क्योंकि संस्कृति के विभिन्न पक्षो या भागो का सगठन केवल इन दो आधारों पर ही नही, अन्य अनेक आधारो पर हो सकता है और होता भी है। इस कारण सस्कृतियो के विश्लेषण, निरूपण तथा तुलना मे यदि प्रो० बेनेडिक्ट की अवधारणा को हम उपयोगी तथा व्यावहारिक बनाना चाहते हैं तो उसे और भी विस्तृत रूप मे प्रयोग करना होगा।

प्रो० बेनेडिक्ट के सिद्धान्त की कमी को दूर करने के लिए श्री ओपलर ने अपने सास्कृतिक लय (culture theme) के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके मतानुसार सास्कृतिक सगठन के प्रेरक-कारण केवल दो ही नहीं, अनेक हो सकते हैं जो कि विभिन्न सस्कृतियो मे अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक सस्कृति मे मनुष्य के व्यवहार मे कुछ-न-कुछ विशेषता होती ही है और उसका कारण सस्कृति मे पाये जाने वाले लय (themes) होते है। लय वे सामान्य प्रेरणाएँ (general motivations) हैं जिनके कारण एक समाज के सदस्यो मे विभिन्न प्रकार के विशिष्ट व्यवहार पाये जाते हैं। श्री ओपलर के शब्दों

में, "लय, कहा हुआ या माना हुआ एक वह स्वयसिद्ध सिद्धान्त या स्थिति है जो कि प्राय: व्यवहार को नियन्त्रित करती या क्रिया को प्रेरणा प्रदान करती है और जो एक समाज मे आप-से-आप मान्य हो या खुले-आम विकसित की गई हो।"[1] सास्कृतिक लय कोई विशेष 'टाइप' नही है जैसा कि श्रीमती बेनेडिक्ट के सिद्धान्त से पता चलता है। इसकी अभिव्यक्ति श्री ओपलर के अनुसार, प्रत्येक सस्कृति मे अलग होती है क्योकि लय व्यवहार करने के वे सामान्य तरीके हैं जो कि एक समाज मे फैले होते हैं। दूसरे शब्दों मे, एक समाज मे फैले हुए व्यवहार करने के तरीको मे अन्तर्निहित प्रेरक-कारण या बहाव या धारा को उस संस्कृति का लय कहते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक सगीत की एक विशिष्ट लय होती है जिसके आधार पर उस सगीत के विभिन्न अगों मे एक शृखला या सगठन बना रहता है और सम्पूर्ण सगीत को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रत्येक सस्कृति मे एक या कुछ लय होती है, जो कि उस संस्कृति के विभिन्न अगों को सगठित करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री ओपलर का सिद्धात श्रीमती बेनेडिक्ट के सिद्धात से अधिक व्यापक है।

सास्कृतिक लय का एक उत्तम उदाहरण श्री ओपलर ने छिरिकाहुआ अपाछी (Chiricahua Apache) सस्कृति का प्रस्तुत किया है।[2] इस संस्कृति का एक लय इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—"पुरुष स्त्रियों की तुलना मे शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी विषयों में अधिक श्रेष्ठ होते हैं।' इस लय की उपस्थिति छिरिकाहुआ लोगो के अधिकाश व्यवहारो मे देखी जा सकती है। मां के गर्भ का बच्चा अगर अधिक सजीव है तो वहां के लोग यह भविष्यवाणी करते हैं कि गर्भ का वह बच्चा लड़का है। उसी प्रकार वहां स्त्रियों के लिए यह कहा जाता है कि वे जल्द ही उत्तेजित हो जाती हैं और उनके मन को कोई स्थिरता भी नही होती है, इस कारण वे ऐसी बातें कह सकती हैं या ऐसे काम कर सकती हैं जिससे पारिवारिक कलह उत्पन्न हो। उनकी इच्छा-शक्ति भी पुरुषो की अपेक्षा कम होती है और उनमे काम-वासनाएं भी अधिक होती हैं। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रहे कि उपरोक्त निर्णय या मत केवल पुरुषो का ही नही है बल्कि स्त्रियां भी उसे स्वीकार करती हैं और उसी प्रकार का व्यवहार भी करती हैं।

छिरिकाहुआ लोगो के सामाजिक व राजनैतिक जीवन मे भी उपरोक्त सास्कृतिक-लय की छाप सुस्पष्ट है। सभी जनजातीय नेता पुरुष हैं और सभी प्रमुख पदों (posts) पर पुरुष ही नियुक्त हैं। रास्ता चलते समय पुरुष स्त्रियो से आगे चलते हैं; भोज (feasts) के अवसरों पर पुरुषो के लिए विशेष स्थान की व्यवस्था की जाती है जबकि स्त्रियां जहां कही भी जगह मिलती है वही बैठकर भोजन कर लेती हैं। अगर घर पर अतिथि

1 A theme is defined as "a postulate or position, declared or implied, and usually controlling behaviour or stimulating activity, which is tacitly approved or openly promoted in a society"—Morris Opler, 'Some Recently Developed Concepts Relating to Culture', *Southwestern Journal of Anthropology*, 4, 107-122 (1948), p 120

2. Morris E. Opler, 'Themes as Dynamic Forces in Culture,' *American Journal of Sociology*, No 3 Nov. 1945, pp. 192—206.

(guests) आ जाते हैं तो पुरुष-अतिथि का प्रत्येक विषय मे अधिक ध्यान रखा जाता है। धार्मिक कृत्यों से स्त्रियो को सावधानी से दूर रखा जाता है; रजस्वला (menstruating) स्त्रियों को विशेषकर *अपवित्र और अयोग्य माना जाता है*। इतना ही नहीं, मनोरंजन का क्षेत्र भी उपरोक्त सास्कृतिक लय के प्रभावो से अप्रभावित नहीं है। स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवो मे नाच या गीत नही गा सकती है। उन्हें अन्य सामूहिक खेल (game) से भी यह डर दिखाकर दूर रखा जाता है कि उनमे सम्मिलित होने पर वे अंधी हो जायेंगी। अत: स्पष्ट है कि छिरिकाहुआ लोगो मे यह सास्कृतिक लय 'कि शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी विषयो मे पुरुष स्त्रियो से श्रेष्ठ है' उनकी सस्कृति के विभिन्न पक्षो मे फैला हुआ है और इसी के कारण इन पक्षो मे सगठन है।

श्री ओपलर ने यह भी कहा है कि यद्यपि कुछ सस्कृतियों मे केवल एक ही लय (theme) सम्पूर्ण सस्कृति को नियत्रित करता है, फिर भी इसे अपवाद (exception) ही समझना चाहिए, न कि नियम। नियम तो यह है कि प्रत्येक या अधिकतर सस्कृतियो मे एकाधिक या अनेक लय देखने को मिलते हैं। इन सास्कृतिक लयो के सन्तुलन और अन्त क्रिया से ही, श्री ओपलर के अनुसार, सस्कृति मे सगठन (integration) उत्पन्न होता है।

संस्कृति और व्यक्तित्व
(Culture and Personality)

व्यक्तित्व की परिभाषा
(Definition of Personality)

श्री डीवर (Dever) ने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक और सामान्य रूप से 'व्यक्तित्व' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयोग हुआ है, परन्तु सबसे अधिक व्यापक और सन्तोषजनक परिभाषा के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति के उस शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का सुसगठित और गतिशील सगठन है जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियो के साथ रोज के सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान मे एक-दूसरे के प्रति प्रदर्शित करते है।[1]

श्री किम्बल यग (Kimball Young) के शब्दो मे, "व्यक्तित्व एक व्यक्ति की आदतो, मनोवृत्तियो, लक्षणो तथा विचारो का एक ऐसा सगठित योग (integrated body) है जो कि बाहरी तौर पर तो विशिष्ट एव सामान्य कार्यों व स्थितियो (roles and statuses) के रूप मे तथा आन्तरिक रूप से उसकी आत्म-चेतना (self-consciousness), 'अह' (self) की धारणा, विचारो, मूल्यो तथा उद्देश्यो के चारो ओर सगठित

1. "Personality is a term used in several senses, both popularly and psychologically, the most comprehensive and satisfactory being the integrated and dynamic organization of the physical, mental and social qualities of the individual as that manifests itself to other people, in the give and take of social life"—Dever, *Dictionary of Psychology*.

होता है ...।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के अन्तर्गत कुछ बाहरी और कुछ आन्तरिक तत्त्वों का समावेश होता है। इन बाह्य तथा आन्तरिक तत्त्वों या लक्षणों के संगठित रूप को ही हम व्यक्तित्व कहते हैं।

प्रिंस मार्टन (Prince Morton) समस्त प्राणीशास्त्रीय गुणों तथा अर्जित प्रवृत्तियों के सम्पूर्ण योग को ही 'व्यक्तित्व' की संज्ञा देते हैं।

व्यक्तित्व और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रकृति
(Nature of Relationship between Culture and Personality)

संस्कृति और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में श्री जॉन गिलिन (*John Gillin*) ने तीन मुख्य बातों का उल्लेख किया है—[2] (1) जन्म के बाद मानव-शिशु एक मानव-निर्मित पर्यावरण (man made environment) में प्रवेश करता और उससे घिर जाता है। इस पर्यावरण के अन्तर्गत औजार, मकान, फर्नीचर आदि मानव-निर्मित भौतिक वस्तुएं ही नहीं, *अपितु प्रथा, धर्म, भाषा, विचार, ज्ञान आदि* अभौतिक वस्तुएं भी आती हैं। इनकी संख्या, प्रयोग और प्रकृति उसी समाज की संस्कृति द्वारा निर्धारित होती है, और इनका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता ही है, क्योंकि व्यक्ति उन्हीं से घिरा होता है। (2) संस्कृति व्यक्ति को एक निश्चित ढंग से, प्रतिक्रिया करने को प्रेरित करती है। यह सच है कि व्यक्ति कुछ व्यवहारों को प्रयत्न तथा भूल (trial and error) की विधि से सीखता है, पर अधिकतर सामाजिक परिस्थितियों में व्यवहार करने के समाज द्वारा मान्य या संस्थागत कुछ तरीके (institutionalized *modes of behaviour*) होते हैं; *और इनका भी निर्धारण संस्कृति ही करती है।* व्यक्ति को अपनी आधारभूत सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, संस्कृति द्वारा निर्धारित इन तरीकों को अपनाना ही पड़ता है, कालान्तर में उसके व्यक्तित्व के निश्चित *लक्षण बन जाते हैं। इन्हीं संस्थागत तरीकों के आधार पर बच्चे के प्रति वयस्क लोग कुछ* निश्चित प्रतिक्रिया करते हैं, जैसे छोटे बच्चे की उंगली उसके मुंह से निकाल ली जाती है; शौच के लिए बच्चे को ठीक स्थान पर बैठाया जाता है; सोचने के लिए बायें हाथ के इस्तेमाल की बात बताई जाती है, और खाने के लिए दाहिने हाथ को प्रयोग में लाना सिखाया जाता है, काटे, छुरी, चम्मच जैसे खाने-पीने के बर्तनों को बच्चे के हाथ में पकड़ाकर उनका सही इस्तेमाल बताया जाता है, और भाषा का उचित प्रयोग समझाया जाता है, इत्यादि। संस्कृति इसी प्रकार कितने ही व्यवहार बच्चे को सिखा देती है, और उन व्यवहारों के सम्बन्ध में *व्यक्ति को कुछ सोचना नहीं पड़ता, क्योंकि वे अनुभवसिद्ध*

---

1. "*We define personality* as the more or less integrated body of habits, attitudes, traits and ideas of an individual as these are oganised externally into specific and general roles and statuses and internally around self-consciousness and the concept of the self, and around the ideas, values and purposes which are related to motives, roles and status" —Kimball Young.

2. John Gillin, *The Way of Man*, p. 248.

होते हैं। साथ ही, चूंकि इन सब व्यवहारो के बीच वह पैदा होता और पलता है और चूंकि इन सब व्यवहारो को समाज के अधिकाश लोग मानते हैं, इस कारण इनकी अवहेलना भी व्यक्ति नही कर पाता है। वास्तव मे संस्कृति मे सामाजिक गुण निहित होता है, और वह इस अर्थ मे कि सस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की धरोहर नहीं होती। उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है; अर्थात् सास्कृतिक व्यवहार समाज के अधिकतर सदस्यो का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होता है, और इसीलिए संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे शब्दो मे, सस्कृति के अन्तर्गत जिन प्रथाओ, परम्पराओ, जनरीतियों, रूढियो, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, वे व्यक्तिगत जीवन-विधि को नहीं, बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन-विधि को व्यक्त करती हैं। इसीलिए इनका एक बाध्यतामूलक प्रभाव व्यक्ति पर पडता है, और उसे सस्कृति द्वारा निर्धारित व्यवहार के तरीको को अपनाना पड़ता है। (3) अन्त मे, सस्कृति पुरस्कार के द्वारा, समाज या सस्कृति द्वारा निर्धारित उचित व्यवहारो या क्रियाओ को सीखने की प्रक्रिया मे, और दड या भर्त्सना द्वारा, बुरी आदतों व अनुचित व्यवहारो को छोड़ने मे तेजी लाती है।

प्रो० रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने भी व्यक्तित्व पर पड़ने वाले सस्कृति के प्रभावो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—"बच्चा जिन प्रथाओ के बीच पैदा होता है, वे आरम्भ से ही उसके अनुभवों तथा व्यवहारों को ढालती हैं। यानी, बच्चा बोलना सीखते ही अपनी संस्कृति का एक छोटा प्राणी बन जाता है। फिर, जब वह बड़ा होता है और सस्कृति के कार्यों मे हिस्सा लेने लायक बनता है, तो सस्कृति की आदतें उसकी आदतें, सस्कृति के विश्वास उसके विश्वास और सस्कृति की असम्भावनाएँ उसकी अपनी असम्भावनाएँ (impossibilities) बन जाती हैं। · व्यक्ति की सस्कृति उसे वह कच्चा माल प्रदान करती है, जिससे वह अपने जीवन का निर्माण करता है। यदि यह कच्चा माल अपर्याप्त है तो व्यक्ति का विकास पूर्ण रूप से नही हो पाता; और, यदि वह पर्याप्त है तो व्यक्ति को उसका सदुपयोग करने का अवसर मिल जाता है।"[1] अत: स्पष्ट है कि व्यक्तित्व और सस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। सस्कृति ही व्यक्तित्व को एक निश्चित स्वरूप व दिशा प्रदान करती है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

---

1. "From the moment of his birth the customs into which he is born shape his experience and behaviour. By the time he can talk, he is a little creature of his culture, and by the time he is grown and able to take part in its activities, its habits, its beliefs, its impossibilities His culture provides the raw material of which the individual makes his life If it is meagre, the individual suffers, if it is rich, the individual has the chance to rise to his opportunity."—Ruth Benedict, *Patterns of Culture*, Mentor Book Co., New York, 1959, pp. 18 and 218.

व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट गुण तथा संस्कृति
(Some Particular Traits of Personality and Culture)

संस्कृति का प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर कितना अधिक पड़ता है, इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट गुणों के विकास पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभावों की विवेचना कर सकते हैं। वे प्रभाव इस प्रकार हैं—

(1) कष्ट सहने की क्षमता (Toleration of Sufferings)—संस्कृति ही वास्तव मे व्यक्तित्व को विशिष्ट रूप और रंग, अर्थ और तत्व प्रदान करती है। इसे प्रमाणित करने के लिए अनेक अध्ययन किये गये हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद, अटलाण्टा-विश्वविद्यालय के तत्वावधान में, प्रो० वुडवर्थ (Woodworth) ने विभिन्न प्रजातियों के लोगों की कष्ट सहने की क्षमता का पता चलाने का प्रयत्न किया। इस परीक्षण से सिद्ध हुआ कि एक सामान्य अमेरिकी की तुलना मे एक रेड-इण्डियन में कष्ट सहने की क्षमता कहीं अधिक होती है। इसके कारणों की खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि इसका कोई प्राणीशास्त्रीय या प्रजातीय कारण नहीं है। वास्तव में रेड-इण्डियनों की संस्कृति मे अपनी कुछ विशेषताएँ ही ऐसी हैं कि लोगों में कष्ट सहने की क्षमता का अधिक होना स्वाभाविक है। बचपन से मृत्यु तक रेड-इण्डियनों को कष्ट सहन करने की शिक्षा दी जाती है, और उसका अभ्यास कराया जाता है, यहाँ तक कि हर रेड-इण्डियन अपनी खोपड़ी को अपने समुदाय के आदर्शों के अनुरूप रूप देने के लिए कठोर कष्ट सहना सहर्ष स्वीकार करता है। वह बचपन से ही युवा संगठन में वीर-गाथाएँ सुन-सुनकर अपने को कठोर बनाता है। यौवनावस्था की रस्में उसे कष्ट-सहन का और भी अभ्यास करा देती हैं। ऐसे सांस्कृतिक पर्यावरण मे पलने वाले रेड-इण्डियनों में कष्ट-सहन की क्षमता का अधिक होना स्वाभाविक ही है। अमेरिकी संस्कृति इससे पर्याप्त भिन्न है। वहाँ बचपन से ही बच्चों को कष्टकर परिस्थितियों से दूर रक्खा जाता है। कष्ट सहन करने का अभ्यास करवाना तो दूर रहा, उन्हें दर्द दूर करने वाली दवाइयाँ दी जाती हैं। ऐसी अवस्था में अमेरिकी लोगों में कष्ट सहने की क्षमता कम होनी ही चाहिए।

(2) सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना (Sense of Social Responsibility)—बच्चों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का कम या अधिक होना भी संस्कृति पर ही निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, मैडागास्कर के टनाला लोगों मे सबसे बड़े लड़के के जन्म के बाद से ही उसकी देखभाल इस प्रकार की जाती है, और थोड़ा बड़ा होने पर उसे इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि उसमें अगुआ बनने और जिम्मेदारी लेने की इच्छा विकसित हो और वह आगे चलकर सामाजिक उत्तरदायित्व को समझते हुए नेता बन सके। इसके विपरीत, परिवार के दूसरे छोटे बच्चों को नियमपूर्वक अनुशासन में रक्खा जाता है और उनकी नेता बनने की इच्छा दबाई जाती है। डॉ० मजूमदार (Majumdar) का कथन है कि जिन संस्कृतियों में संयुक्त परिवारों का आधिक्य होता है, उनके परिवारों में पलने वाले बच्चों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना, छोटे परिवारों के सदस्यों के यहाँ पलने वाले बच्चों से अधिक होती है। प्रो० मीड ने समोआ-

संस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वहाँ आरम्भ से ही बच्चो को इस प्रकार से प्रशिक्षित किया जाता है कि वे समाज की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा कर सकने मे समर्थ हो सकते हैं। इसके लिए छोटी आयु मे ही बालक के कन्धो पर उत्तरदायित्व का बोझ लाद दिया जाता है। इसके विपरीत सुसभ्य समाजो मे अकाल प्रौढत्व को एक दुर्गुण माना जाता है, और यदि कोई बच्चा अपनी आयु के हिसाब से अधिक बढकर बोलता या बडो की समानता करने का प्रयत्न करता है तो उसे रोका जाता है। माता-पिता उसके इस अकाल विकास को लज्जा और अपमान की बात समझते हैं।

(3) यौन-नैतिकता (Sex Morality)—श्री मुरडॉक (Murdock) का कथन है कि यौन-व्यवहार या यौन-नैतिकता संस्कृति द्वारा प्रभावित होती है। न्यूगिनी के केराकी ऐसे व्यक्ति को असामान्य (abnormal) समझते हैं जिसने विवाह के पूर्व समलिंगी (homo-sexual) यौन-सम्बन्ध स्थापित नही किया है। भारतीय उदाहरण द्वारा भी इसे समझाया जा सकता है। मुडिया गोडो मे प्रचलित 'गोटुल' अर्थात् युवागृह (youth organization or dormitories) मे बडी उम्र की लडकियाँ अपने से छोटे उम्र के नवयुवकों को यौन-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण (practical training) देती हैं, और उनके इस व्यवहार को किसी भी रूप मे अनुचित नही माना जाता। मध्य भारत की जनजातियों मे पूर्व-वैवाहिक यौन सम्बन्ध (pre marital sex relations) स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है, *बशर्ते कि लडकी गर्भवती न हो ज्ञा, क्योंकि लडकी का गर्भवती* होना उसके माता-पिता के लिए बहुत ही लज्जाजनक समझा जाता है। इन पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्धो के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजो मे अतिरिक्त वैवाहिक (extra marital) यौन-सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोन्यक नागा जनजाति मे विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अन्य पुरुषो से यौन-सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं। वहाँ स्त्री अपने पति के घर तब तक नही जाती, जब तक उसके एक बच्चा पैदा न हो जाय। यदि पति को यह मालूम हो जाय कि वह बच्चा उसका नही है, तो भी उसे कुछ अनुचित नही लगता, और इससे पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध मे कोई अन्तर नही पडता। नैनीताल के तराई क्षेत्र मे फैली हुई थारू जनजाति के पुरुष अपनी खूबसूरत पत्नियो से इतना अधिक प्रभावित रहते हैं कि अगर पत्नियाँ इधर-उधर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, तो भी वे उस ओर विशेष ध्यान नहीं देते, अर्थात् इसे कोई अपराध नही समझते। देहरादून जिले की खस जनजाति मे यौन-सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड (double standard) देखने को मिलता है। ससुराल मे वधू (जिसे वे 'रान्ती' कहते हैं) को यौन-सम्बन्धी कठोरतम नियमो का पालन करना पडता है, परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लडकी अर्थात् 'ध्यान्ती' के रूप मे उसे यौन-सम्बन्धी अनेक छूटें मिल जाती हैं, और वह एकाधिक पुरुषो से प्रेम करती और यौन-सम्बन्ध स्थापित करती रहती है। इसे किसी प्रकार बुरा नही माना जाता।

(4) असामान्य व्यवहार (Abnormal Behaviour)—विभिन्न संस्कृतियो मे उचित व्यवहार के विभिन्न मापदण्ड हैं, इसीलिए एक के लिए जो साधारण व्यवहार है, दूसरे के लिए वही असामान्य। पुरातनवादी हिन्दुओं मे स्त्रियाँ अपने ससुर, जेठ आदि

के सामने मुंह ढँक लेती हैं। युकाघिर (Yukaghir) जनजाति में नियम है कि वधू अपने ससुर या जेठ का चेहरा न देखे और न ही दामाद को अपनी सास का चेहरा कभी देखना चाहिए। ओस्टयाक (Ostyak) जनजाति में वधू अपने ससुर के सामने और दामाद अपनी सास के सामने तब तक नहीं आते हैं, जब तक कि उनके बच्चे पैदा न हो जायें। न्यूगिनी की बुकाऊ जनजाति में अगर कहीं संयोग से दामाद अपने ससुर को मुंह खोलते देख ले तो ससुर को इतना लज्जित होना पड़ता है कि वह जंगल में भाग जाता है। हिन्दुओं में पति, ससुर, जेठ आदि का नाम बहू नहीं लेती। इसके लिए कुछ माध्यमिक सम्बोधन (tiknonymy) का प्रयोग किया जाता है। जैसे, यदि बेटे का नाम देबू है तो पत्नी अपने पति को 'देबू के पिता' कहकर सम्बोधित करती है। उसी प्रकार अलग-अलग संस्कृतियों में अजीब-अजीब परिहास-सम्बन्ध (joking relationship) पाये जाते हैं। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई आदि एक-दूसरे के साथ हँसी-मजाक करते हैं, एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते हैं, यहाँ तक कि यौन-सम्बन्धी व्यवहार तक करते हैं। पर, कुछ समाजों में परिहास-सम्बन्ध का क्षेत्र यहीं तक सीमित न रहकर एक-दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति या सम्पत्ति की बर्बादी तक विस्तृत होता है। मैलानेशिया में भतीजे को यह अधिकार होता है कि वह अपने चाचा की सम्पत्ति को चाहे रक्खे और चाहे बर्बाद करे। और, इनके बीच के परिहास-सम्बन्ध के कारण ही चाचा से यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के समस्त व्यवहारों को सहन करने का गुण अपने में पनपाये और उसके किसी व्यवहार को बुरा न माने। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति में प्रथा है कि दस वर्ष की आयु में पुत्र पिता का घर छोड़कर अपने मामा के यहाँ रहने के लिए चला जाता है। फिर वह वहीं रहकर व मामा के परिवार और समाज की बातें सीखता है, मामा की सेवा करता है और बड़े होने पर मामा की सम्पत्ति की देख-रेख करता है। पिता के परिवार के प्रति उसमें उत्तरदायित्व की भावना पनपती ही नहीं। मामा भी उसके समस्त भार को सहर्ष वहन करता है। कुछ समाजों में सहप्रसविता या सहकष्टी (couvade) की प्रथा पाई जाती है। इसके अनुसार पति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी के बच्चा होने को हो तो पति भी उन सब कष्टों को अनुभव करे तथा बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करे और प्रसव की भाँति ही समय गुजारे। कुछ जनजातियों में तो प्रसव के समय स्त्री जो पीड़ा अनुभव करती और जिस प्रकार रोती-चिल्लाती है, पति को भी उसी प्रकार उन कष्टों को अनुभव करना तथा चीखना-चिल्लाना पड़ता है। इतना ही नहीं, पति को भी एक कमरे में बन्द रक्खा जाता है और प्रसवा जिन-जिन नियमों का पालन करती है, पति को भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता है। इसीलिए भारत की खासी जनजाति में पति, अपनी पत्नी की भाँति ही बच्चा पैदा हो जाने तक नदी पार नहीं करता और कपड़े नहीं धोता। व्यक्तित्व के उपर्युक्त सभी असामान्य व्यवहार विभिन्न संस्कृतियों की ही देन हैं।

(5) व्यक्तित्व के अन्य लक्षण (Other Traits of Personality)—यदि हम व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों या गुणों की पृथक्-पृथक् विवेचना करें तो हम यही पायेंगे कि उन पर भी संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, सांस्कृतिक प्रतिमान के

अनुसार व्यक्तिगत व्यवहारों को ही लीजिए। जापान में फूत्कार (hissing) सामाजिक क्षेत्र में सम्मानित व्यक्तियों के प्रति आदर दिखाने का एक नम्र ढंग है; बसूटों लोग फूत्कार द्वारा सराहना करते हैं, परन्तु इंगलैण्ड मे यह अत्यन्त अभद्र व्यवहार माना जाता है और किसी अभिनेता या वक्ता के प्रति असम्मान प्रकट करने का ढंग है। ससार के अधिकतर भागो मे किसी व्यक्ति पर थूकना घृणा का चिह्न है, परन्तु अफ्रीका की मसाई जनजाति मे यह व्यवहार स्नेह और भलाई का चिन्ह है, और, अमेरिकन-इण्डियन चिकित्सक का रोगी पर थूकना इलाज का एक खास तरीका है। यूरोप, भारत आदि में अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति की उपस्थिति मे खडा हुआ जाता है, जब कि फीजी और टोगा लोग बैठ जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न समाजो के व्यक्तियों के व्यक्तित्वों में पाये जाने वाले पक्षपात (prejudice) पर भी सस्कृति के प्रभाव को देखा जा सकता है। अमेरिकी बच्चा बचपन से ही देखता है कि उसके समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति नीग्रो को प्रत्येक विषय में नीचा समझता है और उसी रूप मे उससे व्यवहार करता है; इसका परिणाम यह होता है कि उसमे भी धीरे-धीरे नीग्रो के प्रति घृणा का भाव पनपता है। कट्टर ब्राह्मण का लडका हरिजनो के स्पर्श से भी बचने का प्रयत्न करता है और उनसे कोई सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष मे नही होता। इसका कारण है : उस बच्चे की सस्कृति उससे उसी प्रकार के व्यवहार की आशा करती है। इसी प्रकार, शील (modesty) का व्यक्तित्व-गुण भी सस्कृति के द्वारा ही निर्धारित होता है। डुरूस जनजाति की लड़की के लिए शील यही है कि वह बाहर के लोगो को एक आख दिखाये, दो आँखें दिखाना एक प्रकार का सामाजिक अपराध-सा है। टृकी लोगो मे स्त्रियों को पिता या भाई कहलाने वाले सम्बन्धियों के सामने अपना वक्ष स्थल अनावृत्त करना निषिद्ध है, परन्तु रात मे यह बात लागू नही होती। बुर्का पहनना मुसलमान औरतो के लिए शील का परिचायक है, परन्तु अग्रेज औरतो के लिए नही।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणो (traits) या गुणो पर सस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पडता है। मानवशास्त्रियों (anthropologists) ने अनेक आदिम समाजो (primitive societies) का अध्ययन करके व्यक्तित्व पर पडने वाले विशिष्ट सस्कृति के प्रभावो को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध मे नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

संस्कृति और व्यक्तित्व के कुछ अध्ययन
(Some Studies in Culture and Personalities)

व्यक्तित्व का विकास प्राणीशास्त्रीय व सामाजिक प्रक्रिया ही नही, अपितु सास्कृतिक प्रक्रिया भी है। इस दृष्टि से व्यक्तित्व पर सस्कृति के प्रभावों को दर्शाने के लिए मानवशास्त्रियो ने एकान्कि जनजातियो (tribes) के जो अध्ययन किये हैं, उनमे से कुछ इस प्रकार हैं—

(1) होपी जनजाति (Hopi Tribe)—इस जनजाति के सदस्य उत्तरी-पश्चिमी न्यू-मैक्सिको और उत्तरी-पूर्वी अरीज़ोना मे रहते हैं। इस क्षेत्र मे वनस्पति कम होती है,

फिर भी कृषि ही इनका प्रमुख व्यवसाय है। इनमें मातृवंशीय (matrilineal) तथा मातृ-स्थानीय (matrilocal) परिवार पाये जाते हैं। सम्पूर्ण जनजाति अनेक गोत्रों मे बँटी हुई है। भूमि की मालकिन स्त्रियाँ हैं, और वे ही परिवारों की केन्द्र भी हैं। परिवारो मे माता-पिता, उनके अविवाहित पुत्र व पुत्रियाँ, विवाहित पुत्रियाँ और माता के अविवाहित भाई भी रहते हैं। सम्पत्ति माता से पुत्री को हस्तान्तरित होती है। भूमि पर पति कार्य करता है, परन्तु उपज पर पत्नी का अधिकार एवं नियंत्रण रहता है। धार्मिक सस्कारों को छोड़कर सभी क्षेत्रो मे स्त्रियो का स्थान प्रमुख होता है। आर्थिक व्यवस्था सहकारिता पर आधारित है, और व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा नहीं पाई जाती। वर्ग-व्यवस्था का अभाव है। राजनैतिक नियंत्रण की मौलिक इकाई गाँव है। गाँव का मुखिया गाँव की देखरेख करता है। होपी लोग धर्म-परायण हैं।

उपर्युक्त संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) का प्रभाव होपी लोगों के व्यक्तित्व में स्पष्टत: देखने को मिलता है। उन्हें जीवित रहने के साधनों को उत्पन्न करने के लिए आपस में निरन्तर सहयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व सहयोग के आधार पर विकसित होता है, वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं एवं मूल्यो पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता। वे लोग शान्तिप्रिय होते हैं; और लड़ाई-झगड़ो से दूर रहना पसन्द करते हैं। परिवार व समाज मे माँ का प्रभाव अधिक होने के कारण दया, प्रेम, सेवा, त्याग जैसी नारी-सुलभ विशेषताएँ होपी लोगों के व्यक्तित्व में विकसित हो जाती हैं। घमण्ड और अन्य स्वार्थ-भरी इच्छाओं का उनके व्यक्तित्व मे अभाव होता है। ये बुरे गुण समझे जाते हैं। व्यक्ति अपने लिए नहीं, पूरे समुदाय के लिए सोचता है और उसी के लिए अपने स्वार्थों की बलि देता है। वे समुदाय के साथ ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं कि उससे काट या अलग कर दिया जाना उनके लिए सबसे कठोर दण्ड होता है। उनके व्यक्तित्व की एक और उल्लेखनीय विशेषता दूसरों पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति है। वे नाते-रिश्तेदारों के साथ ही देवी-देवताओ पर भी बहुत भरोसा करते हैं। उनकी संस्कृति मे मातृसत्तात्मक परिवारों को प्रमुखता होने के कारण पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों का व्यक्तित्व अधिक रोबीला होता है, और उनमे परिवार, सम्पत्ति आदि से सम्बन्धित विषयो की देखरेख करने की क्षमता व कुशलता भी पाई जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्त्रियों और पुरुषों के व्यक्तित्व मे पाये जाने वाले उपर्युक्त सभी गुण संस्कृति की ही देन हैं।

(2) क्वाकियूटल जनजाति (Kwakiutl Tribe)—इस जनजाति का सांस्कृतिक प्रतिमान होपी संस्कृति से बहुत-कुछ विपरीत है। इस क्षेत्र मे खाने-पीने की चीजें खूब पाई जाती हैं। यहाँ के लोग मछलियों तथा अन्य समुद्री जानवरों का शिकार करते हैं। शिकार अधिकतर व्यक्तिगत आधार पर होता है। समाज मे वर्ग-व्यवस्था के नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है, यहाँ तक कि परिवार मे पहले बच्चे की स्थिति बाकी बच्चों से ऊँची मानी जाती है। परिवारों मे ऊँच-नीच का संस्तरण पाया जाता है। प्रत्येक वर्ग का एक मुखिया होता है, जिसे सीमित राजनैतिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त होते हैं। धन का महत्त्व केवल उसे एकत्रित करने में नहीं अपितु खर्च करने में

भी होता है। सामाजिक मूल्य यह है कि जो व्यक्ति अपने संचित धन को जितना अधिक बर्बाद कर सकेगा, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही ऊँची रहेगी। समाज मे पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं, और समस्त सम्पत्ति पिता से परिवार के सबसे बड़े लड़के को ही मिलती है। प्राय: सबसे छोटे लडके को चतुर समझा जाता है। दावतों में वस्तुएँ तथा तश्तरियाँ गिनने का भार सबसे छोटे भाई को दिया जाता है। यदि ऊँचे कुलों की लड़कियों से विवाह हो जाता है, तो इस आधार पर भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है। धर्म का महत्त्व कम माना जाता है।

इस सांस्कृतिक प्रतिमान का प्रभाव क्वाकियूटल लोगों के व्यक्तित्व पर स्पष्टत: पड़ता है। इन लोगो मे अपने व्यक्तिगत सुख एव लाभ के लिए धन का संचय करने की प्रवृत्ति आम होती है। चूँकि समाज मे वर्ग-व्यवस्था अत्यधिक कटु रूप मे है, इसलिए व्यक्ति में उच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा, यहां तक कि संघर्ष करने तक की प्रवृत्ति पाई जाती है। चूँकि बड़े भाई को समस्त सम्पत्ति मिल जाती है, इस कारण बड़े भाई के प्रति अन्य भाइयो के हृदय मे तीव्र ईर्ष्या एव प्रतिस्पर्धा की भावना होती है। हर भाई दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए दौड़ लगाता है। कुछ लोगो मे सामाजिक प्रतिष्ठा का इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि वे उसके लिए अपना सभी कुछ त्याग सकते हैं। दूसरों को नीचा दिखाने के लिए वे एक अनोखा तरीका अपनाते हैं। इस तरीके को 'पोटलैच' (potlatch) कहते हैं और यह क्वाकियूटल लोगो के व्यक्तित्व मे पाये जाने वाली घोर प्रतिद्वन्द्विता तथा तनाव की भावना को अभिव्यक्त करता है। वास्तव मे इस जनजाति के लिए पोटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लडने' की एक विधि मात्र है, जिसके कारण यह संस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति को ही प्रमुखता देती है।[1] 'अ' महाशय वर्तमान मे अपने समाज मे सबसे ऊँची स्थिति पर हैं; अगर 'ब' महाशय उन्हे नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे एक विराट भोज का आयोजन करेंगे। 'अ' को उनके साथियो के साथ निमन्त्रण देकर बुलायेंगे, और अतिथियों मे से प्रत्येक को खूब खिलायेंगे-पिलायेंगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बर्बादी होती है। उदाहरण के लिए, अतिथियो के सम्मान मे अत्यधिक मूल्यवान् सील मछली का तेल प्रचुर मात्रा मे जला दिया जाता है और जाने कितने जानवरो को काटकर फेंक दिया जाता है, इत्यादि। इस प्रकार पोटलैच की इस विधि ने व्यक्ति के व्यक्तित्व में बरबादी, प्रतिस्पर्धा और प्रतिष्ठा के लिए सदा प्रयत्नशील रहने की प्रवृत्ति को बढावा दिया है। इसी विधि ने विवाह के प्रति भी एक प्रतिस्पर्धामूलक मनोवृत्ति को बढ़ाने के विचार से, ऊँचे कुलो की लडकियो से विवाह करने के लिए भावी ससुर को कम्बलो का मूल्यवान् उपहार दिया जाता है। इसके लिए जितने धन की आवश्यकता होती है, उसे इकट्ठा करने के लिए किसी भी क्वाकियूटल व्यक्ति को काफी पहले से प्रयत्नशील रहना

1. R. F. Benedict, *Patterns of Cultrue*, New York, 1937, pp. 173-222.

पड़ता है। इस प्रकार 'पोटलैच' व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रयत्नशीलता, परिश्रमप्रियता, उच्चाभिलाषा आदि गुण भर देता है। साथ ही, यह विधि लोगों को काफी भौतिकतावादी बनाती है। जिसके पास प्रदर्शन करने के लिए पर्याप्त धन होता है, वह आत्मगौरव व श्रेष्ठता की भावना का अनुभव करता है, पर जो धनहीन होता है उसमें आत्मग्लानि तथा हीनता की भावना पनपती है। चूंकि इन लोगों की संस्कृति भौतिकवादी है, इस कारण क्वाकियूटल लोगों में धार्मिक विश्वास आदि का अभाव होता है। वे धार्मिक संस्कारों से दूर रहने की कोशिश करते हैं और उन्हें बेकार समझते हैं। व्यक्तित्व के ये सभी गुण उनकी संस्कृति की विशिष्टताओं के प्रतिफल कहे जा सकते हैं।

(3) आरापेश, मुण्डगुमार तथा टेनाम्बुली जनजातियाँ (Arapesh, Mundagumar and Tenambuli Tribes)—श्रीमती मार्गरेट मीड (Margaret Mead) ने व्यक्तित्व के विकास पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभाव के महत्व को इन तीन जनजातियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है: (अ) न्यू गायना (New Guinea) की आरापेश जनजाति के लोग ऐसी जगह पर रहते हैं जहाँ बाहरी आक्रमण का कोई भय नहीं रहता, और पड़ोस के लोग उनपर आक्रमण नहीं कर सकते। इस प्राकृतिक स्थिति के कारण उनके व्यक्तित्व में सुरक्षा की भावना पनपती है। इस क्षेत्र की धरती भी उपजाऊ है, इस कारण पैदावार भी खूब होती है। वैसे जनसंख्या भी कम है। फलतः आर्थिक क्षेत्र में उन्हें प्रतिस्पर्धा या संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए उनके व्यक्तित्व में प्रतिस्पर्धा, संघर्ष आदि की भावनाएँ नहीं, अपितु सहानुभूति, सहयोग, प्रेम, सद्भावना आदि गुण पाये जाते हैं। उन्हें लड़ने-झगड़ने की आवश्यकता नहीं होती, इसीलिए वे शान्त, नम्र व शिष्ट होते हैं। आरापेश जनजाति के पुरुषों और स्त्रियों दोनों में ही नारी-गुण मिलता है। इस प्रजाति में कुछ ऐसे सांस्कृतिक तत्त्व प्रमुख होते हैं, जिनके कारण शर्मीले और आक्रमण की इच्छाओं का दमन कर सकने वाले व्यक्ति की प्रशंसा की जाती है। इस जनजाति मे बच्चों को बड़े स्नेह से पाला जाता है, और उनके स्वभाव में नम्रता (softness) लाने का प्रयत्न किया जाता है।

(ब) उसी न्यू गायना की एक दूसरी जनजाति **मुण्डगुमार** है। परन्तु इसके सदस्य आरापेश जनजाति से एकदम भिन्न प्रकृति और व्यक्तित्व के होते हैं। वे स्वभाव से शंकालु, प्रतिद्वन्द्वी, झगड़ालू, अहंवादी और ईर्ष्यालु प्रकृति के होते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही निर्दयी और आक्रामक होते हैं। उनमे शक्ति तथा पद प्राप्त करने के लिए आपस में सदा ही संघर्ष चलता रहता है। आरापेश तथा मुण्डगुमार, दोनों ही जनजातियों की भौगोलिक स्थिति, जलवायु आदि सभी कुछ समान होने पर भी, वे सभी अन्तर सांस्कृतिक भिन्नता के कारण होते हैं। इस जनजाति की स्त्रियाँ शिशु को जन्म देना, अर्थात् माँ बनना और बच्चों का पालन-पोषण करना पसन्द नहीं करतीं। सच तो यह है कि वे शिशु को ही पसन्द नहीं करतीं, और इसीलिए उसे दूध पिलाने के लिए बैठने तक की मेहनत नहीं करतीं। यह काम वे खड़े-खड़े ही कर लेती हैं; और जैसे ही बच्चा छीन-झपटकर किसी तरह कुछ दूध पी लेता है, वैसे ही उसे ऐसे झटककर हटा देती हैं, जैसे कि दूध पिलाने का विवश होकर ही किया गया हो। यही नहीं, बच्चे का दूध बहुत शीघ्र छुड़ा दिया

जाता है। बच्चा रोता-चिल्लाता है, तब भी माँ उसका ख्याल नही करती, ऊपर से मारती है। कभी-कभी माँ की उपेक्षा के कारण बच्चे जाते भी रहते हैं। इस प्रकार के दुर्व्यवहारों के कारण बच्चे मे अरक्षा और निराशा की भावनाओं का ही नही अपितु निर्दयता और आक्रामक भावनाओ का भी विकास हो जाता है, और वे अपनी इच्छाओ की पूर्ति छीना-झपटी द्वारा ही करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। दया, सहानुभूति, करुणा आदि कोमल गुणों का विकास उनमें हो ही नही पाता।

(स) तीसरी जनजाति टैनाम्बूली में स्थिति और भी विचित्र है। इस जनजाति मे स्त्रियाँ शासक और प्रबन्धक होती हैं, और पुरुष भावुक, स्त्रियो पर निर्भर रहने वाले व अनुत्तरदायी (irresponsible) होते हैं। पुरुषों का कर्त्तव्य बच्चो को खिलाना, भोजन बनाना और घर की देखभाल करना होता है। इसके विपरीत, स्त्रियो का कर्त्तव्य घूमना और सहेलियो के यहाँ गप्पे हाँकना होता है। स्त्री को पति के चुनाव का अधिकार होता है, परन्तु पुरुषों को पत्नी के चुनाव का अधिकार नही होता। इस जनजाति मे स्त्रियों की मनोवृत्ति दूसरो पर रोब जमाने की होती है, जबकि पुरुष विनयी होते हैं। समस्त समुदाय का शासन-प्रबन्ध स्त्रियाँ सम्हालती हैं, जबकि पुरुष औरतों की भाँति घर-गृहस्थी का काम देखते हैं। इस कारण स्त्रियाँ सामाजिक जीवन से अनुकूलन करने में अधिक सफल होती हैं। पुरुषो मे दूसरो पर अविश्वास करने की मनोवृत्ति विशेष होती है। परिवार की प्रकृति सामाजिक प्रशिक्षण, प्रथा, परम्परा, धर्म आदि व्यक्तित्व के इन समस्त लक्षणों या गुणो के कारण कहे जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि संस्कृति का व्यक्तित्व पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु, इसका यह अर्थ नही है कि संस्कृति एक ऐसा साँचा या ठप्पा हैं जो सारे व्यक्तियो को एक ही रूप या रग मे ढाल देता है। मानव-व्यक्तित्व सास्कृतिक वातावरण का प्रतिबिम्ब या परछाई मात्र नही होता। एक ही सास्कृतिक वातावरण में रहने वाले मनुष्यों मे भी भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व-गुण प्रधान होते है। वास्तव मे, एक ही सस्कृति से पले हर व्यक्ति मे व्यक्तिगत भिन्नता उसकी अपनी अन्तरिक क्षमता, योग्यता, अनुभव धारणा, विचार आदि के आधार पर पाई जाती है और हमेशा पाई जायेगी। कोई भी संस्कृति अपने समस्त सदस्यों पर समान प्रभाव कदापि नही डाल सकती। साथ ही, व्यक्तित्व-विकास मे सस्कृति ही एक मात्र निर्णायक कारक है, यह सोचना भी अवैज्ञानिक है। इस सम्बन्ध मे अन्य कारको की अवहेलना नही करनी चाहिए, और यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य संस्कृति का दास नही, निर्माता है। श्रीमती रूथ बैनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने सच ही कहा है, "दूसरी सस्कृतियो का ज्ञान रखने वाला कोई भी मानवशास्त्री यह नही मानता कि व्यक्ति अपनी सभ्यता का गुलाम है, और उसके समस्त आदर्शों का पालन यन्त्रवत् करता है। अभी तक कोई भी सस्कृति ऐसी नही देखी गई, जो अपने सदस्यों के स्वभाव की समस्त भिन्नताओ को दूर कर सकी हो। संस्कृति और व्यक्तित्व का पारस्परिक सम्बन्ध सदैव ही लेन-देन का रहा है, और आगे भी सदा ही लेन-

देन का रहेगा।"[1] वास्तव में संस्कृति का विकास व्यक्तित्व के लिए वरदान है, और व्यक्तित्व का विकास संस्कृति का सौभाग्य।

प्रजाति और संस्कृति
(Race and Culture)

प्रजाति, जैसा कि हम अध्याय 5 मे विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं, एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है। कुछ शारीरिक लक्षणों (traits) के आधार पर जब हम मानव के एक बड़े समूह को दूसरों से अलग करते हैं तो उस मानव-समूह को हम प्रजाति कहते हैं। प्रजाति का सम्बन्ध ठोस मानव-समूह और उसकी प्राणीशास्त्रीय या शारीरिक विशेषताओं से होता है। प्रजाति वास्तव में प्राणीशास्त्रीय विरासत (biological inheritance) का परिणाम होता है। इसके विपरीत *"संस्कृति सम्बद्धित सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग होता है जो कि एक समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बतलाता है और जो, इसीलिए, प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।"* प्रजाति मे हम एक समूह को कुछ शारीरिक विशेषताओं के आधार पर दूसरे से पृथक् करते हैं; परन्तु एक सांस्कृतिक समूह को हम उसके धर्म, प्रथा, भाषा, विवाह संस्था, प्रविधि आदि के आधार पर दूसरे समूहों से पृथक् करते हैं। प्रजातीय विशेषताएँ वंशानुसंक्रमण (heredity) की प्रक्रिया के आधार पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं। इसके विपरीत संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप मे मानव का आविष्कार है और इसी कारण *यह विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रजाति व संस्कृति एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं और इन दोनों का आपस मे कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके बीच किसी भी प्रकार की समानता या सम्बद्ध को स्थापित करने का प्रयत्न करना अवैज्ञानिक है।*

15वीं शताब्दी के अन्त मे यूरोप की शक्तियो ने अफ्रीका, एशिया और अमेरिका पर आक्रमण करके उन पर उपनिवेशों की स्थापना की और साथ ही अपनी संस्कृति को भी फैलाना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक भ्रमपूर्ण विचार यह फैलाया गया कि प्रजाति और संस्कृति मे आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह इस रूप मे कि *कुछ प्रजातियो में संस्कृति को जन्म देने की विशेष शक्ति होती है और कुछ में बिलकुल नहीं। यूरोप की प्रजातियाँ इस मामले मे सबसे आगे हैं क्योंकि केवल वही की प्रजातियाँ ही संस्कृति को जन्म दे सकती हैं।* चूंकि इन लोगो की प्रौद्योगिक (technological) शक्ति अन्य देशों की तुलना मे बहुत अधिक थी इसलिए लोगों मे यह गलत विश्वास पनप गया

---

1. "No anthropologist with a background of experiences of other cultures has *ever believed that individuals were automatons, mechanically carrying* out the decrees of their civilizations. No culture yet observed has been able to eradicate the differences in the temperaments of the persons who compose it. It is always a give and take."—Ruth *Benedict*.

कि वास्तव में ही केवल गोरी प्रजाति संस्कृति को जन्म दे सकती है। इस आधार पर यह प्रमाणित किया गया कि नीग्रो प्रजाति की अपनी कोई संस्कृति नहीं है क्योंकि वे जगली हैं और प्राकृतिक स्थिति (state of nature) मे निवास करती है। मानवशास्त्रीय अध्ययनो व खोजो के परिणामस्वरूप ये सभी भ्रम धीरे-धीरे दूर हो गये हैं। मानवशास्त्र के अध्ययनो से यह पता चलता है कि ससार मे मनुष्यो का कोई भी समाज ऐसा नही है जो जानवरों की भाँति बिलकुल प्राकृतिक स्थिति में रहता हो। हर समाज मे कपडा पहनना, शृगार करना, शरीर मे गोदना-गुदाना, भाषा, कुछ-न-कुछ सामाजिक नियम व परम्परा आदि पाये जाते हैं। ये लक्षण मनुष्य को प्राकृतिक स्थिति से ऊँचा उठाते हैं तथा पशु जगत् से उसे पृथक् कर देते हैं। इतना ही नही, सामाजिक आदान-प्रदान व भाषा के सहारे मनुष्य अपने ज्ञान व अनुभव को या सस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। बचपन से ही मनुष्य अपनी सामाजिक विरासत (social heritage) का धीरे-धीरे अधिकारी होने लगता है। प्रजातीय प्रक्रिया से मनुष्य को कतिपय शारीरिक लक्षण प्राप्त होते हैं परन्तु सांस्कृतिक प्रक्रिया द्वारा उसे एक 'जीवन-विधि' (life way) मिलती है। ऐसा हर मानव-समाज मे होता है।

अत: सस्कृति को जन्म देना और उसका अधिकारी बनना किसी विशेष प्रजाति का विशेषाधिकार है, यह धारणा अवैज्ञानिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि हर समाज की सस्कृति एकसमान नही होती है, इससे पर्याप्त विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चय है कि सस्कृति के दृष्टिकोण से या सस्कृति के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा बिलकुल गलत है। प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है और इसका कोई भी कार्य-कारण सम्बन्ध सस्कृति से नही है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना हम अध्याय 5 मे 'प्रजातिवाद' के अन्तर्गत कर चुके हैं।

SELECTED READINGS

1. Benedict, R. : *Patterns of Culture*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1934

2. Beals and Hoijer : *Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

3. *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. 4, 1937.

4. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

8 आदिम सामाजिक संगठन (Primitive Social Organization)

आदिम सामाजिक संरचना व संगठन के आधार
(Bases of Primitive Social Structure and Organization)

ससार के विभिन्न समाजों के सामाजिक संगठन के अध्ययन से यह पता चलता है कि सामाजिक सगठन के कुछ सामान्य कारक होते हैं; यद्यपि इस 'सामान्य' शब्द से हमारा तात्पर्य यह नही है कि ये कारक सभी समाजों में समान रूप से पाये जाते हैं। विभिन्न सामाजिक संगठनो के कारकों मे विविधता होते हुए भी इनमे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा सामान्य कारक, श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार, निम्नवत् हैं—यौन-भेद (sex), आयु, नातेदारी (kinship), स्थान (locality), सामाजिक स्थिति (social status), राजनैतिक शक्ति, व्यवसाय, धर्म व जादू, टोटमवाद तथा ऐच्छिक समितियाँ।[1] सामाजिक सगठन के ये दस कारक या आधार अधिकतर आदिम समाजो मे पाये जाते हैं; यद्यपि ये सभी कारक आदिम समाजो मे पाये जाते हैं, यह कहना भी ठीक न होगा क्योंकि आदिम सामाजिक ढाँचों (social structures) मे अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है।

सामाजिक सगठन के अन्तर्गत पाई जाने वाली सस्थाओ को, श्री हर्सकोविट्स (Herskovits) के अनुसार मोटे तौर पर दो श्रेणियों मे बाँटा जा सकता है[2]—प्रथम, तो वे जो कि नातेदारी (kinship) के आधार पर पनपती हैं और दूसरे, वे जिनका कि कोई सम्बन्ध नातेदारी व्यवस्था से नही होता।

सामाजिक सरचना व सगठन की प्रथम इकाई परिवार है। आदिम समाजो मे तो इसका महत्त्व और भी अधिक है। इन समाजो मे सदस्यो की अधिकतर आवश्यकता की पूर्ति परिवार के द्वारा ही होती है। परिवार अनेक प्रकार के होते हैं जैसे कि प्रारम्भिक या मूल परिवार और सयुक्त परिवार, मातृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक परिवार आदि। परिवार के बाद सामाजिक सगठन का एक अन्य आधार गोत्र (clan) है जो कि कई वशो का समूह होता है। गोत्र के सभी लोग अपना एक सामान्य पूर्वज (common ancestor) मानते है इस कारण उनमे एक 'हम' की भावना होती है जिसके कारण सामा-

---

1. Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, pp 107-108

2. M. J. Herskovits, *Man and His Works*, New York, 1956, p. 289.

जिक संगठन बना रहता है। परिवार की भांति गोत्र भी वह संस्था है जो नातेदारी के आधार पर पनपती है। नातेदारी के आधार पर पनपने वाले अन्य सगठनों मे विशेष उल्लेखनीय गोत्र-समूह (phratry), द्विदल सगठन (dual organization) आदि हैं। आदिम सामाजिक सगठन का एक और आधार टोटमवाद है। टोटमवाद वह विश्वास है जिसके आधार पर एक गोत्र-समूह के सदस्य अपना एक अलौकिक सम्बन्ध किसी प्राकृतिक वस्तु, पेड़-पौधा या पशु से मानते है। चूंकि एक सामान्य टोटम के प्रति सबके दिल मे बहुत-कुछ समान भावनाएँ, श्रद्धा-भक्ति होती हैं इस कारण उस सामान्यता (commonness) के आधार पर 'हम' की भावना भी पनपती है और सामाजिक संगठन बना रहता है। सामाजिक सगठन के इन आधारो की विस्तृत विवेचना हम अगले अध्यायो मे करेंगे। यहाँ हम केवल आदिम समाजो मे पाई जाने वाली स्थिति और कार्य (status and role), वर्ग-प्रथा (class system), स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित समितियाँ आदि सामाजिक सगठन के अन्य आधारो की विवेचना करेंगे।

आदिम समाजों में स्थिति तथा कार्य
(Status and Role in Primitive Society)

प्रत्येक समाज, चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, अपने सदस्यों के लिए कुछ *निश्चित स्थिति तथा कार्य को निर्धारित करता है।* *व्यक्ति* की स्थिति से तात्पर्य उस पद (position) से है जो वह अपने यौन-भेद, आयु, जन्म, विवाह, शारीरिक गुण, कृतियो तथा कर्तव्यों के कारण प्राप्त करता है। और कार्य वह पार्ट है जो वह व्यक्ति *प्रत्येक पद के कारण अदा करता है।* इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की एक स्थिति या पद होता है क्योकि वह अपने माता-पिता की सन्तान है, पुरुष अथवा स्त्री है, युवक अथवा वृद्ध है, विवाहित अथवा अविवाहित है, कृषक या पुजारी है, राजा या प्रजा है। इन स्थि*तियों से सम्बन्धित कुछ कार्य भी होते हैं जिन्हे कि* व्यक्ति अपनी स्थिति के कारण करता रहता है। पुजारी और कृषक का कार्य एकसमान नही है, पुरुष और स्त्री का कार्य एकसमान नही है, पिता और पुत्र का कार्य भी एकसमान नही है क्योंकि इनकी स्थिति भी एकसमान नही है *अर्थात् भिन्न है।* *व्यक्ति* के कुछ पद प्रदत्त (ascribed) होते हैं जो कि उसे समाज से स्वयं बिना किसी प्रयास के प्राप्त हो जाते हैं। पिता का पद एक व्यक्ति को समाज से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत कुछ पद या स्थि*तियाँ अर्जित (achieved) होती है जो कि* व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयास से प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, एक निरक्षर बालक अपने प्रयास से विद्वान बनकर समाज मे ऊँची स्थिति प्राप्त कर सकता है, यह उसकी अर्जित स्थिति होगी। साथ ही, एक समय मे *किसी व्यक्ति की एक से अधिक स्थितियाँ हो सकती हैं* और इस कारण उसका एक से अधिक कार्य होना भी स्वाभाविक ही है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों की स्थिति अलग-अलग होने के *मुख्य कारण यौन-भेद, आयु-भेद सम्पत्ति-भेद तथा योग्यताओं और प्रवृत्तियो* पर आधारित भेद हैं। यहाँ आदिम समाज के सदर्भ मे इन कारकों की विवेचना कर लेना

उचित होगा।

(1) यौन-भेद (Sex Dichotomy)—संसार की विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी-न-किसी रूप में स्त्री और पुरुष की स्थिति व कार्यों मे महत्वपूर्ण अन्तर पाये जाते हैं। प्राणीशास्त्रीय आधारों पर इस प्रकार के अन्तर को समझाया जा सकता है। साथ ही इस प्रकार के अन्तर का कारण सांस्कृतिक भी हो सकता है। प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से स्त्रियो की स्थिति पुरुषों से प्रायः नीची समझी जाती है। अनेक समाजों में यह सोचा जाता है कि नारी अबला और शक्तिहीना होती है और उसे प्रत्येक अवस्था में, जन्म से लेकर मृत्यु तक, किसी-न-किसी पुरुष के संरक्षण (Protection) की आवश्यकता रहती है। अनेक संस्कृतियों में धर्म और जादू के क्षेत्र मे स्त्रियों की स्थिति पुरुषो की अपेक्षा कहीं अधिक गिरी हुई होती है। उदाहरणार्थ नीलगिरी की टोडा जनजाति, जो कि विशुद्ध रूप से पशुपालक है, स्त्रियों को मासिक धर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य मानती है; स्त्रियां इस जनजाति की भैंसशालाओं के पास तक नहीं जा सकतीं। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पड़ता है। इसके विपरीत ऐसी संस्कृतियां भी हैं जहां पर धर्म तथा जादू के क्षेत्र में स्त्रियों को स्थिति पर्याप्त ऊँची है। उदाहरणार्थ खासी (Khasi) जनजाति मे इन दोनों ही क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की तुलना मे कहीं अधिक ऊँची है। टोडा और खासी इन दोनों जनजातियों के बीच की स्थिति अण्डमान प्रायद्वीप की जनजाति की है; वहाँ पर स्त्री व पुरुषो दोनों की ही स्थिति प्रायः समान है और दोनों ही समान रूप से धर्म और जादू के मामलों मे भाग लेते हैं। यह तो स्थिति की बात रही, कार्यों के सम्बन्ध मे भी स्त्री-पुरुष में भेद प्राणीशास्त्रीय और सास्कृतिक दोनों ही आधारो पर हो सकता है। प्राणीशास्त्रीय आधार को ही लीजिए। स्त्रियां अण्डकोष्ठ (eggcell) को उत्पन्न करती हैं और पुरुष शुक्रकोष्ठ (spermcell) को; स्त्रियों को मासिक धर्म होता है, पुरुषो को नहीं। बच्चों को गर्भ में रखने और जन्म देने का काम स्त्रियां ही करती हैं, पुरुष नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति के अनुसार स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग कार्यों को निश्चित करता है; यद्यपि प्रत्येक सस्कृति मे यह विभाजन एकसमान नहीं होता। श्री ह्वाइटमैन (Whitemen) ने प्युब्लो (Pueblo) जनजाति का उदाहरण देते हुए लिखा है कि इस जनजाति के पुरुषों के अधिकतर कार्य सहकारिता के आधार पर होते हैं जबकि स्त्रियों के कार्य प्रतियोगिता पर आधारित होने के कारण पृथक्-पृथक् किये जाते हैं। इस जनजाति मे पुरुष खेती का काम करते हैं, शिकार करते हैं और पशुओं की खाल से पोशाक बनाते हैं, टोकरी बुनते हैं, घर बनाते हैं, जंगल से लकड़ी काटकर ले आते हैं, इत्यादि। संक्षेप मे, प्युब्लो जनजाति मे पुरुषों का कार्य घर से बाहर होता है, जबकि स्त्रियों के लिए वे काम हैं जो कि 'घर के अन्दर' के होते हैं जैसे घर की देख-रेख करना, अनाज को पीसना, खाना पकाना, बच्चों का पालन-पोषण करना, मिट्टी के बर्तनों को बनाना, घर को सजाना, इत्यादि। श्री पाउडर मेकर (Powder Maker) ने भी एक अन्य जनजाति लेसू (Lesu) का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस जनजाति मे स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर श्रम-विभाजन का कठोरता से पालन किया जाता है। स्त्रियों के लिए जो काम निश्चित कर

दिये गये हैं उन्हें पुरुष लोग कदापि नहीं करते; यद्यपि ऐसे कुछ कार्य भी हैं जो स्त्री और पुरुष दोनो ही मिलकर करते हैं। पुरुषों के कार्यों मे बगीचा लगाने के लिए जमीन को साफ करना, पौधे लगाना, मछली पकड़ना, शिकार करना, इनके लिए आवश्यक उपकरणों या औजारों को बनाना, घर बनाना या उसकी मरम्मत करना इत्यादि उल्लेखनीय है। स्त्रियों के हिस्से मे बगीचों की घास-पात को हटाना, अनाज को इकट्ठा करना और उन्हें घर तक ले आना, पशुओं को चारा देना, पानी भरना, झाडू देना, खाना पकाना, बोझा ढोना आदि कार्य आते हैं। समुद्री कीड़ों-मकोड़ों को पकड़ना, चटाई और टोकरी बनाना, बच्चों की देख-रेख करना, दवा-दारू तथा जादू-टोना आदि से सम्बन्धित कार्य करना, कुछ ऐसे काय हैं जिन्हें कि लेसू स्त्री-पुरुष दोनो मिलकर करते हैं।

यद्यपि स्त्री और पुरुष के विशिष्ट-विशिष्ट कार्यों का एक सार्वभौम प्रतिमान (universal pattern) होता है; पर ऐसे भी समाज है जहाँ कि वे काम पुरुष करते हैं जिन्हें कि अधिकतर समाज मे स्त्रियाँ करती है, और स्त्रियाँ वे काम करती हैं जो कि वास्तव मे पुरुषों का है। उदाहरणार्थ, आसाम की पहाड़ियों में रहने वाली खासी जनजाति में पुरुषों का कार्य बच्चों को खिलाना, भोजन बनाना, घर की देखभाल करना इत्यादि है और स्त्रियों का कार्य 'घर के बाहर' के कामों को करना, घूमना आदि है। अत: स्पष्ट है कि सांस्कृतिक भिन्नता के साथ-साथ स्त्री-पुरुष के कार्यों मे भेद होना भी स्वाभाविक ही है। नावाहो (Navaho) जनजाति में कम्बल बुनने का काम स्त्रियों का है, जबकि उसके पड़ोसी होपी (Hopy) जनजाति में कातना और बुनना दोनों ही पुरुषो के कार्य हैं। मैरीकोपा इण्डियनों (Maricopa Indians) में मिट्टी के बर्तन बनाना केवल स्त्रियों का ही काम है जबकि बुनने का काम केवल पुरुष ही करते हैं। इन सब तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए मानवशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि स्त्रियाँ स्वभावत: ही गृहिणी होती हैं, या कुछ विशेष कार्यों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर लेती हैं—यह सोचना ठीक नहीं है। फिर भी उनका यह निष्कर्ष है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जो कि अधिकतर समाजों में स्त्रियाँ करती हैं और कुछ काम विशेष रूप से पुरुष। उदाहरणार्थ, श्री मुरडॉक (Murdock) ने विविध प्रकार के 224 समाजो का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि प्राय: तीन-चौथाई समाजों में खाना पकाने, आग के लिए लकड़ी चुनने, अनाज पीसने, बर्तन बनाने, कपड़ा या चटाई बुनने आदि के काम स्त्रियो के ही सुपुर्द हैं। शिकार करने का काम सभी समाजों में पुरुषों का होता है; 86 प्रतिशत मे मछली पकड़ना तथा 85 प्रतिशत मे पशु चराने का काम भी पुरुष ही करते हैं।[1] अत: हमारा अन्तिम निष्कर्ष यह है कि प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से कुछ कार्यों के लिए पुरुष अधिक उपयुक्त होते हैं और कुछ कार्यों के लिए स्त्रियाँ; यद्यपि इस विभाजन के सांस्कृतिक आधारो पर अनेक रूपान्तर हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, प्राणीशास्त्रीय सीमाओं (limits) के अन्दर संस्कृति स्त्री-पुरुष के कार्यों को बहुत-कुछ बदल या पलट सकती हैं।

---

1. G. P. Murdock, 'Comparative Data on the Division of Labour by Sex' *Social Forces*, Vol. 15, 1937, pp. 551—553.

'प्राणीशास्त्रीय सीमाओं' से हमारा तात्पर्य यह है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें कुछ 'प्राणीशास्त्रीय विशिष्टता के कारण केवल स्त्री या पुरुष ही कर सकते हैं और संस्कृति लाख प्रयत्न करने पर भी उसे बदल नही सकती। जैसे, बच्चे को गर्भ मे रखने और जन्म देने का काम स्त्रियों को ही करना होगा, संस्कृति इस काम को पुरुषो पर लाद नही सकती।

(2) आयु-भेद (Age differences)—आयु के आधार पर स्थिति-भेद भी संसार के प्रत्येक समाज या संस्कृति मे पाया जाता है। एक छोटे बच्चे की स्थिति वह कदापि नही हो सकती जोकि एक बूढे व्यक्ति की होती है। उसी प्रकार किशोर, युवा, प्रौढ आदि की भी स्थितियाँ प्राय. प्रत्येक समाज मे अलग-अलग होती हैं। यह हो सकता है कि किसी समाज मे बच्चो का महत्त्व अत्यधिक हो, परन्तु उन्हें वह सम्मान शायद कोई भी समाज नही देता जो कि प्रौढो या वृद्धों को मिलता है। श्री सिम्मन्स (L. Simmc ९) अपने अध्ययनो से इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि प्राय: सभी समाजों मे प्रौढ़ जनों की स्थिति सम्मान, आदरभाव तथा विशेष सुविधाओं से घिरी हुई होती है और वह केवल इसीलिए कि उनकी आयु अधिक है। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि केवल आयु में बड़े होने के नाते ही किसी को सम्मानित स्थिति प्राप्त हो जाती है—यह सोचना गलत होगा। आयु के बढ़ने के साथ-साथ अनुभव तथा सामाजिक विषयो मे ज्ञान का सचय भी बढ़ता जाता है। केवल आयु नही बल्कि आयु से सम्बन्धित अनुभव तथा ज्ञान ही व्यक्ति की स्थिति को ऊचा उठाने का कारण बनता है। इसी कारण गोंड (Gond) जनजाति मे वयस्क लोगो का काफी आदर इस कारण होता है कि अनेक जनजातीय समस्याओं के सम्बन्ध मे उनका परामर्श बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। अधिकतर आदिम समाजों मे राजनीति, सरकार, धर्म, जादू और आर्थिक सगठन के क्षेत्रो मे बड़े-बूढो को ही प्राय: एकाधिकार होता है क्योंकि उनके दृष्टिकोण से ये सभी विषय 'गम्भीर' (serious) होते हैं और इसलिए बालक, किशोर या युवाओं की समझ से बाहर हैं। विशेषकर जादू सम्बन्धी तथा धार्मिक मामलो मे तो आदिम लोगों का यह विश्वास है कि अगर इन विषयो मे कम आयु के लोगो को हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता दे दी जायगी तो उससे अनर्थ होने की सम्भावना अधिक होगी, क्योंकि वे लोग इन विषयो को हल्के तौर पर (lightly) लेंगे जिससे कि अलौकिक शक्ति (supernatural power) अप्रसन्न होकर उस समुदाय को घोर नुकसान पहुचायेगी।

आयु के आधार पर स्थिति-भेद के सम्बन्ध मे एक बात और स्मरणीय है और वह यह कि आयु के आधार पर प्रौढ़ या बूढे पुरुषों को प्रौढ़ा या बूढ़ी स्त्रियो की अपेक्षा अधिक ऊचा पद या स्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि 'घर से बाहर' के क्षेत्र मे अर्थात् राजनीति, सरकार, धर्म, जादू और आर्थिक सगठन मे स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषो का अधिक सक्रिय भाग होता है और साथ ही इन क्षेत्रो मे अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के साधन भी उन्हे पर्याप्त उपलब्ध होते हैं।

इस सम्बन्ध मे तीसरी बात यह स्मरणीय है कि बूढ़ों की स्थिति उन आदिम समाजो मे अधिक सुरक्षित होती है जहाँ कि जीवित रहने के साधनों को प्राप्त करने के लिए सघर्ष अत्यधिक कटु नहीं है। जहाँ इस प्रकार की स्थिति है अर्थात् जीवन का संघर्ष

अत्यधिक कटु है वहाँ बूढ़ों को भार समझा जाता है। उदाहरणार्थ, एस्कीमो प्रदेश में बूढ़ों को उनकी संतान बर्फ के घर मे बन्द करके या अन्य उपायों से मार डालती है क्योकि वे फिर समुदाय के उत्पादक-कार्य में भाग लेने मे असमर्थ होने के कारण परिवार या सामुदाय के लिए बोझ बन जाते हैं। यह बात वहाँ के बूढ़े लोग जानते हैं और अपनी असमर्थता पर लज्जा अनुभव करते हैं, इसीलिए एक निश्चित आयु पार कर लेने के बाद बहुधा वे स्वय ही अपनी सतान से यह अनुरोध करते हैं कि उन्हे मार डाला जाय। कुछ जनजातियों मे इस प्रकार के बूढ़ों को इस प्रकार की प्राकृतिक परिस्थितियो के बीच रखा जाता है कि वे शीघ्र ही मर जाते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बूढ़ो के प्रति उनके दिल मे असम्मान की भावना हो। प्रायः सभी मानवशास्त्रीय अध्ययन से यही पता चलता है कि जनजातियों मे बड़े-बूढ़ों का आदर ही होता है। हाँ, दक्षिणी अफ्रीका के बुशमैन (Bushman) तथा दक्षिणी अमेरिका के उइटोटो (Witotos) लोगो मे बूढ़ो के प्रति सम्मान प्रदर्शित नही किया जाता। भारत की जनजातियो मे भी सामान्यतः बड़े-बूढ़ो की ही स्थिति सम्मान की होती है। शासन-प्रबन्ध मे इनका विशेष योगदान होता है। जनजातीय शासन-प्रबन्ध बहुधा गोत्रो के आधार पर होता है और प्रत्येक गोत्र (clan) का एक मुखिया होता है। इस मुखिया (clan chief) को सलाह परामर्श देने के लिए बड़े-बूढ़ों की एक परिषद् (a council of the elders) होती है। आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे भी यह पक्ष तो इतना विकसित है कि वहाँ के शासन-प्रबन्ध को 'वयस्कों का शासन' (the rule of the 'elders' or *Gerontocracy*) कहते हैं।

(3) **सम्पत्ति-भेद** (Distinction of Wealth)—व्यक्ति की स्थिति को निश्चित करने मे सम्पत्ति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार है। परन्तु स्मरण रहे कि सम्पत्ति या धन की धारणा प्रत्येक युग और समाज मे अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ लोहा, कोयला, पेट्रोल आदि औद्योगिक समाज के लिए बहुमूल्य हो सकते हैं, परन्तु वे ही एक जनजातीय समाज के लिए, जो कि उनको प्रयोग करना नही जानता, कौड़ी मूल्य के भी नहीं है। उसी प्रकार एक पशुपालक समाज के लिए पशु ही सम्पत्ति है, कृषि-प्रधान देश के लिए ज़मीन, हल और बैल श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं और औद्योगिक समाज के लिए मशीन, मिल और कारखाना। इतना ही नही, कोई युग था जब कि पशुओ को सम्पत्ति का आधार माना जाता था, उसके बाद गुलामों की सख्या अधिकार और सम्पत्ति की द्योतक हो गई, परन्तु आधुनिक युग मे वे आधार नष्ट होकर अन्य अनेक आधार विकसित हो गए हैं। फिर भी स्थिति-निर्धारण के क्षेत्र मे सम्पत्ति, चाहे उसका रूप कुछ भी हो, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्राय. देखा जाता है कि वे लोग, जिनके और कोई गुण नही होते, सम्पत्ति पर अधिकार होने के कारण समाज मे ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी अनेक जनजातियाँ है जिनमे व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा या ऊँची स्थिति तब प्राप्त करता है जब वह अपनी सम्पत्ति का अधिकाधिक त्याग कर देता है। भारत मे अनेक शिकार करने वाली जनजातियो मे उसे नेता और आदरणीय समझा जाता है जो कि अपने धनुष-बाण को, पशुओ की खाल को या पालतू पशुओ को अपने मित्रो, पड़ोसियों और अतिथियो को दे देने की क्षमता रखता हो। अमेरिका के इण्डियनो मे भी ऐसे अनेक समुदाय हैं जहाँ

कि उन लोगो की सामाजिक स्थिति ऊँची होती है जो कि अपने घर को खूब सजाकर रखते हैं, भोजन-सामग्रियों से अपना भण्डार भरकर रखते हैं। उत्तम पोशाकों को पहनते हैं, इत्यादि। परन्तु जिनके पास ये सब होता है, उनकी सामाजिक स्थिति उतनी ऊँची नही होती है जितनी कि उन लोगो की जोकि इन सब चीजों के अधिकारी होते हुए उन चीजो को मुक्तहस्त होकर उदारता से दूसरों को दान भी करते हैं। उनके लिए सम्पत्ति का त्यागना ही सम्मान है, उसे इकट्ठा करना मूर्खता है। इसी प्रकार साइबेरिया के याकूत जनजाति के लोगो मे भी आर्थिक मामलों में निःस्वार्थता या आत्मत्याग की भावना ऊँची स्थिति प्रदान करती है; उनमें भोजन-सामग्रियों को बाँटकर खाने का नियम प्रधान है। उत्तरी अमेरिका की उत्तर-पश्चिम तटवर्ती (North-West Coast) क्वाकियूटल (Kwakiutl) जनजाति मे सदैव सम्पत्ति इकट्ठा करने की दौड़-धूप रहती है, परन्तु जो व्यक्ति सम्पत्ति को जितना अधिक बर्बाद करता है या बिना कारण व्यय करता है उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही ऊँची होती है। इस जनजाति में पोटलेच (Potlatch) नामक व्यय-साध्य (expensive) भोज देकर अपनी प्रतिष्ठा या स्थिति को ऊँचा उठाने की प्रथा है। सब एक-दूसरे से बढ-चढकर दावतें करते हैं। जिस व्यक्ति की दावत दूसरे की अपेक्षा अधिक शानदार होती है उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढती है।

उपरोक्त उदाहरणो से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्हीं लोगों को समाज मे ऊँची स्थिति प्राप्त होती है जो कि सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। फिर भी आदिम लोगों मे सम्पत्ति को केवल इकट्ठा करने से ही ऊँची स्थिति प्राप्त नहीं होती जब तक उस सम्पत्ति का दिखावा, उसे मुक्तहस्त से व्यय करके न किया जाय। सम्पत्ति की सार्थकता उसे दूसरो को दे देने या दान कर देने या उपहार मे दे देने मे है, न कि उसे केवल एकत्रित करने मे।

आदिम समाज में स्त्रियों की स्थिति
(The Status of Women in Primitive Society)

प्रत्येक समाज मे स्त्रियों या पुरुषों की स्थिति उनसे सम्बन्धित आदर्शों और कार्यों के अनुसार निश्चित होती है। ये आदर्श, मूल्य और कार्य प्रत्येक समाज मे समान नही हुआ करते। इसीलिए प्रत्येक आदिम समाज में भी स्त्रियों की स्थिति एकसमान नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि स्त्रियों की स्थिति तब तक पूर्णतया परिभाषित नहीं की जा सकती जब तक उस समाज के सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रतिमान का हमे ज्ञान न हो, क्योंकि समाज मे सदस्यों की स्थिति भी उन प्रतिमानों का एक आवश्यक अंग हुआ करती है। उस समाज का स्त्रियो के प्रति मनोभाव क्या है, स्त्रियों को किस प्रकार के कार्य करने होते हैं, सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों मे उनका कितना और किस रूप मे योगदान रहता है, उसके साथ पुरुषो का व्यवहार कैसा है इत्यादि सभी बातों को ध्यान मे रखकर ही स्त्रियों की स्थिति की विवेचना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत के नीलगिरि निवासी टोडा जनजाति को ही लीजिए, ये लोग विशुद्ध रूप से पशुपालक हैं। उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार भैंस पालना है। कुछ भैंसें इतनी पवित्र

समझी जाती हैं कि जहाँ इनका दूध निकाला और दही मथी जाती है वह स्थान इस जनजाति का मन्दिर होता है। यहाँ बड़ी ऊँची तथा शंकु के आकार वाली छतदार पवित्र झोंपड़ी मे बड़े जटिल कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हुए पुरोहित इन भैंसो का दूध निकालते हैं। स्त्रियों को मासिक धर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य समझा जाता है और भैंसों से सम्बन्धित सभी कार्यों में उनकी स्थिति सबसे निम्न है, यहाँ तक कि वे इन भैंसशालाओ के निकट तक भी नहीं जा सकती। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पड़ता है। स्त्रियाँ केवल भैंसशाला से सम्बन्धित कार्यों के लिए ही अयोग्य नहीं हैं बल्कि उनकी निर्योग्यताएँ दूध से बनने वाले सामानों को बनाने या ऐसे भोजन को जो कि दूध से बनाया होता है, पकाने के सम्बन्ध मे भी लागू होती हैं। इसका तात्पर्य यह नही है कि सामान्य जीवन में भी टोडा स्त्रियो के प्रति निर्दयता या असम्मानजनक व्यवहार किया जाता है। अन्य सभी विषयो मे उनकी स्थिति और कैसी भी हो, दयनीय नहीं है। स्त्रियो के प्रति दया का व कोमल व्यवहार किया जाता है और उनके सुझावों पर ध्यान भी दिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि स्त्रियों की स्थिति की विवेचना उस समाज विशेष की आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए करना ही उचित होगा।

कुछ विद्वानो ने स्त्रियों की स्थिति का ऊँचा या नीचा होना परिवार के स्वरूप से सम्बन्धित माना है। इस विचारधारा के अनुसार जिन समाजो से मातृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal family) पाये जाते हैं वहाँ पर स्त्रियों की स्थिति उन समाजों से ऊँची या अच्छी होती है जहाँ कि पितृसत्तात्मक (patriarchal) परिवार पाये जाते हैं; यद्यपि इस मत मे काफी सच्चाई है, फिर भी इस आधार पर कोई दृढ़ विभाजन-रेखा खींचना या अन्तिम निष्कर्ष निकालना उचित न होगा। यहाँ दो-एक उदाहरणो की सहायता से हम आदिम समाजो मे स्त्रियों की स्थिति का वास्तविक मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे।

आसाम की पहाड़ियो मे पाई जाने वाली खासी जनजाति मातृसत्तात्मक है। इन लोगो मे विवाह के पश्चात् पति को अपनी पत्नी के घर जाकर रहना पड़ता है। इनसे उत्पन्न बच्चो का वंश-नाम माता की ओर का ही होता है। अतः स्पष्ट है कि निवास-स्थान तथा वंश-नाम दोनों के ही सम्बन्ध मे माता या स्त्री की स्थिति पुरुषो से कही अधिक ऊँची है। शायद इसीलिए इस जनजाति मे प्रचलित लोक-कथाओं मे इनके आदि-प्रवर्तक के रूप मे स्त्रियों का ही नाम आता है। इनके अधिकतर देवताओं के नाम भी स्त्री-लिंगी हैं। सम्पत्ति भी उत्तराधिकार के रूप मे माता से पुत्री को ही मिलती है। पुरुष जो कुछ भी कमाता है उस पर उसके विवाह से पूर्व तक माता के परिवार का अधिकार होता है और विवाह के बाद पत्नी के परिवार का। धार्मिक कार्यों को स्त्रियाँ ही करती हैं। इनमें 'पूर्वज-पूजा' करने की प्रथा पाई जाती है, पर ये सब पूर्वज स्त्रियाँ ही होती हैं। इस प्रकार देवताओ को नही, देवियों को ही खासी लोग पूजते हैं और यह विश्वास करते हैं कि ये देवियाँ ही उनकी रक्षा करती हैं, उन्हें रोग-मुक्त करती हैं तथा मृत्यु का भी कारण बन सकती हैं। धार्मिक क्रियाओं और उत्सवों के समय प्रमुख स्थान पुरोहितिनों का होता है; यद्यपि पुरोहित भी उपस्थित रहते हैं, पर उनका काम केवल पुरोहितिनो के

कार्य मे सहायता करना होता है। धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, राजनैतिक क्षेत्रों में भी शासन-प्रबन्ध स्त्रियों के हाथों में ही होता है। परन्तु उन सबका तात्पर्य यह नहीं है कि खासी समाज में पुरुषों की स्थिति दयनीय हो। वास्तव में समाज में और स्त्रियों के द्वारा भी पुरुषो का सम्मान होता है, घर के मामलों में भी उनकी (पुरुषों की) इच्छा को नही टाला जाता, विवाह-विच्छेद पति-पत्नी दोनो की सहमति से होता है और दोनों ही अपने-अपने मामलों मे स्वतन्त्र हैं।

आसाम की एक और जनजाति, जो कि 'गारो' नाम से परिचित है, मातृसत्तात्मक है। इस जनजाति में बच्चों का वंश-परिचय माता के वंश के अनुसार ही होता है। इनके पूर्वज भी स्त्रियाँ ही हैं और ये लोग देवियों की ही पूजा करते हैं। सम्पत्ति पर पुत्री का अधिकार होता है, *फिर भी अपनी पत्नी की सम्पत्ति को पति अपनी इच्छानुसार काम* मे ला सकता है, परन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर न तो पति का और न पुत्र का बल्कि पुत्री का अधिकार होगा। 'गारो' जनजाति में बहु-पत्नी विवाह का प्रचलन है; कन्या-मूल्य की प्रथा नहीं है, विधवाओं को बार-बार पुर्नविवाह करने की छूट नहीं है। पुरुष व्यभिचार करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता है, परन्तु स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रारम्भ मे कुछ छूट है। स्त्री व्यभिचारिणी हो तो पहले-पहल उसके कान छेद दिये जाते हैं, कपड़े फाड़ दिये जाते हैं; पर यदि वह उसे बार-बार दोहराये, तो उसे भी प्राणदण्ड दिया जा सकता है।

इसके विपरीत पितृसत्तात्मक परिवारों में स्त्रियों की स्थिति, विशेषकर निवास-स्थान और सम्पत्ति पर अधिकार के मामलों में, उतनी ऊँची नहीं होती जितनी कि मातृसत्तात्मक परिवारों में। उन समाजों मे, जहाँ कि पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं, विवाह के पश्चात् स्त्री को अपने पति के घर पर रहना पड़ता है। चूँकि वह घर पति का होता है इस कारण वहाँ पति का स्थान भी प्रत्येक प्रकार से पत्नी से ऊँचा होता है। उसी प्रकार सम्पत्ति पर भी अधिकार पिता से पुत्र को ही प्राप्त होता है, पुत्री को नहीं। इतना ही नहीं, ऐसे समाजों में कुछ ऐसे विचार, विश्वास या प्रथाएँ भी पनप जाती हैं जो कि स्त्रियों की स्थिति को गिरा देती हैं। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति में स्त्रियों के मासिक धर्म, प्रसूत आदि से सम्बन्धित जो विचार, विश्वास या आदर्श पनप गये हैं उसके फलस्वरूप भैंस, दूध और दूध से बनने वाली सभी चीजों के सम्बन्ध मे अनेक निर्योग्यताएँ भी स्त्रियों पर लग गई हैं। परन्तु इन सब उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों की स्थिति अनिवार्यत: गिरी हुई होगी ही, ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, 'हो' जनजाति पितृसत्तात्मक है, फिर भी वहां अपनी पत्नियों पर प्रभुत्व करने वाले और उनसे दबकर रहने वाले दोनों प्रकार के ही पुरुष पाये जाते हैं। पितृसत्तात्मक गोंड जनजाति में भी पति को चुनने, तलाक देने या विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध स्थापित करने आदि विषयों में स्त्रियां स्वतन्त्र हैं। उसी प्रकार पितृसत्तात्मक थारू जनजाति में भी स्त्रियों की स्थिति अपने पतियों से श्रेष्ठ है। खासी जनजाति भी पितृसत्तात्मक है, परन्तु इनमें स्त्रियों के सम्बन्ध में 'दोहरा नैतिक नियम' है। जब तक *स्त्रियाँ अपने पति के घर पर रहती हैं तब तक तो उनकी स्थिति दबी हुई होती है और*

वे आज्ञाकारिणी पत्नी के रूप में रहती हैं, परन्तु वही स्त्रियाँ जितने दिन अपने पिता के घर मे रहती हैं, उतने दिन उन्हें अपनी मनमानी करने की छूट होती है, यहाँ तक कि उन्हें यौन-सम्बन्ध स्थापित करने तक की स्वतन्त्रता रहती है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि आदिम समाजों में स्त्रियों की स्थिति *नीची या ऊँची है*, इस सम्बन्ध मे कोई अन्तिम निष्कर्ष सम्भव नहीं। बहुधा यह सोचा जाता है कि आदिम समाज के लोग 'जंगली' या अर्द्ध-सभ्य होते हैं इसलिए उनके समाज में स्त्रियों का उचित सम्मान नही होगा, यह धारणा गलत है। उसी प्रकार यह विचार भी गलत है कि *सभी आदिम समाजों में स्त्रियों की स्थिति ऊँची है*। वास्तव में स्त्रियों की स्थिति प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न है। आसाम के नागाओं में अनेक जनजातियाँ हैं और प्रत्येक जनजाति मे स्त्रियों की स्थिति अलग-अलग है। मध्य भारत की जनजातियों मे स्त्री-पुरुष दोनों को ही समान अधिकार प्राप्त हैं और वे एक-दूसरे के *कन्धे-से-कन्धा* मिलाकर काम करते हैं। इसी प्रकार की अनेक सम्भावनाएँ हो सकती हैं और वह निर्भर है *उस समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान, या सामाजिक* मूल्य (value), आदर्श तथा भावनाओं पर।

वर्ग-व्यवस्था
(Class System)

आदिम समाजों तथा आधुनिक समाजो के तुलनात्मक अध्ययन से एक बात का स्पष्टत: पता चलता है कि सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना बहुत-कुछ संस्कृति के स्तर (stage of culture) पर निर्भर करता है। संस्कृति का स्तर जितना ही ऊँचा होगा या संस्कृति जितनी ही जटिलता को प्राप्त होगी, सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना भी उतना ही निश्चित होगा। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यधिक पिछड़े हुए तथा सरल समाजों में वर्ग-भेद शायद ही स्पष्ट रूप मे पाया जाता हो। एस्कीमो लोगों में, अण्डमान प्रायद्वीप के निवासियों मे, आस्ट्रेलिया की जनजातियों मे, सेमंग, वेड्डा, अफ्रीकन बुशमैन आदि मे वर्ग-प्रथा पाई ही नही जाती। इसका कारण यह है कि इन समाजों मे स्थिति-समूहों का उतार-चढाव, ऊँच-नीच की *भावना तथा वर्ग-चेतना* इसलिए पनप ही नहीं पाती है कि इन समाजो मे धन या सम्पत्ति का संचय (accumulation) सम्भव नहीं, सभी को *प्राकृतिक साधन समान* रूप से प्राप्त हैं और किसी का भी उल्लेख राजनैतिक शक्ति मे नही होता है। हम स्वयं ही अन्दाजा लगा सकते हैं कि एक शिकार करने *तथा* फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाज मे जहाँ उदरपूर्ति करके किसी प्रकार जीवित रहना ही पर्याप्त होता है, जहाँ जीवित रहने के *साधन इतने सीमित हैं कि* आधिक्य (surplus) का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और जहाँ पेट भरने के लिए जंगलो में मारे-मारे फिरना पडता है, *वहाँ वर्ग-व्यवस्था* पनप ही कैसे सकती है। अत स्पष्ट है कि शिकार तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाजो मे वर्ग-व्यवस्था की सम्भावना बहुत कम है क्योंकि इस स्तर वाले समाजों मे सम्पत्ति-भेद या योग्यताओ पर आधारित भेद का नितान्त अभाव होता है। इसके विपरीत कृषि-स्तर पर सम्पत्ति-भेद की *सम्भावना अधिक*

रहती है, इस कारण सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना भी सरल हो जाता है।

यदि हम विभिन्न समाजों में पाई जाने वाली वर्ग-व्यवस्था का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि प्रत्येक समाज में वर्ग-व्यवस्था का एक-सा स्वरूप नहीं होता। विभिन्न समाजों मे वर्ग-भेद के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। श्री ग्रिन्नेल (Grinnell) ने लिखा है कि अमेरिका के प्लेन्स इण्डियनों (Plains Indians) में वर्ग-व्यवस्था का एक अति प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। चौईनी जनजातीय समाज में वर्ग-भेद केवल इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति कितना साहसी और सफल है। अमीर-गरीब के आधार पर वर्ग-भेद पश्चिमी अपाछी (Western Apache) लोगों में भी देखने को मिलता है। *जिनके पास कुछ या कम धन है और जिनमें धन इकट्ठा करने की इच्छा* या क्षमता का अभाव है, उन्हें गरीब समझा जाता है और इसके विपरीत अवस्था वाले लोगों को अमीर कहा जाता है। अमेरिका में प्लेन्स की तीसरी जनजाति किओवा इण्डियनों में चार स्पष्ट वर्ग देखने को मिलते हैं। इन चारों वर्गों के अलग-अलग नाम हैं। प्रथम वर्ग में विशेषकर योद्धा या युद्ध-कला मे अत्यधिक निपुण लोग आते हैं। दूसरे वर्ग मे कारीगर, शिकारी, दवा-दारू करने वाले लोग आते हैं। तीसरे वर्ग में साधारण लोग और चौथे वर्ग में अयोग्य तथा निकम्मे लोग सम्मिलित किये जाते हैं।

अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट की इण्डियन जनजातियों में दो स्पष्ट वर्ग पाये जाते हैं—स्वतन्त्र लोग तथा दास। दास वे लोग होते हैं जिन्हें कि एक जनजाति के लोग दूसरी जनजाति पर हमला करके पकड़ ले आते हैं। इनका काम है अपने स्वामी की सेवा करना, उसके लिए पशुओं का शिकार करना, फल-मूल इकट्ठा करना, इत्यादि। स्वामी स्वतन्त्र (free man) हैं इस कारण वे अपनी इच्छानुसार इन दासों को काम मे लगाते हैं और उन्हें एक प्रकार की उत्पादक पूँजी (productive capital) समझते हैं। इसलिए इन दासों की संख्या के आधार पर उन स्वतन्त्र लोगों की स्थिति निर्धारित होती है। जो जितने अधिक दासों का मालिक होगा, उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही ऊँची होगी। संसार की किन्हीं-किन्हीं जनजातियों मे तो दो से अधिक वर्ग भी स्पष्ट देखने को मिलते हैं जैसे कि मेक्सीको (Mexico) की कुछ जनजातियों में। भारत मे चेंचू, कमार आदि जनजातियों में वर्ग-भेद स्पष्टत: देखने को नहीं मिलता, परन्तु गोंड, भील आदि जनजातियों मे वर्ग-भेद स्पष्ट ही है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि आदिम समाजों मे वर्ग-भेद के अनेक रूप होने पर भी उनमें विभिन्न वर्गों के बीच न तो उतना स्पष्ट भेद है जितना कि आधुनिक सभ्य समाजों में, और न ही उन वर्गों मे तनाव बहुत कटु रूप धारण कर पाता है। अन्य सामाजिक संस्थाओं और समितियों की भाँति वर्ग-व्यवस्था भी उनमे सरल रूप मे पाई जाती है।

SELECTED READINGS

1. Ghurye, G. S.: *Caste and Class In India*, Popular Book Depot, Bombay, 1957,

2. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

3 Herskovits, M J. . *Man and His Works*, New York, 1956.

4. Lowie, R. H.: *An Introduction to Cultural Anthropology*, Revised Edition, New York, 1940.

5 Lowie, R. H. . *Primitive Society*, New York, 1920.

6. Majumdar D N. · *Races and Culture of India*, Asia Publishing House, Bombay 1958.

7. Piddington, R. : *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952.

8. Risley, H. : *The People of India*, London, 1915.

9 विवाह और नातेदारी व्यवस्था
(Marriage And Kinship System)

परिवार बसाने के लिए दो या अधिक स्त्री-पुरुष में आवश्यक सम्बन्ध (जिसमें यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई-न-कोई संस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज मे पाया जाता है जिसे कि विवाह कहते हैं। विवाह प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिम समाज हो या सभ्य समाज, की संस्कृति का एक आवश्यक अंग होता है क्योंकि यह वह साधन है जिसके आधार पर समाज की प्रारम्भिक इकाई 'परिवार' का निर्माण होता है। प्रत्येक स्वाभाविक जीवन के लिए इसी कारण विवाह एक सामान्य (general) तथा स्वाभाविक घटना है और शायद इसीलिए यह अति प्राचीन जनजातियों से लेकर अति आधुनिक समाजों, सभी मे किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। विवाह अण्डमान प्रायद्वीप या आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे जितना लोकप्रिय है उतना ही न्यूयार्क के निवासियों मे भी। हिन्दू-समाज मे तो विवाह का महत्त्व और भी अधिक है क्योंकि हिन्दू-विवाह गृहस्थाश्रम का प्रवेश-द्वार है। मनु ने स्वीकार किया कि जैसे सब पशु वायु के सहारे जीते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थाश्रम से जीवन धारण करते हैं। व्यास-स्मृति में गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जितेन्द्रिय होकर गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले को घर मे ही कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, केदार-बद्रीनाथ आदि का तीर्थ मिल सकता है, जिनकी यात्रा कर वह सब पापों से मुक्त हो सकता है। महाभारत मे तो यहाँ तक उल्लेख किया है कि अविवाहित कन्या को कभी भी, चाहे कितनी ही तपस्या का बल या पुण्य सचय क्यो न हो स्वर्ग नहीं मिलता।

कुछ भी हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से स्त्री-पुरुष की यौन-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करने, उसे एक निश्चित ढंग से नियन्त्रित करने तथा स्थिर रखने और परिवार को स्थायी रूप देने के लिए विवाह की संस्था का जन्म हुआ है। विवाह वह आधार है जो घर बसाता है और बच्चों के पालन-पोषण तथा आर्थिक सहकारिता व सामाजिक उत्तरदायित्व की नींव को बनाता है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह की आवश्यकता यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति तथा शरीर का स्वस्थ निर्वाह और मानसिक शान्ति प्राप्त करना है। सामाजिक दृष्टिकोण से विवाह का महत्त्व बच्चो को जन्म देना और तद्द्वारा समाज की निरन्तरता को कायम रखना है। इसीलिए विवाह नामक संस्था किसी समाज मे नही है, ऐसा कोई भी उदाहरण दुनिया के किसी भी कोने से अनेक छानबीन तथा अन्वेषण के बाद भी मिल न सका; यद्यपि विवाह का स्वरूप या विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के तरीके में पर्याप्त

भिन्नता विभिन्न समाजों में पाई जाती है। इसी कारण सामाजिक मानवशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह संस्था विशेष महत्त्व की है।

विवाह की परिभाषा

(Definition of Marriage)

श्री बोगार्डस (Bogardus) के शब्दों में, "विवाह स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करवाने की एक संस्था है।"[1] श्री वेस्टरमार्क (*Westermarck*) के अनुसार, 'विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें विवाह करने वाले व्यक्तियों के और उनसे पैदा हुए सम्भावित बच्चों के बीच में एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारों और कर्त्तव्यों का समावेश होता है।"[2] संक्षेप में, **विवाह समाज से मान्यता प्राप्त किसी प्रथा या नियम के अनुसार दो या दो से अधिक स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्धों को नियमित करने की वह संस्था है जिसका कि उद्देश्य घर बसाना तथा बच्चों के लालन-पालन के लिए एक स्थायी आधार प्रदान करना है।**

विवाह के उद्देश्य

(Aims of Marriage)

विवाह का सर्वप्रमुख उद्देश्य स्त्री और पुरुष के यौन-सम्बन्धों को नियमित करना तथा सन्तानोत्पत्ति के सामाजिक कार्य में योग देना है। स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न होना स्वाभाविक है परन्तु सन्तानोत्पत्ति के बाद एक नवीन समस्या यह उत्पन्न होती है कि उन असहाय बच्चों का लालन-पालन कैसे हो। पशु-पक्षियों के बच्चों को अपने माता पिता की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि मनुष्य के बच्चों को। इस कारण यौन-सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पत्ति के बाद बच्चों के लालन-पालन के लिए एक घर, निवास या गृहस्थी की आवश्यकता होती है। विवाह की उत्पत्ति इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी हुई है। केवल स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को स्थिर करने या उनकी यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए ही नहीं, अपितु परिवार बसाने तथा उस परिवार को एक स्थायी रूप देने के लिए भी विवाह-संस्था का जन्म हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुसार विवाह का एकमात्र उद्देश्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को नियमित करना या उनकी काम-वासनाओं को चरितार्थ करना है। परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। यौन सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति मात्र को विवाह का उद्देश्य मानना गलत होगा

---

1 "Marriage is an institution for admitting men and women to family Life." —Bogardus.

2. "Marriage is a relation of one or more men and women which is recognised by custom or law, and involves certain rights and duties both in the case of the parties entering the union and in the case of childern born of it." —Westermarck, *The History of Human Marriage*, Vol. I, p 26.

क्योंकि इनकी पूर्ति विवाह-सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हो सकती है। यह सच है कि यौन-इच्छाओं की पूर्ति विवाह का एक आधारभूत कारण है, परन्तु इसी को एक मात्र और अन्तिम उद्देश्य मान लेना विवाह के परम उद्देश्य की अवहेलना करना होगा। शरीर के स्वस्थ निर्वाह के लिए और मानसिक शान्ति के लिए भी विवाह की आवश्यकता है। मनुष्य केवल यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही जीवित नहीं रहता; उसकी आर्थिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक अन्य अनेक आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ होती हैं जिनके लिए किसी-न-किसी प्रकार के सगठन की आवश्यकता उसे होती है। इस संगठन का एक प्राथमिक आधार परिवार होता है जो कि विवाह के द्वारा ही बसाया जाता है। इस प्रकार विवाह के अनेक या कुछ आर्थिक और सामाजिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं। सेमा नागा मे एक लड़के को अपनी मा को छोडकर अपने पिता की अन्य विधवाओं से विवाह इस उद्देश्य से करना पडता है कि पैतृक सम्पत्ति पर उसका अधिकार बना रहे क्योंकि उस समाज मे पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार उसकी विधवाओं का ही होता है और उन विधवाओं से विवाह किए बिना सम्पत्ति को पाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। यहाँ विवाह का यौन-सम्बन्धी उद्देश्य महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि आर्थिक उद्देश्य। जहाँ यौन-सम्बन्धी उद्देश्य महत्त्वपूर्ण भी है, वहाँ भी इसके अतिरिक्त अन्य आर्थिक व सामाजिक उद्देश्य कम महत्त्व के नहीं हैं। विवाह और परिवार मानव-जाति की निरन्तरता को बनाये रखने का एक प्रधान साधन है। व्यक्ति भले ही मर जाय, पर परिवार और विवाह द्वारा मानव-जाति या समाज अमर हो गया है। मनुष्य अपने बच्चों में अपनी आशाओं को फलीभूत होते देखना चाहता है। मनुष्य की कई आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ सन्तान से पूर्ण होती हैं। सन्तान द्वारा उसकी वंश-रक्षा ही नही बल्कि वंश की परम्परा या सांस्कृतिक प्रतिमान भी हमेशा बने रहते हैं। सन्तान द्वारा प्रत्येक बात मे अपना अनुकरण किये जाने पर मनुष्य के अहंभाव की संतुष्टि होती है। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह का उद्देश्य यौन-सम्बन्धी तथा मानसिक इच्छाओं की संतुष्टि करना है और सामाजिक दृष्टिकोण से समाज तथा संस्कृति दोनों के अस्तित्व या निरन्तरता को बनाए रखना है।

विवाह का आर्थिक उद्देश्य भी कम महत्त्व का नहीं है। अनेक ऐसी जनजातियाँ हैं जिनमे जीवित रहने के लिए कठोर संघर्ष करना पडता है। विवाह इस संघर्ष मे सहायक सिद्ध होता है क्योंकि विवाह दो या अधिक व्यक्तियों को एक परिवार में संयुक्त करता है और इस प्रकार संयुक्त होने वाले सब सदस्य एक साथ मिलकर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। विवाह दो या अधिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को स्थिर करने और परिवार को स्थायी रूप देने मे जो योग देता है उससे आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी सरल हो जाती है। कादर जनजाति के लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार के सब सदस्यों के सहयोग से ही सम्भव है। उसी प्रकार अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियों मे स्त्रियों को भी पुरुषों के साथ जीवित रहने के साधनों को एकत्रित करने में सहयोग करना पडता है।

श्री मुरडॉक (Murdock) ने ससार के विभिन्न भागों में पाये जाने वाले 250

समाजों के, विवाह के उद्देश्य के संदर्भ मे, तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि मानव-समाजों मे विवाह के सामान्यत. तीन मुख्य उद्देश्य होते हैं—**प्रथम**, यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति, **द्वितीय**, आर्थिक सहयोग और **तृतीय**, बच्चों का पालन-पोषण। श्री मुरडॉक का मत है कि प्रथम उद्देश्य (अर्थात् यौन-सम्बन्धी आनन्द) विवाह का एक मात्र उद्देश्य है, ऐसा प्रमाण किसी भी समाज मे नही मिलता है क्योकि ऐसे भी समाज हैं जहाँ कि पति और पत्नी को एक-दूसरे के साथ ही नही, अन्य व्यक्तियों के साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की छूट रहती है। और कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ पति-पत्नी तक मे आपस मे कोई यौन-सम्बन्ध नही होता। ऐसा भी हो सकता है कि विवाह किये बिना भी यौन-सम्बन्ध स्थापित हो जाय। उदाहरणार्थ, भारत के मध्य भाग मे रहने वाली कुछ जनजातियों मे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की तब तक स्वतन्त्रता रहती है जब तक लड़की गर्भवती नही हो जाती। उसी प्रकार कई यौन-सम्बन्ध विवाह मे परिणित नही होते, जैसे भारत की कूकी जनजाति मे। अत. निष्कर्ष यह है कि किसी भी समाज मे केवल यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से ही विवाह नही होता। पर सभी समाजो मे दूसरे दो उद्देश्य अर्थात् आर्थिक सहयोग तथा बच्चो के पालन-पोषण से सम्बन्धित उत्तरदायित्व विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष पर अवश्य ही लादा जाता है। अतः स्पष्ट है कि विवाह एक वैयक्तिक घटना नही है जिसका कि एक मात्र उद्देश्य विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष को सुख या तृप्ति प्रदान करना हो, बल्कि विवाह वह साधन भी है जिससे समाज का अस्तित्व भी सम्भव हो।

विवाह की उत्पत्ति
(Origin of Marriage)

पिछले अध्याय मे 'परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्तो' की विवेचना करते हुए हम *विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी बहुत-कुछ बता चुके हैं। यहाँ पर हम केवल उन* सिद्धान्तो का सारांश ही प्रस्तुत करेंगे।

श्री मॉर्गन (Morgan) आदि कुछ विद्वानों का मत है कि मानव-समाज व संस्कृति के प्रारम्भिक काल मे विवाह नामक किसी भी संस्था का अस्तित्व न था, यह तो सामाजिक विकास के कुछ स्तरो के बाद उत्पन्न हुई है। श्री मॉर्गन ने यह सिद्धान्त प्रचलित किया कि **प्रारम्भ** मे समाज मे कामाचार (promiscuity) की दशा पाई जाती थी और इसीलिए यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। परन्तु जनजातीय संसार से एकत्रित आधुनिक प्रमाणो मे इस सिद्धान्त की पुष्टि नही होती है। त्यौहारो मे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता या धर्म-पालन के हेतु पत्नी की भेंट यौन-साम्यवाद या कामाचार का प्रमाण नही हो सकती। यहाँ तक कि ब्रेज़ील की काइगन, साइबेरिया की चकची तथा आस्ट्रेलिया की डेयरी जनजातियाँ, जिनमे कि समूह-विवाह की प्रथा पाई जाती है, वहाँ भी इस बात का कोई प्रमाण नही मिला है कि उन समाजों में कभी कामाचार की दशा थी। अति प्राचीन जनजाति, जैसे कादर, पलियन, चचू, बिरहोर (सब भारतवर्ष के) मे तथा अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियो मे भी कामाचार

का कोई प्रमाण नहीं मिल सका। श्री मॉर्गन के अनुसार कामाचार की अवस्था के पश्चात् समूह-विवाह का विकास हुआ था। इस प्रकार के विवाह मे एक परिवार के सब भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ हुआ करता था जिसमे प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियो का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की स्त्री होती थी। **तीसरी अवस्था** मे एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह तो होता था, पर उसी परिवार मे ब्याही हुई स्त्रियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक पुरुष को रहती थी। **चौथी अवस्था** मे, श्री मॉर्गन, के अनुसार, पुरुष का ही एकाधिपत्य होता था और इसलिए वह अपनी इच्छानुसार एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता और उन सब के साथ यौन-सम्बन्ध रखता था। एक विवाह की स्थिति इस अवस्था के बाद आई है।

श्री बैकोफन (Backofen) के अनुसार भी आदिकाल मे विवाह नामक कोई संस्था स्पष्ट नही थी। फलतः यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का कोई निश्चित नियम नहीं था। इसके बाद जनसख्या के बढने के साथ-साथ दरिद्रता तथा कमी (scarcity) भी बढ़ने लगी और लड़कियों के वध की प्रथा शुरू हुई जिससे समाज मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो की सख्या अधिक हो गई। फलत बहुपति-विवाह का जन्म हुआ। इसके बाद खेती मे उन्नति होने से परिवार मे स्थायी श्रमिकों के रूप मे स्त्रियों की आवश्यकता बढ़ी और पुरुष भी अपने ऐशोआराम के लिए अधिक पत्नियाँ रखने मे समर्थ हुए जिससे बहुपत्नी-विवाह का जन्म हुआ। अन्त मे नैतिक विचारो मे विकास होने पर और स्त्रियों द्वारा समान अधिकार की माग होने पर एक-विवाह की प्रथा चली। **श्री वेस्टरमार्क** (Westermarck) ने उपरोक्त सिद्धान्तो की कटु आलोचना करते हुए अपने एक-विवाह के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके अनुसार यौन-सम्बन्धों की स्वतन्त्रता, बहुपति या बहुपत्नी-विवाह केवल सामाजिक नियमो के क्षणिक उल्लघन मात्र हैं, स्थायी रूप तो एक-विवाह ही है। ऊँचे और नीचे सभी प्रकार के समाजो मे एक-विवाह ही मिलता है, यहाँ तक कि चिडियो, पशुओं, वनमानुषों आदि मे भी एक-विवाह ही मिलता है। **श्री मैलिनोवस्की** (Malinowski) ने श्री वेस्टरमार्क का समर्थन करते हुए लिखा है कि "एक-विवाह ही विवाह का एक मात्र सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।"

साराश यह है कि विवाह का स्वरूप प्रत्येक समाज मे एक ही रहा है, इस तथ्य की पुष्टि मे प्रमाण प्रस्तुत करना उतना ही कठिन है जितना की यह प्रमाणित करना कि आदि काल मे कामाचार की अवस्था थी। परन्तु यौन-सम्बन्धो को नियमित व स्थिर करने, परिवार को स्थायी रूप देने, आर्थिक सहयोग का विकास करने तथा बच्चो के लालन-पालन की एक सुनिश्चित व्यवस्था करने के लिए विवाह की सस्था का जन्म हुआ है, इस तथ्य के पक्ष मे प्राय. सभी समाजों से, चाहे वह अति आदिम समाज हो या अति आधुनिक, अनेक प्रमाणो को प्रस्तुत किया जा सकता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विवाह, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, हमेशा ही था और रहेगा।

विवाह की आयु
(Age of Marriage)

सामान्य रूप से जनजातियो मे बाल-विवाह का प्रचलन नहीं है, और उनमें विवाह किशोरावस्था या उसके बाद ही होता है। जहाँ तक भारत की जनजातियों का प्रश्न है, उनमे भी बाल-विवाह नही पाया जाता। परन्तु जो जनजातियाँ हिन्दुओं के घनिष्ठ सम्पर्क मे आयी हैं उनमें बाल-विवाह होने लगा है। हिन्दुओं के सम्पर्क मे आने के कारण ही छोटा नागपुर की संथाल, मुण्डा और ओरांव जनजातियों मे तथा राजस्थान के भीलों में लड़कों के विवाह की आयु प्राय 12-13 वर्ष और लड़कियों की प्राय: 9-10 वर्ष के लगभग हो गई है। परन्तु अधिकाश जनजातियो मे यह स्थिति नहीं है। उदाहरणार्थ, आसाम के नागाओं और कूकियों मे लड़कियो का विवाह 15 से 20 वर्ष की आयु में तथा लड़कों का विवाह 18 से 25 वर्ष की आयु मे होता है। विवाह चाहे बाल्यावस्था मे हो या किशोरावस्था में हो, साधारणत. विवाह के समय लड़कों की आयु हिन्दुओं की भाँति ही लड़कियों से अधिक होती है।

विवाह-सम्बन्धी निषेध
(Prohibitions regarding Marriage)

विवाह की संस्था को नियमित तथा स्थिर बनाने के लिए विवाह-सम्बन्धी निषेध और नियम प्रत्येक समाज मे ही पाये जाते हैं चाहे वह जनजातीय समाज हो या आधुनिक सभ्य समाज। जनजातीय समाज मे ये नियम और निषेध सक्षेप मे निम्नलिखित हैं—

(1) पारिवारिक निकटाभिगमन या निषिद्ध निकटाभिगमन
(Family Incest or Incest Taboo)

यद्यपि विवाह के माध्यम से अनेक निकट सम्बन्धियों या रिश्तेदारों का उद्भव होता है, फिर भी अनेक रिश्तेदारों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की मनाही भी होती है। दूसरे शब्दों मे, प्रत्येक समाज मे किसी-न-किसी रूप में अति निकट के सम्बन्धियों से विवाह-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध होता है। इस नियम को ही निकटाभिगमन या निषिद्ध निकटाभिगमन नियम (incest regulation) कहते हैं। वैसे तो इस नियम के कुछ अन्य व्यक्ति भी होते हैं, परन्तु सामान्यत. पिता और पुत्री मे, माता और पुत्र मे तथा सगे भाई और बहनो मे विवाह प्राय. सभी समाजो मे निषिद्ध है। परन्तु साथ ही यह स्मरण रहे कि कुछ समाज ऐसे भी हैं जहाँ निकट सम्बन्धियों से विवाह करने का ही नियम है। उदाहरणार्थ, पेरू के इन्का (Inca), प्राचीन मिस्र देशवासी तथा हवाई प्रायद्वीप के अनेक घरानो मे निकट सम्बन्धियो से ही विवाह करने का नियम पाया जाता है। ये लोग अपने को कुलीन (nobles) कहते हैं और इसलिए अपने मे विशुद्ध कुलीन रक्त को बनाये रखने के लिए भाई-बहनों मे भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की केवल मान्यता ही नहीं देते बल्कि ऐसे विवाह-नियम को ही अनिवार्य रूप से लागू करते हैं।

इनमें यह विश्वास है कि इस प्रकार का विवाह साधारण विवाह नहीं है, इस कारण यह असाधारण अर्थात् अत्यधिक कुलीन व्यक्तियों को ही शोभा देता है। इसलिए इन समूहों मे भी सब लोगो को नही, बल्कि कुछ विशेषया असाधारण व्यक्तियों को ही इस प्रकार के विवाह करने की आज्ञा दी जाती है।

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज ही निकटाभिगमन (incest) को परिभाषित तथा निषिद्ध करता है, परन्तु वह परिभाषा और निषेध प्रत्येक समाज मे समान नही हुआ करता। इससे एक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के निषेध किन्हीं प्राणीशास्त्रीय विचारो (biological consideration) से प्रभावित नहीं होते। सच तो यह है कि निकटाभिगमन के प्राणीशास्त्रीय परिणाम क्या हो सकते हैं, इसका अनुमान लगाना ही जनजातीय लोगो के लिए असम्भव है। फिर भी इस प्रकार के निषेधों का अस्तित्व, संस्कृति के अन्य पक्षों की भाँति, इसलिए बना रहता है कि इससे कुछ सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। इस कारण यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ नियम प्रत्येक समाज मे ही पाये जाते हैं। साधारणतः यौन-सम्बन्ध की सीमा पति-पत्नी तक ही सीमित रहती है। अन्य किसी के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध धार्मिक तथा अन्य आधारो पर वर्जित होते हैं।

कहा जाता है कि इस प्रकार का निषेध इस कारण होता है कि एक ही परिवार के सभी सदस्य जब बहुत दिनो तक एकसाथ घनिष्ठ रूप से रहते हैं तो उनमे परस्पर यौन-सम्बन्धी आकर्षण समाप्त हो जाता है और इसलिए वे यह पसन्द करते है कि विवाह इन अति निकट-सम्बन्धियो के दायरे से बाहर ही हो। परन्तु यह उपकल्पना (hypothesis) सत्य प्रतीत नही होती। अगर ऐसा ही होता तो निकटाभिगमन-सम्बन्धी निषेधो की आवश्यकता ही नहीं होती। अगर यौन-सम्बन्धी आकर्षण समाप्त ही हो जाता है तो क्या कारण है कि कुछ अपवादो को छोड़कर सर्वत्र भाई-बहन, पिता-पुत्री, माता-पुत्र के बीच विवाह-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के नियमों को इतनी कठोरता से लागू किया जाता है और इन्हे तोड़ने पर कठोरतम दण्ड की व्यवस्था भी की जाती है। श्री ह्वाइट (White) का तो कहना है कि एकसाथ घनिष्ठ रूप से रहने से यौन-सम्बन्धी आकर्षण घटने के बजाय बढ़ भी सकता है। अन्त मे यह भी विचारणीय है कि निकटाभिगमन सम्बन्धी निषेध प्राय. उन लोगो पर भी लागू होते हैं जो कि एक परिवार मे एकसाथ नही रहते हैं। उदाहरणार्थ, चिरिकाहुआ अपाछी (Chiricahua Apachee) लोगों मे दूर के चचेरे तथा ममेरे भाई-बहनो मे विवाह-सम्बन्धी निषेध, उतने ही कठोर हैं जितने कि सगे भाई-बहनो मे। नाभाहो (Navaho) जनजाति मे यह निषेध पूरे गोत्र के सदस्यो के लिए लागू होता है जो कि बिल्कुल एक-दूसरे से अलग विभिन्न परिवार मे रहते हैं। श्री क्लूखौन (Kluckhohn) ने लिखा है कि इस जनजाति मे एक गोत्र के दो युवक-युवती के लिए एक-दूसरे से लिपटकर नाचना तक भी निषिद्ध है।

अत स्पष्ट है कि निकटाभिगमन के निषेध न तो प्राणीशास्त्रीय और न ही मनोवैज्ञानिक कारको के कारण हैं। जैसा कि श्री लिण्टन ने लिखा है प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से अति निकट-सम्बन्धियो मे भी यौन-सम्बन्ध या सन्तानोत्पत्ति हानिकारक नही है। उसी

प्रकार इस तरह के निषेध के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण हो तो सकते हैं, पर वे इतने शक्तिशाली नहीं हैं कि उनके आधार पर इस सार्वभौम घटना (universal phenomena) की *यथार्थ व्याख्या सम्भव हो सके। उसी प्रकार इन निषेधों की व्याख्या किसी एक सामा*जिक कारण के आधार पर भी सम्भव इसलिए नहीं है कि इन निषेधों के अनेक विविध रूप विभिन्न समाजो मे देखने को मिलते हैं। इसलिए यह कहना ही उचित होगा कि निकटाभिगमन के निषेधो का उद्‌भव सम्भवत. उपरोक्त सभी कारणों के मिलने से हुआ है।[1]

यौन-सम्बन्धों को नियमित करना या एक सीमित सीमा के अन्दर रखना सामाजिक संगठन या व्यवस्था को कायम रखने के दृष्टिकोण से आवश्यक है क्योंकि केवल यौन-सम्बन्ध के अनियमित होने से समस्त समाज मे विघटन उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। श्री मैलिनोवस्की ने स्पष्ट ही लिखा है कि यदि कामोत्तेजनाओं को परिवार के सीमाक्षेत्र पर अधिकार जमाने दिया जाय तो उसका परिणाम केवल परिवार मे ईर्ष्याओं का फैलना, प्रतियोगिताओं का बढना और अन्त मे पारिवारिक विघटन होना ही न होगा बल्कि यह उन आधारभूत बन्धनो को भी तोड़-फोड़ डालेगा जो कि सामाजिक संगठन, एकता तथा प्रगति के लिए आवश्यक हैं। वह समाज, जो निकटाभिगमन की आज्ञा देता है, कदापि स्थिर तथा सगठित परिवारो को विकसित नहीं कर सकता और यदि समाज का परिवार-रूपी प्राथमिक आधार ही टूट गया तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना तो आश्चर्य नही। यह बात आदिम समाजो के लिए और भी सत्य है। क्योंकि इन समाजो मे परिवार ही सम्पूर्ण समुदाय का सबसे निर्भरयोग्य आधार है।[2]

अत: स्पष्ट है कि निकटाभिगमन के निषेध पारिवारिक तथा सामाजिक संगठन को बनाये रखने के उद्देश्य से लागू किये जाते हैं। साथ ही इस प्रकार के निषेधों के होने से लोग अपने परिवार मे नहीं बल्कि दूसरे परिवारों में से अपना विवाह-साथी ढूँढते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न परिवारो के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे एक-दूसरे के साथ बध जाते हैं। इससे एक ओर सामाजिक संघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं और दूसरी ओर आर्थिक सहकार की शृंखला भी जुड़ने लगती है।

इसलिए, साराश मे, हम कह सकते हैं कि निकटाभिगमन-सम्बन्धी निषेधो का जन्म या उद्‌भव दो प्रमुख उद्देश्यो की पूर्ति के लिए हुआ होगा—इसका प्रथम उद्देश्य सुस्थिर तथा सहयोगी परिवारों को विकसित करना है जिससे बच्चो का लालन-पालन उचित ढग से हो सके और आर्थिक सहकार का विकास सम्भव हो। इसका द्वितीय उद्देश्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धो को इस ढग से नियमित करना है कि विभिन्न परिवारो के बीच के पारस्परिक सम्बन्धो का एक निश्चित रूप विकसित हो और सुस्थिर रहे। प्रथम

1. Ralph Linton, *The Study of Man*, Appleton Century Crofts, New York, 1936, pp. 125-126.

2. Bronislaw Malinowski, 'Culture', *Encyclopaedia of the Social Sciences*, The Macmillan Co., New York, 1930, Vol. IV, p. 630.

उद्देश्य पारिवारिक या व्यक्तिगत जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है जबकि दूसरा उद्देश्य सामुदायिक जीवन की आधार-शिला है।

(2) बहिर्विवाह
(Exogamy)

उपरोक्त निकटाभिगमन के निषेधों के फलस्वरूप ही एक प्रकार के विवाह का प्रचलन होता है जिसे कि बहिर्विवाह कहते हैं। बहिर्विवाह के अनुसार एक व्यक्ति को अपने समूह के बाहर विवाह करने की आज्ञा दी जाती है। यह समूह उस व्यक्ति की जाति, जनजाति, गोत्र या टोटम-समूह हो सकता है जिसके बाहर विवाह करने को कहा जाता है। जनजातियों मे प्रायः अपने गोत्र और टोटम-समूह के अन्दर विवाह नहीं होता है। कादर, बैगा और अण्डमान द्वीप की जनजातियो को छोड़कर अन्य सभी जनजातियों में गोत्र के आधार पर सामाजिक संगठन पाये जाते हैं। एक गोत्र के सदस्य अपने विवाह-साथी दूसरे गोत्र से प्राप्त करते हैं। लुशाई कूकी जनजाति मे गोत्रो के आधार पर बहिर्विवाह-सम्बन्धी निषेध नहीं है। इसके विपरीत खासी जनजाति मे इस नियम को तोड़ना सर्वनाश के समान है। टोटम-बहिर्विवाह का नियम भारतीय जनजातियों में प्रायः सार्वभौम है और इसका उल्लंघन अक्षम्य अपराध है।

छोटा नागपुर की मुण्डा तथा अन्य जनजातियाँ गाँव-बहिर्विवाह (village exogamy) के नियम को मानती हैं, अर्थात् अपने गाँव की लड़की से विवाह नहीं करतीं। आसाम की नागा, दक्षिण भारत की इरूला आदि अनेक जनजातियां बहिर्विवाह-वर्गों मे बँटी हुई हैं, और वर्ग-बहिर्विवाह के नियमो का पालन करती हैं। राजस्थान की भील जनजाति कुछ 'पालो' (क्षेत्रीय इकाइयो) मे बँटी हुई है और इसी आधार पर बहिर्विवाह के नियम को लागू करती है। हो सकता है कि एक पाल मे एकाधिक गोत्र हों और उस पाल का एक व्यक्ति अपने से दूसरे गोत्र मे (पर उसी पाल मे) विवाह करना चाहता है, फिर भी उसे विवाह करने की आज्ञा नही मिलती। उसे तो विवाह करने की आज्ञा तभी दी जाती है जब वह अपना विवाह-साथी अपने पाल से बाहर दूसरे पाल से चुने। इस प्रकार भीलो मे पाल बहिर्विवाह के नियम पाये जाते हैं।

बहिर्विवाह के कारण के सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं, **श्री वेस्टरमार्क** (Westermarck) के अनुसार बहिर्विवाह का कारण नजदीकी रिश्तेदारों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होने को अधिक-से-अधिक टालना है। **श्री लोई** (Lowie) भी श्री हॉबहाउस के इस विचार से सहमत हैं कि नजदीक के रिश्तेदारों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से बचने की भावना मूलप्रवृत्यात्मक (instinctive) है। भाई-बहन, माता-पुत्र, पिता-पुत्री मे विवाह पर निषेध प्राय सार्वभौम है और उसी आधार पर एक समूह के बाहर विवाह का प्रचलन भी आश्चर्य की बात नही है। अतः अति निकट रिश्तेदारों को छोड़कर विवाह करने की भावना यदि मूलप्रवृत्यात्मक है, तो उसी भावना का विस्तार और समूह के बाहर विवाह करने का नियम परम्परागत या रूढिगत (conventional) है। उदाहरणार्थ, मोंटाना के ब्लैकफूट (Blackfoot o

Montana) लोगो मे केवल चचेरे, ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनो मे ही विवाह निषिद्ध नही हैं, बल्कि उन्होने इस निषेध का विस्तार अपने स्थानीय समूह के सभी सदस्यों तक मे इस डर से कर दिया है कि कहीं भूल से किसी निकट रक्त-सम्बन्धी से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित न हो जाय। पैवियट्सो (Paviotso) जनजाति मे अपने मामा, फूफा, चाचा आदि के बच्चो को, चाहे वे कितने ही दूर के रिश्ते के क्यो न हो, भाई या बहन कहकर ही पुकारा जाता है।

श्री लोई ने लिखा है कि निकट-रिश्तेदारो के साथ कही यौन-सम्बन्ध स्थापित न हो जाय, इस डर के आधार पर बहिर्विवाह की प्रथा का जन्म कैसे हो सकता है, उसका एक प्रमाण यह भी है कि कुछ जनजातियो मे एक ही नाम के दो समूहो मे विवाह निषिद्ध है। इस नियम के अनुसार आस्ट्रेलिया की एक जनजाति का ईमू (Emu) समूह का एक पुरुष कभी भी ईमू नाम के किसी भी दूसरे समूह की स्त्री से विवाह-सम्बन्ध स्थापित नही करेगा चाहे वह दूसरा समूह पहले समूह से एक सौ मील दूर पर भी निवास करता हो। इन नियन्त्रणो को भी बहिर्विवाह के नियन्त्रण के रूप मे माना जाता है क्योंकि इसके अनुसार अपने समूह के नाम वाले समूह के बाहर ही विवाह करने की आज्ञा होती है।

श्री रिज़ले (Risley) के अनुसार बहिर्विवाह का एक कारण यह भी है कि मनुष्य नवीनता चाहता है और इसी कारण अपने समूह की जानी-पहचानी स्त्रियो से विवाह करने की अपेक्षा बाहर के समूह की नवीन स्त्रियो को अधिक पसन्द किया जाता है।

श्री ऑडरे रिचार्ड्स (Audrey Richards) के मतानुसार एक समय था जबकि आखेट-जीवी तथा फल-मूल सग्रह करने वाली जनजातियो मे भोजन की समस्या विकट होने के कारण विशेषकर लडकियां बोझ समझी जाती थी और उन्हे मार डाला जाता था। इस कमी को आवश्यकता होने पर दूसरे समूह पर आक्रमण करके वहाँ की स्त्रियो को पकड़ लाकर पूरा किया जाता था। इसी से आगे चलकर बहिर्विवाह प्रथा का जन्म हुआ।

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य कारकों का योग होने पर भी जनजातियो मे गोत्र तथा टोटम की धारणाएँ बहिर्विवाह का सबसे प्रमुख कारण हैं। इन धारणाओ और विश्वासो के अनुसार एक गोत्र और टोटम के सभी लोग एक-दूसरे के भाई-बहन हैं, इस कारण उनमे आपस मे विवाह कभी नही हो सकता या होना उचित नहीं है।

(3) अन्तर्विवाह
(Endogamy)-

यह वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपने समूह के अन्दर ही विवाह करना होता है। यह समूह एक व्यक्ति की अपनी जाति, जनजाति या कभी-कभी गोत्र मे भी हो सकता है। भारत की जनजातियो मे जहाँ जनजातीय अन्तर्विवाह साधारणतया होता है, वहाँ गोत्र-अन्तर्विवाह के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। टोडा जनजाति के

गोन्न तारथारोल और तिवालियल अन्तर्विवाही समूह हैं। उसी प्रकार भील जनजाति के 'उजले भील' और 'मैले भील' भी अन्तर्विवाह के नियम को मानते हैं।

अपरिचित लोगों का भय भारत की जनजातियो में पाये जाने वाले अन्तर्विवाह के नियमों का सर्वप्रमुख कारण है। इसी भय के कारण भारत की प्राय: सभी जनजातियाँ अपनी ही जनजाति मे विवाह करती हैं। पड़ौसी जनजातियों के जादू-टोने आदि से हानि पहुँचने का डर भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है। कोरवा जनजाति में अन्तर्विवाह इसी कारण होता है।

अपनी सामाजिक, सास्कृतिक तथा भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं को बनाये रखने की इच्छा भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित करने मे सहायक सिद्ध होती है। दूसरी बात यह भी है कि इन विशेषताओं के कारण ही जनजातियो मे भिन्नताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं जिनके कारण वे एक-दूसरे से मिल नही पाती। भौगोलिक पृथकता और प्रजातीय भिन्नता भी विभिन्न जनजातियो के बीच एक बहुत बड़ी खाई की सृष्टि करती है, जो उन्हें मिलने नही देती। फलत: अन्तर्विवाह प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक हो जाता है। इसके अतिरिक्त अशिक्षा, कुसंस्कार, यातायात के साधनो का अभाव, प्रत्येक जनजाति की आत्मनिर्भर प्रकृति आदि अन्तर्विवाह के सहायक कारण हैं।

अधिमान्य विवाह
(Preferential Mating)

आदिम संसार से एकत्रित तथ्यो से विवाह के सम्बन्ध मे एक सत्य प्रगट होता है कि जनजातियों मे ही नही अनेक आधुनिक समाजो मे भी विवाह केवल मात्र एक व्यक्तिगत मामला नही बल्कि एक ऐसा साधन या आधार है जिसके माध्यम से दो परिवारो के बीच एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे एक-दूसरे के साथ एक दृढ बन्धन मे बध जाते हैं। विवाह के बाद प्रत्येक स्त्री या पुरुष यह पाता है कि विवाह के द्वारा उसे न केवल अपना एक जीवन-साथी ही मिला है बल्कि अन्य अनेक नये रिश्तेदार भी मिल गये हैं जिनके अधिकारो को टाला नही जा सकता। इसीलिए विवाह के बाद एक व्यक्ति को अपनी पत्नी के पिता (ससुर) को पिता जैसा सम्मान देना पड़ता है। विवाह किसके साथ होगा या किसके साथ नही होगा इस सम्बन्ध मे प्रत्येक समाज मे लिखित या अलिखित कुछ-न-कुछ नियम होते हैं। जब किसी व्यक्ति को अन्य किसी व्यक्ति से विवाह करने का विशेष अधिकार होता है या उनमे विवाह होना अधिक पसन्द किया जाता है तो उसे अधिमान्य विवाह (Preferential Marriage) कहते हैं। इस प्रकार के विवाहो को अधिमान्य विवाह इस कारण कहा जाता है कि विवाह के मामले मे या विवाह साथी चुनने के सम्बन्ध मे कुछ व्यक्तियों को अन्य व्यक्तियो की तुलना मे अधिमान्यता या प्रमुखता दी जाती है या अधिक पसन्द किया जाता है। इस प्रकार के विवाह के चार प्रमुख रूप निम्नवत् हैं—

(1) ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों का विवाह *(Cross-Cousin Marriage)*—इस प्रकार के विवाह मे भाई और बहन के बच्चो के बीच विवाह पसन्द किया जाता है। चूँकि

विवाह करने वाले दो पक्ष आपस मे ममेरे-फुफेरे भाई-बहन होते हैं; इस कारण इस प्रकार के विवाह को ममेरे-फुफेरे भाई-बहन का विवाह कहा जाता है। भारत मे ऐसी कुछ जनजातियाँ हैं जिनमे इस प्रकार के विवाह को बहुत पसन्द किया जाता है। उदाहरणार्थ, मणिपुर के पुरुम-कूकियो मे मामा की लडकी के साथ विवाह करना इतना उत्तम समझा जाता है कि सन् 1936 मे प्रोफेसर तारकचन्द दास द्वारा किये गये अनुसन्धानो के अनुसार इसमे 75 प्रतिशत विवाह इसी प्रकार के थे। गोंड जनजाति मे तो ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों मे विवाह अनिवार्य है। श्री ग्रिगसन (Grigson) के अनुसार 54 प्रतिशत गोंडो का विवाह इसी प्रकार का होता है। खरिया, ओरॉव, खासी, कादर आदि जनजातियो मे भी इसी प्रकार के विवाह का प्रचलन है। आसाम की मिकीर जनजाति मे भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है। भीलो मे यह प्रथा बहुत अधिक जनप्रिय है। मध्यभारत की कुछ जनजातियों मे इस प्रकार के विवाह को इतना महत्व दिया जाता है कि यदि कोई पक्ष इस प्रकार के विवाह के लिए राजी नही होता है तो उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। गोंडों मे ऐसे विवाह को 'दूध लौटवा' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक गोंड 'अ' ने अपनी पत्नी के लिए जो कन्या मूल्य दिया था वह उसके परिवार में फिर उस समय लौट आता है जबकि 'अ' की लडकी की शादी उस लडकी के माता के भाई (मामा) के लडके से होती है। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि इस प्रकार के विवाह से एक परिवार जिस परिवार से अपने लड़के के लिए लड़की लेता है उसे फिर अपनी लड़की दे देता है, और इस प्रकार 'दूध' लौट जाता है।

(2) **चचेरे-मौसेरे भाई-बहनों का विवाह** (Parallel Cousin Marriage)—जब दो भाइयो की सन्तान या दो बहनों की सन्तानें आपस मे विवाह करें तो ऐसे विवाह को क्रमश. चचेरे भाई-बहनो का विवाह और मौसेरे भाई-बहनो का विवाह कहते हैं। पहली प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने चाचा के लड़के या लड़की से विवाह किया जाता है। दूसरी प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने मौसा के लडके या लडकी से विवाह किया जाता है। मुसलिम धर्म के आधार पर उपरोक्त दोनो प्रकार के विवाह सम्भव हैं। भारतीय जनजातियो मे चचेरे-मौसेरे भाई-बहनो के विवाह का प्रचलन नही है। अरब की एक खानाबदोश जनजाति बेडोइन (Bedouin) मे इस प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। इन लोगो की जीविका-पालन का एक मात्र साधन ऊँट होता है जिन्हे कि वे रेगिस्तानी प्रदेश मे एक स्थान से दूसरे स्थान को लिए फिरते है। इन ऊँटो को पालने के लिए और शत्रुओ से इनकी रक्षा करने के लिए बेडोइन लोगो को प्रबल पुरुष-शक्ति की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही यह उत्तम समझा जाता है कि एक बेडोइन लडका अपने पिता के भाई (चाचा) की लड़की से विवाह करे जिससे कि उस परिवार या समूह की एकता तथा सगठन अत्यधिक दृढ हो और उनका अस्तित्व बना रहे।

(3) **पति-भ्राता विवाह और (4) पत्नी-भगिनी (साली) विवाह** (Levirate and Sororate)—अधिमान्य विवाह के दो अन्य रूप पति-भ्राता विवाह और साली विवाह हैं। कुछ जनजातियो मे एक स्त्री को यह अधिकार होता है कि अपने पति के मर

जाने के बाद वह अपने पति के भाई से विवाह कर सकती है। जब एक विधवा स्त्री अपने पति के भाई से विवाह करती है तब उस विवाह को पति-भ्राता विवाह (Levirate) कहते है। इस विवाह के दो रूप हैं—एक तो देवर-विवाह (Junior levirate) और दूसरा ज्येष्ठ-विवाह (senior levirate)। पति की मृत्यु के बाद विधवा पत्नी का विवाह यदि उस मृत पति के छोटे भाई अर्थात् उस स्त्री के देवर से होता है तो उसे देवर-विवाह कहते हैं, परन्तु यही विवाह यदि पति के बड़े भाई या जेठ से हो तो उसे ज्येष्ठ-विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के विवाहो की अनुमति भारत की प्रायः सभी जनजातियों मे है। पति-भ्राता विवाह का एक सम्भावित स्वरूप यह भी हो सकता है कि बडा भाई जिस स्त्री को विवाह करके लाता है वह आप-से-आप ही अपने अन्य देवर या देवरो की पत्नी हो जाती है, जैसे टोडा जनजाति मे होता है। देवर शब्द का अर्थ भी इसी बात का द्योतक होता है क्योकि 'देवर' का अर्थ है—'देवरः कस्मात् द्वितीयः वरोभवतीति' अर्थात् देवर उसे कहते हैं जो दूसरा वर हो। अनेक जनजातियों मे इस प्रकार के विवाह मे विधवा पर कोई अनिवार्यता (compulsion) न लादकर उसकी इच्छा पर छोड दिया जाता है अर्थात् विधवा के लिए यह अनिवार्य नही होता कि वह अपने देवर से विवाह करे ही। ऐसी जनजातियो में थारू जनजाति का नाम उल्लेखनीय है। भीलो मे भी पति-भ्राता विवाह का प्रचलन है।

पत्नी-भगिनी या साली विवाह उस विवाह-प्रथा को कहते हैं जिसके अनुसार पुरुष अपनी पत्नी की बहन या बहनो के साथ विवाह कर सकता है या अन्य स्त्रियों की तुलना मे अपनी साली से ही विवाह करना अधिक पसन्द करता है। यह दो प्रकार का होता है—एक तो सीमित साली-विवाह (restricted sororate) और दूसरे समकालीन साली-विवाह (simultaneous sororate)। सीमित साली-विवाह वह विवाह है जिसमे पत्नी की मृत्यु के बाद ही साली से विवाह किया जा सकता है। भील जनजाति मे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है। समकालीन-साली विवाह मे पुरुष एक परिवार की सबसे बड़ी बहन के साथ विवाह करता है और उस स्त्री की अन्य सारी बहनें आप-से-आप उस पुरुष की पत्नियाँ बन जाती हैं। डा० दुबे का मत है कि पत्नी-भगिनी विवाह का कोई एक निश्चित अर्थ नही है। यह शब्द प्राय. तीन अर्थों मे प्रयुक्त होता आया है—(1) एक व्यक्ति का अपनी युवा होने वाली सालियो से विवाह करने का प्राथमिक अधिकार; (2) व्यक्ति का अपनी पत्नी से सन्तुष्ट न होने पर पत्नी की बहन से विवाह करने का अधिकार और (3) प्रथम पत्नी की मृत्यु पर उसकी बहन से विवाह करने का अधिकार।

पति-भ्राता विवाह और पत्नी-भगिनी विवाह के निम्न कारण हैं—

(क) साली-विवाह मुख्य रूप से उन जनजातियों मे पाया जाता है जिनमे वधू-मूल्य प्रथा है। ऐसे समाजो मे स्त्री की मृत्यु हो जाने पर उसके पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मृत पत्नी की छोटी बहन को दामाद के घर दूसरी पत्नी के रूप मे भेज दे, या कन्या-मूल्य वापस कर दे। वधू-मूल्य वापस करने की अपेक्षा अपनी दूसरी लड़की को दामाद को सौंप देना अधिकतर माता-पिता को सरल प्रतीत होता है जिसके फलस्वरूप साली-विवाह का प्रचलन होता है। कुछ जनजातियो मे वधू-मूल्य (bride price) पत्नी

के लिए नहीं, वरन् उससे उत्पन्न होने वाली सन्तानों के लिए दिये जाते हैं। ऐसे समाजों में जब प्रथम स्त्री की कोई भी सन्तान होने की सम्भावना नहीं रहती, तब उस स्त्री के माता-पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे दामाद के उस नुकसान को अपनी एक लड़की और भेजकर पूरा करें। ऐसा करने का अर्थ ही साली-विवाह होता है।

(ख) श्री लोई (Lowie) का मत है कि अत्यधिक वधू-मूल्य और स्त्रियों की कमी पति-भ्राता विवाह-प्रथा का एक बहुत प्रमुख कारण है। आदिम समाजों मे आर्थिक दशा अत्यधिक गिरी होने के कारण प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक् रूप से विवाह करना सम्भव नही होता और स्त्रियो की कमी इस असम्भवता को और भी असम्भव कर देती है।

(ग) इस सम्बन्ध मे एक कारण यह भी बताया जाता है कि विशेष सामाजिक प्रथा के आधार पर ही ऐसे विवाहों का प्रचलन हो सकता है। जहाँ स्त्रियों को विवाह के लिए क्रय किया जाता है, जैसे 'काई' जनजाति मे, वहाँ विधवा स्त्री आप-से-आप या स्वभावत: ही पति के भाइयो की सम्पत्ति हो जाती है।

(घ) श्री टायलर (Tylor) ने उक्त विवाहो के एक सामान्य कारण का उल्लेख किया है। आपके मतानुसार ऐसे विवाह दो परिवारो के आपसी कर्त्तव्य-बोध के कारण ही पनपते हैं क्योंकि अधिकतर जनजातियो मे विवाह दो व्यक्तियो का व्यक्तिगत सम्बन्ध न होकर दो परिवारो का पारिवारिक सम्बन्ध है और इसी कारण साली देवर या ज्येष्ठ-विवाह द्वारा एक परिवार दूसरे परिवार के नुकसान को पूरा करने का प्रयत्न करता है। जैसे, यदि एक स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती है तो उस परिवार का जिसकी कि वह वधू है, यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उस स्त्री के जीवन मे उसके पति की खाली जगह को एक दूसरे पति से भर दे। इस कर्त्तव्य-बोध के फलस्वरूप ही देवर या ज्येष्ठ-विवाह का प्रचलन हुआ। उसी प्रकार जब अपने कर्त्तव्य-बोध से प्रेरित होकर एक परिवार अपने दामाद की प्रथम पत्नी की मृत्यु हो जाने पर उसके नुकसान को पूरा करने के लिए उसको दूसरी पत्नी देने का प्रबन्ध करता है, तब परिणाम साली-विवाह का प्रचलन ही होता है।

श्री टायलर के उपरोक्त विचार के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साली-विवाह और पति-भ्राता विवाह दोनो ही एकसाथ एक समाज मे पाये जा सकते हैं। श्री फ्रेजर (Frazer) ने भी इन दो प्रकार के विवाहो के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध के बारे मे अनेक आँकड़े दुनिया के विभिन्न भागो से एकत्रित किये हैं। आपके अनुसार कुछ अपवाद होते हुए भी ये दोनो संस्थाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और इन दोनो का एक ही समाज मे एकसाथ पाया जाना स्वाभाविक है।

अन्य विशेष प्रकार के विवाह
(Other Special Types of Marriage)

उपरोक्त चार प्रकार के अधिमान्य विवाहो के अतिरिक्त जनजातीय समाजो मे कुछ दूसरे विशेष प्रकार के विवाहो का भी प्रचलन देखने को मिलता है। कुछ जनजातियो

मे विधवा और विधुर आपस मे विवाह तय कर लेते हैं। सथाल जनजाति मे ऐसा होता है। गारो जनजाति मे पत्नी के पिता की मृत्यु होने पर यह आवश्यक है कि पत्नी की माता का पुनर्विवाह दामाद के साथ ही किया जाय। दूसरे शब्दों मे, इस जनजाति में दामाद को अपनी विधवा सास से विवाह करना पडता है, वरना सास किसी अन्य व्यक्ति से विवाह कर सकती है और उस स्थिति मे दामाद का सम्पत्ति से अधिकार छिन जाता है। गोंड जनजाति मे बाबा और पौत्री मे प्राय: विवाह हो जाता है। श्री पेरी के अनुसार लुशाई पर्वत पर रहने वाली लाखेर जनजाति मे विधवा सौतेली माँ और लड़के में विवाह होता है। इसी जनजाति में पिता और लड़के की विधवा स्त्री मे शादी हो जाती है। उसी प्रकार सेमा नागा लोगों में भी यह नियम है कि पिता की मृत्यु के बाद अपनी सगी माँ को छोड़कर पिता की अन्य विधवाओं से लड़के को शादी करनी पड़ती है। इसका कारण यह है कि पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी विधवा या विधवाएँ होती हैं और अगर लडका उस सम्पत्ति को पाना चाहता है तो उसके लिए एक मात्र रास्ता यही है कि वह उन विधवाओं से (अपनी सगी माँ को छोड़कर) विवाह कर ले। इस प्रकार सेमा नागा मे स्त्रियाँ एक प्रकार की सम्पत्ति होती हैं जो कि उत्तराधिकार के रूप में पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाती हैं। उत्तरी नाइजेरिया की पैलविक तथा बूरा जनजातियों में एक व्यक्ति को अपने दादा (grand father) की पत्नियाँ उत्तराधिकार के रूप मे मिल जाती हैं।

विवाह के भेद
(Forms of Marriage)

विवाह के दो मुख्य भेद होते हैं—एक-विवाह (Monogamy), और बहु-विवाह (Polygamy)। बहु-विवाह के तीन उपभेद होते हैं—(क) बहुपत्नी-विवाह (Polygyny), (ख) बहुपति-विवाह (Polyandry), और (ग) समूह-विवाह (Group Marriage)।

एक-विवाह
(Monogamy)

एक-विवाह तब कहा जाता है जब एक पुरुष केवल एक स्त्री से ही विवाह करता है और स्त्री के जीवनकाल में वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करता है। श्री वुकेनोविक (Vukenovic) ने यह मत व्यक्त किया है कि वास्तव में उसी विवाह को एक-विवाह कहना उचित होगा जिसमें न केवल एक व्यक्ति की एक ही पत्नी या पति हो, बल्कि इनमे से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष (विधुर या विधवा) दूसरा विवाह न करे। परन्तु सामान्यत: एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरे किसी से विवाह न करना ही एक-विवाह माना जाता है। जिन समाजों मे सामान्य रूप से स्त्रियो और पुरुषो का अनुपात बराबर है, वहाँ प्राय: एक-विवाह प्रथा पाई जाती है। परन्तु यह कोई निश्चित या अन्तिम नियम भी नही है। एक-विवाह सभ्यता की एक उत्तम पराकाष्ठा है

और इसीलिए आधुनिक समाज मे इस प्रकार का विवाह सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। भारतीय जनजातियो मे एक-विवाह के प्रचलन का एक प्रमुख कारण उनका आधुनिक सभ्य समाज के सम्पर्क मे आना है। एक-विवाह आसाम की खासी, बिहार की सथाल और केरल की कादर जनजातियो मे पाया जाता है। 'हो' जनजाति मे अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) के कारण वहाँ एक पुरुष के लिए एक से अधिक स्त्रियो से विवाह करना असम्भव है, इस कारण वे भी एक प्रकार से एक-विवाही हैं।

बहुपत्नी-विवाह
(Polygyny)

एक पुरुष का अनेक स्त्रियो से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियों मे नही किया जाता है। जनजातियो मे धनी व्यक्ति अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, गोंड, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियो मे बहुपत्नी-प्रथा पाई जाती है।

समाज मे पुरुषो की सख्या कम होना बहुपत्नी-विवाह का एक साधारण कारण बताया जाता है, परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री इससे सहमत नही हैं। बहुपत्नी-विवाह का मुख्य कारण आर्थिक है। पहाडी और पठारी भागो मे जीविका-पालन के हेतु जनजातीय लोगो को कठोर परिश्रम करना पडता है और अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इस कारण बहुपत्नी-विवाह कर लिया जाता है क्योकि इसके द्वारा एक परिवार को पत्नी के रूप मे खूब काम करने वाले विश्वस्त श्रमिक मिल जाते हैं। आसाम की जनजातियो के नेता बहुपत्नी-विवाह करते हैं क्योकि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है और वे एकाधिक स्त्रियो का पालन कर सकते हैं। स्त्री की अपनी इच्छा भी इस विषय मे एक कारण हो सकती है। एक जनजातीय स्त्री स्वय भी यह चाहती है कि वहाँ के कठिन आर्थिक जीवन मे उसके कार्यों मे मदद करने के लिए अधिक सख्या मे सहायक स्त्रियाँ हो।

बहुपत्नी-विवाह से प्रमुख लाभ यह होता है कि बच्चो की देख-रेख अनेक स्त्रियाँ मिलकर अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। कामी पुरुषों को परिवार मे ही अनेक स्त्रियाँ मिल जाती हैं, इस कारण यौन-सम्बन्धी व्यभिचार नहीं फैल पाता है। इस प्रकार के विवाह से सन्तानें अच्छी होती हैं क्योकि अधिकतर शक्तिशाली और धनवान व्यक्ति ही बहुपत्नी-विवाह करते हैं।

इसके विपरीत बहुपत्नी-विवाह से कुछ हानियाँ भी हैं। इस प्रकार के विवाह से परिवार पर आर्थिक बोझ बहुत ज्यादा बढ जाता है। साथ ही परिवार मे अधिक स्त्रियों का अर्थ ही यह है कि परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लडाई-झगड़े से कलुषित होगा। इसके अतिरिक्त बहुपत्नी-विवाह स्त्रियों की स्थिति को अत्यधिक गिरा देता है।

युगंण्डा (पूर्वी अफ्रीका) मे रहने वाली बगण्डा (Baganda) नामक जनजाति मे बहुपत्नी-विवाह का बड़ा रोचक रूप देखने को मिलता है। यह जनजाति विशेष रूप से

पशुपालक है। इसकी राजनैतिक व्यवस्था मे एक निरंकुश शासक, राजा होता है जो कि शासन-प्रबन्ध मे सहायता करने के लिए काफी संख्या मे प्रधानों (chiefs) तथा उप-प्रधानों (sub-chiefs) को स्वयं नियुक्त करता है। चूंकि वह राजा अपने राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी, निरंकुश शासक तथा सबसे अधिक धनी व्यक्ति है, इस कारण वह सैकड़ों स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार रखता है। प्रधान या उपप्रधान अपने-अपने धन तथा राजनैतिक स्थिति (status) के अनुसार दस या अधिक पत्नियाँ रख सकते हैं। कृषक, कारीगर, निम्न स्तर के कर्मचारी-वर्ग तथा अन्य साधारण जनता कठोर परिश्रम करते हुए यह प्रयत्न करते हैं कि उन्हे कम से कम दो पत्नियाँ मिल जायें ताकि उनकी सामाजिक मान-मर्यादा बनी रहे। कठोर परिश्रम वे इसलिए करते हैं कि वे इस योग्य हो जायें या इतना धन कमा लें कि एकाधिक स्त्रियों का भरण-पोषण कर सकें। जो इस प्रयत्न में अधिक सफल होते हैं वे तीन या चार पत्नियाँ भी पा लेते हैं। परन्तु बेचारे गरीब कृषकों को केवल एक पत्नी ही मिल पाती है, विशेषकर इसलिए कि दूसरी स्त्री से विवाह करने के लिए जो पर्याप्त मात्रा में वधू-मूल्य (bride price) चुकाना पड़ता है वह वे इकट्ठा नहीं कर पाते हैं। यद्यपि निश्चित आँकड़े प्राप्त नही हैं फिर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि बगण्डा जनजाति दुनिया की उन थोड़ी-सी जनजातियों मे से एक है जिसमे कि बहुपत्नी-प्रथा बहुत ही व्यापक रूप मे पाई जाती है। इस जनजाति के अधिकतर लोग एक से अधिक स्त्रियो से विवाह करते हैं और इन स्त्रियो की सख्या आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के ऊँचा होने के साथ-साथ बढ़ती चली जाती है। जिसके पास जितना अधिक धन होता है और जो जितने ऊँचे राजनैतिक पद पर आसीन होता है, वह उतनी ही अधिक सख्या मे स्त्रियो से विवाह करता है।[1]

उपरोक्त बगण्डा समाज मे पति को अपनी प्रत्येक पत्नी के लिए एक पृथक् घर की व्यवस्था करनी पड़ती है। पत्नियाँ बारी-बारी से पति के घर पर आकर रहती हैं और पति के लिए खाना पकाती तथा अन्य रूप से उसकी सेवा करती हैं। एक पत्नी अपने पति के घर तब जाती है जब पति उसे बुलाता है और यह पति की इच्छा पर निर्भर रहता है कि वह कब, किस पत्नी को अपने साथ रहने के लिए बुलायेगा। सामान्यत: प्रथम पत्नी की स्थिति अन्य पत्नियो की तुलना मे ऊँची होती है और प्राय: सभी विषयों में उसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, विशेषकर धार्मिक और जादू-टोना-सम्बन्धी सभी विषय उसके हाथ मे होते हैं। दूसरी पत्नी के भी कुछ विशिष्ट कर्त्तव्य होते हैं। अन्य पत्नियों की स्थिति (status) सामान्य होती है।[2]

बगण्डा समाज मे बहुपत्नी-विवाह-प्रथा का प्रमुख कारण लडको की मृत्यु-दर अत्यधिक होना है। प्रधानों के परिवारों (chiefly families) में लडको को जन्म लेते ही मार डाला जाता है। राज-परिवार मे जो राजकुमार राजसिंहासन का उत्तराधिकारी

1. Beals and Hoijer, An *Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959, p. 487.
2. *Ibid*, pp. 487-488.

श्री मीक (Meak) ने उत्तरी नाइगेरिया (Nigeria) में रहने वाले ग्वारी (Gwari) लोगो मे पाये जाने वाले बहुपति-विवाह के सम्बन्ध मे लिखा है कि वहाँ एक स्त्री के कई पति और परिवार विभिन्न शहरो मे होते हैं और वह स्त्री अपनी इच्छानुसार कभी एक पति के पास तो कभी दूसरे पति के पास जाकर रहती है। बच्चों पर अधिकार प्रथम पति का नही बल्कि वास्तविक पिता का होता है।[1]

इस सन्दर्भ मे बहुपति-विवाह की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। बहुपति-विवाह मे एक स्त्री एक से अधिक पतियो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करती है। ये एकाधिक पति आपस मे भाई-भाई हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, कभी-कभी भाइयो के अतिरिक्त एक समूह के अन्य व्यक्ति भी मिलकर इस प्रकार का विवाह कर लेते हैं। स्त्री पर प्रत्येक भाई का अधिकार होता है, परन्तु बड़े भाई का अधिकार सबसे अधिक ही पाया जाता है। जहाँ एक परिवार में एक से अधिक स्त्रियाँ हैं, वहाँ प्रत्येक भाई को अपने सब भाइयों की पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है। मातृसत्तात्मक परिवारो मे स्त्री अपने पतियो को स्वयं चुनती है और प्रत्येक पति के पास बारी-बारी से कुछ समय के लिए रहती है। परन्तु जब वह एक पति के साथ रह रही है जो उस दौरान मे उसपर अन्य पतियो का कोई अधिकार नहीं होता। सन्तानो और सम्पत्ति के सम्बन्ध मे बड़े भाई का या प्रथम पति का दूसरे भाइयों या पतियो की तुलना में अधिक अधिकार होता है। विवाह-विच्छेद का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनो को ही प्राप्त होता है।

बहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन के कारणों के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) ने बहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन का प्रधान कारण एक समाज मे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का संख्या मे कम होना बताया है। जैसे, टोडा जनजाति मे लड़कियो को मार डालने की कुप्रथा के कारण वहाँ पुरुषों को अपेक्षा स्त्रियो की संख्या बहुत कम है। वहाँ पिछली तीन पीढ़ियों में 100 स्त्रियो के अनुपात मे पुरुषो की संख्या क्रमशः 259, 202 और 171 थी। अतः एक स्त्री का एकाधिक पुरुषो से विवाह होने की प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक था। परन्तु श्री राबर्ट ब्रिफॉल्ट (Robert Briffault) आदि विद्वानो ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि स्त्रियों की कमी इस प्रथा का एक मात्र कारण नही है। क्योंकि तिब्बत, सिक्किम, लद्दाख आदि प्रदेशो मे जहाँ बहुपति-विवाह-प्रथा का प्रचलन है, वहाँ स्त्री-पुरुषो की संख्या मे कोई विशेष अन्तर नही है। लद्दाख मे तो स्त्रियो की संख्या ज्यादा है। अधिकतर विद्वान इस प्रथा का कारण दरिद्रता मानते हैं, क्योंकि कुछ प्रदेशो मे आर्थिक जीवन इतना कठोर तथा संघर्षपूर्ण होता है कि एक व्यक्ति के लिए पृथक् रूप से परिवार की स्थापना करना असम्भव है, इस कारण एकाधिक पुरुष मिलकर एक परिवार की स्थापना करते हैं। सयुक्त परिवार और सम्मिलित श्रम के बिना इन प्रदेशो मे जीविका-निर्वाह करना प्रायः असम्भव है।

बहुपति-विवाह-प्रथा के इस विवेचन को समाप्त करने से पहले, इस प्रश्न के

---

1. C K. Meak, *The Northern Tribes of Nigeria*, Vol. I, p. 198.

दुष्परिणामों के विषय में भी कुछ जान लेना उचित होगा। सन्तानों की संख्या कम हो जाना अर्थात् कम सन्तान पैदा होना बहुपति-प्रथा का एक प्रमुख दुष्परिणाम है। यह एक प्राणीशास्त्रीय सत्य है कि पतियों की संख्या जितनी अधिक होगी, पत्नी की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति उतनी ही कम हो जायगी। बहुपति-विवाह से केवल सन्तानों की ही संख्या कम नहीं होती, बल्कि ऐसा देखा गया है कि इस प्रथा के कारण लड़कों का जन्म लड़कियों की अपेक्षा अधिक होता है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बहुपति-प्रथा का चक्र सदा के लिए चलता रहता है। इस प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम स्त्रियों में बाँझपन का पनपना है, जिससे आगे चलकर जनसंख्या-सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो सकती है। स्त्रियों के शारीरिक या स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से इस प्रथा का दुष्परिणाम गुप्त रोगों का बढ़ना है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रथा के कारण विवाह-विच्छेद की संख्या इन्हीं गुप्त-रोग आदि के कारण काफी बढ़ जाती है।

समूह-विवाह
(Group Marriage)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कुछ प्रारम्भिक सिद्धान्तों के अनुसार मानव-जीवन के प्रारम्भ में विवाह नामक कोई भी संस्था न थी और लोग कामाचार (promiscuity) की स्थिति में रहते थे। उसके बाद एक प्रकार के 'समूह' विवाह का प्रचलन हुआ जिसके अनुसार एक समूह के सभी पुरुषों का विवाह दूसरे समूह की सभी स्त्रियों से होता था और इनमें से प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। कुछ विद्वानों का कथन है कि ऐसे विवाह को वास्तव में 'विवाह' नहीं कहना चाहिए, इस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध को यौन-साम्यवाद (sex communism) कहना ही अधिक उचित होगा। श्री मॉर्गन ने अपने उद्विकासीय सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए यौन-साम्यवाद तथा समूह-विवाह में भेद माना है। आपके अनुसार यौन-साम्यवाद प्रारम्भिक स्तर है जबकि विवाह-संस्था नामक कोई चीज नहीं थी। समूह-विवाह इसके बाद का स्तर है। श्री वेस्टरमार्क ने यौन-साम्यवाद और समूह-विवाह दोनों के अस्तित्व को ही अस्वीकार किया है।

विवाह का यह स्वरूप आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की एक निराली विशेषता है। वहाँ एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं और ये आस्ट्रेलिया-वासी उन समस्त पुरुषों के लिए, जोकि उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं।

विवाह-साथी चुनने के तरीके
(Ways of acquiring Mates)

जनजातीय समाज में विवाह-साथी चुनने के एकाधिक तरीके पाये जाते हैं, जिनका कि उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यह अनिवार्य नहीं है कि सभी समाजों में सभी तरीकों से विवाह-साथी चुने जाते हैं या चुने जा सकते हैं, किन्तु सामान्यतः इनमें से एक से अधिक

तरीके प्रत्येक समाज मे प्रचलित होते हैं। यहाँ हम जिन तरीकों का उल्लेख करेंगे वे विशेष रूप से भारतीय जनजातीय समाजो मे पाये जाते हैं। इन समाजो मे निम्नलिखित आठ तरीकों से विवाह-साथी चुने जाते है—

(1) परिवीक्षा-विवाह
(Probationary Marriage)

इस प्रकार के विवाह मे होने वाले पति-पत्नी को विवाह होने से पहले ही एक-दूसरे को भली-भांति समझने तथा यौन-सम्बन्धी अनुभवो को प्राप्त करने का मौका दिया जाता है। इसी उद्देश्य से उनको (पति-पत्नी को) विवाह होने से पूर्व ही कुछ समय के लिए एकसाथ रहने की अनुमति दे दी जाती है जिससे कि वे निकट से एक-दूसरे के स्वभाव को पूरी तरह समझ सकें। यदि वे इस परिवीक्षाकाल के पश्चात् विवाह करना चाहते हैं तो पूर्ण वैवाहिक क्रियाओ द्वारा उनका विवाह कर दिया जाता है। यदि उनका स्वभाव एक-दूसरे के उपयुक्त और अनुकूल नहीं होता तो वे पृथक् हो जाते हैं। दारलुग और कूकी जनजातीय समाजो मे एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के यहाँ कुछ काल तक रह सकता है। वह उस समय सभी प्रकार के वैवाहिक सुख प्राप्त करने का अधिकारी है, किन्तु यदि वह इन सुविधाओ के उपरान्त विवाह नही करना चाहता है तो थोड़ा-सा हानि-मूल्य (हर्जाना) देकर सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है।

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार इस प्रकार के विवाह के प्रचलन का कारण यह है कि जनजातियो के लोग केवल कन्या-मूल्य ही नही चाहते, बल्कि सन्तान-प्राप्ति की इच्छा भी उनमे अत्यधिक प्रबल होती है। इस कारण इस प्रथा के द्वारा वे लड़की की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति की परीक्षा लेते हैं और यह देखा गया है कि इस परिवीक्षाकाल मे अगर लडकी गर्भवती हो जाती है तो विवाह अवश्य ही हो जाता है।

(2) हरण-विवाह
(Marriage by Capture)

इस प्रकार के विवाह मे वर कन्या को उसके माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती उठा ले जाकर विवाह कर लेता है। विवाह-साथी प्राप्त करने की यह प्रथा दुनिया के अनेक समाजो मे प्राचीन काल से प्रचलित है। चूंकि यह एक असभ्य तथा रोमांचकारी तरीका है इस कारण कुछ विद्वानो के अनुसार हरण-विवाह ही सबसे प्राचीन विवाह का तरीका है। श्री मैकलेनन (Mclannen) ने प्रायः सौ वर्ष पूर्व यह लिखा था कि विवाह-संस्था के उद्विकास मे पत्नी प्राप्त करने का सर्वप्रथम तरीका हरण-विवाह ही था। कुछ भी हो, आजकल अनेक जनजातीय समाजो मे यह विवाह वास्तविक हरण न रहकर अभिनयात्मक-हरण (mock capture) मात्र रह गया है। श्री स्टो (G. W. Stow) ने बुर्जुआ समाज मे होने वाले अभिनयात्मक-हरण का जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे पता चलता है कि जब एक बुशमैन युवक का विवाह होना होता है तो वर और वधू दोनो ही पक्षो के लोग विवाह के प्रीतिभोज (wedding feast) मे इकट्ठे होते हैं।

भोज के दौरान मे वर अपनी वधू का हाथ पकड़ लेता है। यह वधू-पक्ष के लिए एक 'खतरे की घण्टी' होती है और वधू के सब रिश्तेदार वर को घेरकर पीटने को दौड़ते हैं। दो पक्षों मे एक छोटा-मोटा 'युद्ध' छिड़ जाता है, जबकि वर को पीटने की क्रिया जारी रहती है। यदि मार खाते हुए भी वर अपनी वधू पर अपना कब्जा जमाये रखने में सफल हो तो विवाह के लिए उसे उपयुक्त पात्र मान लिया जाता है और दोनों का विवाह यथा-रीति कर दिया जाता है। परन्तु वर के असफल होने पर उसे उस वधू से हाथ धोना पड़ता है।[1]

उसी प्रकार अफ्रीकन बहिमा (African Bahima) लोगों में वधू को आधार मानकर वर-वधू दोनो पक्षो के मध्य रस्साकशी (tug of war) होती है और इसमें सदैव वर पक्ष की ही विजय होती है। जैसे ही विजय की घोषणा होती है, वैसे ही वधू को वर के साथी गाय की खाल मे लपेटकर जमीन से उठा लेते हैं और फिर उसे लेकर भाग निकलते हैं। वर पक्ष के अन्य मित्र तथा रिश्तेदार उनका पीछा करते हैं। फिर कहीं विवाह होता है।[2] कहीं-कहीं एक ही लडकी के प्रेमी-प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य मल्लयुद्ध होते हैं और जो भी जीत जाता है वही लड़की से विवाह करने का हकदार हो जाता है, चाहे वह विवाहित ही क्यो न हो।

भारत में हरण-विवाह की प्रथा नागा, हो, भील, गोंड तथा आसाम, बिहार व मध्य प्रदेश की अन्य जनजातियो मे काफी प्रचलित थी, पर सरकारी शासन के प्रभाव के कारण अब यह प्रथा दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। भारत के जनजातीय समाजों मे इस विवाह के दो रूप देखने को मिलते हैं—(1) शारीरिक हरण (physical capture) जो कि अधिकतर वास्तविक न होकर अभिनयात्मक ही होता है, और (2) संस्कारात्मक या विधिवत् हरण (ceremonial capture)। शारीरिक हरण मे लड़का अपने साथियों के साथ वास्तविक रूप मे लड़की पर आक्रमण करके या लड़की के गाँव पर आक्रमण करके लडकी को हर ले आता है। परन्तु अब सरकारी नियन्त्रणों के कारण यह हरण केवल नाम मात्र का ही होता है। गोंड जनजाति मे तो कभी-कभी माता-पिता स्वयं लड़की के ममेरे या फुफेरे भाई से अपनी लड़की को हर ले जाने की प्रार्थना करते हैं और उस हालत में हरण का केवल एक नाटक मात्र खेला जाता है। इसके विपरीत, विधिवत् हरण-प्रथा खरिया, संथाल, बिरहोर, भूमिज, भील, नागा, मुण्डा आदि जनजातियों मे पाई जाती है। इस प्रकार के हरण मे एक युवक एक सार्वजनिक स्थान मे अपनी प्रेमिका की माँग में सिंदूर भर देता है और हरण को एक मामूली उत्सव का रूप दे दिया जाता है। आसाम की जनजातियों में लड़कियों का हरण, एक गाँव जब दूसरे गाँव पर आक्रमण करता है, तब होता है। मध्य भारत की जनजातियों में हरण का काम उत्सव के अवसरों पर होता है।

हरण-विवाह-प्रथा भारत की जनजातियो मे विभिन्न कारणों से प्रचलित है, जैसे

1. G W. Stow, *The Native Races of South Africa*, London, 1905, p. 96.
2. J. Roscoe, *The Northern Bantu*, Cambridge, 1915, Vol. 2, p. 256.

नागाओं मे इसका प्रचलन इस कारण है कि उनमे लडकियो की अत्यधिक कमी है और इस कमी को दूसरे समूहो से लडकियो का हरण करके पूरा किया जाता है। छोटा नागपुर की 'हो' जनजाति मे वधू-मूल्य (bride price) इतना मांगा जाता है कि अनेक लोग उसे चुकाकर सामान्य ढग से विवाह करने मे समर्थ नही होते। इस कारण उन्हें हरण-विवाह-प्रथा को ही अपनाना पडता है। गोड जनजाति मे प्राय, अधिक आयु तक विवाह न होने के कारण हरण-विवाह पाया जाता है। इसके अतिरिक्त पुरुषो की स्त्रियो पर शासन करने की सहज-प्रवृत्ति, जो कि कन्या-मूल्य देने से नही, बल्कि हरण के द्वारा चरितार्थ की जा सकती है, इस प्रकार के विवाह का एक कारण बन जाती है।

(3) परीक्षा-विवाह
(Marriage by Trial)

इस प्रकार के विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के इच्छुक नवयुवक के साहस और शक्ति की परीक्षा करना होता है और ऐसा उचित भी है क्योकि जनजातियो का जीवन अत्यन्त कठोर और सघर्षपूर्ण होता है। इस प्रथा का उत्तम उदाहरण गुजरात की भील जनजाति है। उनमे होली के अवसर पर 'गोलि-गाधेड़ो' नामक एक लोक-नृत्य का उत्सव होता है। उस स्थान पर एक खम्भे या पेड़ पर गुड़ और नारियल बांध दिया जाता है। उसके चारो ओर अन्दर के घेरे मे कुमारी लड़कियां और बाहर के घेरे मे अविवाहित लड़के नाचते रहते हैं। लडको का प्रयत्न अन्दर के घेरे को तोडकर गुड़ और नारियल को प्राप्त करना होता है, जबकि लडकियां लडको को ऐसा करने से भरसक रोकती हैं और उनका घेरा तोड़कर उस खम्भे या पेड पर चढने का प्रयत्न करने वाले युवक को खूब मारती, उनके कपड़े फाडतीं, बाल खीचतीं, यहां तक कि उनके शरीर के मास को भी नोचती हैं, अर्थात् हर तरह से उन्हे अन्दर जाने से रोकती है। फिर भी अगर कोई युवक लडकियो के घेरे को तोड़कर खम्भे या पेड पर चढ जाता है और गुड खाने और नारियल प्राप्त करने मे सफल होता है, तो वह घेरे के अन्दर नाचती हुई युवतियो मे से जिसको भी चाहे अपने विवाह-साथी के रूप मे चुन लेने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार कुछ समाजो मे लोग उस युवक के साथ अपनी लडकी का विवाह करना पसन्द करते हैं जिसने शिकार करने के मामले मे अपनी निपुणता को प्रमाणित किया है। कोमाचे समाज मे यदि कोई युवक अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहे तो वह यह आशा कर सकता है कि वह स्त्री उस पर खुश होकर अपनी लडकी की शादी उससे शीघ्र ही कर देगी। यदि उसे पहली पत्नी की बहन को भी पत्नी बनाना हो तो उसका भी सबसे सरल उपाय यही है कि रोज या प्राय. शिकार भेजकर अपनी सास को प्रसन्न कर दिया जाय।

(4) क्रय-विवाह
(Marriage by Purchase)

इस प्रकार के विवाह मे विवाह करने के इच्छुक लडके को लडकी के माता-पिता को कुछ वधू-मूल्य (bride price or progeny price) चुकाना पड़ता है। इस प्रथा के अन्तर्गत वधू-मूल्य विवाह का एक आवश्यक अग है और इसे चुकाये बिना विवाह नही हो सकता। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस मूल्य को कन्या या वधू का मूल्य समझा जा सकता है, परन्तु इसका अर्थ सदैव यह नही होता कि स्त्रियों की स्थिति गुलामो के समान है और उनको भी गुलामो की भाति बेचा या खरीदा जा सकता है। यह सच है कि जिस परिवार मे अधिक लड़के हैं उन्हे वधू-मूल्य उस परिवार से अधिक प्राप्त होगा जिसमे कि लड़कियाँ अधिक हैं। फिर भी इस आधार पर पारिवारिक हानि-लाभ का हिसाब दुनिया के किसी भी समाज मे नही लगाया जाता है।

वधू-मूल्य लेने और देने की प्रथा को कुछ विद्वान् एक अन्य प्रकार से भी समझाते हैं। उनका कहना है कि वधू-मूल्य इस बात का द्योतक नही है कि जिन समाजो मे यह दिया या लिया जाता है, वहाँ स्त्रियो की स्थिति बहुत गिरी हुई है। परन्तु वास्तव मे वधू-मूल्य इस बात का द्योतक है कि इसके माध्यम से स्त्रियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाता है। सच तो यह है कि वधू-मूल्य का कोई विशेष सम्बन्ध स्त्रियों के सम्मान, विशेषाधिकार, शक्ति आदि से नही होता है। जिस प्रकार यह प्रमाणित करना कठिन है कि वधू-मूल्य सम्मान का द्योतक है, उसी प्रकार यह भी प्रमाणित नहीं होता है कि वधू कोई व्यापार की वस्तु है। अनेक समाजो मे यह मूल्य दिखावे-भर का होता है और या तो तय किये हुए मूल्य से बहुत कम मूल्य वास्तव मे लिया जाता है या वधू-मूल्य के बदले मे इससे कहीं अधिक दहेज के रूप मे पुन. लौटा दिया जाता है।

श्री रॉबर्ट लोई (Robert Lowie) ने इस बात पर बल दिया है कि वधू-मूल्य को कन्या को खरीदने या बेचने का साधन मात्र न समझना चाहिए, वरन् यह जनजातियो मे स्त्रियो की उपयोगिता का प्रतीक है। उनके माता-पिता दूसरे को अपनी कन्या देने से होने वाले नुकसान का हर्जाना वधू-मूल्य के रूप मे प्राप्त करते हैं, तथा इसके द्वारा दोनो परिवारो के बीच आर्थिक सम्बन्ध को दृढ़ किया जाता है। श्री लिण्टन (Linton) का कथन है कि यह वास्तविक रूप से स्त्री से पैदा होने वाले बच्चों पर अधिकार का क्रय है।

यह सच है कि वधू मूल्य स्त्रियो के सम्मान का द्योतक नही है और न ही इसमे व्यापार की भावना होती है, फिर भी वधू-मूल्य के आर्थिक या सामाजिक पक्ष पर बिल्कुल ही किसी समाज मे बल नही दिया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। कुछ समाजो मे विवाहिता स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष रूप से उसके लिए दिए गये वधू-मूल्य द्वारा प्रभावित होती है। पूर्वी अफ्रीका की कुछ जनजातियो मे अगर स्त्रियो की स्थिति-सम्बन्धी कोई चर्चा चलती है तो वधू-मूल्य की बात सबसे पहले आती है। कैलिफोर्निया के यूरोक लोगा मे तो इसका इतना अधिक महत्त्व है कि व्यक्ति का सामाजिक पद और प्रतिष्ठा पूर्णतया इसी बात पर निर्भर है कि उसकी माँ के विवाह मे कितना वधू-मूल्य

चुकाया या दिया गया था।

वधू-मूल्य का किसी-किसी जनजातीय समाज में कितना अधिक महत्त्व है, यह दो-एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। दक्षिण-पश्चिमी साइबेरिया की किरगीज जनजाति मे वधू-मूल्य को बढाते जाना ही कुलीनता है। फलतः इस समाज मे वधू-मूल्य इतना अधिक होता है कि कोई भी पुरुष एक से अधिक विवाह करने की बात सोचने का साहस तक नही करता है। न्यू गिनी की 'काई' नामक जनजाति में एक पति को अपनी पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का तब तक कोई अधिकार नही होता जब तक वह वधू-मूल्य पूरा-पूरा चुका न दे। इतना ही नही, वधू-मूल्य न दे देने तक पत्नी पति के घर नहीं जाती और अपने परिवार की ही सदस्य बनी रहती है।

किन्ही-किन्ही समाजों मे वधू-मूल्य प्रथा का गम्भीर अध्ययन करने से यह पता चलता है कि आदिम समाजों मे विवाह केवल दो स्त्री-पुरुषो का ही पारस्परिक सम्बन्ध न होकर दो परिवारों को एकसाथ संयुक्त करने का एक साधन होता है और वधू-मूल्य उसी मिलन का प्रतीक या दो परिवारो के सम्बन्धों को दृढ करने वाला होता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका की थोंगा और बांटू जनजातियो मे वधू-मूल्य के रूप में ढोर, जिसे कि 'लाबोला' (*Labola*) कहा जाता है, देने की प्रथा है। इस लाबोला को एकत्र करने में केवल एक व्यक्ति के अपने ही परिवार के सदस्य नहीं, बल्कि उसके निकट के नाते-रिश्तेदार भी सहायता करते हैं। यही लाबोला पत्नी के भाई के विवाह के लिए या पत्नी के निकट नाते-रिश्तेदारों के विवाह में सहायतास्वरूप दे दिया जाता है। इस प्रकार विवाह द्वारा संयुक्त दो परिवारो मे एक प्रकार का आर्थिक सहयोग पनपता है। अतः स्पष्ट है कि 'लाबोला' या वधू-मूल्य वह कड़ी है जो कि दो परिवारो को जोड़ती या मिलाती है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर वधू-मूल्य प्रथा के प्रचलन के कुछ सम्भावित कारणों का हम उल्लेख कर सकते हैं—(क) अपने परिवार के सदस्य के नाते एक लड़की की भी कुछ उपयोगिता होती है। विवाह करने वाला पक्ष उस लडकी को अपने घर ले जाकर उस उपयोगिता से लडकी के परिवार को वंचित करता है। इसलिए यह आशा या माग की जाती है कि वर पक्ष उस नुकसान का हर्जाना कन्या पक्ष को देगा। (ख) बहुत से समाजो मे लडकियो की सख्या कम होने के कारण उनकी माँग अधिक होती है। लडकी के माता-पिता इस बात को जानते हैं और इसलिए इस अवस्था से लाभ उठाते हैं। (ग) विवाह के द्वारा वर पक्ष को न केवल पत्नी ही मिलती है, बल्कि उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान भी। इन दोनों से कन्या पक्ष को हाथ धोना पड़ता है। इसलिए कन्या पक्ष इनका कुछ मूल्य प्राप्त करने का अधिकारी है। कुछ समाजों मे वधू-मूल्य पत्नी से उत्पन्न होने वाली सन्तानो पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही दिया जाता है। बांटू (दक्षिणी अफ्रीका) समाज मे तो यह कहावत ही प्रचलित है कि 'ढोर दो तो सन्तान हो।' इसलिए बांटू लोगों मे स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तानो पर पति का कोई भी अधिकार तब तक

नहीं होता जब तक लाबोला न चुका दिया जाय।[1] कुछ जनजातियों मे यह भी नियम है कि अगर काफी समय बीत जाने पर भी प्रथम पत्नी, जिसके लिए वधू-मूल्य चुका दिया गया है, मां बनने मे अर्थात् सन्तान को जन्म देने मे असमर्थ प्रमाणित हो तो पत्नी के पिता का यह कर्तव्य हो जाता है या वह या तो वधू-मूल्य लौटा दे या पत्नी की छोटी बहन अथवा उसके अभाव में पुत्र-वधू को दामाद के हाथ (अर्थात् उस परिवार को जिसने वधू-मूल्य चुकाया था) सौंप दे। *इन सब उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि वधू-मूल्य* देने का एक मुख्य उद्देश्य पत्नी से पैदा होने वाले बच्चो पर अपना अधिकार प्राप्त करना होता है। (घ) वधू-मूल्य इस बात का भी प्रतीक होता है कि इसके चुका देने से दो परिवारों के बीच न केवल सामाजिक या वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है, बल्कि आर्थिक सहयोग की भावना भी पनपती है। इस प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध जनजातीय जीवन के लिए लाभदायक ही सिद्ध होता है और कहीं-कहीं तो यह अत्यन्त आवश्यक होता है। (ङ) कुछ जनजातियो मे यह विश्वास है कि वधू-मूल्य चुका देने से वधू के अपने स्वयं के पारिवारिक देवताओं का संरक्षण उस पर से हट जाता है और उसके साथ ही उसे अपने पति के पारिवारिक देवताओं का संरक्षण प्राप्त हो जाता है। जनजातीय दृष्टिकोण से वधू के लिए इस संरक्षण को प्राप्त करना अति आवश्यक है और इसीलिए वधू-मूल्य चुका देना अनिवार्य या एक प्रकार का कर्तव्य-सा हो जाता है।

इन सब कारणों से ही क्रय-विवाह अर्थात् वधू-मूल्य चुकाकर विवाह करने की प्रथा दुनिया की अनेक जनजातियों मे पाई जाती है। सर्वश्री हॉबहाउस, ह्वीलर तथा जिन्सबर्ग के एक विस्तृत अध्ययन से यह पता चलता है कि 434 जनजातियों मे से 303 जनजातियो मे क्रय-विवाह का प्रचलन है।[2] परन्तु प्रोफेसर मुरडॉक का कथन है कि प्रायः 50 प्रतिशत जनजातीय समाजो मे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन पाया जाता है।[3] अफ्रीका की प्रायः सभी जनजातियो मे यह विवाह-प्रथा पाई जाती है। इण्डोनेशिया की पितृसत्तात्मक जनजातियो में भी इस प्रकार का विवाह काफी लोकप्रिय है। भारत की भी सभी जनजातियो मे इस प्रकार का विवाह पाया जाता है, विशेषकर संथाल, हो, ओरांव, खरिया, गोंड, आगा, कूकी, भील आदि जनजातियो मे। कुछ भारतीय जनजातियो मे वधू-मूल्य के आर्थिक पक्ष पर विशेष बल नहीं दिया जाता, जैसे रेंगमा नागा लोग तय किए हुए वधू-मूल्य से प्राय दस रुपये कम लेते हैं। इसके विपरीत, 'हो' जनजाति मे इसका इतना अधिक प्रचलन है कि इसे देने की सामर्थ्य बहुत कम व्यक्तियों मे होती है। इस कारण या तो ऐसे व्यक्ति अविवाहित रहते हैं अथवा हरण-विवाह या सेवा-विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करते हैं।

---

1 Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 342

2 See Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, *The Material Culture and Social Institution of the Simple Peoples*, London, 1930

3 G P. Murdock, *Social Structure*, New York, 1958, p 20.

(5) सेवा-विवाह
(Marriage by Service)

अत्यधिक वधू-मूल्य-प्रथा के कारण कुछ जनजातियों के अनेक सदस्यों के लिए विवाह-साथी प्राप्त करना एक तरह से असम्भव-सा हो जाता है। इस समस्या का हल सेवा-विवाह और विनिमय-विवाह-प्रथाओं को प्रचलित करके किया गया है। साइबेरिया की चुकची, कोरयक और युकाघिर जनजातियों मे अब सेवा-विवाह अत्यधिक लोकप्रिय है। इन जनजातीय समाजो मे पहले क्रय-विवाह अर्थात् वधू-मूल्य चुकाकर विवाह का प्रचलन था, पर धीरे-धीरे उसका रूप इतना भयकर हो गया कि अधिकतर लोगों के लिए उतना अधिक वधू-मूल्य चुकाकर पत्नी प्राप्त करना असम्भव-सा हो गया। इसलिए बाध्य होकर उन्हें सेवा-विवाह की शरण लेनी पड़ी। प्रोफेसर इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने अपने एक अध्ययन मे 241 जनजातियो मे से 30 जनजातियों मे सेवा-विवाह का प्रचलन पाया। कुछ जनजातियों मे विवाह करने से पूर्व ही युवक को अपनी भावी ससुराल मे रहकर सेवा प्रदान करनी पड़ती है और कुछ जनजातियों मे विवाह करने के बाद वर तब तक पत्नी को अपने घर नहीं ले जा सकता जब तक-वह आवश्यक वधू-मूल्य के बदले मे कुछ दिनो तक सास-ससुर को अपनी सेवा प्रदान नही कर देता है। इसका एक अन्य रूप कोमाचे इण्डियनो (Comanche Indians) मे देखने को मिलता है। यहाँ भावी दामाद से प्रत्यक्ष रूप से कोई सेवा की माँग नही की जाती है, परन्तु दामाद से यह आशा की जाती है कि वह अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहेगा और ऐसा करने से विवाह की सम्भावनाएँ आप-से-आप बढ़ जाती हैं। यहाँ तक कि जो दामाद इस प्रकार नियमित रूप से शिकार भेजता रहता है उससे खुश होकर सास अपनी दूसरी लड़की को भी उस दामाद की दूसरी पत्नी होने के लिए इनाम मे दे सकती है। पर अगर शिकार न भेजा गया तो दूसरी लड़की मिलने की कोई भी आशा नही रहती।[1] इस प्रकार दामाद की अच्छाई या बुराई शिकार देने और न देने पर निर्भर है।

भारत मे गोंड, बैगा तथा बिरहोर जनजातियो मे सेवा-विवाह पाया जाता है। गोंड और बैगा जनजातियो मे जो पुरुष वधू-मूल्य देने मे असमर्थ होते हैं, वे कन्या के पिता के यहाँ नौकर के रूप मे कुछ समय तक काम करते हैं और उसके द्वारा किये गये श्रम या सेवा को ही वधू-मूल्य मानकर एक निश्चित समय के पश्चात् माता-पिता अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर देते हैं। गोंड ऐसे व्यक्ति को 'लामानई' (*Lamanai*) और बैगा 'लामसेना' (*Lamsena*) कहते हैं। अपने भावी ससुर के घर मे लामानई को कठोर परिश्रम करना पड़ता है और तब कहीं उसे स्त्री प्राप्त होती है, नहीं तो ससुर उसे भगाकर नया लामानई रख लेता है। बिरहोर जनजाति मे भावी ससुर अपने भावी दामाद को वधू-मूल्य चुकाने के लिए रुपये उधार देता है और दामाद को सेवा द्वारा उस

1. E.A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, pp. 207-208.

ऋण को चुकाना पडता है। हिमाचल प्रदेश के गूजरों और उत्तर प्रदेश की खस जन-जातियों में भी ऐसी प्रथा है।

(6) विनिमय-विवाह
(Marriage by Exchange)

वधू-मूल्य से बचने का एक दूसरा तरीका विनिमय-विवाह है। इस प्रकार की विवाह-प्रथा में एक परिवार के एक भाई और एक बहन का विवाह क्रमश दूसरे परिवार की एक लडकी और उसके भाई के साथ हो जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की पत्नी का भाई उसकी बहन का पति भी होता है, अर्थात् एक ही व्यक्ति से साले और बहनोई दोनो का ही रिश्ता स्थापित हो जाता है। सोसोने इण्डियनों (Shoshone Indians) मे इस प्रकार का विवाह सबसे अच्छा समझा जाता है।[1] फिर भी विनिमय-विवाह में प्राय कठिनाई यह होती है कि दो ऐसे परिवार नहीं मिलते हैं जिनमे से प्रत्येक में एक भाई और एक बहन विवाह के लिए उपयुक्त हो। अर्थात् जोडा ढूँढने मे काफी परेशानी का सामना करना पडता है। इसलिए इस विवाह-प्रथा का प्रचलन कम ही है। कुछ भी हो, ऐसे विवाह मे, जैसा कि श्री बोआस (Boas) ने लिखा है, दोनों परिवार किसी को भी कुछ न देकर एक-दूसरे को वधू-मूल्य दे देते हैं। श्री लोई (Lowie) के शब्दो मे, "यह ऐसा विवाह है जिसमे किसी को भी नुकसान नहीं होता।" श्री हॉबल (Hoebel) के अनुमार यह बिना खर्चे के पत्नी प्राप्त करने का एक साधन है। इसी कारण यह विवाह-प्रथा प्राय सभी भारतीय जनजातियो मे पाई जाती है। परन्तु आसाम की खासी जन-जाति इस प्रकार के विवाह का निषेध करती है।

(7) सहमति और सहपलायन-विवाह
(Marriage by Mutual Consent and Elopement)

विवाह-साथी प्राप्त करने का सातवाँ उपाय पारस्परिक सहमति और सहपलायन है। विवाह-सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धो के बीच भी प्रेम या प्रणय-सम्बन्ध प्रत्येक समाज मे ही पनप जाते हैं और उस अवस्था मे युवक-युवती सामाजिक प्रतिबन्धों तथा बड़ो की आज्ञा और इच्छा की अवहेलना करके पारस्परिक सहमति से विवाह कर लेते हैं। चीईनी (Cheyenne) समाज मे भाई को यह अधिकार होता है कि वह अपनी बहन का विवाह अपनी इच्छानुसार किसी भी व्यक्ति से कर दे। परन्तु यदि भाई ने किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी बहन देने का वादा नही किया है और बहन अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है, तो उसे विवाह की स्वीकृति मिल जाती है और दोनों पक्षो मे उपहार के आदान-प्रदान के द्वारा उस विवाह को विधिवत् कर लिया जाता है। परन्तु यदि भाई ने किसी व्यक्ति से यह वादा कर दिया है कि वह अपनी बहन की शादी उससे करेगा तो उस अवस्था मे बहन के दूसरे किसी युवक के साथ भाग जाने पर समस्या अत्यन्त गम्भीर हो जाती है और भाई

1. E.A. Hoebel, *Ibid*, p 308

की सामाजिक प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुँचता है। ऐसी अवस्था मे अनेक चीईनी माई आत्महत्या तक कर लेते है।[1] आस्ट्रेलिया की एकाधिक जनजातियों मे सहपलायन-विवाह विवाह-साथी प्राप्त करने का एक सामान्य या साधारण तरीका है। कुरनई (kurnai) जनजाति मे अधिकतर युवक-युवती सहपलायन-विवाह ही करते हैं। सहपलायन करते हुए अगर वे पकड़े जाते हैं तो उन्हें बहुत मारा-पीटा जाता है, यहाँ तक कि कभी-कमी जान से भी मार डाला जाता है। पर अगर वे भागकर गाँव से बाहर किसी एक आश्रम (asylum) मे पहुँच जाते हैं तो फिर उनके लिए कोई खतरा नही रहता। वहाँ पर वे तब तक रहते हैं जब तक एक बच्चा पैदा न हो जाय। इसके बाद वे अपने घर लौट सकते हैं क्योंकि बच्चे के साथ लौटने पर उन्हे केवल थोडा-सा पीटा जाता है और उसके उपरान्त उन्हें विधिवत् विवाहित दम्पति के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है।[2]

भारतीय जनजातीय समाजो मे भी इस प्रकार के विवाह का काफी प्रचलन है। बिहार की 'हो' जनजाति इसे 'राजी-खुशी' (*Razi-Khusi*) अर्थात् वर-वधू की सहमति और प्रसन्नता से होने वाला विवाह कहती है। इसमे एक-दूसरे से प्रेम करने वाले युवक-युवती माता-पिता द्वारा उनके विवाह का विरोध होने पर गाँव से एक-साथ इकट्ठे भाग जाते हैं और उस समय तक वापिस नही लौटते जब तक कि उनके माता-पिता इस विवाह को स्वीकार न कर लें। इस प्रकार के विवाह मे किसी प्रकार का सामाजिक सस्कार नही किया जाता और न ही वधू-मूल्य दिया जाता है। राजस्थान की भील जनजाति मे यदि एक लडका अपने गोत्र या पाल की लडकी से ही प्रेम करने लगता है, तो वह अपनी प्रेमिका को किसी दूर स्थान पर भगा ले जाता है क्योंकि अपने ही गोत्र या पाल की किसी लडकी से विवाह सामाजिक नियमों के अनुसार निषिद्ध होता है।

(8) हठ-विवाह
(*Marriage by Intrusion*)

इस विवाह में एक युवक-विशेष से विवाह करने की इच्छुक लड़की उसके घर मे एक प्रकार से जबरदस्ती घुस जाती है और तब तक वहाँ से नही हिलती जब तक उसके प्रेमी के माता-पिता उसे पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार नहीं कर लेते हैं। यह प्रथा भारतीय जनजाति 'हो', बिरहोर, ओरांव, कमार तथा मुण्डा मे पाई जाती है। ओरांव इसे 'निर्बोलोक' (*nirbolok*) और 'हो' इसे 'अनादर' (*anadar*) कहते हैं। अनादर नाम ऐसे विवाह के लिए सबसे उपयुक्त है। इस विवाह मे लडकी अपने प्रेमी के घर अपने माता-पिता की बिना इच्छा के प्रवेश करती है और उन्हें अपने लड़के की शादी उससे करने को एक प्रकार से बाध्य करती है। इसमें प्रारम्भ मे लड़की को भावी समुराल मे अनेक अत्याचार, अत्यधिक अपमान तथा अनादर सहना पड़ता है। इस कारण इसे 'अनादर' विवाह कहा जाता

1. K. N. Llewellyn and E. A. Hoebel, *The Cheyenne Way*, Norman, 1941, Chapter 9.
2. A. W. Howitt, *The Native Tribes of South-East Australia*, New York, 1904, pp. 273ff.

है। लड़की इस प्रकार का अपमानजनक और साहसपूर्ण कदम इस कारण उठाती है कि उसका प्रेम किसी युवक से हो गया है, पर किसी कारण उनका विवाह नहीं हो पा रहा है और युवक भी सहपलायन में असमर्थ है। ऐसी अवस्था के उस लड़की के लिए हठ-विवाह ही एक मात्र उपाय होता है।

निष्कर्ष के रूप में जनजातियों के विवाह के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उनमें विवाह न तो एक धार्मिक संस्कार है और न ही आजीवन का नाता। इस कारण उनमें विवाह-साथी चुनने की अनेक रीतियां पाई जाती हैं। इनमें से अनेक प्रकार के विवाहों का प्रचलन उनमें पर्यावरण या आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है। विनिमय-विवाह-प्रथा जीवन-साथी चुनने के सीमित क्षेत्र की परिचायक है, जो कि विभिन्न जनजातियों के एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण प्रचलित होती है। हरण-विवाह वधू-मूल्य के आधिक्य के कारण है। इसी प्रकार सेवा-विवाह और क्रय विवाह के आधार भी आर्थिक हैं। परिवीक्षा-विवाह इस बात का प्रमाण है कि यौन-सम्बन्धी अनुज्ञाएँ जनजातियों में काफी ढीली हैं। फिर भी सामान्य रूप से आज सभ्य समाज के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उनमें भी विवाह के मामलों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता ही जा रहा है।

पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध
(Pre-marital and Extra-marital Sex Relations)

दुनिया की अनेक जनजातियों में विवाह के पूर्व या विवाह-सम्बन्ध के बाहर अपनी यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति करने की काफी स्वतन्त्रता और अवसर रहता है। प्राय इस प्रकार की स्वतन्त्रता बिना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के नहीं हुआ करती। पर साथ ही, यह उद्देश्य या प्रयोजन प्रत्येक समाज में एक-सा नहीं होता। कुछ जनजातियां इस प्रकार के यौन-सम्बन्धों को इसलिए स्वीकार करती हैं कि उनके दृष्टिकोण से इस प्रकार की स्वतन्त्रता रहने पर युवक-युवतियों की यौन-सम्बन्धी आवश्यक तैयारी सम्भव होती है। कुछ जनजातियां इस प्रकार की स्वतन्त्रता को इसलिए आवश्यक मानती हैं कि इसके बिना युवक-युवतियों में पारस्परिक सहयोग उतना दृढ़ नहीं हो सकता जितना कि जनजातीय जीवन में आवश्यक है। साथ ही, काफी जनजातियों में यौन-सम्बन्ध के आधार पर ही व्यक्ति के चरित्र की उत्तमता या अधमता निर्धारित नहीं की जाती है, और न ही विवाह के पूर्व लड़कियों के कौमार्य (virginity) की रक्षा आवश्यक ही होती है। कुछ जनजातियां इस सम्बन्ध में काफी उदासीन रहती हैं। इतना ही नहीं, कुछ जनजातियों में ऐसे कुछ सामूहिक त्यौहार और उत्सव होते हैं जबकि यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध आप-से-आप ढीले पड़ जाते हैं। इन सब कारणों से ही जनजातीय समाजों में पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त वैवाहिक यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं। कुछ विशिष्ट भारतीय उदाहरण हम नीचे देंगे।

मुड़िया गोंडों में प्रचलित 'गोटुल' अर्थात् युवागृह, जहां गांव के अविवाहित लड़के और लड़कियां सध्या समय एकत्र होते हैं तथा रात-भर वहां रहते हैं, इसलिए प्रचलन में है कि इसका एक उद्देश्य इन युवक-युवतियों को यौन-सम्बन्धी शिक्षा दी जाय और

विवाह-साथी चुनने में सरलता हो। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपना साथी चुन लेता है और ये साथी बदलते भी रहते हैं। कहा जाता है कि इन युवागृहों में जो बडी उम्र की लड़कियाँ होती हैं वे अपने से छोटे नवयुवकों को यौन-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण (training) देती हैं और उनके इस व्यवहार को किसी रूप में अनुचित नही माना जाता है। इसी प्रकार छोटा नागपुर की ओरांव जनजाति मे भी प्रत्येक कुवारे लडके की एक प्रेमिका होती थी, जिसे 'पिल्लो' कहा जाता था। आजकल इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है। मध्य भारत की जनजातियों में पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है बशर्ते लड़की गर्भवती न हो जाय क्योंकि लडकी का गर्भवती होना उसके माता-पिता के लिए बहुत ही लज्जाजनक है, यहाँ तक कि यदि वह लड़की सेवा-विवाह-प्रथा के अनुसार उस परिवार में सेवा करने वाले भावी दामाद के द्वारा ही क्यो न गर्भवती हुई हो। जब लडकी गर्भवती हो जाती है, तो उसे गर्भाधान कराने वाले पुरुष का नाम बतलाना पड़ता है। नाम बता देने पर गाँव या परिवार के लोग उस पुरुष को उस लडकी से विवाह करने को बाध्य करते हैं। इस प्रकार के विवाह मे वधू-मूल्य या तो दिया ही नहीं जाता है और यदि दिया भी जाता है तो नाम मात्र को।

उपरोक्त पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजों मे अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोनयाक नागा जनजाति मे विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अन्य पुरुषो से यौन-सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं। वह अपने पति के घर तब तक नहीं जाती हैं जब तक उसका एक बच्चा पैदा न हो जाय। यदि पति को यह मालूम भी हो जाय कि वह बच्चा उसका नहीं है, तो भी उसके लिए कुछ हर्ज की बात नहीं होती और इसके कारण पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध मे भी कोई फर्क नहीं पड़ता। 'हो' जनजाति मे माघी पर्व पर और ओराँव जनजाति में 'खद्दी' पर्व पर स्त्रियों और पुरुषों को यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है। थारू जनजाति के पुरुष अपनी खूबसूरत पत्नियो से इतना ज्यादा प्रभावित रहते हैं कि अगर पत्नियाँ इधर-उधर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं तो भी वे (पति लोग) उसे विशेष महत्त्व अर्थात् अपराध नहीं समझते। देहरादून जिले की खस जनजाति मे यौन-सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड (double standard) देखने को मिलता है। अपनी ससुराल मे एक वधू (रान्ती) को यौन-सम्बन्धी कठोरतम नियमों का पालन करना पड़ता है परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लडकी (ध्यान्ती) के रूप मे उसे यौन-सम्बन्धी अनेक छूटें मिल जाती हैं और वह एकाधिक पुरुषो से प्रेम करती और यौन-सम्बन्ध स्थापित करती है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जनजातीय समाजो मे यौन-सम्बन्धों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। वास्तव मे उनके सघर्षपूर्ण जीवन मे इन सब विषयों पर गम्भीरता से विचार करने का अवसर ही बहुत कम मिलता है। इसी कारण विवाह का मुख्य आधार यौन-सम्बन्ध न होकर श्रम-विभाजन और आर्थिक सहयोग होता है।

विवाह-विच्छेद
(Divorce)

यह सच है कि वैवाहिक सम्बन्ध को स्थायी बनाने का प्रयत्न प्राय: सभी समाजों में किसी-न-किसी नियम के द्वारा किया जाता है। परन्तु शायद ही कोई ऐसा समाज हो जहाँ कि असफल विवाह-सम्बन्ध को समाप्त करने का कोई-न-कोई उपाय, चाहे वह सरल हो अथवा कठिन, न पाया जाता हो। साथ ही, यह भी सच है कि कोई भी समाज विवाह-विच्छेद को न तो सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार करता है और न ही उसे प्रोत्साहित करता है, फिर भी यह मान लिया जाता है कि एक निरन्तर असफल विवाह-सम्बन्ध को जबरदस्ती बनाये रखने से यह ज्यादा अच्छा होगा कि उसे समाप्त ही कर दिया जाय।

प्राय. सभी आदिम समाजो मे विवाह-विच्छेद पाया जाता है। यद्यपि आधुनिक सभ्य समाजों की भाँति रोमास तथा व्यक्तिगत इच्छा के आधार पर विवाह-विच्छेद इन समाजो में बहुत कम होता है, फिर भी अन्य अनेक आधार हैं जिन पर विवाह-विच्छेद मान्य है। सर्वश्री हॉबहाउस, ह्वीलर तथा जिन्सबर्ग ने जिन 271 जनजातियों का अध्ययन किया है उनमें से केवल चार प्रतिशत जनजातियो में विवाह-विच्छेद निषिद्ध है, 24 प्रतिशत जनजातियो मे इसकी आज्ञा कुछ निश्चित अवस्थाओं में है, और 72 प्रतिशत जनजातियों मे पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति (mutual consent) से विवाह-विच्छेद होता है।[1] यद्यपि इस अध्ययन को अन्तिम मान लेना उचित न होगा, फिर भी इससे मोटे तौर पर जनजातीय विवाह-विच्छेद के स्वरूप का आभास होता है।

जहाँ तक विवाह-विच्छेद करने के अधिकार का प्रश्न है, सामान्यत: जनजातीय समाज स्त्री और पुरुष दोनो को ही समान अधिकार प्रदान करता है। प्रोफेसर मुरडॉक (Prof. Murdock) ने अति सावधानी से चुनकर जिन 40 जनजातियों का अध्ययन किया, उनमे से 30 जनजातियों मे यह पता लगाना असम्भव था कि विवाह-विच्छेद करने के अधिकार के विषय मे स्त्री और पुरुष मे कोई भेद है भी या नहीं, अर्थात् 30 जनजातियो मे स्त्री-पुरुष दोनों को ही विवाह-विच्छेद करने के समान अधिकार प्राप्त थे। इस विषय मे पुरुषो के विशेष अधिकार केवल 6 समाजो मे पाये गये और 4 समाजों में स्त्रियो को, पुरुषो की तुलना मे, विवाह-विच्छेद करने के अधिक अधिकार प्राप्त थे।[2]

प्राय. यह कहा जाता है कि विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी अधिकार इस बात पर निर्भर हैं कि एक समाज विशेष मे स्त्री-पुरुष की सामाजिक स्थिति (status) कितनी है। जिन समाजो मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो से ऊँची है, उन समाजो मे विवाह-विच्छेद के विषय मे भी स्त्रियों को विशेषाधिकार प्राप्त होता है। इसके विपरीत जिन समाजों मे

1 Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, *op cit*, Chapter 3

2. G P. Murdock, 'Family Stability in Non-European Cultures'. *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, Vol. 272, 1948, pp. 195—201.

पुरुषों की सामाजिक स्थिति स्त्रियों की अपेक्षा ऊँची है, उन समाजों में पुरुषों को ही विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में विशेषाधिकार प्राप्त है। आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति में पुरुषों को यह अधिकार है कि वे छोटे-से-छोटे कारण के आधार पर अपनी पत्नियों से अपना विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न कर सकते हैं, जबकि स्त्रियों को विवाह-विच्छेद करने का कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं है। अगर पत्नी के साथ बहुत ही निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया जा रहा है तो इस परिस्थिति से बचने का उसके पास एक ही रास्ता है कि वह अपने पति के घर से भाग जाय। पर यह भी हो सकता है कि उसे फिर पकड़कर लौटा लाया जाय। पूर्वी अफ्रीका की बगण्डा जनजातियों में भी पुरुषों को प्रायः इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। वहाँ पुरुष कोई भी कारण दिखाकर अपनी पत्नी को उसके पिता के घर लौटा सकता है और उस अवस्था मे पत्नी के पिता से वधू-मूल्य लौटा देने की मांग करता है। उसकी यह मांग उस अवस्था मे बहुत ही उचित मानी जाती है, जबकि पत्नी बांझ हो। इन दोनों समाजों में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पुरुषों की तुलना में काफी नीची है।

चिरिकाहुआ अपाची जनजाति में स्त्री और पुरुष दोनों को ही विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में समान अधिकार प्राप्त हैं। दुश्चरित्रता, बाँझपन, नपुंसकता, निर्दयता, आलसीपन आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनके आधार पर स्त्री और पुरुष दोनों को ही विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न करने का समानाधिकार है।

इरोक्वई जनजाति में मातृसत्तात्मक परिवार पाया जाता है। विवाह के पश्चात् पति को अपनी पत्नी के घर पर आकर रहना पड़ता है। इस परिवार पर पति का नहीं, बल्कि पत्नी का या पत्नी के परिवार की ही किसी दूसरी वयस्क स्त्री सदस्य का नियंत्रण होता है। अत. विवाह-विच्छेद करने का विशेषाधिकार भी पत्नी को ही प्राप्त होता है। फलतः पत्नी अपने पति को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय निकाल कर बाहर कर सकती है। पत्नी को विवाह-सम्बन्ध तोड़ने के लिए कोई खास परेशानी नहीं होती, इसके सिवा कि वह अपने पति का सामान घर से बाहर रखवा दे या खुद रख दे। यही पत्नी के विवाह-विच्छेद करने की इच्छा को व्यक्त करने के लिए काफी है। जनजातीय समाजों मे विवाह-विच्छेद के कुछ प्रमुख आधार दुश्चरित्रता, बाँझपन, नपुंसकता, निर्दयता, स्थायी यौन-सम्बन्धी निर्योग्यता, अत्यधिक बीमारी, पत्नी का जादूगरनी होने का सन्देह आदि हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जनजातीय समाजों मे सभ्य समाजों की तुलना में अधिक विवाह-विच्छेद होता है और उसके लिए किसी विशेष नियम-कानून का पालन या शर्तों को पूरा करने की आवश्यकता नहीं होती है। हम लोग अपने दृष्टिकोण से यह सोचते हैं कि अधिक विवाह-विच्छेद होना पारिवारिक विघटन का ही परिचायक है, परन्तु जनजातीय लोग न तो इस प्रकार सोचते हैं और न ही उनमें 'पारिवारिक विघटन' जैसी किसी समस्या का उदय हुआ है। साथ ही, अभी तक किसी ऐसे जनजातीय समाज का पता नहीं चला है जहाँ कि विवाह-विच्छेद को प्रोत्साहित किया जाता हो, या जहाँ पारिवारिक जीवन को स्थायी बनाने के बजाय परिवार को तोड़ने का

प्रयत्न किया जाना हो।

नातेदारी-व्यवस्था
(Kinship System)

नातेदारी-व्यवस्था का अर्थ
(Meaning of Kinship System)

सामाजिक मानव समाज में अकेला नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियों से घिरा होता है, अर्थात् उसका सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परन्तु इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है जो कि विवाह-बन्धन और रक्त-सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित हैं। इनमें भी निकट तथा दूर के, घनिष्ठ तथा अघनिष्ठ, मधुर तथा कठोर हर प्रकार के सम्बन्धियों का समावेश रहता है, परन्तु स्मरण रहे कि ये सभी सम्बन्ध सामाजिक अन्त क्रिया का ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार सामाजिक अन्त क्रिया के फलस्वरूप जो विशिष्ट तथा समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सुव्यवस्थित सम्बन्ध-श्रृंखला एक सामाजिक प्राणी को अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त करती है उसे नातेदारी-व्यवस्था कहते हैं। मानवशास्त्रीय शब्दकोष (Dictionary of Anthropology) में नातेदारी-व्यवस्था को निम्न शब्दों में परिभाषित किया गया है—"नातेदारी-व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो कि अनुमानित और रक्त-सम्बन्धों पर आधारित हो।"[1] 'समाज द्वारा मान्यताप्राप्त इन सम्बन्धों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है, इसलिए सम्बन्ध की निकटता, घनिष्ठता, आत्मीयता आदि के आधार पर इन नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

नातेदारी के भेद
(Types of Kinship)

नाते-रिश्तेदारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—(1) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी (Affinal Kinship) तथा (2) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी (Consanguineous Kinship)।

(1) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी के अन्तर्गत न केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा सबद्ध पति-पत्नी ही आते हैं बल्कि इन दोनों के परिवारों के अन्य सम्बन्धी भी आ जाते हैं। जब एक व्यक्ति विवाह करता है तो उसे स्वभावत यह पता चलता है कि विवाह नामक संस्था ने न केवल दो स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित किया है, बल्कि इन दोनों से

---

1. "Kinship system may include socially recognized relationship based on supposed as well as actual genealogical ties."—Charles Winick, *Dictionary of Anthropology*, p. 302.

सम्बन्धित अन्य अनेक व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बद्ध हो गये हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के पश्चात् एक पुरुष केवल एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, ननदोई, मौसा, साढू आदि भी बन जाता है। उसी प्रकार एक स्त्री भी विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र-वधू, भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मामी, आदि भी बन जाती है या बन सकती है। इनमे से प्रत्येक सम्बन्ध के आधार दो व्यक्ति हैं, जैसे साला-बहनोई, सास-दामाद, साली-जीजा, देवर-भाभी, पति-पत्नी, सास-वधू आदि। इस प्रकार से विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त सम्बन्धियों या नातेदारो को विवाह-सम्बन्धी (Affinal Kinship) कहते हैं।

(2) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो कि समान रक्त के आधार परएक-दूसरे से सम्बन्धित हो। उदाहरण के लिए माता-पिता और उनके बच्चों के बीच अथवा दो भाइयों के बीच या दो भाई-बहन के बीच का सम्बन्ध रक्त के आधार पर ही आधारित है। इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि रक्त-सम्बन्धी नातेदारों मे रक्त-सम्बन्ध वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दों मे रक्त-सम्बन्ध केवल प्राणीशास्त्रीय (biological) आधार पर ही नही, अपितु समाजशास्त्रीय (sociological) आधार पर भी स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ, जिन समाजों मे बहुपति-विवाह प्रथा का प्रचलन है वहाँ प्राणीशास्त्रीय आधारों पर यह निश्चित करना असम्भव है कि कौनसा बच्चा किस पति का है। इसलिए वहाँ पर प्राणीशास्त्रीय पितृत्व (biological fatherhood) को गौण मानकर समाज शास्त्रीय पितृत्व (sociological fatherhood) को अधिक मान्यता दी जाती है। नीलगिरी की बहुपति-विवाही टोडा जनजाति मे सामाजिक पितृत्व का एक विशेष संस्कार 'पुरसुतपिमी' द्वारा निश्चित किया जाता है। जो व्यक्ति गर्भवती स्त्री को उसके प्रसव के पाँचवें महीने मे धनुष-बाण भेंट करता है, वही उस स्त्री की होने वाली सभी सन्तानों का पिता तब तक कहलाता रहता है जब तक दूसरा कोई पति उसी प्रकार का सस्कार न करे। ईसाई मत के प्रारम्भ होने से पहले जर्मन नियम के अनुसार एक बच्चा उस समय तक उस परिवार का सदस्य नही बन सकता है, जब तक कि पिता कुछ सामाजिक सस्कारो के द्वारा उसे अपना पुत्र स्वीकार नही करता। आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं और इसलिए वहाँ के लोग उन समस्त पुरुषो के लिए, जो कि उनकी माताओ के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार प्राय सभी समाजों मे बच्चों को गोद लेने की प्रथा है। गोद लिए हुए बच्चों के साथ ही माता-पुत्र या पुत्री, पिता-पुत्र या पुत्री आदि का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो कि वास्तविक रक्त-सम्बन्ध नही बल्कि अनुमानित रक्त-सम्बन्ध पर आधारित होता है।

नातेदारी की श्रेणियाँ

(Categories of Kinship)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सम्पर्क और निकटता, घनिष्ठता और आत्मीयता के आधार पर विभिन्न प्रकार के नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में बाँटा जा

सकता है। कुछ लोगो के साथ वैवाहिक तथा रक्त-सम्बन्धी आधारो पर नातेदारी प्रत्यक्ष, घनिष्ठ तथा निकट की होती है, जैसे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इनको प्राथमिक सम्बन्धी (Primary Kins) कहा जाता है। डा० दुबे के अनुसार प्राथमिक सम्बन्धियो के अन्तर्गत पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, छोटे-बड़े भाई, छोटी-बडी बहन और भ्राता-बहन, ये आठ प्रकार की सम्बन्ध-श्रृंखला मे गुँथे हुए लोग आते हैं।

इसके विपरीत, **द्वितीयक सम्बन्धी** (Secondary Kins) वे सम्बन्धीगण होते हैं जो उपरोक्त 'प्राथमिक सम्बन्धियो के प्राथमिक सम्बन्धी' हैं। अर्थात् प्राथमिक सम्बन्धियों द्वारा सम्बन्धित हैं। इस द्वितीय श्रेणी के सम्बन्धियो से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता हैं, परन्तु हमारे प्रत्यक्ष या प्राथमिक श्रेणी के सम्बन्धियो से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए बहन के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अर्थात् बहन प्राथमिक सम्बन्धी के अन्तर्गत है। इस बहन का अपने पति के साथ भी प्रत्यक्ष या प्राथमिक सम्बन्ध है, पर बहन के उस पति के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही, उसके साथ मेरा बहनोई का सम्बन्ध बहन के द्वारा है। इस प्रकार बहन का पति मेरे प्राथमिक सम्बन्धी का प्राथमिक सम्बन्धी है। उसी प्रकार पत्नी का भाई भी द्वितीयक सम्बन्धी है।

इसी प्रकार **तृतीयक सम्बन्धी** (Tertiary Kins) भी हो सकते हैं। तृतीयक सम्बन्धी वे सम्बन्धीगण है जो कि हमारे द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की सलहज तृतीयक सम्बन्धी हुई क्योंकि इस व्यक्ति के पत्नी का भाई (या साला) उस व्यक्ति का द्वितीयक सम्बन्धी हुआ और इस द्वितीयक सम्बन्धी (साले) की पत्नी उसकी (साले की) प्राथमिक सम्बन्धी हुई। इस प्रकार एक व्यक्ति के साले की पत्नी को उस व्यक्ति के द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी होने के नाते तृतीयक सम्बन्धी कहा जायगा।

इस प्रकार चातुर्थिक, पाचमिक आदि सम्बन्ध सूत्रो की विस्तृत विवेचना सम्भव है। श्री मुरडॉक (Murdock) ने इस विषय पर गहन अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक व्यक्ति के लगभग 33 द्वितीयक और 151 तृतीयक सम्बन्ध-प्रकार हो सकते हैं।[1]

सम्बन्ध-संज्ञाएँ
(Kinship Terms)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए अलग-अलग तरह के सम्बन्धो के लिए भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग किया जाता है। फिर भी प्रत्येक समाज मे प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध के लिए अलग-अलग शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। इस सम्बन्ध मे श्री मॉर्गन सर्वप्रथम सम्बन्ध-सज्ञाओ का विस्तृत अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर आये कि सम्बन्ध-

1. See G. P. Murdock, *Social Structure*, New York, 1949, Chapters 6 and 7.

संज्ञाओं को हम मोटे तौर पर दो भागो मे बाट सकते हैं—(1) वर्गीकृत सम्बन्ध-सज्ञाएं (Classificatory Kinship Terms) और (2) विशिष्ट सम्बन्ध संज्ञाएँ (Particularizing or Descriptive Kinship Terms)।

(1) **वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था** के अनुसार अनेक नाते-रिश्तेदारों को एक ही वर्ग या श्रेणी के अन्तर्गत मान लिया जाता है और उन सबको एक ही संज्ञा या शब्द से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कराडजेरी (Karadjeri) समाज मे एक व्यक्ति 'ताबुलू' (Tabulu) शब्द का प्रयोग न केवल अपने पिता के लिए करता है, बल्कि पिता के भाई (चाचा और ताऊ) के लिए भी करता है।[1] उसी प्रकार सेमा नागा मे एक ही 'अजा' शब्द का प्रयोग माँ, चाची, ताई तथा मौसी सभी के लिए किया जाता है। उसी प्रकार कूकी लोगो मे 'हेपू' सज्ञा का प्रयोग पिता के पिता, माता के पिता, माता के भाई, पत्नी के पिता, मामा के पुत्र, पत्नी के भाई, साले के लड़के आदि के लिए प्रयोग किया जाता है। आदिम समाजो मे ही नही बल्कि आधुनिक समाजों में भी वर्गीकृत संज्ञा व्यवस्था पाई जाती है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी मे 'अंकल' (uncle) शब्द का प्रयोग चाचा, मामा, ताऊ, फूफा, मौसा आदि सम्बन्धियो के लिए होता है। उसी प्रकार 'कज़िन' (cousin) शब्द से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई-बहनों का बोध होता है।

(2) इसके विपरीत, **विशिष्ट सम्बन्ध-संज्ञाओं** से एक शब्द या संज्ञा द्वारा एक ही सम्बन्धी को सूचित किया जाता है। जैसे यदि हम 'माँ' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे केवल एक विशिष्ट सम्बन्धी का ही बोध होता है उसी प्रकार, चाचा, मामा आदि विशिष्ट सम्बन्ध-सज्ञाएँ हैं।

नातेदारी की रीतियाँ
(Kinship Usages)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार-प्रतिमानो (behaviour patterns) का भी समावेश होता है। हमारा किसी एक व्यक्ति से एक विशेष सम्बन्ध है, बस बात यहीं पर समाप्त नही हो जाती। इस रिश्ते या सम्बन्ध से सम्बन्धित एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी हुआ करता है। उदाहरणार्थ, 'अ' और 'ब' परस्पर पति-पत्नी हैं, इस सम्बन्ध के आधार पर उनके व्यवहारों का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान (pattern) होगा। यह नही हो सकता कि इन दोनों के व्यवहारो का प्रतिमान बिल्कुल उसी तरह का हो जैसा कि माता-पुत्र के व्यवहार का होता है। कुछ रिश्तों का आधार श्रद्धा और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति। माता-पिता के साथ जो सम्बन्ध होता है उसका आधार श्रद्धा और सम्मान है, पत्नी के साथ सम्बन्ध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनों के साथ सम्बन्ध का आधार प्रीति है। साले-बहनोई या जीजा-साली का सम्बन्ध केवल सम्बन्ध ही नही, 'मधुर सम्बन्ध' है। अत: स्पष्ट है कि नातेदारी-व्यवस्था मे दो सम्बन्धियों के बीच का सम्बन्ध या व्यवहार किस

1. Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 122.

प्रकार का होगा, इसके विषय मे कुछ नियम या रीतियाँ होती हैं; इसी को नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages) कहते हैं। इन रीतियो मे जो बहुत ही प्रमुख या विलक्षण हैं, उनका उल्लेख हम यहाँ पर करेंगे।

परिहार
(Avoidance)

नातेदारी-व्यवस्था मे परिहार का नियम या रीति बहुत ही लोकप्रिय है। 'परिहार' का अर्थ यह है कि कुछ ऐसे रिश्ते हैं जो कि दो व्यक्तियो के बीच एक निश्चित सम्बन्ध तो स्थापित करते हैं, पर साथ ही इस बात का निर्देश देते हैं कि वे एक-दूसरे से दूर रहें और पारस्परिक अन्त.क्रिया में यथासम्भव प्रत्यक्ष या आमने-सामने रहते हुए सक्रिय भाग न लें। इस प्रकार के सम्बन्ध मे पुत्र-वधू तथा सास-ससुर का सम्बन्ध बहुत ही सामान्य है। उसी प्रकार दामाद तथा सास का पारस्परिक सम्बन्ध भी कुछ समाजो मे परिहार के अन्तर्गत ही आता है। कुछ उदाहरणो से इस प्रकार के सम्बन्धो का स्पष्टीकरण सरलता से हो सकेगा।[1]

युकाघिर (Yukaghir) जनजाति मे यह नियम है कि एक वधू कभी भी अपने ससुर या जेठ (husband's elder brother) के चेहरे को न देखे और न ही दामाद को अपनी सास या ससुर के चेहरे को देखना चाहिए। इन सम्बन्धियों को परस्पर यदि कुछ कहना होता है तो पर्दा करके हुए कहते हैं या किसी दूसरे से कहलवा देते हैं। ओस्ट्याक (Ostyak) जनजाति मे वधू अपने ससुर के सामने और दामाद अपनी सास के सामने तब तक नही आते है जब तक उनके बच्चे पैदा न हो जायें। अगर कभी अचानक वे एक-दूसरे के सामने पड़ जाते हैं तो फौरन घूंघट से अपना चेहरा छिपा लेती हैं। वधू को जीवन-भर ससुर के सामने घूंघट निकालना पड़ता है।

इस प्रकार के नियम हिन्दू समाज मे भी पाये जाते हैं। ससुर तथा अन्य वयोवृद्ध सम्बन्धियो के सामने घूंघट निकालना बहू के लिए एक सामान्य नियम है। उसी प्रकार पति, ससुर, जेठ आदि के नाम का उच्चारण बहू नही करती है।

उसी प्रकार सास-ससुर तथा दामाद के बीच के सम्बन्ध को भी कुछ समाजो मे नियन्त्रित किया जाता है। न्यू गिनी की बुकाऊ जनजाति मे सास-ससुर और दामाद न तो एक-दूसरे को देखते हैं, न एक-दूसरे को छूते हैं और न ही एक-दूसरे का नाम लेते हैं। अगर दामाद के सामने बैठकर ससुर को भोजन करना है तो ससुर को अपना चेहरा ढँककर बैठना पड़ता है और अगर कही इत्तफाक से दामाद अपने ससुर को मुँह (mouth) खोलते देख ले तो ससुर को इतना लज्जित होना पड़ता है कि वह जंगल को भाग जाता है। आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे तो इस प्रकार के निषेध और कठोर हैं। वहाँ कुछ जनजातियों मे दामाद को देखना या उससे बात करना तो दूर रहा, सास को उसके

1. See Robert Lowie, *Primitive Society*, Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1953, pp. 80-92.

नाम तक को अपने कानो से सुनने की मनाही है। इन नियमों को तोड़ने से विवाह-विच्छेद हो सकता है, या दामाद को गांव से निकाल दिया जाता है और कभी-कभी तो प्राण-दण्ड तक मिलता है। अफ्रीका की जूलू जनजाति मे दामाद अपनी सास के पास तक कभी नही जाता और अगर कभी सास उसके पास से गुजर जाती है तो जो कुछ भी दामाद के मुँह मे उस समय होता है उसे निकालकर फेंक देता है।

वधू या दामाद द्वारा अपने सास-ससुर की उपरोक्त परिहार की रीतियों को सास-ससुर सम्बन्धिक निषेध (parent-in-law taboos) कहते हैं। इन निषेधों को ऊपरी तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि इन निषेधो का पालन करने वालों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही तनाव या सघर्षपूर्ण होगा; परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। कुछ जनजातियो के लोग तो यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि उनमे इस प्रकार के निषेध केवल परस्पर के प्रति सम्मान प्रदर्शन के हेतु ही हैं।

इस विषय पर श्री टायलर (Tylor) का मत यह है कि उपरोक्त निषेध मातृ-सत्तात्मक परिवार-प्रथा के कारण हैं। इस प्रकार की परिवार-प्रथा मे वर को पत्नी के घर पर जाकर रहना पड़ता था जहां कि वह वर बिल्कुल ही अजनबी होता था। इस प्रकार उस परिवार की अन्य स्त्रियां विशेषकर सास, जो कि परिवार की मालकिन होती थीं, उस अजनबी वर से दूर रहती थी। इसी से धीरे-धीरे आगे चलकर सास सम्बन्धिक निषेध पनपे हैं। उसी प्रकार पितृस्थानीय परिवारो मे ससुर से सम्बन्धित निषेधों का जन्म हुआ है। परन्तु आज इस मत से बहुत से विद्वान सहमत नहीं हैं। होपी तथा जूनी जनजातियाँ, जो कि मातृस्थानीय हैं, इस प्रकार के नियमो को नही मानतीं। आस्ट्रेलिया की वे जनजातियां, जो कि पितृस्थानीय हैं, दामाद का परिहार करती हैं, न कि वधू का।

इस विषय पर श्री फ्रेजर (Frazer) का मत यह है कि इन निषेधों का उद्देश्य यौन-सम्बन्ध को नियत्रित करना अर्थात् निकटाभिगमन (incest) को रोकना है। श्री फ्रेजर का कथन है कि कुछ जनजातियाँ तो इस विषय मे इतनी अधिक तटस्थ हैं कि भाई-बहन तक को एक-दूसरे से अलग रखते हैं। उदाहरणार्थ, लंका की वेड्डा (Vedda) जनजाति मे भाई-बहन एक ही कमरे मे नही रह सकते और न ही एक साथ बैठकर खाना खा सकते हैं। श्री फ्रेजर के सिद्धान्त के आधार पर सास-दामाद के परिहार को यदि मान भी लिया जाय, तो भी इससे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता है कि ससुर-दामाद के रिश्ते मे इस प्रकार के निषेध क्यों हैं?

श्री फ्रायड (Freud) ने मनोवैज्ञानिक आधारों पर परिहार को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार इस प्रकार के निषेधो का एक-मात्र उद्देश्य दामाद और सास या वधू और ससुर में पारस्परिक यौन-सम्बन्धी आकर्षण को रोकना है। श्री लोई (Lowie) का मत है कि वर और उसके ससुराल या दामाद और उसके ससुराल दोनों की सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि मे भिन्नता होने के कारण ही इस प्रकार का परिहार पनपा है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के मतानुसार नातेदारी में कुछ ऐसे सम्बन्धी होते हैं जिनके कि अत्यधिक घनिष्ठ होने पर परिवार के अन्य सदस्यों में द्वेष या ईर्ष्या की भावना पनप सकती है जो कि स्वस्थ पारिवारिक जीवन के

लिए हानिकारक सिद्ध होगी। इसलिए इन सम्बन्धीगण को दूर-दूर ही रखा जाता है। सास, ससुर, दामाद, वधू इसी प्रकार के सम्बन्धीगण है। इसीलिए श्री टर्नी हाई (Turney High) का कथन है कि सास को दामाद से और वधू को ससुर से दूर रखना पारिवारिक शाति को बनाये रखने के लिए आवश्यक समझा गया।

परिहास-सम्बन्ध
(Joking Relationship)

नातेदारी की रीतियो मे परिहास-सम्बन्ध परिहार का बिल्कुल विपरीत रूप है। जहाँ परिहार दो सम्बन्धियों को एक-दूसरे से दूर ले जाता है, वहाँ परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियों को अति निकट लाता है। निश्चित अर्थ मे यह दो व्यक्तियो को 'मधुर-सम्पर्क' या सम्बन्ध-सूत्र मे बांधता है और दोनो को एक-दूसरे के साथ हँसी-मजाक करने का अधिकार देता है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार, "परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियो का वह सम्बन्ध है जिसमे प्रथा द्वारा एक पक्ष को यह छूट रहती है और कभी-कभी उससे यह माँग की जाती है कि वह दूसरे पक्ष को तग करे, छेड़े या उससे हँसी-मजाक करे, पर दूसरा पक्ष इसका कुछ भी बुरा न माने।"[1]

जबकि परिहार मे यौन-सम्बन्धी विषयो से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, पर परिहास-सम्बन्ध में यौन-सम्बन्धी हँसी-मजाक की उतनी ही छूट रहती है। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई आदि का सम्बन्ध केवल आदिम समाजो मे ही नहीं, हमारे अपने समाज मे भी परिहास-सम्बन्ध के उत्तम उदाहरण हैं। ये एक-दूसरे को छेडते हैं, एक-दूसरे की सामान्य त्रुटि पर खिल्ली उडाते है, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं और यौन-सम्बन्धी हँसी-मजाक मे सम्मिलित होते हैं। इन सम्बन्धियों मे हँसी-मजाक की मात्रा तथा क्षेत्र त्यौहारो के दिनो मे बहुत बढ़ जाता है। होली का त्यौहार इस मामले मे सबसे उल्लेखनीय है।

कुछ समाजो मे परिहास-सम्बन्ध का क्षेत्र गाली देने, यौन-सम्बन्धी भद्दे मजाक करने और खिल्ली उड़ाने तक ही सीमित न रहकर, एक-दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति या सम्पत्ति की बर्बादी करने तक विस्तृत होता है। मैलेनेशिया मे भतीजे को यह अधिकार होता है कि वह अपने चाचा की सम्पत्ति को चाहे रखे या बर्बाद करे और इनके बीच के परिहास-सम्बन्ध के कारण ही चाचा से यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के किसी भी व्यवहार का बुरा न माने।

कुछ समाजो मे परिहास-सम्बन्ध दादी-पोते या दादा-पोती के बीच भी होते हैं। कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ मामी-भानजे के बीच परिहास-सम्बन्ध पाये जाते हैं। अरापाही समाज मे जीजा-सालो मे से कोई भी अगर देर तक सोता है, तो उस पर जो जागता

---

1. "Joking relationship is a relation between two persons in which one by custom permitted, and in some instances required, to tease or make fun of the other, who in turn is required to take no offence." —*Radcliffe-Brown*

रहता है या जल्दी उठ जाता है, ठण्डा पानी डाल देता है। ये लोग आपस मे चुम्बन भी ले सकते हैं।

भारतीय जनजातियो में भी परिहास-सम्बन्धों का अत्यधिक विस्तार है। देवर या साली के साथ हँसी-मजाक करने की प्रथाएँ तो बहुत ही सामान्य हैं। ओरांव तथा बैगा जनजातियों में दादी-पोते या दादा-पोती के बीच परिहास-सम्बन्ध पाये जाते हैं।

श्री रिवर्स (Rivers) का विश्वास है कि परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति फुफेरों-ममेरो मे विवाह-सम्बन्ध, जो प्रारम्भिक युग मे सामान्य था, के कारण हुई है। श्री वेस्टरमार्क इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। आपके मतानुसार किसी भी संस्था से किसी अन्य एक संस्था की उत्पत्ति की कल्पना करना बहुत सरल है परन्तु उसे प्रमाणित करना कठिन है। परिहास-सम्बन्ध केवल मात्र पारस्परिक समानता की ओर निर्देश करता है और उन दो सम्बन्धित व्यक्तियों को एक-दूसरे से घनिष्ठ करता है जिनसे कि पहले विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने की सम्भावना रहती थी। देवर-भाभी और जीजा-साली के बीच पाये जाने वाले परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति इसी सम्भावना के आधार पर हुई होगी। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार परिहास-सम्बन्धों का एक प्रतीकात्मक अर्थ (symbolic meaning) होता है और वह यह कि इस सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्ति हँसी-मजाक और यहाँ तक कि मारपीट के माध्यम से एक-दूसरे के प्रति मित्रता या प्रीति का प्रदर्शन करते हैं और पारिवारिक जीवन को सजीव बनाये रखने में इनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं करना चाहिए यदि इस प्रकार के सम्बन्धो का दुरुपयोग न किया जाये।

माध्यमिक सम्बोधन
(Teknonymy)

नातेदारी-व्यवस्था की एक और रीति माध्यमिक सम्बोधन है। इस रीति को माध्यमिक सम्बोधन इसलिए कहा जाता है कि इस रीति के अनुसार एक सम्बन्धी को सम्बोधन करने के लिए किसी एक दूसरे व्यक्ति को माध्यम बनाया जाता है क्योकि उस सम्बन्धी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष के प्रायः सभी ग्रामीण समुदायों में पति का नाम लेना पत्नी के लिए वर्जित होता है। इस कारण पत्नी पति को सम्बोधन करने के लिए अपने किसी लड़के या लड़की को माध्यम बना लेती है और उसी के सम्बन्ध से पति को पुकारती है। जैसे, यदि लड़के का नाम राजू है तो वह स्त्री अपने पति को 'राजू के पिता' कहकर सम्बोधित करती है।

'माध्यमिक सम्बोधन' का अंग्रेजी शब्द 'टेक्नॉनिमी' (teknonymy) ग्रीक भाषा से बना है और इसे मानवशास्त्रीय साहित्य मे सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय श्री टायलर को है। सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) के आधार पर श्री टायलर का निष्कर्ष यह है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति मातृसत्तात्मक परिवार से सम्बन्धित है। इस प्रकार के परिवारों में स्त्रियों की प्रधानता होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार में उसकी कोई विशेष स्थिति नहीं होती

थी। इसीलिए उसे प्राथमिक सम्बन्धियो (primary kins) मे सम्मिलित न करके केवल द्वितीयक सम्बन्धी (secondary kins) के रूप मे स्वीकार किया जाता था और इस उद्देश्य से उस पति को उन बच्चो के, जिनको कि पैदा करने मे उसने सहायता की है, माध्यम से सम्बोधित किया या पुकारा जाता था। इसी रीति का जब विस्तार हुआ तो माता को भी माध्यमिक सम्बोधन से पुकारा जाने लगा।

श्री टायलर (Tylor) का कथन था कि उनके अध्ययन मे प्राय 30 जनजातियाँ ऐसी थी जिनमे कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति प्रचलित थी, जिसमे कि दक्षिणी अफ्रीका की बेचुयाना, पश्चिमी कनाडा की क्रो तथा भारत (आसाम) की खासी जनजातियो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानो से पता चलता है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति का विस्तार इससे कही अधिक है। श्री फ्रेज़र (Frazer) ने इस रीति का प्रचलन आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मलाया, चीन, उत्तरी साइबेरिया, अफ्रीका की विभिन्न बांटू (Bantu) जनजातियो, उत्तरी ब्रिटिश कोलम्बिया आदि मे पाया है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि श्री फ्रेज़र द्वारा प्रस्तुत यह सूची भी पूरी नही है। उपरोक्त जनजातियो या स्थानों के अलावा भी अनेक अन्य स्थानो मे माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन है। उदाहरणार्थ, अण्डमान, लका, फिज़ी, मैलेनेशिया तथा अमेरिका के विभिन्न भागो मे भी इस रीति का प्रचलन है। होपी समाज मे एक स्त्री अपनी सास को 'अमुक की दादी' और ससुर को 'अमुक का दादा' कहकर पुकारती है। इसी ढग से पुरुष भी अपने सास-ससुर को सम्बोधित करते हैं। पति और पत्नी भी एक-दूसरे को बच्चो के माध्यम से सम्बोधित करते हैं।

माध्यमिक सम्बोधन की रीति की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे श्री टायलर के सिद्धान्त को भी श्री लोई ने स्वीकार नही किया है। आपका कथन है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति पुरुषो के लिए ही नहीं, स्त्रियो के लिए भी क्यो प्रयोग मे लायी जाती है, इसकी व्याख्या श्री टायलर के मातृसत्तात्मक परिवार के सिद्धान्त के आधार पर सम्भव नही। आस्ट्रेलिया, मैलेनेशिया आदि की जनजातियाँ पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय होते हुए भी उनमे माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन पाया जाता है। वास्तव मे इस रीति का प्रचलन विभिन्न समाजो मे भिन्न-भिन्न कारणो से हुआ है। कुछ समाजो मे इसके प्रचलन का कारण स्त्रियो की गिरी हुई स्थिति है (जैसे गोल्ड जनजाति मे); कुछ समाजो मे पुरुषो की स्थिति नीची होने के कारण और कुछ समाजो मे प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धी के लिए पृथक्-पृथक् शब्दों या सज्ञाओ की कमी के कारण (जैसे होपी जनजाति मे) इस रीति का प्रचलन हुआ।[1]

मातुलेय
(Avunculate)

'एवकुलेट' (avunculate) या मातुलेय शब्द उस प्रथा की ओर निर्देश करता

1. Robert H. Lowie, *op. cit.*,

है जो कि मामा भानजे या भानजी के पारस्परिक सम्बन्धों को एक विशिष्ट ढंग से नियमित करता है। इसका प्रचलन उन मातृसत्तात्मक परिवारों मे होता है जहाँ कि माता के भाई (मामा या मातुल) का पारिवारिक मामले मे अत्यधिक महत्त्व और नियन्त्रण होता है। यदि पारिवारिक मामले मे मामा का अधिकार और नियन्त्रण प्रमुख है, यदि लोगो से यह माग की जाती है कि वे अपने पिता से भी अधिक सम्मान मामा का करें, यदि मामा का भी अपने भानजे-भानजियो के प्रति उनके पिता से कही अधिक उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य है, यदि मामा अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भानजे को ही बनाये और यदि भानजा भी पिता की अपेक्षा मामा की सेवा अधिक करे—अर्थात् अन्य सभी पुरुष सदस्यो मे मामा का स्थान या स्थिति सर्वोपरि हो तो इस व्यवस्था या प्रथा को मातुलेय कहते है।

उत्तरी पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति मे यह प्रथा है कि दस वर्ष की आयु मे पुत्र पिता का घर छोडकर अपने मामा के यहाँ रहने के लिए चला जाता है, वहाँ पर रहकर वह मामा के परिवार और समाज की बातो को सीखता है, मामा की सेवा करता है और वडा होने पर मामा की सम्पत्ति की देख-रेख करता है। मामा भी उसके समस्त भार को सहर्ष अपने ऊपर ले लेता है। मामा के गोत्र, जादू, धर्म तथा सम्पत्ति पर भानजे का ही अधिकार होता है। ट्रोब्रियंड (Trobriand) जनजातियो मे भी ठीक इसी प्रकार से होता है। होपी तथा जूनी जनजातियों मे पुत्र तब तक अपने पिता के घर मे रहता है जब तक उसकी विवाह की आयु न आ जाय। इस आयु मे वह अपने मामा के घर चला जाता है और मामा उसका विवाह-संस्कार करवा के अपने परिवार के सदस्य के रूप मे स्वीकार कर लेता है।

मातुलेय प्रथा प्रत्येक समाज मे शान्तिपूर्वक ढग से स्वीकार नही की जाती है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियड प्रायद्वीप के निवासियों मे पिता के स्नेह तथा मातुलेय कर्त्तव्य के बीच प्राय संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। हो सकता है कि पिता को अपने लडके से इतना प्यार हो जाय कि वह अपनी सम्पत्ति को भानजे को देने के बजाय अपने ही लड़के को देना अधिक पसन्द करे। उस अवस्था में भानजे तथा मामा के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

यह सच है कि मातुलेय प्रथा मातृसत्तात्मक समाजो की एक विशेषता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पितृसत्तात्मक समाज मे इसका बिलकुल ही प्रचलन नही है। दक्षिणी अफ्रीका के थोगा (Thonga) जनजाति पितृवंशीय है। यहाँ पत्नी को विवाह के पश्चात् अपने पति के गाँव या घर मे जाकर रहना पड़ता है और बच्चों पर भी पिता के परिवार का अधिकार होता है। फिर भी मामा का घर बच्चो के लिए 'द्वितीयक शरण स्थान' (secondary haven) होता है। कोमाचे जनजाति मे भी, जो कि पितृसत्तात्मक है, मातुलेय प्रथा का प्रचलन है।

I

पितृश्वस्त्रेय
(Amitate)

'मातुलेय' प्रथा के अन्तर्गत जिस प्रकार माता के भाई का विशेष अधिकार तथा स्थिति होती है उसी प्रकार पितृश्वस्त्रेय प्रथा मे पिता की बहन बुआ या पितृश्वसा का अधिक महत्त्व होता है। डा० रिवर्स (Rivers) ने इस प्रकार की अनेक जनजातियों का उल्लेख किया है जिनमे कि इस प्रकार की प्रथा पाई जाती है। बैंक्स प्रायद्वीप मे एक व्यक्ति अपनी बुआ का अपनी माता से कही अधिक सम्मान करता है और उस व्यक्ति के विवाह-साथी का चुनाव बुआ के द्वारा ही होता है। बुआ की सम्पत्ति पर एक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार होता है। वह व्यक्ति उस सम्पत्ति को अपने मनमाने ढग से खर्च कर सकता है। दक्षिणी अफ्रीका की कुछ जनजातियो मे भी यह प्रथा पाई जाती है। वे लोग भी अपनी बुआ का काफी आदर करते हैं। टोडा जनजाति मे बच्चे का नामकरण करने का अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। कुछ जनजातियो मे तो दाह-सस्कार का भी अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। सर्वश्री चैंपल तथा कून (Chapple and Coon) का मत है कि पितृश्वस्त्रेय प्रथा के प्रचलन का कारण उन सम्बन्धियो मे पारस्परिक सामाजिक अन्त क्रिया को बनाये रखना है, जिनमे कि विवाह के पश्चात् उस अन्त क्रिया के समाप्त होने की सम्भावना रहती है।

सह-प्रसविता या सहकष्टी
(Cauvade)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत एक अति निराली प्रथा 'सह-प्रसविता' है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रथा का सम्बन्ध प्रसव-काल से है। इस प्रथा के अनुसार पति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी को बच्चा होने वाला हो तो पति भी उन सब कष्टो को अनुभव करे तथा बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करे और दिन गुजारे जैसा कि प्रसवा कर रही है। ऐसी स्थिति मे पति को भी उसी प्रकार का भोजन करना पडता है जैसा कि प्रसवा करती है उसे भी उसी कमरे मे बन्द रखा जाता है जिसमे कि प्रसवा बच्चा प्रसव होने के बाद कुछ दिनो के लिए रहती है। फलत जिस प्रकार प्रसवा को छूत माना जाता है उसी प्रकार उसके पति को भी कोई छूता नही है। कुछ जनजातियो मे तो यहाँ तक नियम है कि बच्चा प्रसव होने के समय जो दर्द प्रसवा को होता है और जिसके कारण वह रोती-चिल्लाती है उसी प्रकार पति को भी उन कष्टो को अनुभव करना तथा चिल्लाना-चीखना पडता है। इतना ही नही, प्रसवा जिन-जिन नियमो का पालन करती है, पति को भी उन्ही नियमो का पालन करना पडता है। इसीलिए खासी जनजाति मे पति, अपनी पत्नी की भाँति, बच्चा पैदा न होने तक कोई नदी पार नही करता या कपड़े नही धोता है।

इस प्रथा के प्रचलन के सम्बन्ध मे मानवशास्त्री एकमत नही है। कुछ विद्वानो का कथन है कि जनजातियो मे जादू के द्वारा नुकसान पहुँचने का डर अत्यधिक होता है।

इसलिए माता और पिता दोनों पर ही अनेक प्रतिबन्ध लगाकर उन दोनों को जादू-टोने से तब तक रक्षा करते हैं जब तक बच्चा सकुशल पैदा न हो जाय। कुछ मानवशास्त्रियों के अनुसार इस प्रथा द्वारा पति भी सन्तान के प्रति अपना उत्तरदायित्व प्रदर्शित करता है। यह भी हो सकता है कि पत्नी के प्रति समवेदना प्रदर्शित करने के लिए पति ऐसा करता है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि इस प्रथा के पालन द्वारा पति अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति प्रेम की भावना को व्यक्त करता है जिसके फलस्वरूप उनका पारस्परिक सम्बन्ध और दृढ़ होता है। डा० दुबे ने लिखा है कि "इस प्रथा के मूल में सामाजिक कारण यह दीख पड़ता है कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है, वह सामाजिक रूप से ज्ञात हो जाता है और इसलिए वह पुरुष उस सन्तति का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं है कि यह पिता जैविकीय (biological) पिता भी रहा हो। टोडा समाज में इस प्रथा को धनुष-बाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है।" जिस प्रकार टोडा जनजाति धनुष-बाण भेंट करके पितृत्व का अधिकार प्राप्त करती है, उसी प्रकार दूसरे समाजों में सह-प्रसविता पितृत्व को प्रदर्शित करने की एक सामाजिक प्रथा है।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. *Encyclopaedia of Social Sciences*, The Macmillan Co., New York, 1930, *Vol. IV*.

3. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

4. Hobhouse, Wheeler and Ginsberg : *The Material Culture and Social Institutions of the Simple People*, London, 1930.

5. Kapadia, K. M : *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, 1955.

6. Linton, R. : *The Study of Man*, Appleton Century Crofts, New York, 1936.

7. Lowie, R. H. : *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1953.

8. Majumdar, D. N. : *The Fortunes of Primitive Tribes*, 1944

9. Majumdar, D. N. : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

10. Murdock, G. P. : *Social Structure*, New York, 1949.

11. Piddington, R. : *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952.

12. Prabhu, P. H. : *Hindu Social Organization*, Popular Book Depot, Bombay, 1958.

13. Stow, G W. : *The Native Races of South Africa*, London, 1905.

14. Westermarck, E. A. : *The History of Human Marriage*, The Macmillan Co., London, 1926.

15. Winick, Charles : *Dictionary of Anthropology*.

10 परिवार और गोत्र
(The Family and Clan)

मानव-समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है क्योंकि मानव-जीवन के प्रारम्भ से परिवार उसके साथ है। किसी-न-किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है। परिवार ही समाज की प्रारम्भिक इकाई है। मनुष्य का जन्म, विकास और संस्कृतिकरण परिवार से ही प्रारम्भ होता है, और उसी परिवार के प्रसार से ही समस्त राष्ट्र का निर्माण होता है। इस अर्थ में हम सब लोग उस प्रथम परिवार के ही सदस्य हैं, जो कि सबसे पहले इस पृथ्वी पर बसा होगा। इसीलिए सम्पूर्ण मानवजाति को एक ही परिवार का क्रमिक विकसित रूप समझा जा सकता है।

प्रत्येक समाज मे, चाहे आदिम हो या आधुनिक, परिवार का होना अत्यावश्यक है क्योंकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं। मनुष्य मरता रहता है, परन्तु परिवार की सहायता से मानव-जाति अमर हो गई है क्योंकि समाज मे जो लोग मरते जाते हैं उनके स्थानो को परिवार ही नयी सन्तानों से भर देता है। इस प्रकार परिवार द्वारा मृत्यु और अमरत्व, दो विरोधी अवस्थाओ का सुन्दर समन्वय सम्भव हुआ है।

किसी विद्वान ने सच ही लिखा है कि "प्रत्येक मनुष्य मे सदैव जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक इसे जिजीविषा या संरक्षण की सहज वृद्धि कहते हैं। मनुष्य ने मृत्यु पर विजय पाने के लिए, अतीत काल मे अनेक उपाय ढूंढे, अमृत की खोज की, नाना रसायन बनाये, आज भी वैज्ञानिक इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण कर रहे हैं; किन्तु अब तक विवाह और परिवार से अधिक सरल, सुन्दर और उत्तम कोई उपाय नही खोजा जा सका। ऋग्वेद मे यह प्रार्थना की गई है कि 'मैं प्रजा द्वारा अमृत्व का उपभोग करूँ।' विवाह द्वारा परिवार बनाकर मनुष्य सन्तानो के माध्यम से अपने को फैलाता है, लम्बा करता है और अमर बनाता है पुत्र के रूप मे पिता का ही पुनर्जन्म होता है; क्योंकि पिता के अग-अग और हृदय से प्राप्त अशो को लेकर ही पुत्र की उत्पत्ति होती है। मनुष्य को यदि अनिवार्य मृत्यु का दुख है, तो उसे इस बात का भी अवश्य सन्तोष है कि परिवार द्वारा उसने एक ऐसा हल ढूंढ लिया है, जिससे वह अपने वशजो के रूप मे अन्त.काल तक जीवित रहेगा तथा सदा बढता और फलता-फूलता रहेगा। सन्तति द्वारा अपने वंश को सुरक्षित रखना प्राणिजगत का सार्वभौम नियम है।" परिवार उस नियम का आधार और आगार है। इस अध्याय मे उसी परिवार की हम विवेचना और विश्लेषण करेंगे।

परिवार क्या है ?
(What is a Family ?)

सर्वश्री ऑगबर्न और निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff) के अनुसार "बच्चों या बिना बच्चो वाले एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही अपने बच्चे सहित एक थोडे-बहुत स्थायी संघ को परिवार कहते हैं।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि उक्त विद्वान परिवार को एक समिति (association) या सघ (union) के रूप मे परिभाषित करते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि इस सघ या समिति का निर्माण एक पति-पत्नी और उनके बच्चों के सम्मिलन से या केवल पति-पत्नी के योग से या विधवा स्त्री और उसके बच्चों के सम्मिलित रूप मे रहने से या पुरुष और उसके बच्चों के ही साथ-साथ रहने से हो सकता है या होता है। सक्षेप मे, उक्त विद्वानो की परिभाषा से परिवार का सघात्मक पहलू स्पष्ट होता है।

इसके विपरीत सर्वश्री मैकाइवर और पेज (MacIver & Page) ने विशेषकर परिवार के सस्थात्मक पहलू पर अधिक बल देते हुए परिवार की परिभाषा निम्न शब्दों में की है—"परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चो के जनन और लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"[2] इन विद्वानो की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि परिवार नामक समूह पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित होता है जिसे कि हम विवाह कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, एक परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से होता है और यह वह साधन है जिसके द्वारा बच्चों का जन्म और लालन-पालन सम्भव होता है। इस प्रकार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त ढंग से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने तथा बच्चो के जन्म और पालन-पोषण की व्यवस्था करने के उद्देश्य से स्थापित समूह को परिवार कहते हैं। इस अर्थ मे सर्वश्री मैकाइवर और पेज की परिभाषा सर्वश्री ऑगबर्न तथा निमकॉफ की परिभाषा से अधिक विस्तृत है।

परिवार की अन्य विशेषताओ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से सर्वश्री बर्गेस और लॉक (Burgess & Locke) ने परिवार को निम्न ढग से परिभाषित किया है—'एक परिवार विवाह, रक्त-सम्बन्ध या गोद लेने के बन्धनो से सम्बद्ध व्यक्तियो का एक ऐसा समूह है जो कि एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और जो एक-दूसरे के साथ अन्त:क्रिया और अन्त:सदेश करते हुए पति-पत्नी, माता-पिता, लडके-लडकी और भाई-बहन के रूप मे अपने-अपने सामाजिक कार्यों को करते रहते हैं और एक सामान्य सस्कृति को बनाते व उसकी रक्षा करते हैं।"[3] इस परिभाषा से परिवार के एकाधिक पहलुओं पर

---

1 "Family is more or less a durable association of husband and wife with or without children, or of a man or woman alone with children."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul, London

2 "The family is a group defined by a sex-relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of childern."—MacIver and Page, *Society*, Macmillan & Co., London, 1959, p. 238

3. "A family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household interacting and intercommunicating with each other in their respective social role of husband and wife, mother and father, son and daughter, brother and sister, and creating and maintaining a common culture."—Burgess and Locke, *The Family*, American Book Co, New York, p. 8.

प्रकाश पड़ता है प्रथमतः तो यह कि परिवार कुछ व्यक्तियों का एक समूह है और इस समूह का निर्माण तीन ढंग से हो सकता है, अर्थात परिवार के सदस्य या तो विवाह-सम्बन्ध (जैसे पति-पत्नी का सम्बन्ध) द्वारा, या रक्त-सम्बन्ध (जैसे माता-पुत्र या भाई-बहन तथा अन्य रक्त-सम्बन्धी) या गोद लेने के फलस्वरूप उत्पन्न सम्बन्ध के द्वारा संबद्ध या जकड़े हुए होते हैं पुनः परिवार के सम्बन्ध मे दूसरी बात यह है कि परिवार नामक संघ या समूह में एकाधिक सदस्य होते हैं, केवल एक स्त्री या एक पुरुष से परिवार का निर्माण नहीं हो सकता। इन एकाधिक सदस्यों की परिवार में एक निश्चित स्थिति होती है जैसे, कोई पति है तो कोई पत्नी, कोई लड़का है तो कोई लड़की, कोई भाई है तो कोई बहन, कोई माँ है तो कोई पिता। इन विभिन्न स्थिति वाले व्यक्तियों में से प्रत्येक का उसकी स्थिति से सम्बन्धित कुछ सामाजिक या पारिवारिक कार्य होता है। तीसरी बात यह है कि परिवार के इन सदस्यों के कार्य पृथक्-पृथक् नही होते, बल्कि ये कार्य एक-दूसरे से सम्बन्धित या एक-दूसरे के प्रति होते हैं। अर्थात् अपनी-अपनी स्थिति और कार्य के अनुसार परिवार के सदस्यों मे पारस्परिक अन्त.क्रिया तथा अन्त.संदेश (interaction and intercommunication) चलता रहता है। इन्ही अन्त क्रियाओं तथा अन्तःसंदेशों के आधार पर पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित ही नहीं होता बल्कि उनकी निरंतरता भी बनी रहती है। परिवार के सम्बन्ध में चौथी बात यह है कि उसके सदस्यों की पारस्परिक अन्त.क्रिया और अन्तःसंदेश के फलस्वरूप परिवार का अपना एक व्यवहार-प्रतिमान विकसित हो जाता है जिसे 'संस्कृति' कहते हैं और जो कि उन्हीं अन्त.क्रियाओं और अन्तःसंदेशों के कारण सुरक्षित रहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त विद्वानों ने 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग बहुत ही संकुचित रूप में किया है। एक परिवार की अपनी कोई 'संस्कृति' नही हो सकती, अपनी कुछ विशेषता अवश्य हो सकती है। परिवार तो संस्कृति की अभिव्यक्ति की एक इकाई मात्र और उस इकाई के रूप मे सम्पूर्ण संस्कृति की रचना और रक्षा मे कुछ योगदान मात्र होता है।

परिवार की सामान्य विशेषताएँ

(General Characteristics of the Family)

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver & Page) ने परिवार की कुछ ऐसी सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है जो प्रत्येक समाज, प्रत्येक युग और प्रत्येक परिवार मे मिलती हैं, चाहे वह परिवार सभ्य समाज का हो या असभ्य समाज का।[1] वे विशेषताएँ निम्नवत् हैं—

(1) विवाह-सम्बन्ध (Mating relationship)—एक परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से होता है। यह सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होता है और इसके आधार पर उनमें यौन-सम्बन्ध स्थापित होने के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तान मिल-

1. MacIver & Page, *op. cit.*, p. 238.

कर परिवार का निर्माण होता है। यह विवाह-सम्बन्ध आजीवन बना रहता है यदि बीच मे विवाह-विच्छेद या मृत्यु के कारण न टूट जाय।

(2) **विवाह का एक स्वरूप (A form of marriage)**—दो या अधिक स्त्री-पुरुष मे आवश्यक सम्बन्ध (जिसमे यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित होता है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई-न-कोई संस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज में पाया जाता है जिसे विवाह कहते हैं। यह व्यवस्था एक-विवाह, बहुपति-विवाह, बहुपत्नी-विवाह या समूह-विवाह का रूप धारण कर सकती है। एक-विवाह सभी सभ्य समाजों में और अनेक जनजातीय समाजो मे, जैसे खासी, संथाल और कादर जनजातीय समाजों मे पाये जाते हैं। बहुपति-विवाह खस, टोडा, कोटा आदि भारतीय जनजातियों में पाये जाते हैं। हिन्दू समाज के धार्मिक इतिहास मे पाँच पाण्डवों का द्रौपदी से विवाह आदि दो-एक उदाहरण बहुपति-विवाह के अवश्य मिलते हैं, पर ये सब अपवाद मात्र हैं। भारत की नागा जनजातियों, गोंड, बैगा, टोडा आदि अनेक जनजातीय समाजो मे बहुपत्नी-विवाह का प्रचलन है। हिन्दू-विवाह अधिनियम सन् 1955 के पास होने से पहले हिन्दू समाज में भी बहुपत्नी-विवाह के असख्य उदाहरण मिल सकते थे। समूह-विवाह का स्वरूप आस्ट्रेलिया की जनजातियों की एक निराली विशेषता है।

(3) **वंश-नाम की एक व्यवस्था (A system of nomenclature)**—प्रत्येक परिवार मे कोई-न-कोई वश-नाम निश्चित करने का एक नियम हुआ करता है, जिसके अनुसार एक परिवार विशेष के बच्चों का उपनाम (surname) या वंशनाम निर्धारित होता है और उसके वंशजो को पहचानने मे मदद मिलती है। यह वंश-नाम मातृवंशीय (matrilineal) या पितृवशीय (patrilineal) होता है जो कि वास्तविक रक्त-सम्बन्ध (जैसे, बच्चे के साथ उसको जन्म देने वाले माता-पिता का सम्बन्ध) या काल्पनिक रक्त-सम्बन्ध (जैसे, बच्चे के साथ उसे गोद लेने वालों का सम्बन्ध) पर आधारित होता है। अधिकतर सभ्य समाजो तथा अनेक जनजातीय समाजों मे वंश पिता के नाम पर चलता है जबकि भारत के खासी, गारो, नायर आदि समाजो मे बच्चे अपने परिवार का नाम माता से ग्रहण करते हैं, न कि पिता से।

(4) **कुछ आर्थिक व्यवस्था (Some economic provision)**—प्रत्येक परिवार मे कुछ-न-कुछ आर्थिक व्यवस्था अर्थात् जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त करने का साधन होता है जिसके द्वारा परिवार के सदस्यों का और बच्चो का पालन-पोषण हो सके।

(5) **एक सामान्य निवास या घर (A common habitation)**—प्रत्येक परिवार के सदस्यों के रहने के लिए, एक सामान्य घर या निवास होता है। ऐसे घर मातृस्थानीय निवास (matrilocal residence), जैसे खासी, गारो, नायर आदि लोगों मे या पितृस्थानीय निवास (patrilocal rasidence), जैसे हमारे अपने समाज में, हो सकते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति न पत्नी के यहाँ और न पत्नी, पति के यहाँ रहती है, परन्तु वे दोनों ही एक नया निवास बनाकर रहने लगते हैं। इस प्रकार के परिवार को डा० दुबे ने 'नवस्थानीय परिवार' कहा है।

परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Family)

यह सच है, परिवार सामाजिक संगठन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है; पर यह भी सच है कि किसी अन्य सामाजिक संस्था ने इतनी अधिक समस्याओं को जन्म नहीं दिया है जितना कि परिवार ने। उन समस्याओं में एक समस्या परिवार की उत्पत्ति से संबंधित है। इसके सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद पाया जाता है, जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा—

(1) शास्त्रीय सिद्धान्त
(Classical Theory)

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सर्वश्री प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle) ने सामान्य सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। उनके विचार में परिवार सर्वप्रथम पितृसत्तात्मक (Patriarchal) था। प्राचीन ग्रीक, रोमन और यहूदी समाजों के इतिहास के अध्ययन से इस तथ्य का प्रमाण भी प्राप्त होता है। सन् 1861 में सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने इस सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया। आपने दुनिया की सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि परिवारों का आदि रूप पितृसत्तात्मक परिवार ही था। ये परिवार पितृस्थानीय और पितृवंशीय भी थे। इसका सबसे उत्तम उदाहरण भारतवर्ष ही है। सर मेन के अनुसार मातृसत्तात्मक परिवारों का जन्म बाद की बात है जोकि आर्थिक दशा तथा स्त्रियों की स्थिति परिवर्तन के फलस्वरूप सम्भव हुआ था।

आधुनिक अनुसन्धान से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। दुनिया के विभिन्न आदिम समाजों के अध्ययन से यह स्पष्टतः पता चलता है कि पितृसत्तात्मक परिवार सब जगह नहीं पाये जाते। वास्तव में इन विद्वानों को दुनिया के विभिन्न भागों में बसे हुए समाजों के विषय में कोई प्रत्यक्ष ज्ञान न था और उनका सिद्धान्त बहुत-कुछ कल्पना पर आश्रित होने के कारण तथ्ययुक्त और निर्भरयोग्य न हो सका।

(2) यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त
(The Theory of Sex-Communism)

प्रारम्भ में मानवशास्त्रियों, जैसे कि मॉर्गन (Morgan), फ्रेजर (Frazer) और बाद में ब्रिफॉल्ट (Briffault) ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मानव-समाज के प्रारम्भिक स्तर पर 'परिवार' या 'विवाह' नाम की कोई भी चीज नहीं थी। उस समय तो केवल एक प्रकार का पशुओं जैसा अनियमित यौन-साम्यवाद (sex-communism) था। ये विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं कि परिवार किसी-न-किसी रूप में सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों में पाया जाता है। इनके मतानुसार मानव-समाज व संस्कृति के प्रारम्भिक काल में परिवार नहीं था, यह तो सामाजिक विकास के कुछ स्तरों के बाद

उत्पन्न हुआ है।

श्री मॉर्गन ने अपने सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए आदिम समाजो मे पाये जाने वाली यौन-सम्बन्धी छूट या स्वतन्त्रताओ के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कुछ आदिवासियो के त्योहारो पर किसी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है, कुछ जनजातियो मे पत्नी की अदला-बदली होती है, और कहीं-कही पर अतिथि-सत्कार के हेतु पत्नियाँ तक भेंट की जाती है। भारतीय जनजातियो के अध्ययन से भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाये जाते है जिनसे ज्ञात होता है कि उनमे यौन-सम्बन्धी नियन्त्रण अति न्यून मात्रा मे है। उदाहरणार्थ, बस्तर के मुड़िया गोंडो मे गाँव के अविवाहित लडके और लडकियाँ बिना किसी रोक-थाम के गाँव के बाहर रात मे एक मकान मे रहते हैं जहाँ कि यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की काफी स्वतन्त्रता रहती है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द के अनुसार अपना साथी चुनता है और ये साथी इच्छानुसार बदले भी जाते है। भारत की मध्य भारत की जनजातियो मे भी यौन-सम्बन्ध की तब तक स्वतन्त्रता रहती है, जब तक लडकी गर्भवती नही हो जाती है। इस प्रकार के कामाचर (promiscuity) के कुछ प्रमाण हिन्दुओ के प्राचीन ग्रन्थो मे, विशेषतः महाभारत मे मिलते हैं। इनमे कहा गया है कि "पूर्वकाल मे स्त्रियाँ खुली (अनावृत्ताः), अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली (कामाचार-विहारिण्यः) और स्वतन्त्र (किसी बन्धन से या पति से न रोकी हुई) थी। वे कुमारी दशा मे ही अनेक पुरुषो के पास जाया करती थी। ऐसा करना अधर्म नही था, क्योंकि यही उस समय की परिपाटी थी।" उसी प्रकार कर्णपर्व मे कर्ण द्वारा मद्रदेश (स्यालकोट) की स्त्रियो का वर्णन है, "वहाँ सब नारियाँ अपनी इच्छा से पुरुषो से मिलती है, मद्रदेश की स्त्रियाँ शराब से मस्त होकर कपड़े फेंककर नाचती है, मैथुन मे किसी प्रकार का बन्धन नही रखती, जिसके पास चाहती हैं चली जाती है।"

परन्तु उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त तर्कसंगत, मानवशास्त्रीय प्रमाणयुक्त तथा ऐतिहासिक सत्य नही प्रतीत होता है। उक्त सिद्धान्त को गलत प्रमाणित करने के लिए मानवशास्त्रियो ने अनेक प्रमाण एकत्रित किये है। उनका कथन है कि मनुष्य-समाज की बात तो दूर की बात है, उन्नत पशु-समाज मे भी यौन-साम्यवाद नहीं मिलता। त्योहारों में यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता, या धर्म-पालन हेतु पत्नियो की भेंट यौन-साम्यवाद को प्रमाणित नही कर सकती। इन अवस्थाओ मे यौन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता एक 'विशेष' स्वतन्त्रता है, न कि 'सामान्य' स्वतन्त्रता। इन विशेष स्वतन्त्रताओ के आधार पर यह प्रमाणित नही होता कि यौन-साम्यवाद कभी सामान्य या स्थायी रीति का रहा है। यहाँ तक कि ब्रेजील के काइगन, साइबेरिया के चकची और आस्ट्रेलिया की डेयरी जनजातियाँ जिनमे कि समूह-विवाह (group marriage) की प्रथा पाई जाती है, वहाँ भी इस बात का कोई प्रमाण नही मिला है कि वहाँ कभी यौन-साम्यवाद रहा है। उसी प्रकार निचले हिमालय की जनजातियो मे एक प्रकार के समूह-विवाह की प्रथा विद्यमान है जिसके अनुसार कई भाई मिलकर अनेक स्त्रियो से विवाह करते हैं और किसी भाई का किसी पत्नी विशेष पर कोई

एकाधिकार नहीं होता। इससे भी यौन-साम्यवाद का विद्यमान होना प्रमाणित नहीं होता क्योंकि उक्त जनजातियों में एक-विवाह का भी काफी प्रचलन है।

कुछ विद्वानों ने यौन-साम्यवाद के पक्ष में एक अन्य तर्क यह प्रस्तुत किया है कि कुछ जनजातियों में एक आयु वाले अनेक लोगों को माता या पिता, दूसरे एक आयु-समूह को भाई या बहन अथवा पुत्र या पुत्री कहने का रिवाज है। उसी प्रकार मध्य आस्ट्रेलिया और ट्रोब्रियण्ड की जनजातियो को उनके पिता के बारे मे कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। परन्तु इन सबसे भी यौन-साम्यवाद का होना प्रमाणित नही होता, क्योंकि यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है कि पिता के सम्बन्ध मे सन्तानों की अज्ञानता वास्तविक है या जानबूझकर किसी सामाजिक नियम के कारण उनको उनके माता-पिता का नाम नहीं बतलाया जाता है। उसी प्रकार एक आयु के सब व्यक्तियों को माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र या पुत्री कहकर पुकारने की प्रथा से भी यौन-साम्यवाद का प्रमाण नहीं मिलता है। हो सकता है कि बहिर्विवाह (exogamy) के नियमो का सक्रिय रूप से पालन करने के हेतु ही यह सामाजिक रिवाज चालू कर दिया गया हो कि उन सब स्त्रियों को 'बहन' कहा जायगा जिनके साथ विवाह निषिद्ध है या नही हो सकता है। उसी प्रकार उन सब स्त्रियों को 'पत्नी' कहा जा सकता है जिनके साथ विवाह करना सम्भव है। आज भी भारतीय गाँवों मे अपनी माता की आयु की पड़ोस या गाँव की स्त्री को 'माताजी' या उनसे बड़ी आयु वाली को 'दादीजी', अपने भाई की आयु के अन्य पुरुषों को 'भाई साहब' आदि कहने का रिवाज पाया जाता है। यह सामाजिक शिष्टाचार है, न कि यौन-साम्यवाद का प्रमाण।

(3) उद्विकासवादी सिद्धान्त
(Evolutionary Theory)

इस सिद्धान्त को श्री बैकोफन (Bachofen) ने प्रस्तुत किया और श्री ल्युइस मॉर्गन (Lewis Morgan) ने एक सुनिश्चित रूप दिया। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थकों मे सर्वश्री मैक्लेनन (McLennan), स्पेन्सर (Spencer), लूबक (Lubbock) तथा टायलर (Tylor) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री बैकोफन ने जो उद्विकासीय क्रम प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

(अ) आदिकाल में पारिवारिक जीवन बहुत ही ढीला-ढाला था और यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का कोई निश्चित नियम न था। पारिवारिक सम्बन्धो में माता-सन्तान का सम्बन्ध ही एकमात्र स्थायी और निश्चित सम्बन्ध था। इस स्तर (stage) में बच्चे अपनी माँ से ही विशेष रूप से सम्बन्धित थे, अपने वास्तविक पिता के सम्बन्ध मे उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता था और वे समूह के सभी पुरुष-सदस्यों से सामान्य रक्षा तथा भोजन प्राप्त करते थे। यही परिवार की सबसे प्रारम्भिक अवस्था थी।

(ब) इसके बाद परिवार का स्वरूप कुछ और स्पष्ट हुआ। उस समय लोगों को जीवित रहने के लिए प्रकृति से बहुत ज्यादा संघर्ष करना पड़ता था और जीवित रहने के साधन भी अत्यधिक कम थे। इस संघर्षपूर्ण जीवन से मोर्चा लेने में लड़कियाँ

बिल्कुल अयोग्य थीं, इस कारण वे समाज के लिए एक प्रकार का बोझा थी। इसलिए कन्याओं को मार डालने (female infanticide) की प्रथा शुरू हुई जिसके फलस्वरूप समाज में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक हो गई। फलत. बहुपति-विवाह (polyandry) प्रथा का जन्म हुआ।

(स) जीवित रहने के साधनों की पूर्ति (supply) बढने के साथ-साथ उक्त प्रथा का धीरे-धीरे अन्त हुआ। जब मानव-समाज कृषि-स्तर पर आया तब तो एक उल्टी धारा ही बहने लगी। कृषि-कार्य के लिए प्रत्येक परिवार को अधिकाधिक श्रम-शक्ति की आवश्यकता हुई। इसके लिए स्त्रियों को ही सबसे उत्तम समझा गया। केवल खाने-पहनने और रहने को देकर चौबीसों घण्टे के लिए स्थायी श्रमिक स्त्रियों के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। इसलिए प्रत्येक पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करके अपने परिवार की श्रम-शक्ति को बढाने लगा। यही स्त्रियां बाद को पुरुष के ऐशोआराम के साधन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक हो गईं। कृषि के माध्यम से खाद्यसामग्री की पूर्ति बढ़ने के कारण पुरुषों के लिए एकाधिक पत्नियां रखना सरल भी हो गया। इस प्रकार बहुपत्नी-विवाह (polygyny) प्रथा का जन्म हुआ। अत इस तीसरी अवस्था में बहुपत्नी-विवाह परिवार का विकास हुआ।

(द) परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ नैतिक विचारों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। साथ ही, समानता का विचार पनपा और स्त्रियों ने अपने समान अधिकारों और सामाजिक न्याय की माँग की। इन सबके फलस्वरूप अन्त में एक-विवाह (monogamy) की प्रथा चली। यही परिवार का आधुनिक स्वरूप है।

श्री ल्युइस मॉर्गन (Lewis Morgan) ने परिवार के उद्विकास में निम्नलिखित पाँच स्तरों (stages) का उल्लेख किया है। इन अवस्थाओं से गुज़रता हुआ परिवार अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुँचा है। वे स्तर क्रमश: निम्नवत् हैं।

(क) रक्त-सम्बन्धी परिवार (Consanguine family)—मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल में पाये जाते थे जिनमें कि यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के विषय में कोई भी प्रतिबन्ध न था और बिना किसी सकोच के भाइयों और बहनों तक में विवाह होते थे।

(ख) समूह-परिवार (Punalaun family)—परिवार के उद्विकास मे दूसरी अवस्था है। इस अवस्था मे एक परिवार के सब भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ हुआ करता था जिसमें प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियों का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी होती थी। इस अवस्था मे ऐसा भी होता था कि बहुत से पुरुषों का संयुक्त विवाह बहुत-सी स्त्रियों के साथ हो, पर यह आवश्यक नहीं था कि ये पुरुष आपस में भाई-भाई या रिश्तेदार हों या ये स्त्रियां आपस मे बहनें या रिश्तेदार हों। परन्तु अधिकतर या व्यावहारिक रूप में ये सब भाई-भाई और बहन-बहन ही होते थे। कुछ भी हो, इस अवस्था मे भी यौन-सम्बन्ध अत्यधिक अनिश्चित और अनियंत्रित था।

(ग) सिंडेस्मियन परिवार (Syndaysmain family)—उद्विकास की तीसरी

अवस्था है। इस प्रकार के परिवार मे एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह होता तो था, पर उसी परिवार मे ब्याही हुई स्त्रियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक पुरुष को रहती थी।

(घ) पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family)—चौथी अवस्था है। ऐसे परिवारो मे पुरुष का ही एकाधिपत्य था और इसीलिए वह अपनी इच्छानुसार एकाधिक स्त्रियो से विवाह करता था और इन सबके साथ यौन-सम्बन्ध रखता था।

(ङ) एक-विवाह परिवार (Monogamous family)—अन्तिम और आधुनिक अवस्था है। इसमें एक पुरुष का एक ही स्त्री से विवाह और यौन-सम्बन्ध होता है।

उपरोक्त उद्‌विकासवादी सिद्धान्त की अपनी कमियाँ हैं और उनमे से सर्वप्रमुख यह है कि यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि प्रत्येक समाज मे परिवार की उत्पत्ति व विकास एक ही तरह से या कुछ निश्चित स्तरो मे से गुजरता हुआ है। वास्तव मे यह कल्पना मात्र ही है; इसे वास्तविक तथ्यो के आधार पर प्रमाणित नही किया जा सकता। प्रत्येक समाज की भौगोलिक, सामाजिक या सास्कृतिक परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं, इस कारण प्रत्येक समाज मे परिवार की उत्पत्ति एक ही ढंग से कैसे हो सकती है, इस बात की व्याख्या उक्त सिद्धान्त मे हमे नही मिलती है। श्री रिवर्स (Rivers) ने यह सच ही लिखा है कि कामाचार (promiscuity) की अवस्था प्रथम अवस्था है। इस धारणा के मुख्य समर्थक श्री मॉर्गन ने अपना सिद्धान्त जिन आधारो पर बनाया वे अब निरर्थक सिद्ध हो चुके हैं। इस समय न तो हम ऐसी किसी जनजाति का नाम जानते हैं जिनमे कामाचार की अवस्था पाई जाती है और न ही आज हमारे पास इस कल्पना का ही निश्चित प्रमाण है कि भूतकाल मे कभी कामाचार की सामान्य अवस्था प्रचलित थी। इसलिए अब इस सिद्धान्त को अधिकाश प्रमुख विद्वान स्वीकार नही करते।

(4) एक-विवाह का सिद्धान्त

(Theory of Monogamy)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) हैं, और इस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना उनकी कृति *The History of Human Marriage* मे मिलती है। श्री वेस्टरमार्क इस मत से सहमत नही थे कि मानव-समाज मे कभी यौन-साम्यवाद की स्थिति थी या बहु-विवाह, समूह-विवाह आदि का सामान्य प्रचलन था। आपके अनुसार ये सभी विचार या सिद्धान्त काल्पनिक हैं और समस्त प्राणीशास्त्रीय प्रमाणो की अवहेलना करते हैं। श्री वेस्टरमार्क का दृढ़ विश्वास है कि एक-विवाही (monogamous) परिवार मानव-जीवन या समाज का सस्कृति के सभी स्तरों पर विद्यमान रहा है। मनुष्य की बात तो दूर रही, कुछ चिड़ियाँ और पशु तक भी एक-विवाही हैं। निम्न प्राणियों मे ऐसा नही है क्योकि इनमे उत्पत्ति-सख्या बहुत अधिक होती है और उनके बच्चों को पालने की कोई जरूरत नही होती। उदाहरणार्थ, मछली या साँप एक साथ असख्य अण्डे देते हैं, उन्हे सेने की आवश्यकता नही होती। वे आप-

से-आप ही बढते हैं और अपना भोजन स्वय ढूढ लेते हैं। परन्तु चिड़ियो की अनेक जातियो तथा मनुष्य के पूर्वज बन्दरो मे ऐसी अवस्था नहीं है। उदाहरणार्थ, चिड़ियो मे अण्डे को सेने के लिए मादा की उपस्थिति निरन्तर आवश्यक है और उस समय नर उसे भोजन लाकर देता है। यह यौन-साम्यवाद की स्थिति मे कभी सम्भव न था कि एक विशिष्ट नर एक विशिष्ट मादा और उसके बच्चो का इतना ख्याल रखता। माँ के स्तन से दूध पीने वाले बच्चो को माता-पिता की, इन चिड़ियो के बच्चो से कही अधिक, आवश्यकता होती है, क्योंकि उनके पूर्ण विकास मे काफी समय लग जाता है। ओरग-उतान आठ से बारह वर्ष की आयु मे युवा होता है, यदि उस समय तक उसे अपने माता-पिता से भोजन और रक्षा आदि न मिले तो वह अधिक दिन जीवित नही रह सकता। यह सब काम एक-विवाह से ही सम्भव हो सकता है। गोरिल्ला और चिम्पाजी भी परिवार बनाकर रहते हैं और वे भी एक-विवाही हैं। श्री वेस्टरमार्क ने लिखा है कि गोरिल्ला चिम्पाजी आदि मे "सन्तान की सख्या कम होने, गर्भकाल लम्बा होने तथा उस समय मादा के सरक्षण की आवश्यकता, उत्पन्न सन्तान के मातृ-दुग्ध पर आश्रित रहने, शैशवकाल लम्बा होने तथा उस काल मे असहाय होने के कारण आत्मसरक्षण की सहज बुद्धि इन्हे बच्चो के साथ परिवार बनाकर रहने की प्रेरणा देती है। मादा के गाभिन होने पर घर बनाना, रात-भर बच्चो की चीतो से चौकसी करना, मादा के लिए नर का भोजन लाना, मादा द्वारा बच्चो का पालन-पोषण बन्दरों से मनुष्य-समाज की जंगली जनजातियो तक सर्वत्र देखा जाता है। माता-पिता और बच्चे का परिवार मानव समाज मे सार्वभौम है, इसे मानव ने विरासत मे अपने पुरखो (जिनमे बन्दर भी सम्मिलित हैं) से पाया है।" ऐसी अवस्था मे कामाचार की कल्पना या परिवार का न होने का सिद्धान्त न केवल अवास्तविक ही है बल्कि अव्यावहारिक भी। अगर पक्षी और पशु तक एक-विवाही हैं तो क्या मानव के कामाचार या बहु-विवाही होने की कल्पना वास्तविक हो सकती है? वास्तव मे एक-विवाही परिवार सबसे पुराना है और सामाजिक विकास श प्रत्येक स्तर मे पाया जाता है।

उपरोक्त प्रमाणो के अतिरिक्त श्री वेस्टरमार्क ने अपने सिद्धान्त के पक्ष मे दो तर्क और प्रस्तुत किए हैं। प्रथम तो यह कि ताकतवर होने के कारण पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार ही नहीं वरन् एकाधिकार भी चाहता है। दूसरी, यह कि पुरुष मे स्वभावतः ईर्ष्या की भावना होने के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष से सम्बन्ध रखने देना नही चाहता और उसको दूसरो से अलग रखता है। इसका स्वाभाविक परिणाम एक-विवाही-परिवार है। यौन-सम्बन्धों की स्वतन्त्रता, बहुपति-विवाह या बहु-पत्नी-विवाह केवल सामाजिक नियमो के क्षणिक उल्लघन थे और स्थायी रूप से कभी नही पाये गये। श्री वेस्टरमार्क के अनुसार एक-विवाह के अतिरिक्त और सब-कुछ अपवाद (exception) है, नियम नही।

एक अर्थ मे श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उन्होने अपनी पुस्तक *'Sex and Repression in Savage Society'* मे स्पष्ट ही लिखा है कि परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से

अपने साथ लाया है। और वह परिवार एक विवाही परिवार ही है। श्री मैलिनोवस्की के शब्दों मे, "एक-विवाह ही विवाह का एक-मात्र सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।"

(5) मातृसत्ता का सिद्धान्त
(Theory of Matriarchy)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक श्री ब्रिफॉल्ट (Briffault) हैं। आपने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि *'The mother'* नामक पुस्तक के तीन खण्डो (volumes) में की है। इनका प्रमुख उद्देश्य श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त को गलत प्रमाणित करना था, इसी कारण आपने श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-परिवार का ही नहीं, पशु-परिवार का भी आदि रूप मातृसत्तात्मक परिवार ही था। श्री ब्रिफॉल्ट ने अनेक मातृवशीय और मातृ-सत्तात्मक जनजातियों का उल्लेख करते हुए इस बात पर बल दिया है कि शुरू-शुरू मे स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध बहुत निश्चित न होने के कारण बच्चा प्राय: यह नहीं जानता था कि उसका पिता कौन है। बच्चे के साथ पिता का सम्बन्ध न जोड़ सकने के कारण (चाहे यह वास्तविक हो या किसी सामाजिक नियम के पालन करने के फल-स्वरूप हो) पिता की परिवार मे कोई विशेष स्थिति (status) नहीं कही जा सकती थी। ऐसी अवस्था मे पिता-सन्तान का सम्बन्ध नही, बल्कि माता-सन्तान का सम्बन्ध ही पारिवारिक जीवन मे एकमात्र महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध था। परिवार में माता की स्थिति थी, उसी की सत्ता थी। इस प्रकार मानव-परिवार का आदि रूप मातृसत्तात्मक परिवार होना ही स्वाभाविक है। इतना ही नही, जैसा कि श्री ब्रिफॉल्ट ने स्पष्ट ही लिखा है, "पशु-परिवार, जिससे कि यह आशा की जाती है कि मानव के सामाजिक समूह का जन्म हुआ है, मातृसत्तात्मक है।" श्री ब्रिफॉल्ट ने यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आदिवासियों मे ईर्ष्या जैसी कोई वस्तु नही थी।

श्री ब्रिफाल्ट ने इस बात पर बल दिया है कि परिवार की उत्पत्ति माँ की निरन्तर आवश्यकता विशेषकर बच्चो की रक्षा और पालन-पोषण की आवश्यकता के कारण ही हुई है। पुरुष तो केवल यौन-सम्बन्धी आकर्षणो के कारण ही परिवार में रहना चाहता है, परन्तु माता मे मातृ मूलप्रवृत्ति (maternal instinct) अधिक शक्तिशाली होती है जिसके कारण माँ अपनी और अपनी सन्तानो की आर्थिक व सामाजिक रक्षा की आवश्यकता को निरन्तर अनुभव करती रहती है। इसी कारण माँ को पुरुष के यौन-सम्बन्धी स्वार्थ पर विजय पाना ही होता है और यह स्त्रियाँ या माताएँ ही हैं जिन्होंने स्वार्थी पुरुष को हाथ पकड कर परिवार मे बसाया। माँ जानती है कि जब तक परिवार न होगा तब तक उनकी और उनके परिवार की रक्षा तथा पालन-पोषण सम्भव न होगा। इसीलिए माँ की मातृ मूल प्रवृत्ति उसे परिवार बसाने को प्रेरित करती है। इसी कारण माता ने ही सर्वप्रथम परिवार की आवश्यकता को अनुभव किया था। इस प्रकार परिवार को बनाने वाली माँ की प्रधानता परिवार मे होगी, यही स्वाभाविक था। अत: परिवार का वास्तविक आदि या मूल रूप मातृसत्तात्मक परिवार ही था। खेती का विकास होने

पर और पुरुषो के हाथ मे आर्थिक क्षमता के चले जाने पर ही पितृसत्तात्मक परिवारों का जन्म हुआ। इसीलिए श्री ब्रिफॉल्ट के अनुसार, एक-विवाही परिवार को मूलभूत और परिवार का आदिरूप नही कहा जा सकता।

श्री बैकोफन (Bachofen) का भी मत है कि मातृसत्तात्मक परिवार का उदय पितृसत्तात्मक परिवार से पहले हुआ है। इसका कारण यह था कि मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे पिता या पुरुष शिकार की खोज मे घर से बाहर जगल मे चले जाया करते थे और प्राय: बहुत दिनो तक उन्हे जंगल मे ही बिताने होते थे। ऐसी अवस्था मे बच्चों का पालन-पोषण और रक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व माता पर ही होता था। अपनी और अपने बच्चों की रक्षा और जीवन-धारणा के लिए माताएँ फलो को बीनकर लाती थी, बीज को जमीन मे बोती थी तथा घर की देखरेख करती थी। अत: स्पष्ट है कि उस समय पर परिवार मे माँ का महत्त्व अत्यधिक था। श्री टायलर (Tylor) ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। आपके अनुसार परिवार पहले मातृसत्तात्मक था, फिर मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक का मिश्रण हुआ और फिर अन्त मे पितृसत्तात्मक परिवार का उदय हुआ।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे काफी मतभेद है। वास्तव मे परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वाद-विवाद पूर्णतया निरर्थक है क्योकि, जैसा कि सर्वश्री मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "परिवार की इस अर्थ मे कोई उत्पत्ति हुई ही नही है, कि मानव-जीवन मे कभी ऐसी अवस्था थी जबकि परिवार नही था या ऐसी कोई अवस्था थी जिसमे परिवार का जन्म हुआ हो।[1] उपरोक्त सिद्धान्तो मे एक बहुत बड़ी कमी यह है कि उनके समर्थको ने परिवार नामक सस्था के केवल एक पक्ष को बहुत बढ़ाकर प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार असभ्य जनजातियो मे एक-विवाही प्रथा का पाया जाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि एक-विवाह सब जगह पाया जाता है, उसी प्रकार उन समाजो मे पाये जाने वाली यौन-सम्बन्धी स्वाधीनता या छूट इस बात की पुष्टि नही करती कि मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे कामाचार या यौन-साम्यवाद की स्थिति थी। फिर भी जैसा कि डा० मजूमदार ने लिखा है, "आज सर्वश्री वेस्टरमार्क तथा मॉर्गन के सिद्धान्त जीवित हैं, इसलिए नही कि वे सच हैं, वरन् इसलिए कि वे परिवार की गतिशील धारणा पर आधारित हैं।"[2] दुनिया के समस्त देशो से अब तक जितने आंकड़े और तथ्य एकत्रित किये गये हैं, सभी से एक ही सत्य का पता चलता है। और वह है परिवार का अस्तित्व। प्रागैतिहासिक प्रमाणो से भी यह पता नही चलता कि कभी परिवार नहीं था। आस्ट्रेलिया तथा अण्डमान प्रायद्वीप के आदिवासी सबसे

1. "*The family has no origin in the* sense that there ever existed a stage of human life from which the family was absent or another stage in which it emerged"—MacIver & Page, *op cit*, p. 245.

2. "But both Westermarck's and Morgan's theories survive today, not because they are true, but because the theories are based on a dynamical concept of family"—Dr. D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, 1958, p. 163.

प्राचीन समझे जाते हैं, उनमे भी परिवार एक आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप मे विद्यमान है। भारत मे सबसे पिछडी जनजातियाँ कादर, पनियन, चेंचू आदि हैं, उनमें भी पारिवारिक सगठन है। हाँ, यह सच है कि परिवार की उत्पत्ति प्रत्येक समाज मे एक ही तरह से और एक ही कारण से नही हुई है। यौन तथा भूख की तृप्ति के लिए, सन्तानोत्पत्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिए और आर्थिक सुरक्षा के लिए परिवार नामक एक सगठन की आवश्यकता प्रत्येक समाज के सदस्यो ने ही अनुभव की होगी जिसका कि स्वाभाविक परिणाम परिवार की उत्पत्ति है। परन्तु इन आवश्यकताओ का स्वरूप और उनकी सन्तुष्टि के उपलब्ध साधन प्रत्येक समाज मे एक नही हो सकते और यही कारण है कि परिवार के अनेक स्वरूप हमे दुनिया के विभिन्न समाजो मे देखने को मिलते हैं। साथ ही, किसी भी समाज मे परिवार का कोई भी स्वरूप चिरस्थायी है, यह सोचना भी गलत है। अवस्थाओ के परिवर्तन के साथ-साथ परिवार के स्वरूपों मे भी परिवर्तन हो सकता है और हुआ भी है। इसलिए, डा० मजूमदार के शब्दो मे, "परिवार आज भी है जैसा कि पहले था, परन्तु ऐसा नही था जैसा आज है।"[1]

परिवार के भेद
(Kinds of Family)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रत्येक समाज मे परिवारो का स्वरूप एक-समान नही होता है। इनके अनेक भेद हमे ससार के विभिन्न समाजो मे देखने को मिलते हैं और उन्हे अनेक आधारो पर एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। परिवार का सबसे प्राथमिक रूप पति-पत्नी और उनके बच्चों को लेकर शुरू होता है। ऐसा भी हो सकता है कि उसी परिवार मे दूसरे-नाते-रिश्तेदार भी आकर रहने लगें और उस परिवार का आकार बढ जाय। यहाँ पर भेद परिवार के सदस्यो की सख्या के आधार पर है। उसी प्रकार अन्य आधारो पर भी परिवार के अनेक भेद किए जा सकते हैं। इनमे तीन प्रमुख आधारो का उल्लेख किया जा सकता है—(1) परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर, (2) विवाह के स्वरूप के आधार पर, और (3) पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वश-नाम और निवास के आधार पर। इन सब आधारो पर बनने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारो का सक्षिप्त विवरण निम्नवत् है—

मूल या केन्द्रीय परिवार
(Primary or Nuclear Family)

इस प्रकार के परिवार को प्राथमिक, मूल या केन्द्रीय परिवार इस कारण कहते हैं कि यह परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है। इस प्रकार के परिवारों के सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है और प्रायः इसमें एक विवाहित पति-पत्नी और

1. "That is why family is still what it was and at the same time it was not what it is".—*Ibid.*, p. 163.

उनके अविवाहित बच्चे ही आते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार का परिवार दूसरे नाते-रिश्तेदारों से मुक्त रहता है। 'हो' जनजाति में इस प्रकार का ही परिवार पाया जाता है, यद्यपि अब हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उनमें भी संयुक्त परिवार देखने को मिलता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति-पत्नी एकसाथ एक परिवार में रहते हैं, पर उनका अपना कोई बच्चा नहीं होता। ऐसी अवस्था में वे दूसरे के बच्चे को गोद ले लेते हैं। इस प्रकार के परिवार को भी, जिसमें पति-पत्नी तथा उनके गोद लिए बच्चे साथ-साथ रहते हैं, मूल या केन्द्रीय परिवार कहते हैं। मूल या केन्द्रीय परिवार आधुनिक समाजों में बहुत पाये जाते हैं।

विवाह-सम्बन्धी परिवार

(Conjugal Family)

मूल परिवार के आधार पर ही एक दूसरे प्रकार के परिवार होते हैं जिन्हें 'विवाह-सम्बन्धी परिवार' कहते हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ऐसे परिवारों में विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चे तो होते ही हैं, साथ ही विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। ऐसे परिवार केवल उन लोगों में ही पाये जाते हैं जो विवाह-सम्बन्ध को अत्यधिक मान्यता देते हैं और विवाह को दो व्यक्तियों के मिलन का आधार न मानकर दो परिवारों को मिलाने वाला भी समझते हैं। भारत में खरिया जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं।

संयुक्त और विस्तृत परिवार

(Joint and Extended Family)

डा० दुबे के अनुसार, "यदि कई मूल परिवार एकसाथ रहते हों, और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।" कुछ विद्वान उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें कि अनेक नाते-रिश्तेदार एकसाथ रहते हैं। इसके विपरीत डाक्टर आई० पी० देसाई (I P Desai) ने केवल परिवार के आकार या सदस्यों की संख्या के आधार पर किसी परिवार को संयुक्त या केन्द्रीय परिवार मान लेने पर विशेष आपत्ति की है। आपके अनुसार नातेदारी (Kinship) पीढ़ियों की संख्या (generation depth), सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही परिवार को संयुक्त या मूल परिवार मानना उचित होगा। आपने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है—"हम उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें मूल परिवार से अधिक पीढ़ियों के सदस्य (अर्थात् तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य) सम्मिलित हों तथा उनके सदस्य एक-दूसरे से सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारों एवं

कर्त्तव्यों के द्वारा सम्बन्धित हों।"[1] सामान्यतः, **संयुक्त परिवार संयुक्त संगठन के आधार पर निकट के नाते-रिश्तेदारों की एक सहयोगी व्यवस्था है जिसमें सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित वास, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का समावेश होता है।**[2]

यूँ तो संयुक्त परिवार भारतीय जनजातियों मे भी अत्यन्त व्यापक है, फिर भी इसका वास्तविक रूप तो भारतीय गाँवों में देखने को मिलता है। संयुक्त परिवार की संरचना मे सर्वप्रमुख स्थान परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य का होता है जिसे कि 'कर्त्ता' कहते हैं। इसे कर्त्ता इस कारण कहा जाता है क्योंकि वह परिवार की ओर से और परिवार के लिए सब कार्यों को करने वाला होता है। वह परिवार का सचालन और सम्पत्ति की देख-रेख करता है, पारिवारिक झगड़ों का निपटारा करता है और सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक तथा सामुदायिक विषयों मे परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। कर्त्ता की स्त्री का स्थान कर्त्ता के बाद होता है। परिवार की दूसरी स्त्रियों की तुलना मे कर्त्ता की स्त्री का स्थान सबसे ऊँचा होता है और परिवार के आन्तरिक मामलों मे इस स्त्री का प्रमुख हाथ होता है। सयुक्त परिवार की संरचना में कर्त्ता की स्त्री के पश्चात् आयु के हिसाब से अन्य पुरुषों का स्थान होता है। पारिवारिक व्यवस्था या प्रबन्ध मे अविवाहित लड़को का कोई स्थान नही होता। परन्तु लडकियों की तुलना मे लड़कों का महत्त्व और मर्यादा अधिक होती है। सयुक्त परिवार मे बड़े लड़के का अधिक महत्त्व होता है और वह इस कारण कि पितरो के तर्पण और पिंडदान आदि में उसकी आवश्यकता होती है। संयुक्त परिवार मे माता-पिता का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उनका कर्त्तव्य बच्चो की रक्षा, पालन-पोषण, देख-रेख और नियन्त्रण है। पति और पत्नी का सम्बन्ध आन्तरिक कर्त्तव्य-बोध पर आधारित होता है। नव-विवाहित वधू को ससुराल आने के पश्चात् नई परिस्थितियों मे अनुकूलन करना होता है और अपने पति के परिवार के आचार-व्यवहार, कायदे-कानून को सीखना होता है और जो वह अपनी सास या परिवार की अन्य वयस्का महिला से सीखती है। हिन्दू सयुक्त परिवार की संरचना मे कन्याओ का स्थान सबसे अधम होता है।

सयुक्त परिवार की उत्पत्ति भारतवर्ष मे ऐसे युग में हुई थी जब ग्रामीण समुदाय मे ही यहाँ के लोग पलते थे। उस समय सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता का नितांत अभाव था। सब लोग जमीन से जकडे थे, और इस कारण एक स्थान पर एक परिवार में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे। परन्तु आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं और उनके साथ ही संयुक्त परिवार की नींव डगमगा गई है। औद्योगीकरण (industrialization)

1. "We call that household a joint family which has greater generation depth (i e three or more) than the nuclear family and the members of which are related to one another by property, income and the *mutual rights* and obligations,"—I P. Desai, 'The Joint Family in India', *Sociological Bulletin*, Vol. V. No 2, Sept. 1956, p 148,.

2. R N Mukherjee, *Bhartiya Janta tatha Sansthayen*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1961, p 258.

: फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र सारे देश मे फैल गया है और लोग घर छोड़कर नौकरी की खोज मे विभिन्न स्थानो मे जाकर बसने लगे हैं। यातायात के उन्नत साधनो ने इस प्रक्रिया की गति को और भी तेज किया है। साथ ही, जनसंख्या का बढना, नगरीकरण और नगरों में मकानों की समस्या, निर्धनता, पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति, व्यक्तिवाद, महिला आन्दोलन आदि अनेक कारकों के आधुनिक समय मे क्रियाशील होने के कारण भी संयुक्त परिवार दिन-प्रतिदिन विघटित होता जा रहा है।

अब तक हम विशेष रूप से परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर विभिन्न प्रकार के परिवारों की विवेचना कर रहे थे। अब हम विवाह-सम्बन्ध के आधार पर भी परिवार के स्वरूप का वर्णन करेंगे।

एक-विवाही परिवार
(Monogamous Family)

जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'एक-विवाही परिवार' कहते हैं। भारत की जनजातियों मे ऐसे परिवारों की संख्या अधिक नहीं है। कुछ जनजातियों मे एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं और इसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो जनजातियों का वर्तमान सभ्यता के सम्पर्क में आना और दूसरे किन्ही-किन्हीं जनजातियो मे, जैसा कि 'हो' जनजाति मे, अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) का होना। आधुनिक समाज मे तो इस प्रकार का परिवार 'सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप मे प्रतिष्ठित होता जा रहा है'। इस सम्बन्ध मे अनोखी बात यह है कि कुछ अतिप्राचीन जनजातियों मे भी एक-विवाही परिवार पाया जाता है। उदाहरणार्थ, अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियों मे और मैले (Malay) जंगलो मे सेमंग (Samangs) लोगों में एक समय मे एक ही स्त्री से विवाह करने की प्रथा प्रचलित है; यद्यपि सेमग लोग एक स्त्री के मर जाने पर दूसरी स्त्री, और दूसरी के मर जाने पर तीसरी स्त्री से विवाह कर सकते हैं और करते हैं।[1] होपी, जूनी तथा इरोकूइस जनजातियों मे भी एक-विवाही परिवार देखने को मिलते हैं। भारत मे खासी, सन्थाल और कादर जनजातियों मे भी एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं।

बहु-विवाही परिवार
(Polygamous Family)

जब एक स्त्री अथवा पुरुष एक से अधिक स्त्रियो या पुरुषो से विवाह करते हैं तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'बहु-विवाही परिवार' कहते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो भेद हो सकते हैं—(अ) बहुपति-विवाही परिवार (Polyandrous family) वह परिवार है जिसमे एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करके घर बसाती है।

1. E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958, p. 324.

उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर की खस जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (ब) बहुपत्नी-विवाही परिवार (Polygynous family) वह परिवार है जिसमें कि एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। ऐसे परिवार भारत की अधिकतर जनजातियों मे पाये जाते हैं, विशेषकर नागा, गोंड, बैगा आदि जनजातियो मे।

परिवार के भेद केवल विवाह-सम्बन्ध के आधार पर ही नहीं, पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश-नाम और निवास के आधार पर भी किये जा सकते हैं। जैसे—

मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार
(Matriarchal or Matrilineal Family)

मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार में विवाह के बाद पति अपनी स्त्री के घर मे जाकर रहने लगता है। इस प्रकार के परिवार को मातृसत्तात्मक परिवार इस कारण कहते हैं क्योंकि इसमे पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है। ऐसे परिवारो मे बच्चे अपनी माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार को मातृवंशीय परिवार (Matrilineal family) भी कहते हैं। साथ ही, चूंकि ऐसे परिवारों मे निवास-स्थान माता या स्त्री का होता है जहां स्त्री के साथ उसके पति और बच्चे निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारो को मातृस्थानीय परिवार (Matrilocal family) कहते हैं।

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है[1]—

(1) ऐसे परिवार मे बच्चो का वंश-परिचय या वशनाम माता के परिवार के आधार पर निर्धारित होता है। इसलिए बच्चे पिता के कुल या वश के नही, अपितु माता के वश के समझे जाते हैं। सक्षेप मे, ऐसे परिवारो में माता के वश का ही महत्त्व होता है, पिता गौण मात्र होता है।

(2) ऐसे समाज मे विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर नहीं जाती; वह अपने घर मे रहती है और उसका पति उसके घर जाकर अपनी पत्नी के परिवार का ही एक सदस्य बन जाता है और वहीं रहने लगता है।

(3) मातृसत्तात्मक परिवार मे पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति नहीं मिलती है। सभी साम्पत्तिक अधिकार माता के सम्बन्ध से ही निश्चित होते हैं। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि साम्पत्तिक अधिकार केवल स्त्रियों को ही प्राप्त हैं; लड़कों को कुछ भी नहीं मिलता। ऐसे परिवारों में माता का भाई या बहन का लड़का (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है और होता है।

(4) सामाजिक सम्मान के विभिन्न पद और उपाधियाँ पुत्र के स्थान पर भानजे को मिलती हैं। ट्रावन्कोर-कोचीन राज्यों का उत्तराधिकारी राजा का लड़का नहीं बल्कि

[1]. MacIver & Page, *op. cit.*, pp. 247-248

उसकी बहन का लडका होता है।

(5) मातृसत्ता का यह अर्थ कदापि नही है कि माता को आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं और पुरुष को कुछ भी अधिकार नही होता। वास्तविकता तो यह है कि पुरुष भी सामाजिक, राजनैतिक विषयो मे सम्मानित पद को प्राप्त होते है और पुरुषोचित समस्त अधिकार पुरुषो का ही होता है।

पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार
(Patriarchal or Patrilineal Family)

चूँकि ऐसे परिवारो मे सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ मे रहता है, इस कारण इन्हे पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family) कहते हैं। पितृसत्तात्मक या पितृवशीय परिवार मे साधारणतया विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर मे आकर रहती है। ऐसे परिवारो मे वशनाम पिता के वश के आधार पर होता है, अर्थात् बच्चे अपने पिता के कुल या वश के नाम को ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार पितृवंशीय परिवार (Patrilineal family) कहलाते हैं। साथ ही, चूंकि ऐसे परिवार मे निवास-स्थान पिता या पति का होता है जहाँ पत्नी और बच्चे अपने पति और पिता के साथ निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारो को पितृस्थानीय परिवार (Patrilocal residence) कहते हैं। उपर्युक्त वर्णन से पितृसत्तात्मक परिवार की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हैं—

(1) ऐसे परिवार मे बच्चो का वश-परिचय पिता के परिवार पर निर्भर होता है। बच्चे अपने पिता के कुल या वश के समझे जाते है, माता के वश या कुल के नही।

(2) ऐसे परिवार मे विवाह के बाद पत्नी को पति के घर मे जाकर रहना होता है। बच्चे भी वही पर रहते हैं।

(3) पितृवंशीय परिवार मे बच्चो का अपने पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है। माता के परिवार की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नही होता।

(4) सामाजिक और पारिवारिक पद और उपाधियाँ पुत्र को ही प्राप्त होती हैं। हिन्दू परिवार में तो लड़कों का विशेष महत्त्व होता है और वह इस कारण कि उनकी आवश्यकता पितरों के तर्पण और पिण्डदान आदि के लिए होती है। परिवार के सबसे बड़े पुत्र को यह अधिकार सबसे पहले प्राप्त होता है, इस कारण बड़े लडके का स्थान पिता के बाद ही होता है और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे ही परिवार के कर्त्ता का पद प्राप्त हो जाता है।

(5) पारिवारिक मामलो तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है। उसे ही इन विषयो मे निर्णय लेने का अधिकार है, वह ही परिवार को नियन्त्रित तथा सगठित करता है और सामाजिक, धार्मिक और सामुदायिक समस्त कार्यों मे वही परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

वंश-समूह
(Lineage)

जनजातीय सामाजिक जीवन और सगठन का एक महत्त्वपूर्ण आधार वंश-समूह होता है। श्री हॉबल के अनुसार, "वश-समूह साधारणत: पाँच या छ: पीढियों से अधिक पहले का एक परिचित सस्थापक या सामान्य पूर्वज के उत्तराधिकारियों का एक विस्तृत और एकपक्षीय रक्त-सम्बन्धित समूह है। वह (पूर्वज) एक काल्पनिक या पौराणिक व्यक्ति नहीं बल्कि एक वास्तविक पुरुष होता है।"[1] संक्षेप मे, **वंश-समूह एक सामान्य ऐतिहासिक और वास्तविक पूर्वज से सम्बन्धित समस्त रक्त-सम्बन्धी वंशजों का एक समूह होता है।**[2]

वंश-समूह दो प्रकार का हो सकता है—(अ) मातृवंशीय वंश-समूह (Matrilineal lineage), और (ब) पितृवशीय वश-समूह (Patrilineal lineage)। मातृवंशीय वंश-समूह के अन्तर्गत स्त्री, उसकी बहनें और उनके बच्चे आते हैं, भाई या उसके बच्चे वश के बाहर चले जाते हैं। इसके विपरीत, पितृवंशीय वश-समूह के अन्तर्गत पुरुष, उसके भाई और उनकी सन्तानें ही आती हैं; इसमे बहन या उनके बच्चे वंश के बाहर चले जाते हैं।

भारतीय जनजातियों मे उपरोक्त दोनो प्रकार के वंश-समूह पाये जाते हैं और पारिवारिक संगठन मे इसका काफी महत्त्व है। खासी, गारो आदि जनजातियों मे मातृवशीय वंश-समूह पाये जाते हैं, जबकि खरिया, भील आदि जनजातियों में पितृवशीय वश-समूह। प्रोफेसर रैडक्लिफ-ब्राउन ने अपने अध्ययनो मे वश-समूह के महत्त्व को अति उत्तम रूप मे प्रस्तुत किया है। अफ्रीका की कुछ जनजातियो मे तो वश-समूह की व्यवस्था इतनी जटिल है कि उन्हे सरलता से समझा ही नही जा सकता।

वैसे तो मातृवशीय और पितृवशीय वश मे सामान्य पूर्वज कोई वास्तविक या ऐतिहासिक स्त्री या पुरुष ही होता है, फिर भी कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि अपने समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढाने के लिए पूर्णतया काल्पनिक पूर्वजो के आधार पर भी लोग वश को विकसित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में काल्पनिक पूर्वज भी धीरे-धीरे वास्तविक रूप धारण कर लेते हैं और दो-चार पीढियों के बाद उस पूर्वज की यथार्थता या वास्तविकता के सम्बन्ध मे किसी को कोई सन्देह रह ही नहीं जाता है। "कतिपय अरब-समूहों मे कुछ ऐसे विशेषज्ञ हैं जो उचित पुरस्कार मिलने पर व्यक्ति का सम्बन्ध

---

1 "A lineage is an extended unilateral kinship group descended from a known ancestor, or founder, who ordinarily lived not more than five or six generations back. He, in the case of the patrilineage or she, in the case of the matrilineage, is a real person and not a mythological or legendary figure" —Hoebel, *Man the Primitive World*, New York, 1958, p. 343.

2 In short, "the lineage is a group of all the blood-related descendants of a common historical and real ancestor,"—R. N. Mukherjee, *op. cit*, p. 69

महत्त्वपूर्ण काल्पनिक पूर्वजो के साथ सहज ही स्थापित कर देते हैं। श्री क्लूखोन ने इगलैंड के एक ऐसे मनोरजक विज्ञापन का उदाहरण दिया है जिसमे विज्ञापक ने समुचित पारिश्रमिक की प्राप्ति पर अमेरिकन व्यक्तियो का सम्बन्ध इगलैंड के बडे नामो वाले वशजो से निश्चित कर देने का आश्वासन दिया था।"

गोत्र
(Clan)

जनजातीय सामाजिक सगठन का तीसरा और एक महत्त्वपूर्ण आधार गोत्र (clan or sib) है। गोत्र को हम कई वशो का समूह कह सकते हैं जो माता या पिता किसी एक पक्ष के समस्त रक्त सम्बन्धियो (चाहे यह सम्बन्ध काल्पनिक ही क्यो न हो) से मिलकर बनता है। दूसरे शब्दो मे, गोत्र वश का ही एक विस्तृत रूप होता है। माता या पिता किसी के वश के सभी रक्त-सम्बन्धियो को अगर जोडा जाय और अगर इस प्रकार के वश-समूह मे एक ही पूर्वज (वास्तविक या काल्पनिक) की सभी सन्तानें सम्मिलित कर दी जाएँ तो उसे गोत्र कहते है। दूसरे शब्दो मे कई वश मिलकर एक गोत्र बनता है।

गोत्र का प्रारम्भ परिवार के किसी प्रमुख पूर्वज (वास्तविक, कल्पित या पौराणिक) से होता है। पूर्वज प्रमुख और प्रतिष्ठित होने के कारण उसे उस परिवार का प्रवर्तक या सस्थापक मान लिया जाता है। इसी कारण उसी के नाम से परिवार के सब वशजो का परिचय दिया जाता है और सब मिलकर एक गोत्र कहलाते है। ये वशज या तो मातृवशीय वश-समूहो के होते हैं या पितृवशीय वश-समूहो के होते हैं। माता और पिता दोनो पक्ष के वश-समूहों को मिलाकर गोत्र का निर्माण कभी नही होता। दूसरे शब्दो मे गोत्र सदैव एकपक्षीय (unilateral) होता है।

गोत्र की परिभाषा
(Definition of Clan)

एक कमेटी (Committee) ने गोत्र को इस प्रकार परिभाषित किया है—"गोत्र एक जनजाति का एक बहिर्विवाही विभाजन है जिसके सदस्य अपने को कुछ सामान्य बन्धनो द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित समझते है। इस सम्बन्ध का आधार एक सामान्य पूर्वज के वशज होने का विश्वास, एक सामान्य टोटम या एक सामान्य भू-भाग मे निवास हो सकता है।"[1] सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) के शब्दो मे, "एक गोत्र अधिकाश रूप से कुछ वशो का योग होता है और ये अपनी उत्पत्ति एक कल्पित पूर्वज से मानते है जो कि मनुष्य, मनुष्य के समान, पशु, पेड, पौधा या निर्जीव

---

1 "Clan is an exagamous division of a tribe, the members of which are held to be related to one another by some common ties, it may be belief in descent from a common ancestor, possession of a common totem or habitation of a common territory" —(A Committee)

वस्तु तक हो सकता है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि **गोत्र एकपक्षीय परिवारों का वह संकलन है जिनके सदस्य अपने को एक वास्तविक या काल्पनिक सामान्य पूर्वज के वंशज मानते हैं।**[2]

गोत्र की विशेषताएँ
(Characteristics of Clan)

उपरोक्त परिभाषाओ से गोत्र की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—(1) गोत्र एक बहिर्विवाही (exogamous) समूह है। चूँकि एक गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं, इस कारण वे सब एक-दूसरे के भाई अथवा बहन हुए। इसलिए वे अपने गोत्र के किसी व्यक्ति से विवाह नही करते हैं। विवाह अपने से बाहर के गोत्र मे होता है। (2) गोत्र का संगठन एक सामान्य पूर्वज की कल्पना पर आधारित होता है। यह पूर्वज वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक या पौराणिक भी। (3) गोत्र की प्रकृति एकपक्षीय होती है—अर्थात् एक गोत्र मे या तो माता की ओर के सब परिवारों का संकलन होता है या पिता की ओर के सब परिवार सम्मिलित होते है।

गोत्र के प्रकार
(Kinds of Clan)

ऊपर बताये हुए गोत्र की तीसरी विशेषता के अनुसार गोत्र दो प्रकार के हो सकते है—

(अ) मातृवंशीय गोत्र (Matrilineal Clan)—इनमे एक स्त्री-पूर्वज की जितनी भी सन्तानें होती हैं वे सब इस गोत्र की सदस्य मानी जाती हैं। परिवार की एक स्त्री, उसकी बहनें और उनके बच्चे भी इस गोत्र के सदस्य होते हैं। दूसरे शब्दों मे, एक स्त्री, उसके बच्चे, उस स्त्री की बहनें और उनके बच्चे और उन बच्चो की लडकियो के बच्चे सब मातृवशीय गोत्र मे शामिल होते हैं, लेकिन भाइयों के बच्चे इसके अन्तर्गत नहीं आते।

(ब) पितृवंशीय गोत्र (Patrilineal Clan)—ऐसे गोत्र मे एक पुरुष, उसके भाई, उस पुरुष की सन्तानें और उसके भाइयो की सन्तानें सम्मिलित होती हैं, परन्तु बहनों की सन्तानें ऐसे गोत्र मे नही आती।

---

1 "A sib or clan is often the combination of few lineage and descent may be ultimately traced to a mythical ancestor, who may be human, human like, animal, plant, or even inanimate "—Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1957, pp 113-114

2 "Clan is that collection of unilateral families, the members of which claim their descent from a common ancestor, real or mythical." –R N. Mukherjee, *op. cit*, p. 70.

गोत्र के नाम
(Names of Clan)

गोत्रों के नाम ऋषियो के नाम पर जैसे शाडिल्य, भारद्वाज, काश्यप आदि, टोटम के नाम पर जैसे कुजम, नागसोरी आदि, उपनाम के आधार पर जैसे कमार, जगत आदि या एक विशिष्ट भू-भाग के आधार पर जैसे महानदिया, जौनपुरिया, सरगुजिया आदि होते हैं।

गोत्र की उत्पत्ति
(Origin of Clan)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, गोत्र की उत्पत्ति एक पूर्वज से मानी जाती है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि यह पूर्वज एक मनुष्य ही हो। अनेक जनजातियाँ किसी पशु, पेड, पौधा अथवा अन्य वस्तु को भी अपना गोत्र-पूर्वज मान लेती है। बहुधा गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक जनजाति या गोत्र-समूह मे कोई-न-कोई उपकथा या किवदतिया प्रचलित रहती है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की डोहोमी (Dohomy) जनजाति मे एक गोत्र की उत्पत्ति घोड़े और स्त्री के ससर्ग या शरीर-सम्बन्ध के फलस्वरूप हुई है, और दूसरे एक गोत्र की उत्पत्ति सूअर और स्त्री के ससर्ग से हुई है, ऐसी किवदतियाँ प्रचलित है। उसी प्रकार कमार जनजाति के लोग यह कहते हैं कि उनके कुजम गोत्र का उद्भव तब सम्भव हुआ जब एक स्त्री ने बकरे के ससर्ग से सन्तान उत्पन्न की। क्रो इण्डियनो (Crow Indians) मे तो जनजातीय जीवन की किसी अनोखी घटना को स्मरणीय बनाने के लिए उस घटना के कर्त्ता या नेता के नाम के आधार पर भी गोत्र का उद्भव हुआ है, ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। कुछ गोत्रो के नाम उनके सदस्यो की कुछ विशेषताओं पर आधारित होते हैं। कभी-कभी अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढाने के लिए एक समूह के लोग अपना नाता किसी विशिष्ट व्यक्ति, ऋषि-मुनि से जोड लेते है और इस प्रकार के गोत्र का उद्भव होता है।

अत. स्पष्ट है कि गोत्र की उत्पत्ति का कोई एक सामान्य कारण नही है। प्रत्येक समाज या समूह या जनजाति मे इसकी उत्पत्ति का एक विशिष्ट कारण हो सकता है क्योकि प्रत्येक समाज की सामाजिक अवस्थाएँ या परिस्थितिया भी अलग-अलग होती हैं। कुछ अति प्राचीन जनजातियो मे गोत्र-व्यवस्था नही पाई जाती है और ऐसी जनजातियो मे अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियो तथा दक्षिण भारत की कादर जनजाति के नाम उल्लेखनीय हैं।

गोत्र के विस्तृत स्वरूप
(Extended Forms of Clan)

डाक्टर दुबे के शब्दो मे, "सगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र मिलकर एक बृहत् समूह बना लेते हैं। इसे ही हम **भ्रातृदल या गोत्र-समूह** (phratry) कहते हैं।"

सर्वश्री मजूमदार और मदान के अनुसार, "जब एक या अन्य कारणवश एकाधिक गोत्र एकसाथ मिल जाते हैं तो इस मिलित समूह को भ्रातृदल कहते हैं।"[1] कई गोत्रों का मिलित या सयुक्त रूप ही भ्रातृदल है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि इस प्रकार संयुक्त हो जाने पर प्रत्येक गोत्र का पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वास्तव में, भ्रातृदल प्रत्येक गोत्र के सदस्य की सामुदायिक भावना का विस्तार मात्र होता है और वह सदस्य अपने गोत्र तथा भ्रातृदल दोनों के प्रति ही अपने नैतिक व सामाजिक कर्त्तव्यों और कार्यों को निभाता है। भ्रातृदल मे विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध गोत्र की भाँति निश्चित तथा दृढ नही होते। इस कारण फ्रेटरी बहिर्विवाही हो भी सकती है और नही भी हो सकती। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति की दो फ्रेटरी तारथारोल तथा तिवालिवल अन्तर्विवाही हैं। अनगामी नागा भी पहले अन्तर्विवाह करते थे, परन्तु अब नही करते।

अगर एक जनजाति के सभी गोत्र केवल दो भागों मे विभाजित होकर संगठित हो तो उस पूरे सगठन को **युग्म-संगठन या द्विदल-संगठन (dual organization)** कहते हैं और इसमे से प्रत्येक भाग को अर्थात् युग्म-संगठन के आधे हिस्से को **गोत्रार्ध (moiety)** कहते हैं। यह गोत्रार्ध बहिर्विवाही (exogamous) समूह होता है और इस कारण एक गोत्रार्ध के सदस्य अपना विवाह-सम्बन्ध दूसरे गोत्र के साथ ही स्थापित करते हैं। बोण्डो (Bondo) लोगो मे युग्म-सगठन है, जो दो गोत्रार्ध ओटल (Ontal) तथा किल्लो (Kilio) को लेकर बना है। ये दोनो बहिर्विवाही गोत्रार्ध हैं। चूँकि ऐसे समूहो मे दो स्तरो पर पृथक् रूप से संगठन होता है, इस कारण जनजातियों के इस संगठन को द्विदल या युग्म-संगठन कहा जाता है।

गोत्र के कार्य
(Functions of Clan)

(1) गोत्र का सर्वप्रमुख कार्य पारस्परिक सहायता और सुरक्षा प्रदान करना है। यह काम एक गोत्र अति सरलता से कर सकता है क्योंकि एक ही पूर्वज पर विश्वास होने के कारण गोत्र के सदस्यों मे 'हम की भावना' या भ्रातृ-भाव अति तीव्र होता है और वे आवश्यकता पडने पर एक-दूसरे की सहायता ही नही बल्कि एक-दूसरे के लिए प्राण तक देने को तैयार रहते हैं। प्रत्येक सदस्य अति स्वाभाविक ढग से यह आशा करता है कि उसे किसी भी समय किसी भी प्रकार की सहायता मिल सकती है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, किसी भी क्षेत्र मे गोत्र के सदस्यों से सहायता प्राप्त की जा सकती है। गोत्र मे भ्रातृ-भाव दृढ होता है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि अगर गोत्र का कोई सदस्य बीमार है और उसकी देख-रेख करने वाला कोई नही है तो गोत्र के अन्य लोग उसकी देख-रेख तथा चिकित्सा आदि की व्यवस्था करते हैं। उसी प्रकार अन्य आपत्तियो

1 "When a group of clans gets merged together for some reason or another, the emergent group is called a phratry"—Majumdar and Madan, *op. cit*, p 115.

दुर्घटनाओं तथा असमर्थता के समय भी गोत्र व लोग गोत्र-सदस्य को सुरक्षा प्रदान करते हैं। फलत एक गोत्र एक सशक्त सगठित समूह बन जाता है और उसी के रूप मे कार्य करता रहता है।

(2) गोत्र अपने सदस्यो के लिए नियम बनाता है और उनके द्वारा उनके व्यवहारो पर नियत्रण करता है। यह काम भी गोत्र अति सरलता से कर सकता है क्योकि गोत्र के प्रत्येक सदस्य एक दूसरे को घनिष्ठ और वैयक्तिक (personal) रूप मे पहचानते हैं और गोत्र का सगठन तथा कार्य-भार गोत्र-परिवारो के बडे-बूढो के ऊपर होता है। अपने गोत्र के सदस्यो को समूह के नियमो का पालन करना सिखाना और उन्हे ठीक रास्ते पर चलाना इन बडे बूढे मुखियाओं का एक प्रमुख काम होता है। बार-बार गोत्र के नियमो को तोड़ने पर एक गोत्र-सदस्य को गोत्र से निकाल देने का अधिकार भी इन मुखियाओ को प्राप्त होता है। इस डर से भी लोग गोत्र-नियमो का उल्लघन नही करते हैं।

(3) गोत्र का एक प्रमुख कार्य अपने सदस्यों से बहिर्विवाह-सम्बन्धी नियमो का पालन करवाना होता है। चूंकि एक गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं, इस कारण वे सब एक-दूसरे को भाई-बहन समझते हैं और परस्पर शादी-विवाह करना बहुत बुरा मानते हैं। इस विचार के आधार पर ही गोत्र के लिए यह सम्भव होता है कि वह विवाह को नियमित करे और गोत्र-सदस्यों को अपने विवाह-साथी दूसरे किसी गोत्र से प्राप्त करने का निर्देश दें।

(4) इसके अतिरिक्त गोत्र शासन-व्यवस्था को बनाये रखने, धर्म से सम्बन्धित कृत्यो को करने तथा गोत्र सम्पत्ति की देख-रेख करने का भी काम करता है।

इस प्रकार गोत्र जनजातीय सामाजिक सगठन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है जो कि आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य अनेक प्रकार की सेवाएँ अपने सदस्यों को प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप जनजातियों की अनेक समस्याओ का एक संगठित हल सम्भव होता है।

SELECTED READINGS

1. Hoebel, E A. *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1958
2. Kapadia, K M *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, 1958
3. Linton, R *The study of Man*, Appleton, New York, 1936
4. Lowie, R *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1921.
5. MacIver & Page *Society*, Macmillan and Co., London, 1959
6. Prabhu, P. N. *Hindu Social Organization*, Popular Book Depot, Bombay, 1954

11 आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था
(Primitive Economic Organization)

आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से आदिम लोगो की जीविका-पालन या जीवन-धारण से सम्बन्धित है। जीवन-धारण के लिए आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन करना, उनका वितरण तथा उपभोग करना ही उनकी आर्थिक क्रियाओं का आधार और लक्ष्य होता है ; और ये क्रियाएँ एक आदिम समाज के सम्पूर्ण पर्यावरण, विशेषकर भौगोलिक पर्यावरण के द्वारा बहुत प्रभावित होती हैं। इसीलिए जीवन-धारण या जीवित रहने के साधनो को जुटाने के लिए आदिम लोगो को कठोर परिश्रम करना पड़ता है। आर्थिक जीवन अत्यधिक संघर्षमय तथा कठिन होने के कारण आर्थिक क्षेत्र मे, अन्य क्षेत्रो की भांति, प्रगति की गति बहुत ही धीमी है। सक्षेप मे, आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था एक ओर प्रकृति की शक्तियो और प्राकृतिक साधनो, फल-मूल, पशु-पक्षी, पहाड़ और घाटी, नदियो और जगलो आदि पर निर्भर है और दूसरी ओर परिवार से घनिष्ठ रूप से संयुक्त है। आदिकालीन मानव प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री से अपने उपकरणो का निर्माण करता है और उनकी सहायता से परिवार के सब लोग उदर-पूर्ति के लिए कठोर परिश्रम करते हैं। इस परिश्रम का जो कुछ फल उन्हे प्राप्त होता है उससे आर्थिक आवश्यकताओ तथा प्राकृतिक शक्तियो और साधनो के बीच केवल एक सतुलन स्थापित हो पाता है; धन को इकट्ठा करने या उत्पादन के साधनो पर एकाधिकार प्राप्त करने और उसके बल पर दूसरो पर अपनी प्रभुता स्थापित करने की बात शायद ही कोई सोचता हो। परिवार का आर्थिक स्वार्थ प्राय सामूहिक स्वार्थ के साथ इतना अधिक घुल-मिल जाता है कि दोनो को पृथक् करना कठिन होता है। परिवार के सदस्यो को भूख से बचाने और उनकी रक्षा करने का उत्तरदायित्व प्राय समुदाय को ही लेना होता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन के इन दो पहलुओ या आधारों—परिवार तथा समुदाय—को एक-दूसरे से अधिकाधिक सहयोग करना पड़ता है। इसी दशा मे आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था पनपती है, स्थिर रहती है और जीवित रहने के साधनो को जुटाकर मानव के अस्तित्व को सम्भव करती है।

अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा
(Definition of Economic Organization)

सामाजिक मानव अपने अस्तित्व के लिए कुछ-न-कुछ आर्थिक आवश्यकताओ को अनुभव करता है। इन आवश्यकताओ में सबसे आधारभूत आवश्यकता भोजन, वस्त्र

तथा निवास है। इनमे भी सर्वप्रमुख भोजन है जिसके बिना मनुष्य का अस्तित्व सम्भव नही, और मनुष्य के अस्तित्व के बिना समाज के अस्तित्व का सपना देखना भी मूर्खता है। अत स्पष्ट है कि मानव को अपने तथा समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के हेतु अपनी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। यह तभी सम्भव है जबकि लोग कुछ-न-कुछ सगठित रूप में इस दिशा मे क्रियाशील हो। आर्थिक क्रियाओ के इस सगठन को ही अर्थ-व्यवस्था कहते हैं। सर्वश्री मजूमदार तथा मदान (Majumdar and Madan) ने लिखा है कि "जीवन की दिन-प्रतिदिन की अधिकाधिक आवश्यकताओ को कम-से-कम परिश्रम से पूरा करने के हेतु मानव-सम्बन्धी तथा मानव-प्रयत्नो को नियमित व सगठित करना ही अर्थ व्यवस्था है। यह एक व्यवस्थित तरीके से सीमित साधनो द्वारा असीमित साध्यो (आवश्यकताओ) की अधिकतम सन्तुष्टि का प्रयत्न है।"[1] श्री रूथ बुनजेल (Ruth Bunzel) ने अर्थ-व्यवस्था को अति सक्षेप मे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "शारीरिक अस्तित्व की समस्याओ से सम्बन्धित व्यवहार के सम्पूर्ण सगठन को अर्थ-व्यवस्था कहते हैं।"[2] श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार, आर्थिक व्यवस्था, जिसका कि उद्देश्य लोगो की भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना है, उत्पादन को सगठित करने, वितरण को नियत्रित करने तथा समुदाय मे स्वामित्व व अधिकारो और माँगो को निर्धारित करने के लिए होती है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओ के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि "अर्थ-व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज या एक समूह के एक विशिष्ट प्राकृतिक पर्यावरण, प्रौद्योगिकीय स्तर और सास्कृतिक परिस्थितियों की सीमाओं के अन्दर भौतिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए किये गए समस्त कार्यों का समावेश होता है।"[4] यह परिभाषा सामान्य रूप से प्रत्येक प्रकार के समाज, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, की अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या करती है, क्योंकि प्रत्येक समाज को ही अपनी अर्थ-व्यवस्था को कुछ सीमाओ के अन्दर ही सगठित करना होता है और इन्ही सीमाओ

---

1 "Economic organization consists of the ordering and organization of human relations and human efforts in order to procure as many of the necessities of day to-day life as possible with the expenditure of minimum effort It is the attempt to secure the maximum satisfaction possible through adapting limited means to unlimited ends (needs) in an organized manner "—Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Bombay, 1956, p. 188.

2 "Economics, is the total organization of behaviour with reference to the problems of physical survival "—Ruth Bunzel, *General Anthropology*, D. C. Heath and Co , New York, 1938, p 327

3 'Economic system, designed to satisfy the material wants of the people —is to organize production, to control distribution, and to determine the rights and claims of ownership within the community '—Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p. 18.

4 "Economic organization is that organization which includes whole of the activities for the satisfaction of material needs within the specific limits of natural environment, technological level and cultural situation of a society or of a group "—R N Mukherjee, *op cit*, p. 55.

के कारण ही प्रत्येक समाज की अर्थ-व्यवस्था में कुछ-न-कुछ भिन्नता अवश्य दिखायी देती है। यह सच है कि सभ्यता या विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ आधुनिक समाजो मे अर्थ-व्यवस्था की उपरोक्त सीमाएँ, विशेषकर भौगोलिक सीमाएँ, आज बहुत-कुछ दुर्बल हो गई हैं, फिर भी उनसे पूर्णतया छुटकारा आज भी आधुनिक समाजों तक की अर्थ-व्यवस्था को नही मिल पाया है। कुछ वैज्ञानिको का दावा है कि आज सहारा रेगिस्तान मे भी एक औद्योगिक शहर की स्थापना सम्भव है, परन्तु केवल अत्यधिक खर्च के डर से ऐसा करने के लिए कोई कदम नही उठाया जाता। कारण कुछ भी हो, पर इस विषय मे भी भौगोलिक पर्यावरण द्वारा निर्धारित सीमा स्पष्ट ही है। उसी प्रकार वह समाज जो कि औद्योगिकीय (technological) विषय मे पिछड़ा हुआ है, अपनी अर्थ-व्यवस्था को भी उन्नत स्तर पर नहीं ला सकता है। जहाँ तक आदिम समाजो का प्रश्न है, तो उनके विषय मे एक सत्य यह है कि आदिम मनुष्यों के आर्थिक जीवन पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव अत्यधिक होता है। उनके घर, पोशाक, औजार, व्यवस्था तथा अन्य आर्थिक क्रियाओ के स्वरूप और प्रकृति उस क्षेत्र मे उपलब्ध सीमित साधनों के अनुसार ही निश्चित और नियन्त्रित होती है। प्रौद्योगिकीय पिछडा या वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव मे उनके लिए प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभावो से छुटकारा पाना असम्भव ही है।

आर्थिक विकास के प्रमुख स्तर
(Main Stages of Economic Development)

भोजन प्राप्त करने तथा अपनी अन्य आर्थिक आवश्यकता की सतुष्टि के लिए की जाने वाली क्रियाओं के आधार पर आर्थिक संगठन के चार प्रमुख स्तर आदिम समाजों मे मिलते हैं—

(1) शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने का स्तर (Hunting and food gathering stage)—यह मानव-जीवन के आर्थिक पहलू का प्राथमिक व प्रारम्भिक स्तर है। इस स्तर मे आर्थिक सगठन न केवल अव्यवस्थित है, बल्कि अस्पष्ट और अनिश्चित भी। इसका सर्वप्रथम कारण यह है कि इस स्तर मे 'मानव भोजन का उत्पादन नहीं, सकलन करता है।' इस स्तर मे मानव-जीवन सम्पूर्णतया प्रकृति की गोद मे पलने वाला होता है। मानव जगलों मे अपना जीवन बिताता है और उदर-पूर्ति करके किसी प्रकार जीवित रहना ही उसके लिए पर्याप्त होता है। उदर-पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने का कोई भी ज्ञान मानव को नहीं होता, इसलिए उदर-पूर्ति शिकार करके और फल, कन्द-मूल और शहद इकट्ठा करके की जाती है। परन्तु जीवित रहने के ये साधन अत्यधिक कठिनता से प्राप्त होते हैं। पशुओं का शिकार करने, मछली पकड़ने या कन्द-मूल, फल, शाक-पात आदि के संकलन के लिए लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकना पड़ता है क्योंकि शिकार और फल-मूल का एक स्थान से सदैव प्राप्त होना असम्भव है। फलतः सामाजिक और आर्थिक जीवन अत्यधिक अनिश्चित, अस्थिर व घुमन्तू होता है। पूर्णतया भौगोलिक तथा प्राकृतिक साधनों पर निर्भर रहते हुए इन लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान को घूम-घूमकर जीवित रहने के लिए भोजन को —

इकट्ठा करना पड़ता है। अगर भौगोलिक परिस्थितियाँ अनुकूल है, तो उन्हें भोजन सरलता से मिल जाता है, पर यदि प्रतिकूल हैं तो आदिम मानव के सामने कोई दूसरा रास्ता भी नही होता है, इसके सिवा कि प्रकृति जितना भी देती है या जिस रूप मे देती है उतना और उसी रूप मे जीवन-यापन के साधनो को प्राप्त करें। चूँकि ऐसे समाजो मे जीवित रहने के ये साधन (शिकार फल-मूल, शाक-पात आदि) अत्यधिक सीमित मात्रा में उपलब्ध तथा कठिनता से प्राप्त होते हैं इस कारण यहाँ जीवित रहने के लिए संघर्ष भी उग्र और भयकर होता है। इन समाजो मे दुर्बलो तथा अक्षमो के लिए जीवित रहना प्राय असम्भव-सा होता है। इन सब कारणों से जनसख्या भी अत्यधिक सीमित होती है। ऐसे समाजो मे आर्थिक जीवन की एक-एक इकाई का आकार बहुत छोटा होता है और उनकी सदस्य-सख्या 40 से लेकर 70 के बीच तक होती है। ये सदस्य प्राय आपस मे रक्त-सम्बन्धी होते हैं, यद्यपि रहते अलग-अलग परिवार मे ही है। आर्थिक जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिए, अर्थात् जीवित रहने के लिए, प्रकृति से मोर्चा लेने के लिए इनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे सब आर्थिक क्रियाओ के विषय मे सहयोग करें। इस सहयोगी व्यवस्था मे परिवार के ही नही, समुदाय के पुरुष स्त्री, बच्चे आदि हाथ बटाते हैं। स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर आर्थिक श्रम-विभाजन होता है। तरुणो तथा व्यस्क पुरुषों के दल घर से बाहर जगलो मे शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, जबकि स्त्रियो के दल जगलो के कन्द-मूल, फल, शाक-पात, शहद आदि इकट्ठा करते, भोजन पकाने तथा बच्चो की देख-रेख करते हैं। भोजन इकट्ठा करने का यह तरीका व स्थान ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है क्योकि प्रत्येक ऋतु मे एक ही स्थान मे फल-मूल आदि प्राप्त नही होता है। इस कारण इन लोगो को प्राय प्रत्येक ऋतु मे ही स्थान बद-लना पड़ता है। सामुदायिक आधार पर जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है उसे प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बाँट दिया जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि व्यक्तिगत या पारिवारिक आधार पर कोई आर्थिक क्रिया होती ही नही है। दैनिक जीवन की अधिकतर आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति व्यक्तिगत प्रयत्नो के द्वारा ही होती है। परन्तु जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है, उसमें से कुछ भी भाग सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद विनिमय के लिए शेष नही रहता। साथ ही, व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा बिल्कुल ही नही मिलती है। फल-मूल, शाक-पात, शहद आदि इकट्ठा करने, शिकार करने तथा मछली मारने के क्षेत्र व्यक्ति अथवा परि-वार की सम्पत्ति नही बल्कि सामूहिक सम्पत्ति समझे जाते हैं और उन पर सभी परिवारो का समान अधिकार होता है। आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र अत्यधिक सीमित होने के कारण न तो विशेषीकरण (specialization) और न ही श्रम-विभाजन की आवश्यकता होती है। व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति (private property) की धारणा न होने के कारण धन और सम्पत्ति के आधार पर वर्ग-भेद या वर्ग-व्यवस्था का अस्तित्व नही मिलता है। इस स्तर के आर्थिक सगठन भारत के कादर और चेंचू, लंका के वेड्डा, आस्ट्रेलिया के अधिकाश आदिवासी, फिलीपाइन और मलाया प्रायद्वीपो के पिग्मी समूह, अण्डमान द्वीप के आदि वासी तथा अफ्रीका के बुशमेन आदि के आदिम समाजों मे पाये जाते है।

शिकार करने तथा भोजन इकट्ठा करने से स्तर पर कुछ समाज ऐसे भी हैं जिनमे सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद सकलित भोजन का कुछ भाग विनिमय के लिए शेष रहता है। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिम केलिफोर्निया के तटीय भाग मे रहने वाली इण्डियन जनजातियो से अलास्का तक की कुछ जनजातियों मे इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मिलती है। ये लोग जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी करते हैं उसमे से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा मे रख लेने के पश्चात् जो कुछ बच जाता है उसे आस-पास के जनजातीय समूहो को दे देते हैं और उसके बदले मे कुछ दूसरी चीज़ प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार का विनिमय-कार्य समुदाय के नेता के द्वारा होता है जो अपनी देख-रेख मे आस-पास के गाव मे खाद्य सामग्री ले जाकर व्यापार करता है। इस कार्य के लिए समुदाय उसे सकलित खाद्य का कुछ विशेष भाग देता है। इस दृष्टिकोण से इन समाजो मे आर्थिक क्षेत्र मे कुछ विशेषीकरण और श्रम-विभाजन देखने मे आता है।

शिकार करने और फल-मूल इकट्ठा करने के इस स्तर मे भी लोगो को कुछ-न-कुछ यन्त्रो तथा उपकरणो की आवश्यकता होती है। इन यन्त्रो तथा उपकरणों को लोग स्वय ही बना लेते है अर्थात् इनके निर्माण के लिए कोई विशेष व्यक्ति या समिति नहीं होती है। इन यन्त्रो और उपकरणो में सबसे अधिक प्रयोग मे आने वाली चार चीजें हैं—धनुष-बाण, भाला, जाल और फदा। इनका प्रयोग विशेष रूप से पशुओं का शिकार करने और मछली पकडने मे होता है। परन्तु इन चारो चीजो की बनावट मे अत्यधिक भिन्नता ससार के विविध जनजातीय समाजो मे देखने को मिलती है।

आज कोई भी आदिम समाज ऐसा नही है जो कि केवल मात्र कन्द-मूल, फल, शाक-पात आदि को इकट्ठा करके ही जीविका-पालन करता हो। सभी जनजातियो के पास मछली मारने तथा पशुओ का शिकार करने के लिए पर्याप्त अस्त्र तथा उपकरण होते हैं। शिकार करने तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाजो का आर्थिक सगठन अत्यधिक अस्थिर तथा अनिश्चित होता है। ऐसे समाजो की अन्य विशेषताएँ, सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के अनुसार निम्नलिखित है[1]—

(क) भोजन इकट्ठा करने वाले समाजों मे जनसख्या का घनत्व साधारणतया बहुत कम होता है। इस नियम का व्यतिक्रम (exception) केवल कुछ ऐसे समाजो मे होता है जो कि अत्यधिक अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण मे रहते हैं जैसे कि उत्तरी पैसिफिक तट या अमेरिका के बडे मैदान मे रहने वाले जनजातीय समाज।

(ख) इस प्रकार के समाज प्राय. अन्य समाजो से पृथक् रहकर जीवन व्यतीत करते हैं और अक्सर स्थान परिवर्तन करते रहते हैं। इनका आर्थिक सगठन खानाबदोशी (nomadic) होता है।

(ग) इस प्रकार का समाज आत्मनिर्भर (self-sufficient) परिवारो का

1. Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co New York, 1959, p. 331.

संकलन होता है। ये परिवार आपस मे रक्त-सम्बन्धी होते हैं।

(घ) ऐसे समाज आज सुदूर प्रदेशो मे या गहन जगलो के भीतर पाये जाते है। इसलिए इनके सास्कृतिक प्रतिमान पर दूसरे समाजो का प्रभाव न के बराबर है जिसके फलस्वरूप इनकी संस्कृतियो की मूल विशेषताएँ आज भी उसी रूप मे या बहुत कम परिवर्तित अवस्था मे पाई जाती है।

(2) **पशुपालन या चरागाह का स्तर** (Pastoral stage)—उपरोक्त स्थिति से पशुपालन के स्तर मे आदिम समाजो ने तब कदम रखा जब मानव ने यह अनुभव किया कि पशुओ को मारने के बजाय अगर उन्हें पाला जाय तो उनसे जीवित रहने के अधिक साधन प्राप्त हो सकेंगे, क्योकि उन पशुओ से उनके बच्चे भी प्राप्त होगे और साथ ही दूध भी। इससे मानव का आर्थिक जीवन प्रथम स्तर की तुलना मे अधिक निश्चित और स्थिर हुआ, क्योकि पशुओ को लेकर रोज स्थान परिवर्तन करना कष्टकर होता है। इसलिए एक स्थान पर जब तक उन पालतू पशुओ के खाने-पीने की चीजें अर्थात् चरागाह मिल जाते हैं तब तक स्थान परिवर्तन की कोई विशेष आवश्यकता नही होती। परन्तु घास आदि समाप्त हो जाने पर दूसरी चरागाह की खोज मे वे दूसरी जगह चले जाते है।

ससार मे शायद ही कोई ऐसा समाज है जहाँ कि पशुपालन का काम नही होता है। प्रत्येक समाज किसी-न-किसी रूप मे पशुओ को पालता है। प्रारम्भिक स्तर मे इन पशुओ को मारकर उनके मास को खाने के काम मे, खाल को पहनने के काम मे और हड्डियो को नाना प्रकार के आभूषण तथा अस्त्र बनाने के काम मे लाया जाता है। टुण्ड्रा प्रदेश बारहो महीने बर्फ से ढँका रहता है, फिर भी प्रकृति ने वहाँ के लोगो को समूर वाले जानवर, जैसे सफेद भालू, भेडिया, लोमडी, खरगोश, मस्कबैल, रेनडियर आदि प्रदान किये हैं। वहाँ के लोग इन पशुओ की खाल के वस्त्र पहनते है। वे समूर के दस्ताने और लम्बे जूते, जिनमे भीतर समूर लगी होती है, पहनते है। उसी प्रकार ससार मे ऐसे अनेक आदिम समाज है जिनमे कि पशुओ को पालने का एक प्रमुख उद्देश्य उनके दूध को या दूध से बनी अन्य चीजो को भोजन के एक उत्तम साधन के रूप मे प्राप्त करना होता है। साथ ही ऐसे भी जनजातीय समाज है जिनमे लोग कृषि के काम मे पशुओ को व्यवहार मे लाने के लिए उन्हें पालते है। श्री फोर्ड (C D Forde) ने पशुओ को छ उपयोगिताओ का उल्लेख किया है—(1) पशुओ के मास को भोजन के रूप मे व्यवहार करना, (2) खालो का प्रयोग, (3) उनके बाल या ऊन का प्रयोग, (4) दूध और दूध से बनने वाली वस्तुओ का प्रयोग, (5) बोझा ढोने और गाडी खीचने का काम, और (6) सवारी का काम।[1] परन्तु कौनसा समाज किन पशुओ को पालेगा, यह बहुत-कुछ उस समाज की स्थानीय परिस्थितियो पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दो मे, विभिन्न समाजो मे पालतू पशुओ मे काफी भिन्नता पाई जाती है। कुत्ता मनुष्य का बहुत पुराना साथी है।[2] इनसे

1 C D Forde, *Habitat, Economy and Society*, New York, 1937, p 401.

2. M F Ashley Montagu, 'On the Origin of the Domestication of the Dog, *Science*, Vol. 96, 1942, p. 111-112.

अधिकांश समाज पहरेदारी का काम लेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जिनमे कुत्तो के मास को खाया भी जाता है। ससार मे कुछ आदिम समाज ऐसे भी है जो कि अपनी जीविका-पालन के हेतु सम्पूर्ण रूप से पशुपालन पर ही निर्भर करते है। परन्तु ऐसे समाजो की संख्या बहुत अधिक नही है।

चूंकि पशुओ को पालने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि उनके खाने के लिए घास-पात उपलब्ध हो, इस कारण पशुओ को पालने वाले समूह उन्हीं प्रदेशो मे अधिक पाये जाते हैं जहां कि चरागाह या घास-पात पर्याप्त मात्रा मे मिल सकता है। इसीलिए ऐसे समूह एक स्थान पर कितने दिन रहेंगे, यह सम्पूर्णतया इस बात पर निर्भर करता है कि उस स्थान पर उनके पशुओ के खाने के लिए घास-पात कब तक मिलता रहता है। रेगिस्तानी प्रदेशो मे भी कुछ ऐसे समूह पाये जाते हैं जो कि अपनी जीविका के लिए सम्पूर्णत पशुओ पर निर्भर रहते हैं। उत्तरी अरब की बेडोउइन (Bedouin) जनजाति इसी प्रकार की है। इसकी जीविका-उपार्जन का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन ऊँट है। इस जनजाति के लोग अपने ऊँटो को लेकर चरागाह की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान को घूम-फिरकर जीवन बिताते हैं। बर्फीले प्रदेशो की जनजातियां भी पशु पालती हैं। एस्कीमो जनजाति रेनडियर आदि पशुओ का पालन करती है। उसी प्रकार अन्य जनजातीय समूहो मे कुत्ता, गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड, घोड़ा आदि जानवरो को पालते है।

इस स्तर मे आर्थिक क्रियाओ के सम्बन्ध में प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भरता प्राय प्रथम स्तर जैसी ही बनी रही। इसीलिए ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ लोगो को चरागाहो की खोज मे एक जगह से दूसरी जगह जाना पडता है। फिर भी आर्थिक जीवन उतना अस्थिर और अनिश्चित नही होता है जितना कि प्रथम स्तर मे। पशुओ मे कोई रोग महामारी के रूप मे फैल जाने पर तथा एकाएक अधिक सख्या मे पशुओ के मर जाने पर बहुधा पशुपालक समूहो को आर्थिक सकट का सामना करना पडता है और भूखो मरने की नौबत आ जाती है। परन्तु पशुओं के रोगो की चिकित्सा करने का कुछ-न-कुछ ज्ञान उन लोगो को अवश्य ही होता है। वे पशुओं का इलाज जड़ी-बूटी और झाड़-फूंक की सहायता से करते है। इस विषय मे सम्पूर्ण समुदाय प्रत्येक परिवार की मदद करने के लिए सदैव तैयार रहता है। कुछ समाजो मे तो इन पशुओ पर पूरे समूह का अधिकार होता है।

(3) कृषि-स्तर (Agricultural stage)—इस स्तर का प्रारम्भ तब होता है जब मानव को बीज बोने और पौधे उगाने की कला आ गई। फलों का बाग लगाने या खेती करने की इस क्षमता ने आर्थिक जीवन को पहले से अधिक स्थिर बनाया। यद्यपि जनजातियो के लिए बगीचा लगाकर फल उत्पन्न करना अथवा खेती द्वारा अनाज प्राप्त करना भी प्राकृतिक दशाओ पर अत्यधिक निर्भर और इस कारण अनिश्चित है, फिर भी उतना अनिश्चित नही जितना कि शिकार पाना। सक्षेप मे, इस स्तर मे शिकार करने व फल-मूल इकट्ठा करने तथा पशुपालन की स्थिति से भोजन अधिक नियमित रूप से प्राप्त होने लगा। साथ ही, फलो का बाग लगाना या खेती करना एक ऐसी आर्थिक क्रिया है जो

कि स्वभावत ही मनुष्य को जमीन से बांध देती है। इसका आशय यह है कि इस स्तर में मनुष्यों को एक स्थान पर घर बसाकर स्थायी रूप से आर्थिक क्रियाओं को करने का अवसर प्राप्त हुआ। भोजन की पूर्ति (supply) बढ़ी और उसके साथ-साथ जनसंख्या भी। इससे आर्थिक अन्त क्रियाओं का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ और विभिन्न समाजों के बीच आर्थिक सम्बन्ध पनपा।

डा० दुबे के अनुसार भोजन देने वाले वृक्षों का आरोपण मानव ने सम्भवत सबसे पहले इथियोपिया से उत्तर भारत तक की पर्वतीय घाटियों में, दक्षिण-पूर्व एशिया में और मेक्सिको से चिली तक की उच्च भूमि में किया। पौधों को लगाने के काम में जिन औजारों या उपकरणों को काम में लाया जाता है उनमें कुदाल (digging stick) सबसे प्रमुख और प्राचीन है क्योंकि बाद स्तर में आविष्कृत हल (hoe) या फावड़ा (spade) इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित नहीं हुए। साथ ही, प्रत्येक प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियां प्रत्येक प्रकार के फल के पेड़-पौधों को उगाने के लिए अनुकूल न होने के कारण प्रत्येक प्रदेश में अलग-अलग तरह के फल के बाग लगाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन स्थानों में जहाँ कि भूमि अत्यधिक उर्वर है फल के बाग अधिक लगाये जाते हैं क्योंकि खाद या अन्य उर्वरक को व्यवहार में लाने के सम्बन्ध में आदिम समाजों के लोगों को कोई भी ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए जैसे ही एक भूमि-खण्ड की उर्वरता दो-चार साल की फसल के बाद समाप्त हो जाती है वैसे ही उन्हें बाग के स्थान को भी बदलना पड़ता है। केला, नारियल ब्रेड फ्रूट और नाना प्रकार के कन्द मूल आदि का बगीचा सबसे पहले मनुष्य ने लगाया था, पर धीरे धीरे अन्य प्रकार के फल और भोजन देने वाले वृक्षों को लगाया जाने लगा।

अनाजों को उत्पन्न करने के लिए कृषि का काम सर्वप्रथम कब और कहाँ प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कृषि का प्रारम्भ तब हुआ होगा जबकि मनुष्य को बीज बोने और पौधा उगाने की कला का ज्ञान हुआ था। यह ज्ञान सर्वप्रथम स्त्रियों को ही हुआ था क्योंकि पुरुष दिन तो जंगल में शिकार करने या मछली मारने के लिए एक जगह से दूसरी जगह भटकता फिरता था, जब कि स्त्रियां घर पर अर्थात् एक जगह पर ही रहकर फल मूल आदि इकट्ठा करती थी। इसलिए स्त्रियों की निगाहों में यह पड़ना सम्भव था कि एक गुठली या बीज से फिर पौधा उग सकता है।[1] यही कारण है कि आदिम समाजों में कृषि-कार्य में स्त्रियां विशेष निपुण होती हैं और इस कार्य में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण होता है।

पहले यह विश्वास किया जाता था कि कृषि का काम सर्वप्रथम मिस्र (Egypt) में प्रारम्भ किया गया था। परन्तु आज इसमें कोई सहमत नहीं है। आज के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृषि का काम संसार के एकाधिक भागों में एकसाथ प्रारम्भ किया गया था। पर हाँ, कुछ विशेष भौगोलिक क्षेत्रों में विशेष प्रकार के अनाज को विशेष रूप से उत्पन्न किया जाता है जो कि उन क्षेत्र में पाई जाने वाली

---

1. Beals and Hoijer, *op cit*, p 345

भौगोलिक परिस्थिति—जलवायु, वर्षा—आदि से सम्बन्धित है चूँकि एक क्षेत्र-विशेष मे एक विशिष्ट प्रकार की जलवायु, वर्षा आदि उपलब्ध हैं और चूँकि इन्हे परिवर्तित करने या इनपर नियन्त्रण पाने की कोई कला आदिम लोगो को नहीं आती है, इस कारण उस भौगोलिक परिस्थिति मे जो अनाज सरलता से उगाया जा सकता है, उन्ही की खेती उस क्षेत्र मे की जाती है। पुरानी दुनिया (Old World) को इस प्रकार के पांच विशिष्ट क्षेत्रों मे बाँटा जा सकता है जो निम्नवत् है[1] —

(1) दक्षिण-पश्चिम एशिया (अर्थात् उत्तर-पश्चिम भारत, अफगानिस्तान, ईरान, ट्रासकाकेशिया और पूर्वी व मध्य आनाटोलिया) नरम गेहूँ, राई, मटर, मसूर की दाल आदि का 'घर' है। इन क्षेत्रो की जलवायु इन अनाजों के उत्पन्न होने के अनुकूल है।

(2) भूमध्य सागरीय क्षेत्र मे जैतून, अंजीर आदि की उपज पहले आरम्भ हुई थी।

(3) इथियोपिया गेहूं, जौ तथा बड़े आकार के मटर का 'घर' है।

(4) पर्वती चीन तथा आसपास के क्षेत्र सोयाबीन, बाजरा आदि के, आदि स्थान हैं।

(5) मध्य तथा दक्षिण भारत, बर्मा, इण्डोचीन चावल, गन्ना तथा कपास का 'घर' है।

आदिम समाजो मे खेती करने के तरीके बहुत अविकसित हैं। इसका प्रमुख कारण खेती के लिए आवश्यक औजारो या उपकरणों की कमी, खाद या उर्वरक के विषय में ज्ञान का अभाव तथा बीजो को बोने का सही तरीका मालूम न होना है। अनेक जन-जातियाँ अति आदिम ढग से खेती करती हैं जिसे कि स्थानान्तरित खेती (shifting cultivation) कहते हैं। इस प्रकार की खेती मे जगल के पेडों को काटकर उन्हें एक स्थान पर एकत्र करके जला दिया जाता है और फिर राख, सारे स्थान पर, जहां खेती करनी हो, बिछा दी जाती है और इसमे बीज बो दिये जाते हैं। जब दो-एक वर्ष के बाद उस स्थान की भूमि की उर्वरा शक्ति समाप्त हो जाती है तो स्थान परिवर्तन करके दूसरे स्थान पर इसी प्रकार से खेती की जाती है। इस कारण इसे स्थानान्तरित खेती कहते हैं। इस प्रकार की खेती से केवल कुछ मोटा अनाज जैसे जौ, बाजरा, मटर, चना आदि ही उत्पन्न हो पाता है। कुल उत्पादन भी बहुत कम होता है और जो कुछ अनाज पैदा होता है उसका कोई भी भाग, सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद, विनिमय के लिए शेष नही रहता। इन समाजो मे प्राय: खेती का काम सामूहिक आधार पर होता है ऐसी स्थिति मे खेत किसी विशेष परिवार का न होकर, पूरे समूह का होता है और उस पर उस समूह के प्रत्येक परिवार के सभी सक्षम व्यक्ति काम करते हैं और जो कुछ भी उपज होती है उसे मुखिया प्रत्येक परिवार को उनकी आवश्यकता के अनुसार बांट देता है। जिन समाजो मे यह व्यवस्था नही है, वहां भी फसल काटने या एकत्रित करने के लिए कभी-कभी सगठित दल सामूहिक रूप से काम करते हैं। युवागृह के सदस्य भी ऐसे कामों मे हाथ

1. *Ibid*, p. 346.

बँटाने आ जाते हैं।

अनेक ऐसे जनजातीय समाज भी हैं जहाँ कि स्थायी तरीके से एक ही जमीन पर खेती होती है और वे अपने खेत का स्थान नहीं बदलते। इन समाजों में खेती करने का तरीका थोड़ा-सा उन्नत है और इसीलिए कुछ अधिक अनाज उत्पन्न हो जाता है। फलतः सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी उत्पन्न अनाज का कुछ भाग विनिमय के लिए शेष रह जाता है। इसे वे आस-पास के समुदाय में जाकर विनिमय के माध्यम से दूसरों को देकर उसके बदले में अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को ले आते हैं।

सरल कृषि-व्यवस्था पॉलीनेशिया, मेलानेशिया, मलय-एशिया, भारत आदि देशों के जनजातीय समाजों में पाई जाती है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पारिवारिक या सामूहिक आधार पर आयोजित होती है, यद्यपि स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर किसी-न-किसी प्रकार का आर्थिक श्रम-विभाजन अवश्य ही मिलता है। वेतन देकर बाहरी श्रमिकों को काम पर लगाने की प्रथा नहीं पाई जाती।

(4) औद्योगिक स्तर (Technological stage)—कोई भी आदिम समाज पूर्णतया औद्योगिक स्तर तक नहीं पहुंच पाया है। आदिम समाज तो क्या कोई भी समाज केवल उद्योग पर ही निर्भर है, यह सोचना गलत है। उद्योग के साथ-साथ कृषि कार्य भी प्रायः समस्त प्रगतिशील देशों में ही होता है। आदिम समाजों में सामान्य उद्योग या दस्तकारी देखने को मिलती है और वह भी खेती आदि के साथ-साथ। प्रायः देखा जाता है कि अनेक जनजातीय समाजों में वहाँ के लोगों की आर्थिक क्रियाओं में पशुपालन और खेती के साथ टोकरी बनाना, सूत कातना तथा बुनना, रस्सी, चटाई आदि बनाना, दरी बनाना, कपड़े बुनना, बेंत का काम करना, लोहे के औजार बनाना, मिट्टी और धातुओं के बर्तन बनाना आदि भी सम्मिलित हैं।

आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति तथा विशेषताएँ
(The Nature and the Characteristics of Primitive Economies)

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि आदिम समाजों में जीवन अत्यधिक संघर्षमय तथा कठोर है क्योंकि जीवित रहने के साधन बहुत कठिनता से प्राप्त होते हैं। इस अर्थ में आदिम अर्थ-व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि आदिम लोगों की समस्त आर्थिक क्रियाएँ शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखने की समस्या को केन्द्र मानकर की जाती हैं। कैसे जीवित रहे, या किस प्रकार उदर-पूर्ति हो—यह समस्या ही सबसे प्रमुख है और उसी का हल ढूंढने के प्रयत्न में जो कुछ आदिम समाज के लोग करते हैं, वही उनकी अर्थ-व्यवस्था है। आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति की इससे सरल व्याख्या शायद सम्भव नहीं। साथ ही यह विशेषता आधुनिक अर्थ-व्यवस्था तथा आदिम अर्थ-व्यवस्था के बीच एक सुस्पष्ट विभाजन रेखा खींच देती है। इतना ही नहीं, आदिम अर्थ-व्यवस्था में अंश ग्रहण करने वालों के पारस्परिक सम्बन्धों की भी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हमें देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ, आदिम आर्थिक संगठन के अन्तर्गत उपभोक्ता (consumer) तथा उत्पादक (producer) का आपसी सम्बन्ध बिल्कुल ही उस प्रकार का

नही है जैसाकि हम अपने समाज में देखते हैं। आदिम समाजों में उपभोक्ता तथा उत्पादक दो पृथक् अस्तित्व नही रखते और न ही ये दोनो एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि उपभोक्ता और उत्पादक दोनो प्राय: एक ही व्यक्ति होते हैं। वहाँ मोटे तौर पर प्रत्येक व्यक्ति ही उत्पादक है, और प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता भी। आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति के विषय मे तीसरी प्रमुख बात यह है कि आदिम अर्थ-व्यवस्था आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की भाँति संगठित, निश्चित ढंग से नियोजित तथा विशिष्ट रूप से नियन्त्रित नही होती। प्रत्येक परिवार आर्थिक मामले मे आत्म-निर्भर होता है अथवा अपने आत्म-निर्भर समुदाय को एक आर्थिक इकाई के रूप मे क्रियाशील होता है। परिवार को निकालकर आदिम अर्थ-व्यवस्था या आर्थिक संगठन की चिन्ता करना ही मूर्खता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए इसके प्रमुख लक्षणों या विशेषताओं की विवेचना आवश्यक है, जो कि निम्नवत् है—

(1) आदिम समाजो मे प्राय. सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को धर्म और जादू-टोना के साथ एक अजीब ढग से मिला देने की अत्यधिक प्रवृत्ति पाई जाती है। दूसरे शब्दों में, किसी भी आर्थिक क्रिया को करने से पहले आदिम समाजों मे अनेक प्रकार के धार्मिक सस्कारो और जादू-टोने का भी सहारा लिया जाता है। धर्म और जादू की सहायता के बिना आर्थिक क्रियाओ मे सफलता असम्भव है; इस प्रकार के अनेक अन्ध-विश्वास आदिम लोगों में पाये जाते हैं। एक सामान्य उदाहरण के द्वारा आदिम अर्थ-व्यवस्था के इस पक्ष को स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ समाजो मे शिकार पर जाने के सम्बन्ध मे अनेक नियमो का पालन अनिवार्य है। जिस दिन शिकार में जाना होता है उसके पहले वाली रात को कोई भी शिकारी अपनी पत्नी के पास नहीं सोता है और न ही किसी रूप मे पत्नी के साथ सहवास करता है, क्योंकि उनमे विश्वास है कि वैसा करने पर शरीर और मन दोनों ही अशुचि या नापाक हो जाते हैं जिससे शिकार के देवता अप्रसन्न होते हैं और शिकार मे सफलता की कोई आशा नही रह जाती। इसलिए शिकार पर जाने के पहले वाली रात सब शिकारी अपने-अपने घर से दूर एकसाथ मिलकर रहते हैं। उसी प्रकार बहुत-से आदिम समाजों मे खेत मे पहले दिन काम करने जाने से पहले या बीज बोने से पहले फसल के देवता को प्रसन्न करने के लिए पशुओं की बलि चढाई जाती है। कहीं-कहीं तो फसल काटने के बाद इस प्रकार की बलि चढाने की प्रथा पाई जाती है। कुछ समाजों मे कृषि और बागवानी से सम्बन्धित वर्षा, नदी, सूर्य आदि की पूजा की जाती है। सक्षेप मे, यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक क्रियाओं मे सफलता इन कृत्यो को करने से ही सम्भव है।

(2) आदिम अर्थ-व्यवस्था की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि आर्थिक उत्पादन प्राय: किसी भी प्रकार की प्रौद्योगिकीय सहायता (technological aid) के बिना ही किया जाता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि इन समाजो में न तो मशीनो का आविष्कार होता है और न ही इनको व्यवहार मे लाने का ज्ञान वहाँ के लोगो को हुआ करता है। आदिम अर्थ-व्यवस्था आदिम ढंग से ही आयोजित तथा सगठित होती है जिसके [illegible] उत्पादन ही कम नही होता, बल्कि चीजों की बर्बादी भी बहुत

होती है। इसका उज्ज्वल दृष्टान्त स्थानान्तरित खेती ही है। खेती के इस तरीके के कारण एक ओर वन-सम्पत्ति और भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होती है और दूसरी ओर अनाज का उत्पादन श्रम आदि की तुलना मे बहुत कम होता है। इसका प्रभाव उन लोगो की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है क्योकि जो कुछ थोड़ा-बहुत उत्पादन होता है उसमे से सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद कुछ भी विनिमय के लिए शेष नही रहता। फलत आर्थिक क्रियाओ से समुदाय के सदस्यो की उदर-पूर्ति ही किसी तरह से हो पाती है, उचित ढग से जीवित रहना नही।

(3) आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन और वितरण पर जितना अधिक बल दिया जाता है उतना विनिमय पर कदापि नही। इसका सबसे प्रमुख कारण, जैसा कि ऊपर ही बताया गया है यह है कि जो कुछ उत्पादन होता है उसे समुदाय के परिवारों मे उनकी आवश्यकता के अनुसार बांट देने के पश्चात् शायद ही कुछ आधिक्य (surplus) रह जाता है। साथ ही, विनिमय (exchange) से कौन-कौन से लाभ हैं इसके विषय मे न आदिम समाज के लोग कुछ जानते हैं और न ही विनिमय को अधिक संगठित रूप से चलाना उनके लिए सम्भव है। इस कारण आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक वस्तुओ का उत्पादन अधिकतर उपभोग (consumption) के लिए किया जाता है, न कि विनिमय (exchange) करने या सचय (hoard) करने के लिए। इन समाजों मे भोजन का उत्पादन या सकलन सर्वप्रथम किया जाता है और उसके बाद फिर वस्त्र और रोज की आवश्यकता की अन्य वस्तुओ का उत्पादन होता है।

(4) चूंकि आर्थिक वस्तुओ का उत्पादन विनिमय करने के लिए नही होता है इस कारण विनिमय के किसी माध्यम (medium) मुद्रा—का भी अधिक प्रचलन आदिम समाज से देखने को नही मिलता है। आधुनिक समाजो की भांति आदिम समाजो मे मुद्रा (money) को न तो एकत्रित किया जाता है और न ही उसका वस्तुओ के मूल्य आंकने और वस्तुओं के विनिमय मे अधिक प्रयोग किया जाता है। बैंक, साख समिति आदि का उनके समाज में नितान्त अभाव होता है। इन सबकी आवश्यकता भी उन समाजों मे बहुत कम होती है क्योकि बाहरी समूहो से आर्थिक आदान-प्रदान या विनिमय बहुत कम होता है।

(5) उत्पादन या विनिमय के द्वारा मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति का नितान्त अभाव आदिम अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण है। इसके निम्नलिखित दो प्रमुख कारण हैं—प्रथम तो यह कि मुद्रा द्वारा वस्तुओ का मूल्य आंकने की प्रवृत्ति बहुत कम होने के कारण विनिमय के द्वारा मुनाफा लेने की बात उनके मन मे उचित ही नही होती है, और दूसरे आर्थिक क्रियाओ के साथ एक सामुदायिक भावना जुड़ी होने के कारण मुनाफा लेने का प्रश्न ही नहीं उठता है। चूंकि आर्थिक क्रियाओ मे समुदाय के सभी लोगो का सक्रिय सहयोग सबको मिलता है या मिलने की आशा रहती है, इस कारण आदिम समाजो के लोग एक-दूसरे से मुनाफा लेने की बात सोचते तक नहीं हैं। परन्तु आधुनिक समाजो के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप अनेक आदिम समाजों मे मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति अब प्रवेश कर गई है।

(6) चूंकि आदिम समाज में मुद्रा का कम प्रयोग होता है और आर्थिक वस्तुओं का आधिक्य (surplus) कम होने के कारण बाहरी समूहों से विनिमय-कार्य नाम मात्र का होता है, इसलिए आदिम अर्थ-व्यवस्था मे नियमित बाजार, व्यापारी, दलाल, प्रतियोगिता (competition), एकाधिकार (monopoly) आदि का नितान्त अभाव होता है और जहां है, वहां भी बहुत कम।

(7) आदिम समाजों मे परिवार आत्म-निर्भर होता है और वह इस अर्थ में कि प्राय: अपनी समस्त आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्येक परिवार पृथक् रूप से या संयुक्त रूप में कर लेता है और इस कार्य मे परिवार के प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को सक्रिय भाग लेना होता है। ये आर्थिक क्रियाएँ विविध प्रकार की होती हैं और व्यक्ति उनमें से सबको ही करता है या उसे करना पड़ता है। इसीलिए आदिम समाजों में कुशलता के आधार पर आर्थिक क्रियाओं का विशेषीकरण (specialization) नहीं हो पाता है। आदिम समाजों मे विशेषज्ञ (specialists or experts) नहीं होते और वह इस अर्थ में कि एक व्यक्ति जो कि पुजारी है, वह जादू-टोना भी करता है, खेती का काम भी जानता है, टोकरी बनाता, सूत कातता और बुनता, मिट्टी के बर्तन भी बनाता, और ऐसे ही दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित अनेक आर्थिक कार्यों को करता है या कम-से-कम कर सकता है। उसे एक विशेषज्ञ बनने की न तो सुविधाएँ प्राप्त हैं और न ही उसके लिए यह आवश्यक है।

(8) आदिम समाजों की अधिकतर आर्थिक क्रियाएँ सामूहिक और सहकारी आधारों पर संगठित होती हैं। आर्थिक क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य सामुदायिक कर्तव्यों को निभाना है।

(9) व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति की धारणा प्रत्येक आदिम समाज में किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही होती है, विशेषकर उन वस्तुओं के सम्बन्ध में जो एक व्यक्ति या परिवार स्वयं बनाता या व्यवहार करता है। फिर भी खेत, चरागाह, तालाब, शिकार के क्षेत्र, इन सब पर समूहों का अधिकार (group ownership) अधिक होता है।

(10) आदिम समाजों में आर्थिक क्षेत्र में नये परिवर्तन और आविष्कार बहुत ही कम होते हैं। सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने वाले आदिम समाजों के आर्थिक-संगठन में परिवर्तन होना शुरू हो गया है, फिर भी इस परिवर्तन की गति पर्याप्त धीमी है।

(11) अनेक आदिम समाजों में उपहार (gift) विनिमय का एक माध्यम (a medium of exchange) होता है। इन समाजों में मुद्रा के स्थान मे उपहार को ही विनिमय का आधार माना जाता है और वह इस अर्थ में कि जब एक समूह दूसरे समूह को कुछ चीजें उपहार के रूप में देता है तो दूसरे समूह का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रथम समूह को उसके बदले में कुछ दूसरी चीजें दे। इस प्रकार उपहार लेना और देना आदिम समूहों में विनिमय का एक परम्परागत या सामाजिक रीति, नियम या तरीका है।

(12) उसी प्रकार आदिम समाजों में अतिथि-सत्कार या आतिथ्य (hospitality) आर्थिक सेवा के रूप में देखने को मिलता है। विशेषकर खाने-पीने की चीजों के

सम्बन्ध में आदिम समाज से लोग बहुत उदार होते हैं। कोई भी बाहर का आदमी आकर उनके यहां खा-पी सकता है, विशेषकर अगर वह अपने ही समूह का है। अगर किसी भी व्यक्ति के पास अतिरिक्त भोजन है, तो उस समुदाय के अन्य किसी को भी वह भोजन मिलने का अधिकार होता है। एक व्यक्ति अपने भण्डार को खाद्यान्न से भरकर रख दे और दूसरे लोग उसी के बिना भूखों मरते रहें (जैसा कि हम लोगों के अपने समाज में होता है और हो रहा है), इस प्रकार की स्थिति को आदिम समाजों मे सहन नहीं किया जाता है। उसी प्रकार शिकार अथवा खेती करने के अन्य अनेक निजी सामानों पर समुदाय के अन्य लोगों का अधिकार होता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण
(Classification of the Primitive Economic Organization)

आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण सभी मानवशास्त्रियों ने समान रूप मे प्रस्तुत नही किया है। इसी कारण विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण मे पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है। हम यहा कुछ विशिष्ट वर्गीकरणो का उल्लेख करेंगे जो कि निम्नलिखित हैं—

(1) **श्री ग्रास** (Gross) ने एक विकासवादी वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए आदिम से आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के निम्नलिखित **पाँच स्वरूपो** का उल्लेख किया है—(क) सकलनशील आर्थिक-व्यवस्था (collectional economy), (ख) सास्कृतिक खानाबदोशी अर्थ-व्यवस्था (cultural nomadic economy), (ग) स्थिर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था (settled village economy), (घ) नागरिक अर्थ-व्यवस्था (town economy), और (ङ) आधुनिकतम अर्थ-व्यवस्था (metropolitan economy)।

(2) **सर्वश्री फोर्ड तथा हर्सकोविट्स** (Forde and Herskovits) अर्थ-व्यवस्था की उपरोक्त विकासवादी योजना से सहमत नहीं हैं। इन विद्वानो के मतानुसार किसी एक निश्चित स्तर पर सभी समाजो की अर्थ-व्यवस्था की कल्पना करना मूर्खता है। एक समाज मे एकसाथ एकाधिक अवस्थाओं या स्तरो का होना ही अधिक व्यावहारिक है। इन विद्वानो ने आर्थिक-व्यवस्था को पांच भागो मे बांटा है और यह कहा है कि एक समय मे इन पाच अवस्थाओ मे से एकाधिक अवस्थाओ मे एक समाज हो सकता है। ये पांच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—(क) संकलन (collection), (ख) शिकार (hunting), (ग) मछली मारना (fishing), (घ) कृषि (cultivation) और (ङ) पशुपालन (stock raising)।

(3) सर्वश्री जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था को दो प्रमुख भागो मे बाँटा है और इनमे से प्रत्येक भाग के दो उपभागों का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् है—(क) शिकार करने, मछली मारने तथा भोजन एकत्र करने वाली अर्थ-व्यवस्थाएँ (hunting, fishing and food gathering economies—इस अर्थ-व्यवस्था के दो उपभाग हैं—एक तो भोजन-सकलन की सरल अर्थ-व्यवस्थाएँ (simple food gathering economies) और दूसरे भोजन-संकलन की

विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ (advanced food gathering economies)। (ख) कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था (agriculture and pastoral economies)—इस अर्थ-व्यवस्था के भी दो उपभाग हैं—एक तो कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी सरल अर्थ-व्यवस्थाएँ और दूसरे कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ।

(4) श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने आदिम समाजों की अर्थ-व्यवस्था को सात श्रेणियों में विभाजित किया है जो कि निम्नलिखित हैं—(1) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने, तथा सामग्री इकट्ठा करने वाले समरूप समुदाय (Homogeneous communities of hunters, trappers and food collectors)। (2) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले तथा कृषकों का समरूप समुदाय (Homogeneous communities of hunters, trappers and agriculturists)। (3) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले, कृषक तथा कारीगरों के श्रेणीबद्ध समाज (Graded society of hunters, trappers, agriculturists and artisans)। (4) चरवाहे (Herdsmen)। (5) समरूप शिकारी तथा चरवाहे (Homogeneous hunters and herdsmen)। (6) प्रजाति के आधार पर श्रेणीबद्ध पशु पालने वाले तथा व्यापार करने वाले समूह (Ethnically stratified cattle-breeders and traders)। (7) सामाजिक आधार पर श्रेणीबद्ध शिकारी, कृषक तथा कारीगर समूह (Socially graded herdsmen with hunting, agricultural and artisan population)।

डॉ० दुबे (Dubey) के अनुसार भोजन प्राप्त करने अथवा उत्पन्न करने के ढंगों के आधार पर आदि संस्कृतियों के आर्थिक संगठन को चार मुख्य भागों या स्तरों में बाँटा जा सकता है—(1) संकलन-आखेटक स्तर—इस स्तर को दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम उपभाग में सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद संकलित खाद्य का कोई भी भाग विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। दूसरे उपभाग में संकलन की मात्रा इतनी रहती है कि उसका एक अंश सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी विनिमय के लिए शेष रह जाता है। (2) पशुपालन-स्तर। (3) कृषि-स्तर—इस स्तर के अन्तर्गत दो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ सम्मिलित हैं—एक तो फलोद्यान-आश्रित अर्थ-व्यवस्था और दूसरे कृषि-आश्रित अर्थ-व्यवस्था। कृषि-स्तर की अर्थ-व्यवस्था को भी दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है—सरल कृषि-व्यवस्था और विकसित कृषि-व्यवस्था।

आदिम समाजों में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता
(Economic Mechanism in Primitive Societies)

किसी भी समाज में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के तीन प्रमुख आधार हैं—उत्पादन, वितरण तथा उपभोग। और यदि उस समाज में उत्पादन की मात्रा इतनी है कि उसका कुछ भाग सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी शेष रह जाता है तो एक अन्य आधार—विनिमय और जुड़ जाता है। साथ ही, प्रत्येक समाज में आर्थिक क्रियाओं को करने के लिए किसी-न-किसी आधार पर श्रम-विभाजन भी हुआ करता है। किसी भी

अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता की विवेचना इन्ही आधारों पर करनी चाहिए। इस क्रियाशीलता का प्रमुख उद्देश्य समाज के सदस्यो की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना और उसके द्वारा शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखना व मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए द्वार खोलना है। इस दृष्टिकोण से अर्थ व्यवस्था का वास्तविक उद्देश्य केवल वस्तुओ का उत्पादन और उन्हे उपभोग के लिए उपलब्ध करना ही नही, वरन् उससे कही अधिक है। इसलिए आर्थिक क्रियाओ मे भाग लेने वाले समाज के सदस्य एक-दूसरे के साथ आर्थिक बन्धन मे बँध जाते हैं और समुदाय के प्रति उनके कितने ही उत्तरदायित्व स्वत. ही स्पष्ट हो जाते हैं। यह बात आदिम समाजो के विषय मे और भी सच है। इसे ध्यान मे रखते हुए अब हम आदिम समाजो मे अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के उपरोक्त आधारो की विवेचना सक्षेप मे करेंगे—

श्रम-विभाजन
(The Division of Labour)

आर्थिक ही नही वरन् सामाजिक जीवन मे भी श्रम-विभाजन प्रत्येक समाज मे पाया जाता है। शिकार करने वाले आदिम समाजो मे यह श्रम-विभाजन स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित होता है। इन समाजो मे स्त्रियाँ तथा बच्चे घर पर ही रहते है। स्त्रियो के दल आस-पास के जंगलो मे फल, मूल, कन्द, शाक-पात, शहद आदि एकत्रित करते हैं। साथ ही, बच्चो का पालन-पोषण या देख-रेख करने का काम भी उन पर ही होता है। इन सब दायित्वो से पूर्णतया विमुक्त पुरुष शिकार करने तथा मछली मारने के लिए दूर जगलों मे चले जाते हैं। एस्कीमो, अण्डमानी तथा अरूण्टा जनजातीय समाजो मे ठीक ऐसा ही होता है। चूँकि शिकार के कार्य मे अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, इस कारण यह काम स्त्रियो को नही दिया जाता। इसीलिए पुरुष बड़े-बडे पशुओ का शिकार करते हैं और स्त्रियाँ घर की रखवाली करने, चमडे से पोशाक बनाने, तथा फल-मूल, शाक-पात आदि को इकट्ठा करने का काम करती हैं। शिकार के लिए आवश्यक फन्दा (trap), जाल आदि को स्त्रियाँ ही बनाती हैं, परन्तु इनको आर्थिक उत्पादन कार्यों मे व्यवहार करने का भार पुरुषो पर ही पडता है। इस साधारण नियम का अपवाद उत्तरी ओजिबवा (Northern Ojibwa) लोगो मे देखने को मिलता है, जहाँ कि पुरुषो की भाँति कुछ स्त्रियाँ भी शिकार करती हैं, यहाँ तक कि पुरुषो के साथ युद्ध मे भी जाती हैं।

पशुपालक तथा कृषि करने वाले आदिम समाजो मे स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर श्रम-विभाजन का कोई सार्वभौम प्रतिमान (universal pattern) देखने को नहीं मिलता। यद्यपि सामान्य रूप से स्त्रियो को वे काम करने नही दिए जाते हैं जिनमे कि अधिक शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, फिर भी इसे एक मात्र नियम मान लेना उचित न होगा। चुकची (Chukchee) जनजाति मे स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा कही अधिक परिश्रम के कार्य करती हैं। पशुपालक टोडा जनजाति मे स्त्रियो को भैंस तथा उनके दूध से सम्बन्धित किसी भी काम से बहुत दूर रखा जाता है क्योंकि इन कार्यों के

लिए स्त्रियों को वे लोग अपवित्र मानते हैं। कृषि करने वाली इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे पुरुष फसल बोने तथा काटने का काम और स्त्रियाँ जोतने तथा उखाड़ने का काम करती हैं। ट्रोब्रियंड (Trobriand) समाज मे सम्पूर्ण कृषि-कार्य के प्रत्येक स्तर पर स्त्री और पुरुष दोनों ही साथ-साथ मिलकर काम करते हैं। कुट्ची इण्डियनों में पत्नी अपने पति के साथ रोज खेत को जाती तो है, पर खेत का सब काम अपने पति पर ही छोड़कर खुद आस-पास की एक झाड़ी मे दिन-भर बैठे-बैठे बुनने का काम करती रहती है। भारतीय जनजातियों में खेत जोतने का काम केवल पुरुष ही करते हैं जबकि स्त्रियाँ फसल बोने तथा काटने के काम मे मदद करती हैं या कहीं-कही स्वयं ही करती हैं।

आदिम समाजो मे श्रम-विभाजन के आधार पर ही स्त्री-पुरुष के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य भी निश्चित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, ज़ुनी (Zuni) जनजाति मे दिन-भर काम करने के बाद जब पति घर को लौटता है तो पत्नी उस समय जो कुछ भी काम करती होगी उसे छोड़कर पति का स्वागत करने दरवाजे तक दौड़ जाती है। जो कुछ भी पति साथ लाता है उसे वह पति के हाथो से लेकर घर के अन्दर ले जाती है। तब वह पति के खाने-पीने की व्यवस्था करती है। घर स्त्री का ही होता है और उसमे वह पति का एक अतिथि के रूप मे स्वागत करती है। इसके बदले मे पति खेत से अनाज आदि साथ लाता है, परन्तु मे चीजें जैसे ही घर की देहरी पार करके घर के अन्दर आ जाती हैं वैसे ही वे स्त्री की सम्पत्ति हो जाती है। ये सभी विवाह से सम्बन्धित आर्थिक कर्त्तव्यो तथा अधिकारो की अभिव्यक्ति (expression) हैं और इसीलिए इनका पालन अनिवार्य है।[1]

जो जनजातियाँ दस्तकारी का काम करती हैं उनमे भी स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर कोई स्पष्ट श्रम-विभाजन नही पाया जाता है। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी टोकरी बनाने, सूत कातने तथा बुनने, रस्सी, चटाई आदि बनाने, बेंत का काम करती हैं परन्तु बढ़ईगीरी अथवा लोहार का काम स्त्रियाँ प्रायः नही करती हैं।

औद्योगीकरण का प्रभाव आदिम समाजो के श्रम-विभाजन पर भी पड़ा है। उदाहरणार्थ, भारत के उन जनजातीय क्षेत्रो मे जहाँ आस-पास उद्योगों का विकास हुआ है, पुरुष लोहे के कारखानो, कोयले की खानो तथा चाय-बगीचो मे काम करते हैं जबकि जनजातीय स्त्रियाँ अभ्रक तथा कोयले की खानो मे और चाय-बगीचों मे काफी संख्या मे काम करती हैं।

उत्पादन
(Production)

आदिम समाजों मे भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन या संकलन शिकार करके, मछली मार के, वन-पर्वत आदि से कन्द, मूल, फल, शाक-पात, मधु आदि

1. Ruth Bunzel, *The Economic Organization of Primitive Peoples*, New York, 1938, p. 370.

एकत्रित करके, पशुपालन करके तथा दस्तकारी का काम करके किया जाता है। वास्तव में अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से शिकार करके, मछली मार के तथा फल-मूल को इकट्ठा करके भोजन आदि को प्राप्त करना सकलन मात्र है, उत्पादन नहीं। उसी प्रकार पशुपालन के द्वारा भोजन आदि प्राप्त करना संकलन और उत्पादन इन दोनों के बीच की अवस्था है। कृषि और शिल्प-उद्योग निश्चित रूप के उत्पादन की श्रेणी में आते हैं। कृषि के द्वारा न केवल प्रत्यक्ष रूप से खाद्यान्न का उत्पादन किया जाता है, बल्कि शिल्प-उद्योग के लिए आवश्यक अनेक कच्चे-मालों का भी उत्पादन होता है। दस्तकारी आदि के द्वारा अन्य आवश्यक आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

प्राय: सभी आदिम समाजों मे उत्पादन कार्य केवल अपने तथा अपने परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के लिए नहीं किया जाता है; प्रत्येक उत्पादन कार्य के पीछे सम्पूर्ण समुदाय के प्रति अपने कुछ अनिवार्य कर्त्तव्यों को निभाने की भावना भी स्पष्ट होती है। हां, इतना अवश्य है कि मुखिया तथा जादूगरों को साधारण जनता से आर्थिक उत्पादन कार्य मे शारीरिक श्रम (manual labour) कम करना पड़ता है, फिर भी इस कर्त्तव्य से वे पूर्णतया छुटकारा किसी भी समाज में नहीं पाते हैं। उन्हें भी उत्पादन कार्य मे सक्रिय भाग लेना या शारीरिक श्रम करना ही पड़ता है। साथ ही आर्थिक उत्पादन कार्यों के साथ विविध प्रकार के जादू-टोनों, धार्मिक कृत्यों, संस्कारों तथा परम्पराओं को जोड़ दिया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इसके बिना उत्पादन कार्यों मे सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

उत्पादन करने वाली या उत्पादन कार्य में भाग लेने वाली इकाइयां व्यक्ति, परिवार तथा समुदाय तीनों ही हैं। उदाहरणार्थ, भारत की कादर, चेंचू खरिया, कोरवा आदि जनजातियो मे परिवार के सब पुरुष-सदस्य एकसाथ मिलकर शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, और सब स्त्री-सदस्य वनों से फल-मूल आदि इकट्ठा करती हैं। इस प्रकार एक कादर या चेंचू या कोरवा परिवार अपने सदस्यों के लिए भोजन की व्यवस्था करता है और साथ ही अपने समाज की भोजन-सकलन अर्थ-व्यवस्था की एक उत्पादक इकाई के रूप मे कार्य करता है। एस्कीमो समाज में भी परिस्थिति बहुत-कुछ ऐसी ही है। वहां प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग शिकार करने या मछली मारने जाना पड़ता है, फिर भी प्रत्येक सदस्य उत्पादन या सकलन के विषय मे एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर निर्भर रहता है। बहुधा दो व्यक्ति एकसाथ मिलकर शिकार करते हैं। केन्द्रीय अफ्रीका की लागो (Lango) जनजाति मे बड़े-बड़े पशुओं का शिकार करने के लिए बहुत-से लोग एकसाथ जाते हैं। कभी-कभी तो पशुओं को घेरने और शिकार करने के लिए पुरुष, स्त्रियां तथा बच्चे सभी सहयोग देते हैं। माओरी (Maori) जनजाति मे सामुदायिक रूप में उत्पादन या सकलन का सबसे उत्तम उदाहरण मिलता है। वहां सब लोग मिलकर भोजन को प्राप्त करते हैं और उसे मुखिया के पास जमा कर देते हैं जो कि उसे प्रत्येक परिवार की आवश्यकतानुसार बांट देता है। जूनी जनजाति मे भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है।

वितरण
(Distribution)

एक अर्थ-व्यवस्था मे वितरण से तात्पय उस प्रतिफल (reward) से है जो कि उत्पादन प्रक्रिया मे योगदान करने वाली या हाथ बँटाने वाली प्रत्येक इकाई को प्राप्त होता है। यह प्रतिफल उत्पादित या सकलित वस्तु या भोजन (जैसे शिकार किया हुआ पशु या मछली या उगाया हुआ अनाज) का एक निश्चित हिस्सा, या सम्पूर्ण वस्तु (जब कि उस वस्तु का टुकडा नही किया जा सकता है। जैसे नाव या शिकार करने का कोई औजार) के रूप मे मिल सकता है। आदिम समाजो मे वितरण के सिद्धान्तों का एक सामाजिक, न कि आर्थिक आधार होता है। इसी कारण प्रतिफल की मात्रा प्रथा और परम्परा के अनुसार *निर्धारित होती है। बहुधा प्रतिफल की यह मात्रा उत्पादन कार्य मे सहयोग करने* तथा कार्य करने वाले की स्थिति के अनुसार, न कि हमारे समाज की भाति एक व्यक्ति ने *कितना काम किया है इसके अनुसार निश्चित होती है।* उदाहरणार्थ, लागो जनजाति (केन्द्रीय अफ्रीका) मे जो भी पशु शिकार किया जाता है उसके कन्धे का हिस्सा शिकार करने वाले समूह के नेता या मुखिया को मिलता है। साथ ही, परम्परागत रूप मे यह भी निश्चित होता है कि उस पशु के शरीर का कौनसा हिस्सा किसे प्राप्त होगा। कुछ जनजातियो मे सामुदायिक खेत (communal field) मे समुदाय के सब सक्षम, जिसमे मुखिया भी शामिल है, काम करते हैं और जो कुछ भी अनाज उत्पन्न होता है उसे मुखिया की देख-रेख मे उसी के पास जमा कर दिया जाता है। फिर यह मुखिया जमा किये हुए अनाज को प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बाँट देता है। इस वितरण मे यह बात बडी नही है कि किस परिवार के कितने सदस्यो ने काम किया है, पर बडी बात यह है कि उस परिवार को कितना अनाज आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक परिवार मे केवल एक व्यक्ति काम करने के योग्य है, परन्तु उस परिवार मे खाने वाले (बूढे, बच्चे आदि जो खेत मे काम नही कर सकते) पाँच व्यक्ति हैं, तो उस परिवार को इतना अनाज ही मिलेगा कि उन पाँचो व्यक्तियो का पेट भर सके। एक दूसरा परिवार चार व्यक्तियो का है जिसमे कि चारो लोग काम करने के योग्य हैं, तो उस परिवार को चार व्यक्तियो के खाने के लिए पर्याप्त अनाज ही प्राप्त होगा। यह परिवार यह नही कहेगा कि प्रथम परिवार को भी एक आदमी के काम करने पर पाँच व्यक्तियों का अनाज मिला तो दूसरे परिवार को भी चार व्यक्तियो के काम करने पर उसी अनुपात से बीस व्यक्तियो के खाने के लिए पर्याप्त अनाज मिलना चाहिए।

परन्तु सभी समाजो में वितरण का तरीका इतना सरल नही है। उदाहरणार्थ, फिलीपाइन्स की इफूगाओ (*Ifugao*) *जनजाति मे खेती सामूहिक आधार पर नहीं* बल्कि पारिवारिक आधार पर होती है। परन्तु जो फसल उत्पन्न होती है वह अधिकतर *परिवार के लिए अपर्याप्त होती है ऐसी स्थिति मे साल के किसी भाग मे जब एक परि*वार के पास कुछ भी अनाज खाने को नही रह जाता है तो वह पड़ोस के किसी दूसरे *अधिक समृद्ध परिवार से अनाज उधार ले लेता है* जो कि मय सूद के अगली फसल

मे लौटा देना होता है। इस सूद की दर (जो कि अनाज के रूप मे ही चुकानी पड़ती है) बहुत ज्यादा होगी है। इस प्रकार इस समाज मे वितरण असमान होने के कारण वर्ग-शोषण (class exploitation) का रास्ता खुल जाता है। परन्तु होपी (Hopi) जनजाति मे ऐसा नही होता है। वहाँ जब एक परिवार के पास भोजन नही रह जाता है तो उसे उसका सम्बन्धी परिवार उपहार (gift) के रूप में खाने की चीजें दे देता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह भी आवश्यकता पड़ने पर दूसरो को खाद्य सामग्री का उपहार देगा। जूनी (Zuni) समाज मे फसल के मौसम मे खाद्य सामग्री खुले हाथों उदारतापूर्वक वितरित की जाती है, खूब भोज दिया जाता है तथा अतिथि-सत्कार की धूम पड जाती है। प्रत्येक परिवार का प्रत्येक दूसरे परिवार के प्रति एक आर्थिक कर्त्तव्य-बोध होता है जिसके कारण किसी भी परिवार को भूखों मरने नहीं दिया जाता है।

उपभोग
(Consumption)

उपभोग का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पादन तथा वितरण के साथ है। जिस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होगा और जिस मात्रा में उन चीजो का समुदाय के सदस्यों मे वितरण होगा; उसी के अनुरूप वे सदस्य उन वस्तुओं का उपभोग भी करेंगे। आदिम समाजो के अध्ययन से पता चलता है कि आर्थिक स्थिति के अनुसार उतना नही जितना कि सामाजिक स्थिति के अनुसार एक व्यक्ति को अधिक उपभोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार इन समाजो मे उपभोग के आधार पर आर्थिक विभेद या विशिष्टता को सामाजिक विभेद या विशिष्टता से सम्बन्धित किया जा सकता है। चूँकि एक मुखिया (chief) की सामाजिक स्थिति ऊँची है इस कारण कुछ विषयो मे उसे अधिक उपभोग करने का अधिकार है। वह साधारण लोगों से भिन्न तथा उत्तम पोशाको को पहनता है, अच्छे मकान मे रहता है तथा शिकार के एक विशिष्ट भाग को प्राप्त करता है। उसे भेंट या नजराने के तौर पर भी अनेक चीजें मिल जाती हैं। उसी प्रकार प्राय. सभी आदिम समाजों मे कोई-न-कोई समूह, वर्ग या व्यक्ति किसी-न-किसी रूप मे कुछ-न-कुछ 'दृष्टि आकर्षक उपभोग' (conspicuous consumption) करता ही है, जिसके आधार पर उस व्यक्ति या वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित होती है। सामूहिक भोग (communal feast) के अवसर पर भी चीजो की बर्बादी तथा उपभोग दोनों ही अत्यधिक बढ़ जाते हैं। कुछ भी हो, आधुनिक समाजो की भाँति आदिम समाजो मे विभिन्न वर्गों या व्यक्तियो के बीच उपभोग-प्रतिमान (consumption pattern) मे उतना अधिक अन्तर या विभेद नहीं होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजो मे उत्पादन की मात्रा भी अत्यधिक सीमित होती है। जिन समाजो मे जीवित रहना ही एक समस्या है, वहाँ उपभोग की मात्रा मे अधिक अन्तर हो भी कैसे सकता है? प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा कम होने के कारण आदिम समाजें मे लोगो का जीवन-निर्वाह का स्तर (standard of living) भी बहुत नीचा होता है।

उपहार और अतिथि-सत्कार
(Gifts and Hospitality)

आदिम समाजो की अर्थ-व्यवस्था मे वस्तुओ का आदान-प्रदान करने के तीन प्रमुख साधन उपहार, व्यापार और विनिमय हैं। इन समाजो मे उपहार का उद्देश्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक सम्बन्धो को अधिक मित्रतापूर्ण तथा आन्तरिक बनाने के अतिरिक्त अन्य परिवारो या समुदाय के प्रति अपने आर्थिक कर्त्तव्यो को निभाना भी होता है। आवश्यकता पडने पर एक होपी (Hopi) परिवार दूसरे परिवार को उपहार के रूप मे जो खाद्य सामग्री देता है, वह मूल रूप से इन परिवारों के बीच पारस्परिक आर्थिक कर्त्तव्य-बोध के द्वारा ही प्रेरित होता है। वैसे उपहार देने की प्रथा सार्वभौम है और इसका आधार सामाजिक ही अधिक है। इसीलिए आदिम और आधुनिक दोनो ही प्रकार के समाजों मे जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के अवसरों पर उपहार देने का प्रचलन पाया जाता है। उपहार इसे देने और लेने वाले व्यक्तियो के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है और उनमे एक प्रकार का कर्त्तव्य-बोध जागृत करता है। आदिम समाजों मे विवाह के अवसर पर जो उपहार या वधू-मूल्य दिया जाता है उसके फलस्वरूप दोनो परिवारो के बीच कितने प्रकार के अधिकार तथा कर्त्तव्य पनपते हैं—इसका वर्णन हम पिछले एक अध्याय मे कर चुके हैं। उपहार देकर शादी की बात पक्की करने की प्रथा भी अनेक जनजातीय समाजो मे पाई जाती है। इसीलिए पश्चिमी अफ्रीका की इबो (Ibo) जनजाति मे लड़कियों को यह मना कर दिया जाता है कि वे पुरुषों से किसी भी प्रकार का उपहार या भेंट स्वीकार न करें क्योकि गवाहों के सामने इस प्रकार की भेंट को स्वीकार करना इस बात का द्योतक है कि उस पुरुष के साथ उस लड़की के विवाह के सम्बन्ध मे किसी भी पक्ष को कोई आपत्ति नही है।

मूलत. सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित उपहार देने की प्रथा का आर्थिक पक्ष भी आदिम समाजो मे कम महत्त्वपूर्ण नही है। साथ ही, आदिम समाजो मे, आधुनिक समाजो की भाँति, यह नियम भी सार्वभौम नही है कि उपहार मे कुछ लेने से समान अवसर पर उपहार देने वाले को बदले मे उपहार देना ही होगा। उदाहरणार्थ, जूनी (Zuni) जनजाति मे उपहार देना सदैव एक-तरफा होता है जिसे कि धन के पुनर्वितरण (redistribution) के एक निश्चित साधन के रूप मे स्वीकार किया जाता है और वह इस अर्थ मे कि जिसके पास धन (जिसमे खाद्य सामग्री, औजार, उपकरण आदि सब कुछ सम्मिलित हैं) नही है उसे यह निश्चित सामाजिक अधिकार है कि वह उस धन को उनसे प्राप्त करे जिनके पास वह अधिक मात्रा मे है। इस प्रकार जूनी जनजाति के लोग उपहार देने की प्रथा के माध्यम से असमान आर्थिक वितरण को अर्थात् समुदाय मे पाई जाने वाली आर्थिक असमानताओ को बहुत-कुछ सन्तुलित करने मे सफल होते हैं।

माओरी (Maori) जनजाति की तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उपहार देने की प्रथा पर ही आधारित है। यह जनजाति शिकार करके, मछली पकड़ के तथा फल-मूल इकट्ठा करके जीवन निर्वाह करती है। यह सभी काम सामूहिक आधार पर होता है।

जो फल सबसे पहले मिलता है उसे मुखिया को उपहार देने के लिए अलग रख दिया जाता है। केवल इतना ही नहीं, जितनी भी मछलियाँ मारी जाती हैं और पक्षियों का शिकार किया जाता है, वह सब-कुछ मुखिया को 'भेंट' कर दिया जाता है। उनमें से मुखिया प्रत्येक को उसकी आवश्यकता, पद तथा अधिकार के अनुसार बाँट देता है; पर इससे भी पहले अपने उपभोग के लिए, सामूहिक कार्यों के लिए तथा अन्य समूहों के मुखियाओं को उपहार देने के लिए एकत्रित सामग्री का अधिकतर भाग मुखिया अपने ही पास रख लेता है। साथ ही, एक मुखिया उपहार के रूप में दूसरों से कुछ भी माँग सकता है और लोगों को वह माँग पूरी करनी होती है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि मुखिया कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होता है और उसे उसका मुँह-माँगा उपहार न देने पर वह नाराज़ हो जायगा जिसका कि परिणाम बुरा ही होगा।

'पॉटलैच' (*Potlatch*)—उपहार देने का एक अनोखा तरीका अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की जनजातियों में देखने को मिलता है जिसे कि 'पॉटलैच' (*potlatch*) कहते हैं। पॉटलैच एक बहुत ही व्यय-साध्य (expensive) भोज का नाम है जिसका कि प्रमुख उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना है। इस भोज में दूसरों को आमन्त्रित किया, खिलाया-पिलाया और उपहार इसलिए दिया जाता है कि दूसरे भी देख लें कि भोज देने वाले के पास कितना धन इकट्ठा हो गया है और उस धन को वह किस हद तक खर्च कर सकता है। एक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति को बहुत ऊँचा मानता है, परन्तु उसके मानने मात्र से ही उसकी स्थिति (status) ऊँची नहीं हो जायगी जब तक वह पॉटलैच नामक एक विराट् भोज का आयोजन न करे और अन्य समूह के लोगों को उस भोज में आमन्त्रित करके खिला-पिलाकर और उपहार देकर यह प्रमाणित न करे कि वास्तव में ही वह उस स्थिति के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पॉटलैच के लिए धन को एकत्रित करना आवश्यक होता है, परन्तु इस एकत्रित धन का कोई भी महत्त्व जीवन-स्तर को उन्नत करने में या विनिमय कार्य में या दूसरे मनुष्य पर शासन करने में नहीं है। इस धन का औपचारिक या सांस्कारिक (ceremonial) पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है और इस सांस्कारिक पक्ष की अभिव्यक्ति (expression) ही पॉटलैच नामक संस्था है। दूसरे शब्दों में, पॉटलैच वह सामाजिक व विधिवत् तरीका है जिससे एक व्यक्ति सार्वजनिक रूप में या, जैसा कि लोग कहते हैं, डंके की चोट पर एक सम्मानजनक पद या स्थिति को प्राप्त करता है। जिन लोगों में यह संस्था पाई जाती है वे यह विश्वास करते हैं कि चुपके से किसी स्थिति को प्राप्त कर लेना अपमानजनक है।

सिमशियन जनजाति में पॉटलैच को बहुत ही औपचारिक ढंग से आयोजित किया जाता है। एक उदाहरण द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति 'अ' एक गोत्र-समूह का मुखिया है और उस रूप में उसे एक विशेष नाम से सब लोग पुकारते हैं। इस 'अ' व्यक्ति की मृत्यु के बाद इसका लड़का या भतीजा 'ब' उस मुखिया-पद तथा उससे सम्बन्धित नाम को ग्रहण करना चाहता है। 'ब' उस पद और नाम को तब तक ग्रहण नहीं करेगा जब तक वह अपने पास इतना धन इकट्ठा न कर लेगा जिससे वह एक विराट् भोज (पॉटलैच) का आयोजन कर सके। उस धन को

एकत्र कर लेने मात्र से ही उसे वह पद और नाम नहीं मिल जायगा जब तक वह उस भोज मे दूसरे लोगों को या दूसरे गोत्रों के मुखियाओं आदि को आमंत्रित करके बुला नहीं लायेगा और उस अवसर पर उस एकत्रित किए हुए धन को मुक्त हस्त से खर्च या बर्बाद नहीं करेगा जिससे कि दूसरों के ऊपर उसका रौब जम जाय और लोग उसे पद व नाम का अधिकारी मान लें। इसीलिए 'ब' एक विराट् भोज की व्यवस्था करेगा और आस-पास के गोत्र-समूहो के मुखियाओ और उनके साथियो को निमन्त्रण देकर बुलायेगा। उनके आने पर उनका शानदार स्वागत किया जायगा और फिर उन्हे अच्छा-से-अच्छा भोजन खिलाया जायगा तथा कुछ चीजें उनमे से प्रत्येक अतिथि को उपहार के रूप मे दी जायेंगी। तब 'ब' अतिथियों को धन्यवाद देते हुए यह घोषणा करेगा कि वह अपने पिता या चाचा के पद और नाम को ग्रहण कर रहा है। इस घोषणा को उस भोज मे उपस्थित मुख्य अतिथि स्वीकार कर लेते हैं और फिर बारी-बारी से अन्य सब मुखिया लोग भी 'ब' को उस पद और नाम के अधिकारी के रूप मे मान लेते हैं। फिर नाच-गाने के साथ उस भोज का अन्त होता है।[1]

अत: स्पष्ट है कि अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की सिमशियन जनजातियों में उपरोक्त पॉटलैच प्रथा मे सम्पूर्ण वातावरण औपचारिक, सास्कारिक और आनन्ददायक या आमोद-प्रमोदमय होता है। परन्तु यह बात क्वाकिउल इण्डियनो (Kwakiutl Indians) के पॉटलैच के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती है क्योकि उनमे यह सस्था घोर प्रतिद्वन्द्वता तथा तनाव की भावना से भरपूर होती है। वास्तव मे इस जनजाति के लिए पॉटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लडने' की एक विधि मात्र है जिसके कारण यह सस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की सघर्षपूर्ण मनोवृत्ति से भरपूर रहती है।[2] इस जनजाति मे यह भावना प्रबल है कि सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान अपने पास धन को इकट्ठा करके रखने से नहीं, बल्कि उसे दूसरो को दिखाकर, बर्बाद कर देने से प्राप्त होती है। इसीलिए अगर किसी को सामाजिक ढंग मे नीचा दिखाना है तो उसका सबसे सरल उपाय यही पॉटलैच है। 'अ' महाशय वर्तमान में अपने समाज में सबसे ऊँची स्थिति पर हैं; अगर 'ब' महाशय उन्हे नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे एक विराट् भोज का आयोजन करके 'अ' को उनके साथियो के साथ निमन्त्रण देकर बुलायेंगे और उस अवसर पर अतिथियो मे से प्रत्येक को खूब खिलायेंगे-पिलायेंगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बर्बादी। उदाहरण के लिए इस अवसर पर अतिथियों के सम्मान मे अत्यधिक मूल्यवान सील तेल (seal oil) प्रचुर मात्रा मे जला दिया जाता है; अनेक पशुओं को काटकर फेंक दिया जाता है। परन्तु मामला यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है। दिखावा, व्यय और बर्बादी का कटु चक्र इस प्रथम भोज के बाद भी

1 See Y. E. Garfield, 'Tsimshian Clan and Society', *University of Washington Publications in Anthropology*, Vol 7, No 3, 1939. And also P. Drucker, 'Rank, Wealth and Kinship in Northwest Coast Society', *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1960.

2. R F. Benedict, *Patterns of Culture*, New York, 1937 pp. 173-222.

चलता रहता है क्योंकि भोज मे सम्मिलित होने और उपहार स्वीकार करने के पश्चात 'अ' महाशय के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह इसके बदले मे या प्रतिउत्तर मे 'ब' महाशय से भी बढ-चढकर एक दूसरे भोज का आयोजन करें और 'ब' महाशय ने जितना खर्च किया है उपहार दिया है, और चीजो को बर्बाद किया है उससे दुगुना खर्च करें, उपहार दें और बर्बाद करें। अगर 'अ' महाशय एक निश्चित समय के अन्दर ऐसा करने मे असमर्थ होने हैं तो उनकी सामाजिक स्थिति या प्रतिष्ठा घटती चली जाती है और 'ब' महाशय की स्थिति या प्रतिष्ठा उसी अनुपात मे बढती चली जाती है। परन्तु अगर 'अ' महाशय धन को खर्च करने और बर्बाद करने के मामले मे 'ब' महाशय को मुह-तोड जवाब देते हैं तो 'अ' की सामाजिक प्रतिष्ठा और बढ जाती है और 'ब' की उसी अनुपात से घट जाती है। परन्तु 'अ' या 'ब' महाशय एक बार पराजित होकर चुप नही हो जाते है बल्कि अपने विपक्षी दल को मुँह-तोड जवाब देने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील बने रहते हैं और इस उद्देश्य से धन को अधिकाधिक एकत्रित करने की फिराक मे रहते हैं और सक्षम होते ही भोज का आयोजन करके विपक्षी को नीचा दिखाते हैं। दूसरा पक्ष हारकर पुन प्रथम पक्ष को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। हर बार व्यय और बर्बादी की मात्रा बढती ही चली जाती है। इसी प्रकार पॉटलैच का कुचक्र चलता ही रहता है।

इस प्रथा का विस्तार विवाह-सस्था तक हो गया है। कुछ ऐसे सम्मानसूचक नाम हैं जो कि स्त्री-वशजो को प्राप्त होते हैं। अगर कोई पुरुष इसे अपने लिए ग्रहण करना चाहे तो इसका सरल उपाय उस स्त्री से विवाह कर लेना है जो कि उस सम्मानसूचक नाम की अधिकारिणी है। इसलिए एक पुरुष अपने विवाह मे भावी ससुर को कम्बलो का जो उपहार देते हैं वह वधू-मूल्य नही बल्कि उस सम्मानित पद और नाम का मूल्य है जिसकी कि उसकी पत्नी अधिकारिणी है। ससुर द्वारा उस उपहार को ग्रहण कर लेने पर विवाह हो जाता है और उस व्यक्ति का अधिकार उस स्त्री पर तथा उसके नाम पर हो जाता है। परन्तु जैसे ही उस नव-दम्पति के बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही ससुर जल्द से जल्द अपने दामाद को जितना उपहार उसे अपने दामाद से मिला था उससे कहीं अधिक उपहार भेंट करता है। विवाह का यह ऋण चुका देने ही विवाह-बन्धन भी टूट जाता है और स्त्री को यह पूर्ण अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है कि वह अपने पिता के घर लौट जाय, यदि इसी बीच उसका पति अपने ससुर को एक बार फिर उपहार न भेज दे। प्राय पति अपने ससुर को शीघ्रता से एक दूसरा उपहार भेजकर पत्नी और उसके पद और नाम पर अधिकार बनाये रखता है, और ससुर भी जल्द से जल्द उस उपहार का बदला चुकाकर अपनी लड़की को वैवाहिक ऋण से विमुक्त करने का प्रयत्न करता है। और इसी प्रकार यह चक्र चलता रहता है। यह माना जाता है कि उस व्यक्ति ने अपने ससुर को जितनी बार उपहार दिया है उतनी बार उस व्यक्ति का विवाह उस स्त्री से हुआ है और प्रत्येक विवाह के पश्चात् उस स्त्री की सामाजिक स्थिति व प्रतिष्ठा बढ जाती है।

मेलानेशिया के कुछ भागो मे भी पॉटलैच-प्रथा पाई जाती है परन्तु उसका रूप उतना कटु नही है जितना कि क्वाकिउल लोगो मे।

व्यापार और विनिमय
(Trade and Exchange)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आदिम समाजों की अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं के आदान-प्रदान करने के तीन प्रमुख तरीके उपहार, व्यापार और विनिमय हैं। उपहार के विषय में हम ऊपर विवेचना कर चुके हैं। अब हम अन्य दो साधनों, व्यापार और विनिमय के विषय मे विवेचना करेंगे।

उपहार और व्यापार दोनों ही विनिमय के दो महत्त्वपूर्ण साधन या तरीके हैं। परन्तु इन दो तरीकों मे, जैसा कि हॉबल (Hoebel) ने लिखा है, महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि उपहार के माध्यम से विनिमय सामाजिक सम्बन्धों पर अधिक बल देता है जबकि व्यापार के द्वारा विनिमय का प्रमुख उद्देश्य वस्तुओं का वितरण है; यद्यपि व्यापार के माध्यम से भी सामाजिक सम्बन्ध पनपता है क्योंकि व्यापार सामाजिक अन्तःक्रिया पर ही आधारित होता है। उपहार के माध्यम से विनिमय भी वस्तुओं को वितरित करता है परन्तु इसका प्रमुख सम्बन्ध व्यक्तिगत सम्बन्ध से होता है।[1]

आदिम समाज आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक अविकसित या पिछड़ा हुआ होता है। इन समाजों में उत्पादन की मात्रा भी प्रायः इतनी ही होती है कि समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने के पश्चात् विनिमय या व्यापार के लिए प्रायः कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। साथ ही आदिम लोगों की आर्थिक आवश्यकताएँ भी कुछ ही चीजों तक सीमित रहती हैं जिनमे से प्रायः सभी चीजों को वे स्वयं ही उत्पन्न कर लेते हैं। इसलिए भी व्यापार के माध्यम से विविध वस्तुओं को प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता आदिम लोग अनुभव नही करते हैं। इसके अतिरिक्त यातायात (transport) के साधनों की अत्यधिक कमी, घने जंगल, दुर्गम पहाडी और रेगिस्तानी प्रदेश, जहाँ कि आदिम समाज बसे होते हैं, अन्तर्जनजातीय व्यापार (intertribal trade) के विकास के पथ पर भारी रुकावटें हैं। इसीलिए आदिम समाजों मे अधिकतर विनिमय आपसी अदला-बदली (barter) के द्वारा ही कर लिया जाता है। यह बहुत ही सरल व्यवस्था है और अपनी एक चीज दूसरे को देकर उससे उसकी एक चीज ले लेना ही इस विनिमय-व्यवस्था (exchange system) का आदि और अन्त है। चूँकि इस प्रकार से अदला-बदली द्वारा विनिमय होने वाली वस्तुओं की संख्या व मात्रा दोनो ही बहुत कम होती हैं, इस कारण न तो नियमित बाजारों की और न ही विस्तृत व्यापार-प्रणालियों (trading procedures) की आवश्यकता होती है। बहुधा व्यापार-सम्बन्धी सम्पर्क दो व्यक्तियो के बीच होता है जो कि कभी-कभी अनियमित रूप से अपनी-अपनी वस्तुओं की अदला-बदली करने के उद्देश्य से मिलते रहते हैं। किन्हीं-किन्हीं जनजातियों मे खुले बाजार (open market) मे वस्तुओं का विनिमय अदला-बदली या अन्य उपाय से होता है।

---

1. E A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958, p 452.

इन बाजारो मे जनजाति के लोग अपना-अपना सामान लेकर पहुँच जाते हैं और फिर चीजों का आदान-प्रदान कर लेते हैं।

मूक अदला-बदली (Dumb barter)—विनिमय के अनेक रोचक रूप हमे आदिम समाजो मे देखने को मिलते हैं। इनमे से एक रूप 'मूक अदला-बदली प्रथा' (dumb barter system) है।[1] सभ्य समाज के हम सब लोगो को यह जानकर अचम्भा हो सकता है कि आदि मानव अपने शत्रु-समूहो (enemy groups) से भी व्यापार या विनिमय करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाज के लोग यह अनुभव करते हैं कि दुश्मनी को आर्थिक मामलो से दूर रखना ही अधिक लाभप्रद है। मूक अदला-बदली प्रथा का यही आधार है। मलाया की पिग्मी सेमग (The Pygmy Semang) जनजाति जगलो से प्राप्त होने वाली अनेक वस्तुओ को अपने शत्रु सकाई (Sakai) जनजाति को देकर उसके बदले मे अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करती है। इस विनिमय-व्यवस्था को 'मूक अदला-बदली प्रथा' इसलिए कहते हैं कि इस प्रथा के अन्तर्गत न तो वस्तुओं का मोल-भाव किया जाता है और न ही अदला-बदली करते समय कोई पक्ष (party) एक-दूसरे को देखता है। सेमग लोग अपनी वस्तुओ को एक निर्धारित स्थान पर अपनी आवश्यकताओ के सकेत के साथ छोडकर या रखकर चले जाते हैं, जब सकाई लोग उन चीजो को वहाँ देखते हैं तो वे उनमे से उन चीजो को ले लेते हैं जिनकी कि उन्हे आवश्यकता है और उसके बदले उन चीजो को रख देते हैं जिनकी कि आवश्यकता सेमंग लोगो को है। कुछ समय के बाद सेमग लोग वहां फिर आते हैं और उन चीजो को अपने साथ ले जाते हैं।

कार्थागिनीय (Carthaginian) सौदागर लोग भी अफ्रीका के उत्तर-पश्चिम तट के आदिवासियों के साथ मूक अदला-बदली प्रथा के द्वारा ही व्यापार करते हैं। ये सौदागर अपनी वस्तुओं को समुद्र के किनारे रखकर अपने जहाजों मे लौट जाते हैं। पर जाने से पहले वहाँ आग जलाकर धुआँ उड़ा देते हैं ताकि वहाँ के आदिवासी लोग यह जान जाएँ कि समुद्र के किनारे सामान रक्खा हुआ है। उस धुँए को देखकर वहाँ के निवासी वहाँ आते हैं और उन चीजो को उठाकर ले जाते हैं और उसके बदले मे सोना (gold) रख देते हैं। उनके चले जाने पर सौदागर लोग फिर उस स्थान पर आते हैं और अगर सोने की उस मात्रा से जो कि आदिवासी लोग छोड़ गये है वे सन्तुष्ट हैं तो उसे लेकर वे लौट जाते हैं। परन्तु यदि सोने की मात्रा कम है तो वे अपने जहाज मे लौटकर और सोना पाने के लिए इन्तजार करते हैं। कुछ देर बाद आदिवासी लोग फिर आकर कुछ और सोना रखकर चले जाते हैं क्योकि वे जानते है कि जब तक सौदागरो को उचित मात्रा मे सोना नही मिल जायगा तब तक वे वहाँ से जायेंगे नही।[2] मूक अदला-बदली की प्रथा आज भी अफ्रीका के कुछ भागों मे पाई जाती है। इसका प्रचलन लका की वेड्डा (Vedda) जनजाति मे भी है। ये लोग तो रात्रि के अन्धकार मे अपनी चीजो को एक स्थान पर रखकर

1. *Ibid*, p 453-454
2. W D Hambly, 'Source Book for African Anthropology', *Field Museum of Natural History*, Anthropological Series. Vol 26, Part 2, p. 650.

चले जाते हैं और फिर दूसरी रात को आकर उसी स्थान से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ले जाते हैं। इन सबको 'नीरव व्यापार' (silent trade) भी कहते हैं।

परन्तु ऐसे भी अनेक आदिम समाज हैं जहाँ कि नियमित रूप से विनिमय तथा व्यापार होता। उदाहरणार्थ, होपी जनजाति खेती के सामान्य तथा सूती कपड़ा आदि का थोड़ा-बहुत व्यापार अपने पास-पड़ोस की जनजातियों के साथ करती है। उसी प्रकार आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति के लोग अपने से प्रायः दो सौ मील दूर कुइन्सलैण्ड (Queensland) में निवास करने वाली जनजातियों के साथ व्यापार करते हैं।[1]

कुछ आदिम समाजो मे ऐसा भी देखा जाता है कि वहाँ वस्तुओं के उत्पादन के विषय मे विशेषीकरण (specialization) है। एक जनजाति एक विशिष्ट चीज का उत्पादन विशेष रूप से करती है और इस प्रकार उस वस्तु का इतनी मात्रा मे उत्पादन कर लेती है कि सामुदायिक आवश्यकता की पूर्ति के बाद भी कुछ भाग विनिमय के लिए शेष रह जाता है। उत्तर-पश्चिम कैलिफोर्निया की तटीय इण्डियन जनजातियों से अलास्का तक की कतिपय जनजातियों मे इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मिलती है। न्यू मैक्सिको की सिया इण्डियन स्त्रियाँ बहुत सुन्दर मिट्टी के बर्तन बनाती हैं परन्तु इनसे दस मील दूर पर रहने वाली प्युब्लो (Pueblo) जनजाति यह काम बिल्कुल नही करती है। उसी प्रकार कुछ और इण्डियन जनजातियाँ पशुओं की खाल और मांस का व्यापार अपने पड़ौस की जनजातियों के साथ करती हैं।

जिन आदिम समाजो मे अदला-बदली की प्रथा प्रचलित नही है, वहाँ व्यापार क्रय-विक्रय के द्वारा भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, नाइजेरिया (Nigeria) मे जनजातीय समाजों मे क्रय-विक्रय के लिए नियमित बाजार लगता है जहाँ कि लोग अनेक प्रकार की चीजों को बेचने और खरीदने के लिए आते हैं। अफ्रीका की कुछ जनजातियों मे भी क्रय-विक्रय के द्वारा वस्तुओं का विनिमय या व्यापार होता है। विनिमय के माध्यम के रूप मे मुद्राओं का कम प्रचलन जनजातीय समाजो मे है। कुछ आदिम समाजो मे पशु, तो कुछ मे शख एवं कौड़ियाँ और कुछ मे चटाइयाँ आदि विनिमय के माध्यम के रूप में काम मे लाये जाते हैं। भारत मे उत्तरी-पूर्वी सीमान्त प्रदेश मे तिब्बती घण्टियों के माध्यम से व्यापार होता है। जो आदिम समाज सभ्य समाजों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये हैं, उनमे मुद्राओं का प्रचार और विनिमय के रूप मे उनका प्रचलन दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

'कूला' (Kula)—आदिम समाजों मे व्यापार करने के जितने भी तरीके प्रचलित हैं उनमे सबसे विस्तृत, जटिल तथा औपचारिक प्रथा या तरीका उत्तर-पश्चिमी मेलानेशिया का 'कूला' व्यापार प्रथा है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने मेलानेशिया की ट्रोब्रियंड द्वीपों मे निवास करने वाली जनजातियों मे प्रचलित इस कूला-प्रथा का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह आज भी अपूर्व माना जाता है।[2] आपके अनुसार कूला

1. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 424.
2. See B. Malinowski, *Argonauts of the Western Pacific*, London, 1922

को केवल एक व्यापार-प्रथा या आर्थिक क्रिया मान लेना उचित न होगा क्योंकि इस प्रथा के प्रत्येक पग पर प्रत्येक क्रिया परम्परागत नियमों तथा संस्कारों द्वारा नियन्त्रित होती है और इसके साथ अनेक प्रकार के जादू-टोने व धार्मिक कृत्य और सार्वजनिक उत्सव जुड़े हुए होते हैं। इसलिए कूला को व्यापार-क्रिया, जादू-टोना, धार्मिक व सास्कारिक आदान-प्रदान, यात्रा और मनोरंजन का एक संकुल (complex) मानना ही अधिक उचित होगा।

कूला व्यापार-प्रथा का आधार म्वाली (*mwali*) नामक सफेद सीप के कंगन (arm bands) और सौलवा (*soulava*) नामक लाल सीप का बना हार (necklace) होता है। ये दोनो चीजें एक जनजातीय समूह से दूसरे को एक विशेष दिशा-क्रम से हस्तान्तरित होती रहती हैं। सौलवा सदैव घड़ी का कांटा जिस दिशा-क्रम से घूमता है उसी दिशा-क्रम (clockwise direction) से एक जनजातीय समूह से दूसरे को हस्तान्तरित होता है, जबकि म्वाली का दिशा-क्रम ठीक इसका उल्टा (counter clockwise) होता है। उदाहरणार्थ, अगर सौलवा 'अ' से 'ब', 'ब' से 'स', 'स' से 'द', और 'द' से फिर 'अ' जनजातीय समूह में हस्तान्तरित होता रहेगा, तो म्वाली का हस्तान्तरित होने का दिशा-क्रम ठीक इसका उल्टा होगा अर्थात् 'अ' से 'द', 'द' से 'स' से 'ब' और 'ब' से फिर 'अ' जनजातीय समूह में हस्तान्तरित होगा। जिन जनजातीय समूहों मे ये दोनों चीजें चक्कर काटती रहती हैं उनमे 'कूला' सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहों में ही व्यापार होता है। 'अ' से 'द' समूह को जैसे ही म्वाली (कंगन) प्राप्त होता है, तो 'द' समूह जल्द-से-जल्द उसके बदले मे 'अ' समूह को सौलवा (हार) देता है और इसी क्रम से परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। कोई भी व्यक्ति या समूह उसे अधिक समय तक अपने पास रोककर नहीं रखता, बल्कि जल्द-से-जल्द उसे दूसरे को हस्तान्तरित कर देता है ताकि व्यापार-सम्बन्ध की निरन्तरता बनी रहे। यह सम्बन्ध केवल एक बार के लेन-देन से ही समाप्त नही हो जाता है क्योंकि नियम यह है कि जिसके साथ एक बार कूला-सम्बन्ध स्थापित हुआ है उसके साथ वह सम्बन्ध सदैव के लिए बना रहेगा (once in the Kula, always in the Kula)। इसलिए कूला का व्यापार-सम्बन्ध एक स्थायी और सारे जीवन-भर के लिए होता है।

इस कूला व्यापार-प्रथा के अन्तर्गत एकाधिक जनजातीय समूहों मे हार और कंगन का लेन-देन ही सास्कारिक (ceremonial) दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण तथा आधारभूत है, परन्तु व्यावहारिक रूप में इन दोनो चीजों के साथ-साथ जनजातीय लोग अन्य अनेक आवश्यक वस्तुओं का व्यापार आपस मे करते रहते हैं। परन्तु यह व्यापार केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहों मे ही होता है और कोई भी पक्ष कूला के सास्कारिक और सामाजिक पक्ष को और उससे सम्बन्धित नियमों को कभी भी भूल नहीं जाता है।

कूला व्यापार-चक्र मे हस्तान्तरित होने वाले हार और कंगन का अपना एक महत्व और इतिहास होता है। ये चीजें न तो उपयोगी होती हैं और न ही कोई आभूषण। इनका कोई मूल्य नहीं होता है जिससे कि दूसरी चीजों का मूल्य आंका जाता हो और न ही इन चीजों को कभी भी किसी भी मूल्य पर बेचा जाता या उसके बदले मे कोई आव-

श्यक चीज को लिया जाता है। वे तो केवल व्यापार-सम्बन्ध के प्रतीक हैं और इसीलिए सम्मान के द्योतक हैं। एक गाव या समुदाय में इस हार या कंगन के होने से उस गाँव या समुदाय का महत्त्व और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है। इसलिए इसे प्राप्त करना गौरव की बात है। इसके साथ आर्थिक उपयोगिता या मुनाफाखोरी के विचार को जोड़ना भी अन्याय समझा जाता है।

कूला का उद्देश्य ऐसा एक सास्कारिक गोष्ठी का निर्माण करना है जिससे सदस्य-समूह में परस्पर आर्थिक आदान-प्रदान या व्यापार एक परम्परागत रीति से तथा शान्तिपूर्ण व सुव्यवस्थित ढग से चलता रहे। इससे लड़ाकू जनजातियो के बीच आर्थिक लेन-देन के मामले मे सघर्ष होने की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने लिखा है कि कूला एक ऐसी प्रथा है जो कि आदिवासियों के दृष्टिकोण से उन्हे गौरव तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है और इसीलिए इसके प्रति उनका मनोभाव सम्मानसूचक ही होता है। हार या कगन के लेन-देन के समय आदिवासियों के व्यवहार से यह स्पष्टत· पता चलता है कि उनके लिए यह न केवल अमूल्य है वरन् सांस्कारिक या धार्मिक महत्त्व का भी है; इस कारण इसके साथ अनेक प्रकार की उद्वेगात्मक प्रतिक्रियाएँ (emotional reactions) जुड़ी होती हैं।[1]

अत. स्पष्ट है कि एक वस्तु के रूप मे कूला व्यापार-चक्र मे हस्तान्तरित होने वाले हार और कगन का कोई भी महत्त्व नहीं है; इसका तो महत्त्व केवल इसलिए है कि इसके साथ एक इतिहास, व्यापार, प्रतिष्ठा, धर्म तथा जादू के तत्त्व जुड़े रहते हैं। इसी कारण इन दो चीजो के सम्बन्ध मे सबसे अनोखी बात यह है कि अपने समूह मे एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा या सम्मान इस बात पर निर्भर नहीं है कि यह हार या कंगन उसके पास है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि ये चीजें कभी उसके पास थीं। इसलिए कोई भी व्यक्ति इन चीजो को अधिक दिन तक अपने पास नहीं रखता है। किसी व्यक्ति के द्वारा इन चीजो को निश्चित समय से अधिक अपने पास रोक रखने पर लोगों को पहले आश्चर्य होता है और वे उस व्यक्ति की समालोचना करते हैं। इसपर भी कोई फल न होने पर उसे चेतावनी दी जाती है और उसके इस कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। बहुत अधिक समय तक हार या कगन को रोक रखने पर उस व्यक्ति को कूला-गोष्ठी से निकाल दिया जाता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति
(Property in Primitive Economies)

प्रत्येक प्रकार की ही अर्थ-व्यवस्था मे, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, सम्पत्ति की धारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी विविध आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जिस

1. "To the native it is something that confers dignity and exalts him and which he therefore treats with veneration. Their behaviour at the transaction makes it clear that it is regarded, not only as possessing high value, but that it is treated also in a ritual manner, and arouses emotional reaction."—B. Malinowski, *Ibid*, p. 83.

किसी भी चीज की जरूरत मानव को होती है, उसी को वह 'सम्पत्ति' के अन्तर्गत ले आता है या मान लेता है। परन्तु आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति की धारणा उस रूप मे नहीं है जिस रूप मे हम लोग अपने आधुनिक समाज मे रहते हुए उसे जानते हैं। श्री लोई (Lowie) ने उचित ही लिखा है कि सम्पत्ति की धारणा औद्योगिक विकास तथा नैतिक विचारो मे परिवर्तन के साथ-साथ निरन्तर बदलती रहती है। फल-मूल इकट्ठा करने वाले लोगो में *पशुओं को सम्पत्ति न मानना ही स्वाभाविक है। उसी प्रकार* पशुपालक समूहो के सदस्यों के लिए यह ही स्वाभाविक है कि वे पशुओ को तथा अधिक-से-अधिक चरागाह को सम्पत्ति मानें। दूसरे प्रकार के भूमि को वे भला क्यो सम्पत्ति मानेंगे ? उसी प्रकार आधुनिक औद्योगिक समाज मे पूंजी, मशीन और मिल व फैक्ट्री को छोड कर फल-मूल को सम्पत्ति मानना मूर्खता ही होगी। सक्षेप मे, आधुनिक दृष्टिकोण से आदिम समाज मे पाई जाने वाली सम्पति की धारणा की विवेचना उचित न होगी।

श्री गोल्डनवीजर (Goldenwieser) के मतानुनार आधुनिक पश्चिमी दुनिया मे सम्पत्ति आराम प्राप्त करने के लिए, अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ की पूर्ति के लिए और दूसरे लोगो पर अधिकार प्राप्त करने के लिए होती है। परन्तु आदिम समाजो मे सम्पत्ति की ये तीनो उपयोगिताएँ उतनी स्पष्ट नहीं हैं जितनी कि सभ्य समाजो मे। आदिम समाजो के अध्ययन से यह पता चलता है कि वहाँ विभिन्न सदस्यो के बीच आर्थिक स्थिति के आधार पर उतना अधिक भेद नही होता जितना कि हम लोगो के अपने समाज मे पाया जाता है। यहाँ एक सामान्य मजदूर और एक मिल-मालिक के बीच विराट् अन्तर सम्पत्ति या धन के आधार पर है, उतना अन्तर आदिम समाजो मे कही भी देखने को नही मिलता है। वहाँ तो सब को, जो भी काम करने के लिए सक्षम है, काम करना पडता है और इस परिश्रम के स्वरूप मे व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कोई विशेष अन्तर *नही होता है।* इसलिए *सम्पत्ति या धन के आधार पर भेद भी बहुत ज्यादा नही हो* पाता है। सभी को प्राय , एक-सा खाने-पीने, पहनने और रहने को मिलता है और सभी लोग प्राय. समान 'आराम' का उपभोग करते हैं।

सम्पत्ति को, जिसपर कि लोग अपना अधिकार मान सकते हैं और मानते हैं, तीन प्रमुख श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—(क) प्राकृतिक चीजें जैसे, भूमि, नदी, नहर, समुद्र, पशु, मछली, खनिज-पदार्थ, पेड-पौधा और इनसे पैदा होने वाले फल-मूल आदि, (ख) मनुष्य द्वारा बनायी गयी चीजें, जैसे मकान, कपडा, आभूषण, नाव, तीर-धनुष आदि और (ग) अभौतिक सम्पत्ति (incorporeal property) जैसे, उपकथाएँ, सगीत, जादू-टोना आदि। आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन तीनो प्रकार की सम्पत्तियो की विवेचना हम अलग-अलग करें।

(क) सम्पत्ति के रूप में प्राकृतिक चीजों मे भूमि का स्थान सबसे पहले आता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि **भूमि** के साथ मनुष्य का सम्बन्ध केवल मात्र आर्थिक ही नही होता है। अपने जन्म-स्थान की भूमि को हम पवित्र मानते हैं और उसके साथ

एक रहस्यमय सम्बन्ध को जोड़ते हैं। एक किसान जिस भूमि पर खेती करता है उसके साथ उसका केवल आर्थिक सम्बन्ध है, यह सोचना किसान की वास्तविक भावनाओं को ठेस पहुँचाना होगा। भूमि के महत्त्व को वह किसान केवल रुपया, आना और पाई के आधार पर ही नही आंकता है, बल्कि भूमि तो उसके लिए इससे कही अधिक है। भूमि के सम्बन्ध मे आदिम लोगों के मनोभाव को तीन विरोधी उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अरूण्टा (Arunta) तथा मध्य आस्ट्रेलिया की अन्य जनजातियाँ उस भूमि के साथ-साथ, जिस पर कि वे निवास करती हैं, एक रहस्यमय और काल्पनिक सम्बन्ध को मानती हैं। इस सम्बन्ध को पवित्र स्थानों के और टोटम-केन्द्रो के आधार पर व्यक्त किया जाता है : वे सामान्य भूमि नही हैं, बल्कि वे ऐसी भूमि हैं जहाँ पर उस जनजाति की उत्पत्ति हुई है और जहाँ पर उस जनजाति की स्त्रियाँ गर्भवती होती हैं या गर्भ धारण करती हैं। इस कारण ये भूमि उनके जीवन का स्रोत हैं। ये पवित्र स्थान तथा टोटम-केन्द्र आदि किसी विशेष व्यक्ति की सम्पत्ति नही; वे तो पूरे समुदाय की पवित्र सम्पत्ति हैं। इसके विपरीत ओजिबवा (Ojibwa) जनजाति के लोगों के लिए भूमि एक सामान्य सम्पत्ति है और उसपर व्यक्तिगत अधिकार रहना ही उचित है। इस जनजाति में प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भूमि को दूसरों से पृथक् रखने के लिए उसे चारों तरफ से घेर देता है। यहाँ भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की धारणा इतनी प्रबल है कि लड़के को यह अधिकार नही है कि वह बिना आज्ञा अपने पिता की ज़मीन को व्यवहार करे या स्त्री अपने पति की ज़मीन को काम मे लाये। इसके विपरीत ऐसी जनजातिया भी हैं, जैसे कि एस्कीमो, जिनमे कि अपनी जन्मभूमि के प्रति पर्याप्त आदर-भाव होते हुए भी, उस पर व्यक्तिगत अधिकार या एकाधिकार की भावना का नितान्त अभाव है। इसीलिए एक एस्कीमो शिकार की खोज मे हज़ारो मील दूर चला जा सकता है और वहाँ शिकार कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि भूमि को सम्पत्ति के रूप मे मानने की धारणा प्रत्येक समाज मे समान नही है।

भूमि को सम्पत्ति के रूप में मानने की धारणा अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर भी पृथक्-पृथक् है। फल-मूल इकट्ठा करने तथा शिकार करने वाली जनजातियों (जैसे, आस्ट्रेलियन, अफ्रीकन बुशमैन, लंका के वेड्डा आदि) में भूमि पर सामान्यतः सामूहिक अधिकार ही माना जाता हैं। इस सामूहिक भूमि-क्षेत्र के अन्दर बाहरी समूह के लोगो के लिए आने की मनाही होती है। आस्ट्रेलिया में अगर एक जनजातीय समूह को दूसरे क्षेत्र मे शिकार करने या फल-मूल इकट्ठा करने के लिए जाने की आवश्यकता होती है तो वह अपने एक प्रतिनिधि या दूत को दूसरे समूह के मुखिया के पास आवश्यक आज्ञा प्राप्त करने के लिए भेजता है और उसे आज्ञा देना या न देना सम्पूर्णतः मुखिया की इच्छा पर निर्भर करता है। इसके विपरीत शोशोनी (Shoshoni) जनजाति मे भूमि पर इस प्रकार का कोई भी अधिकार देखने को नही मिलता है। उनका शिकार करने तथा फल-मूल इकट्ठा करने का अपना कोई निश्चित क्षेत्र नही होता है। एस्कीमो लोगों के लिए भी भूमि किसी भी अर्थ मे सम्पत्ति नही है; उनके लिए शिकार अधिक महत्त्वपूर्ण है, न कि भूमि। परन्तु कैनाडा तथा कैलीफोर्निया की कुछ जनजातियो मे शिकार

करने तथा मछली पकडने के भूमि-क्षेत्रो पर सामूहिक अधिकार के अलावा व्यक्तिगत अधिकार भी पाये जाते हैं।

पशुपालक जनजातियो मे भी भूमि पर अधिकार के सम्बन्ध मे पर्याप्त उदासीनता है। कोमाची इण्डियन लोग भूमि पर अपना कोई अधिकार नही मानते है—न तो व्यक्तिगत आधार पर और न ही सामूहिक आधार पर। इसके विपरीत साइबेरिया की टुगस (Tungus) जनजाति मे चरागाहो को पूरे गोत्र की सयुक्त सम्पत्ति माना जाता है।

भूमि को वास्तविक सम्पत्ति मानने की प्रवृत्ति फलोद्योग तथा कृषि करने वाली जनजातियो मे देखने को मिलती है। पश्चिमी अफ्रीका की जनजातियों मे एक प्रकार की सामन्तवादी व्यवस्था (feudal system) पाई जाती है। समस्त भूमि निरकुश शासक या राजा की होती है। वह उसको विभिन्न मुखियाओ को बाँट देता है; फिर ये मुखिया उस भूमि को गोत्रो मे बाँटते हैं; फिर गोत्र का मुखिया उसे प्रत्येक व्यक्ति या परिवार मे बाँट देता है। इन परिवारो को यह अधिकार है कि उस जमीन को वे बगीचा लगाने के काम मे लाएँ; पर भूमि का वास्तविक मालिक निरकुश राजा ही समझा जाता है। इण्डोनेशिया की खेती करने वाली जनजातियो मे समस्त भूमि सम्पूर्ण गाँव की सम्पत्ति समझी जाती है। अगर किसी भूमि पर खेती नही होती है तो समुदाय का कोई सदस्य मुखिया से आज्ञा लेकर उस भूमि को अपने निजी काम में ला सकता है।

भोजन या खाने-पीने की चीजो पर अधिकार के सम्बन्ध मे जनजातियों मे कुछ भिन्नता पाई जाती है। फिर भी, अधिक्तर जनजातियाँ भोजन को प्रकृति का एक अश *मानती हैं, इसलिए उस पर सीमित अधिकार ही सम्भव है। जूनी जनजाति के लोगो का* यह विश्वास है कि खलियान मे रखे हुए अनाज की अपनी एक इच्छा (will) होती है और यदि आतिथ्य (hospitality) के नियमो का उल्लघन किया जायगा तो वह अनाज भाग जायगा या गायब हो जायगा। इसलिए अगर कोई भी उनमे से भोजन माँगता है तो वे कभी इन्कार नही करते हैं। *डकोटा (Dakota) लोगो का तो विश्वास है कि* भोजन पर वास्तव मे अधिकार सम्भव ही नही है। कैनगेंग (Kaingang) जनजाति मे प्रत्येक बड़े शिकार को खेमा (camp) की समस्त स्त्रियो मे बाँट दिया जाता है। वेड्डा (Vedda) लोगो मे एक ही स्त्री अपने पूरे समूह के लिए खाना पकाली है। *कोमाची (Comanchee) जनजाति मे जब एक शिकारी शिकार लेकर अपने खेमे मे* लौटता है तो उस शिकार पर उन सबका हिस्सा होता है, जो भी हिस्सा लेने के लिए उस समय वहाँ उपस्थित होता है। शिकारी उन्हे हिस्सा देने से इन्कार नही कर सकता। सक्षेप मे, भोजन के सम्बन्ध मे उदारता वरतना आदिम अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख *विशेषता या आदर्श है: परन्तु कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ कैनाडा की* ओजिबवा (Ojibwa) जनजाति का एक सदस्य शीतकाल मे जो कुछ भी शिकार करता है या मछली पकड़ता है वह उसकी निजी सम्पत्ति होती है और वह उसको किसी भी रूप मे काम ला सकता है। परन्तु जैसे ही वह शिकार को अपनी पत्नी के हवाले कर देता है,

वैसे ही उस पर से उसका समस्त अधिकार समाप्त हो जाता है। फिर उसे पत्नी अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकती है। पत्नी अपनी उस सम्पत्ति से भोजन तथा वस्त्र बनाती है और उन तैयार चीजों को उपहार के रूप में अपने पति व छोटे बच्चों को देती है और अपने लिए रख लेती है। यह उपहार जिन्हें प्राप्त होता है, वह उनकी ही सम्पत्ति हो जाती है।

(ख) सम्पत्ति के रूप में मनुष्य द्वारा बनाई गई चीजों के सम्बन्ध मे भी जनजातीय समाजों मे एक-सा विचार नहीं है। औजार और उपकरणों पर सामान्यतः व्यक्तिगत अधिकार ही होता है। नियम यह है कि जिन वस्तुओं को व्यक्ति ने श्रम या प्रयत्न से बनाया है उन पर उसी व्यक्ति का अधिकार होगा और वह उन्हे बेच तथा हस्तान्तरित कर सकता है। परन्तु इन चीजो के सम्बन्ध में आदिम समाजो में एक अनोखी बात यह है कि वहां लोगों को यह असीमित अधिकार होता है कि वे इन चीजों को दूसरो से अपने काम के लिए माँग सकते हैं, विशेषकर उन चीजों (शिकार के औजार आदि) को जो कि एक व्यक्ति के पास अधिक मात्रा (surplus) मे हैं। उदाहरणार्थ, कैनगेंग जनजाति मे अगर कोई चीज फालतू पडी हुई है तो उसे कोई भी उसके मालिक से आज्ञा लिए बिना ही ले जा सकता है और फिर सुविधानुसार लौटायी जा सकती है। हाँ, अगर मालिक को उस चीज की आवश्यकता है तो वह उस व्यक्ति से उस चीज को लौटा देने की माँग भी कर सकता है। एस्कीमो लोगों मे तो यह भावना है कि 'अ' ने अपने किसी शिकार करने के उपकरण को 'ब' को काम मे लाने के लिए दे दिया है तो इसका यही अर्थ है कि 'अ' को उस चीज की आवश्यकता नही है। इसलिए 'ब' के लिए यह जरूरी नही है कि वह उस चीज को, जब तक उसे उसकी आवश्यकता है, 'अ' को लौटा ही दे।

(ग) अभौतिक सम्पत्ति (Incorporeal Property) की धारणा केवल जनजातीय समाजों मे ही नहीं, आधुनिक समाजों मे भी प्रायः समान रूप से पाई जाती है। हम अपने समाज मे भी देखते हैं कि दूकानदारी या व्यापार मे 'सुनाम' (good name) का एक मूल्य होता है। उस कम्पनी के नाम पर और कोई भी व्यक्ति अपनी चीजों को बेच नहीं सकता। '7 O' Clock' इस नाम से कोई भी कम्पनी अपने ब्लेड (blade) को बेच नहीं सकती। हाँ, यह हो सकता है कि इससे मिलता-जुलता कोई नाम जैसे '6 O'Morning' रख लिया जाय। ट्रेड मार्क या पेटेण्ट के द्वारा इस प्रकार की 'सुनाम' रूपी सम्पत्ति की रक्षा की जाती है। उसी प्रकार ग्रामोफोन रेकार्ड कम्पनी, फिल्म कम्पनी, प्रकाशक आदि संगीत, कहानी आदि के रूप में अपनी-अपनी सम्पत्ति की रक्षा 'कॉपी राइट' (Copy Right) के द्वारा करते हैं। यहाँ तक कि पारिवारिक नाम भी सम्पत्ति हो सकती है। इसलिए यदि हम यह कहते हैं कि आदिम समाजों में नाम, उपकथा, जादू-टोने के तरीके, संगीत आदि महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है, तो शायद किसी को भी आश्चर्य न होगा। अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट पर निवास करने वाली कुछ जनजातियो मे कतिपय उपकथाओं को एक वंश-विशेष की सम्पत्ति माना जाता है और उन्हे कोई दूसरा वंश व्यवहार मे नही ला सकता है। क्वाकिउल (Kwakiutl) इण्डियनों

में एक विशेष नाम को सबसे बड़ी सम्पत्ति समझा जाता है और उस नाम को प्राप्त करने के लिए एक पॉटलैच (*potlatch*) का आयोजन करके एक व्यक्ति अपनी समस्त सम्पत्ति को बर्बाद करने के लिए भी तैयार रहता है। यही कारण है कि नाम को प्राप्त करने के विषय को लेकर उस समाज मे प्रतिद्वन्द्विता के अनेक कटु उदाहरण पाये जाते है। उसी प्रकार डोबुयन (Dobuan) जनजाति मे जादू-टोने की प्रणालियो को सीखने के विषय को लेकर लोगो मे खूब सघर्ष होता है। स्पष्ट है कि इन सब अभौतिक चीजो को सम्पत्ति इसलिए समझा जाता है क्योंकि इन चीजों के अधिकारी होने से व्यक्ति की सामाजिक स्थिति व प्रतिष्ठा आप-से-आप ऊँची उठ जाती है। इसी कारण लोग इसे सम्पत्ति मानकर इसकी रक्षा करते हैं।

आदिम साम्यवाद[1]
(Primitive Communism)

उपरोक्त विवेचना से आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध मे हमे एक स्पष्ट धारणा हो सकती है। यह मानी हुई बात है कि आदिम समाजों मे सम्पत्ति को, विशेषकर भूमि, भोजन आदि प्राकृतिक चीजो को लेकर 'तू-तू, मैं-मैं' का झगडा उतना कटु और उग्र नही है जितना कि आधुनिक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत हमे देखने को मिलता है। इसी के आधार पर कुछ विद्वानो का मत है कि आदिम अर्थ-व्यवस्था आवश्यक रूप मे साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था है। इस विचार का समर्थन विशेष रूप से उद्विकासवादी लेखक करते हैं। उद्विकासवादी योजना के अनुसार यह सोचना स्वाभाविक ही है कि चूँकि आधुनिक युग मे घोर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था पाई जाती है इस कारण आदिकालीन समाजो मे इसकी बिल्कुल विपरीत व्यवस्था—साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था—ही पाई जाती होगी। यह उपकल्पना केवल कल्पना मात्र ही है, इसके पक्ष मे भी कुछ कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, जिस प्रकार यह कहना गलत होगा कि प्रत्येक विषय मे आदिम अर्थ-व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था है, उसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि निजी सम्पत्ति की धारणा उन समाजो मे उतने ही उग्र रूप मे है जितनी कि हम लोगो के अपने समाजो मे, अर्थात आदिम समाजो मे साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के लक्षण बिल्कुल नहीं पाये जाते हैं, यह कहना उचित न होगा। निम्नलिखित विश्लेषण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) ने लिखा है कि उपलब्ध मानवशास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि एक ऐतिहासिक घटना (historic Phenomenon) के रूप मे सम्पत्ति मनुष्य की, जैसा कि उसे हम जानते हैं, सदा से ही साथी रही है। मनुष्य और सम्पत्ति दोनों ही प्रारम्भ से साथ-साथ विराजमान हैं। मनुष्य है और सम्पत्ति की धारणा नही है, ऐसा कभी नही हुआ है। निजी 'सम्पत्ति'

---

1 See Robert H Lowie, *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1953, pp 196–200.

की धारणा तो, एक अर्थ में, पशु-समाज मे भी पाई जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि पशुओ मे मनुष्य के सबसे घनिष्ठ और पुराने साथी कुत्ते ने मनुष्य से जितनी भी चीजें सीखी हैं, उनमे निजी सम्पत्ति की धारणा भी एक है। अतः स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति की धारणा कोई नयी धारणा नहीं है। फिर भी इतना अवश्य है कि इस धारणा का रूप या स्वरूप और साथ ही इसकी क्रियाशीलता व व्यावहारिक प्रयोग सभी काल मे एकसमान नहीं था और न रहने की आशा ही की जा सकती है। अगर हम इस पृष्ठभूमि पर आदिम अर्थ-व्यवस्था की विवेचना या विश्लेषण करें तो उसका वास्तविक स्वरूप स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा।

तथाकथित आदिम साम्यवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्री लोई (Lowie) ने दो तर्कों को प्रस्तुत किया है जो निम्नवत हैं—

प्रथमतः, निजी सम्पत्ति और अधिकार का नाम तक न हो, इस प्रकार का पूर्ण साम्यवाद शायद कभी भी नहीं था; फिर भी संयुक्त या समष्टिगत मिलकियत (collective ownership) आदिम समाजों में सामान्य हैं। आदिम समाजों में यह देखा जाता है कि विवाह एक व्यक्तिगत विषय न होकर दो परिवारों के बीच का एक संयुक्त सम्बन्ध है। ठीक उसी प्रकार सम्पत्ति भी किसी एक व्यक्ति की न होकर सम्मिलित रूप में बहुतों की होती है, जो कि साधारणतः एक ही गोत्र के सदस्य होते हैं। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) जैसे विद्वान भारत के प्राचीन या परम्परागत जीवन के इस पक्ष को देखकर इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि आपका तो निष्कर्ष ही यह था कि समष्टिगत मिलकियत एक अति प्राचीन संस्था है जो कि व्यक्तिगत मिलकियत (individual ownership) से पहले विद्यमान थी। दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत अधिकार या निजी सम्पत्ति की धारणा का वर्तमान रूप प्रकट होने से पहले सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि सम्मिलित अधिकार हुआ करता था। यह सम्मिलित अधिकार दो व्यक्तियों का, या एक परिवार का, या कुछ परिवारों का, या एक भ्रातृदल का, या एक धार्मिक गोष्ठी का, या एक गोत्र का हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि यह अधिकार सदैव सामुदायिक अधिकार (communal ownership) ही हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक सम्पूर्ण गाँव में केवल एक ही गोत्र के सदस्य रहते हैं। फलतः गाँव के सभी लोग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं या अपने को सम्बन्धित मानते हैं और इसलिए जमीन आदि के विषय में बँटवारा न करके उन पर सम्मिलित या सयुक्त अधिकार रखना ही अधिक लाभदायक समझते हैं। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उस आदिम अर्थ-व्यवस्था मे साम्यवाद का कोई-न-कोई लक्षण अवश्य ही स्पष्ट है।

द्वितीयतः, कभी-कभी कुछ सामाजिक नियम, आचार, प्रथा या परम्परा की क्रियाशीलता के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जो कि बहुत-कुछ साम्यवादी अवस्था से मिलती-जुलती है। फलत. हम उसी को साम्यवाद कह डालते हैं। परन्तु वास्तव मे वैसा नहीं है। वास्तव मे वैधानिक दृष्टिकोण से साम्यवाद और सामान्य सामाजिक नियम के अनुसार साम्यवाद, इन दोनों मे पर्याप्त अन्तर है। आदिम समाजों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी सच है क्योंकि वहाँ कानून या विधान बिलकुल ही अस्पष्ट है।

इसलिए उस दृष्टिकोण से उनकी किसी भी संस्था को परिभाषित करना अगर असम्भव नहीं तो कष्टकर अवश्य ही है। वास्तव में बात यह है कि आदिम समाज छोटा और सरल होता है और एक गाँव या समुदाय में अधिकतर सदस्य एक-दूसरे के नाते-रिश्तेदार (चाहे वास्तविक हों या कल्पित) होते हैं। जो नाते-रिश्तेदार नहीं भी हैं उन्हे भी लोग घनिष्ट रूप से जानते-पहचानते हैं। इस कारण उस गाँव या समुदाय के सभी सदस्य एक-दूसरे के प्रति एक आतरिक कर्त्तव्य-बोध से बँधे रहते हैं और हर समय एक-दूसरे की सहायता (जिसमें कि आर्थिक सहायता भी सम्मिलित है) करने के लिए तैयार रहते हैं। अत जिसे हम लोग साम्यवाद कहने की गलती करते हैं वह वास्तव मे आदिम लोगो का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बोध, नैतिक नियमो का पालन या आतिथ्य (hospitality) की अभिव्यक्ति मात्र है। 'आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति' की विवेचना करते हुए पिछले पृष्ठों मे इस प्रकार के अनेक सामाजिक नियमो, अतिथि-सत्कार आदि के उदाहरण दिये गये हैं। फिर यहाँ पर उनमे से दो-तीन उदाहरणों को दोहरा देना ही उचित होगा। जूनी जनजाति मे यह विश्वास है कि अगर अतिथि-सत्कार के नियमो का उचित ढग से पालन नही किया जायगा तो खलिहान का अनाज आप-से-आप गायब हो जायगा। इस विश्वास के आधार पर ही अगर कोई भी किसी भी समय खाने की चीज़ किसी भी जूनी परिवार से मागता है तो उसे फौरन वह चीज दे दी जाती है। इस प्रकार एक अर्थ मे उस जूनी समुदाय की सभी खाने की चीज़ो पर प्रत्येक जूनी का पूर्ण अधिकार है और इस दृष्टिकोण मे कम-से-कम खाद्यान्न पर किसी व्यक्ति या परिवार विशेष का नही, बल्कि सम्पूर्ण समुदाय का अधिकार है। परन्तु यह साम्यवाद नही है क्योकि दूसरे के अधिकार को केवल सामाजिक नियम के पालन के हेतु स्वीकार किया जाता है, वास्तविक अधिकार व्यक्ति या परिवार का ही होता है। उसी प्रकार डकोटा (Dakota) जनजाति के लोग यह अनुभव करते हैं कि खाने की चीजों पर वास्तव मे किसी का अधिकार हो ही नही सकता और किसी से भी कोई चीज उपहार के रूप मे मागी जा सकती है और उस उपहार को देने से इन्कार भी किसी को न करना चाहिए। 'जो माँगने पर उपहार देने से इन्कार करता है वह सच्चा डकोटा नहीं है।' कुछ भी हो, पर यह साम्यवाद नही है क्योंकि वास्तविक अधिकार व्यक्तिगत या पारिवारिक ही है और उस वास्तविक मालिक से चीजें मागी जाती हैं और वह भी उपहार के रूप मे। उसी प्रकार कोपाँची जनजाति का एक सदस्य अपने शिकार से दूसरो को हिस्सा सामाजिक नियम या शिष्टाचार का पालन करने के लिए देता है, न कि इसलिए देता है कि दूसरों का उस शिकार पर अधिकार है।

इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि अधिकतर जनजातियो का आर्थिक जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण है। उन्हे प्रकृति से घोर मोर्चा लेकर अपना पेट पालना होता है। प्रकृति से इस प्रकार का मोर्चा निरन्तर लेने के लिए केवल व्यक्तिगत शक्ति ही पर्याप्त नही होती, सयुक्त शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इस कारण आर्थिक क्षेत्र मे केवल परिवार के सभी सदस्यों की ही नही, बल्कि समूह के अन्य लोगो के सहयोग की भी आवश्यकता होती है। सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब बहुत से लोग सहयोग करते हैं या करने को तैयार रहते हैं तो उनमे स्वभावतः ही 'हम' की भावना पनपती है और वे अपने-

पराये के भेद को बहुत स्पष्ट रूप से खीचना लाभकारी नहीं समझते हैं। इसीलिए खाने-पीने तथा अन्य चीजों को दूसरे की आवश्यकता पड़ने पर मुक्त-हस्त से दान कर देते हैं। उस दान या उपहार को ग्रहण करने वाले के मन में भी इसी कारण कोई अपने-पराये की भावना जागृत नहीं होती है। यही कारण है कि एस्कीमो समूह का एक सदस्य दूसरे की चीजों को उसके मालिक को बताये बिना ही उठा ले जाता है और माँगकर भी ले जाता है तो भी उस चीज को तब तक लौटाकर नहीं देता है जब तक उसे उस चीज की जरूरत है। परन्तु यह साम्यवाद नहीं है, आर्थिक सहकारी की भावना मात्र है क्योंकि उस चीज पर वास्तविक अधिकार उसके मालिक का ही है, न कि उस व्यक्ति का जो कि उसे माँगकर ले जाता है।

विभिन्न समाजों के निष्पक्ष निरीक्षण से यह पता चलता है कि प्रत्येक समाज में ही संयुक्त तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार के ही अधिकार या मिलकियत (ownership) पाई जाती है। जहाँ तक आदिम समाजों का सम्पर्क है, उनके विषय मे यह कहा जा सकता है कि ये चीजें जो कि प्रत्यक्ष रूप से जीवन-धारण के मामले मे सहायक हैं अर्थात् जीवित रहने के साधन हैं जैसे, शिकार करने के क्षेत्र, मछली पकडने की नदी और तालाब, बगीचा लगाने की ज़मीन, खेत आदि पर व्यक्तिगत अधिकार न रखकर अधिकतर सम्मिलित अधिकार ही रक्खा जाता है क्योंकि जनजातीय जीवन के सघर्ष मे यही अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसके विपरीत रोज के व्यवहार की चीजों जैसे मकान, कपडा, आभूषण आदि पर प्राय: सभी आदिम समाजों मे व्यक्तिगत अधिकार ही माना जाता है। वे सभी चीजें जो कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत श्रम या प्रयत्न से उत्पन्न करता या इकट्ठा करता है उसे निजी सम्पत्ति (private property) ही मानी जाती है। इस अर्थ में निजी सम्पत्ति की धारणा आदिम समाजो मे प्राय: सार्वभौम (universal) है। साथ ही, सयुक्त अधिकार या सम्मिलित सम्पत्ति आधुनिक समाजों मे भी पाई जाती है। आधुनिक समाजो में भी नहरों, नदियो, जंगलों और अनेक भूमियों पर समुदाय प्रतिनिधि राज्य का अधिकार होता है; साथ ही सयुक्त स्टॉक कम्पनी (joint stock company) मे भी अधिकार संयुक्त ही होता है।

अत: श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) का निष्कर्ष यह है कि व्यक्तिगत अधिकार या निजी सम्पत्ति की बात को बिल्कुल निकालकर आदिम साम्यवाद की अवधारणा को अस्वीकार कर देना ही उचित होगा। परन्तु आदिम साम्यवाद की अवधारणा मे एक सत्यता अवश्य ही है और वह यह है कि आधुनिक समाज मे व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार का जितना अनावश्यक व कटु रूप देखने को मिलता है, उतना आदिम समाजो मे कदापि नही मिलता। साथ ही, आधुनिक समाज में व्यक्ति के अधिकार मे ऐसी असंख्य चीजें रहती हैं जिनके विषय में आदिम समाजों के लोग सपना भी नही देख सकते। आदिम समाजो में जीवन या जीवित रहने के लिए आवश्यक चीजों को या उन क्षेत्रों को, जहाँ से ये चीजें प्राप्त हो सकती हैं या उत्पन्न की जा सकती हैं, व्यक्तिगत अधिकार मे छोडा नहीं जाता है, उन पर समूह का ही अधिकार होता है; परन्तु आधुनिक समाज मे इसका उल्टा भी हो सकता है। इस अर्थ मे और इस सीमा तक यह कहना अनु-

चित न होगा कि आदिम समाज की विशेषता सामूहिक अधिकार है, जबकि आधुनिक समाज की विशेषता व्यक्तिगत अधिकार ही है।

भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था
(Economies of Indian Tribes)

सभी भारतीय जनजातियों का आर्थिक जीवन एक-सा नही है। उन्हे अपने जीवन-धारण के लिए अनेक प्रकार के व्यवसाय करने होते हैं और इस कारण उनकी अर्थ-व्यवस्था मे शिकार करना, फल, कन्द, मूल, शाक-सब्जी और शहद इकट्ठा करना, पशुओं को पालना, खेती करना और दस्तकारी का काम करना सभी सम्मिलित है। इससे भारतीय जनजातियो मे जीविका-निर्वाह की जटिलता स्पष्ट होती है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने आदिम समाजो की अर्थ-व्यवस्था को सात श्रेणियो मे विभाजित किया है। इन्हे हम भारतीय जनजातियो के वर्गीकरण मे भी लागू कर सकते हैं—

(1) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले तथा खाद्य सामग्री इकट्ठा करने वाले समरूप (homogeneous) समुदाय। भारत की कादर, चेंचू खरिया, कोरवा आदि जनजातियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

(2) शिकार करने, पशु-पक्षी पकडने वाले और कृषको का समरूप समुदाय। कमार, बैगा और बिरहोर जनजातियाँ इस श्रेणी के उत्तम उदाहरण हैं।

(3) शिकार करने, पशु-पक्षी पकडने वाले, कृषक तथा कारीगरो के श्रेणीबद्ध (graded) समाज। भारत की अधिकतर जनजातियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं। चेरा और अगरिया जनजाति कारीगरो के रूप मे प्रसिद्ध है।

(4) चरवाहे—टोडा और भील जनजाति इस श्रेणी के अति उत्तम उदाहरण हैं।

(5) समरूप शिकारी और चरवाहे—भारत की कोई भी जनजाति इस श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आती है।

(6) प्रजाति के आधार पर श्रेणीबद्ध पशु पालने वाले तथा व्यापार करने वाले समूह। उत्तर प्रदेश के हिमाचल क्षेत्र मे रहने वाली भोटिया जनजाति इस श्रेणी के अन्तर्गत है।

(7) सामाजिक आधार पर श्रेणीबद्ध शिकारी, कृषक तथा कारीगर समूह। इस श्रेणी के अन्तर्गत भी अनेक जनजातियाँ आ जाती हैं।

भारतीय जनजातियो की अर्थ-व्यवस्था को और भी भली-भाँति समझने के लिए हम उन्हे निम्नलिखित पाँच भागों मे बाँट सकते हैं—

(1) शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने वाली जनजातियाँ (Hunting and food gathering tribes)—इस श्रेणी मे कादर, मालापण्डारम, पालीयन, पनीयन, यनादि, कुरुम्बा, बिरहोर, खरिया, चेंचू खडिया, राजी आदि भारतीय जनजातियाँ आती हैं। ये लोग खेती या अन्य किसी प्रकार से भोजन को उत्पन्न करना नही जानते

हैं। इस कारण प्रकृति ने इनकी भोजन-सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने के लिए अपने वनों में अनेक प्रकार के फल, मूल, कन्द, शाक-सब्जी आदि की सृष्टि की है। प्रत्येक मौसम मे इन चीजों का प्रकार बदलता रहता है और इन्हे इकट्ठा करने के लिए उक्त जनजातियो को वन के विभिन्न भागों में घूमना-फिरना होता है। जंगली आम, बड़, पीपल, तेंदू, इन चार आदि फलों को वे लोग बड़े चाव से खाते हैं। महुआ को तो भारतीय जनजातियो का कल्पवृक्ष मान सकते हैं, क्योंकि अनेक जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था तथा उनके रोज के खाने की चीज के रूप में उसका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वनों से प्राप्त होने वाले मीठे स्वादिष्ट कन्दो को भी भारत की जनजातियाँ दैनिक खाद्य सामग्री के रूप में बहुत प्रयोग मे लाती हैं। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भोजन इकट्ठा करने के अतिरिक्त, निकट भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उसका सचय किया जाता है। शिकार करके और मछली पकड़के भी भोजन इकट्ठा किया जाता है। पक्षी, खरगोश, छोटे हिरन आदि का शिकार तो लोग अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से ही कर लेते हैं, पर बड़े जानवरों के शिकार तो योग्य व अनुभवी व्यक्ति या व्यक्तियो के नेतृत्व मे संगठित रूप से अनेक व्यक्ति मिलकर करते हैं। शिकार करने के लिए ये लोग तीर-धनुष, फन्दा और जाल को काम मे लाते हैं। सामान्य रूप से इस श्रेणी की जनजातियो का आर्थिक संगठन अत्यन्त सादा और सरल होता है और अपनी उदरपूर्ति के लिए उन्हें अत्यधिक सघर्ष करना पड़ता है। जो कुछ भी खाद्य सामग्री वे लोग इकट्ठी करते हैं उसका कोई भी भाग सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। परन्तु कुछ जनजातियाँ शहद कुछ विशेष प्रकार के फल और औषधि के रूप मे उपयोगी कन्द, मूल आदि का सग्रह विशेष रूप से बेचने के लिए भी करती हैं।

(2) पशुपालक जनजातियाँ—पशुपालक जनजातियों का सर्वोत्तम उदाहरण हिमाचल प्रदेश के गुज्जर और दक्षिण मे नीलगिरी निवासी टोडा जनजातियाँ हैं। गुज्जरों की जनसख्या प्रायः 13 हजार है, इनमें से 8 हजार केवल चम्बा जिले मे रहते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय गाय-भैंस पालना और इनका दूध-घी आदि बेचकर अपनी जीविका-पालन करना है। ये लोग प्रायः अपने पशुओं के लिए उत्तम चरागाहों की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा-फिरा करते हैं। कुछ गुज्जर अब खेती भी करने लग गये हैं परन्तु टोडा जनजाति विशुद्ध रूप से पशुपालक है। इनके आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार भैंस पालना है। इसीलिए भैंस को वे बहुत पवित्र मानते हैं और भैंसशालाओं को मन्दिर समझते हैं। चूँकि स्त्रियाँ मासिकधर्म तथा बच्चा पैदा होने के समय अशुचि हो जाती हैं, इस कारण उन्हे न तो भैंसशालाओं मे प्रवेश का अधिकार होता है और न ही वे दूध दुहने, दही मथने आदि का काम कर सकती हैं। टोडा लोग भैंस के दूध और उससे बनी चीजों को पड़ौसियो को बेचकर उनके बदले मे अपनी आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार भैंस ही टोडा लोगो के आर्थिक जीवन की ही नही बल्कि धार्मिक और सामाजिक जीवन की भी धुरी है। इसलिए भैंस को वे लोग इतना पवित्र मानते हैं, तथा स्त्रियों को उनसे सम्बन्धित समस्त कार्यों से पृथक् रखते हैं। इनके मुख्य पुरोहित 'पोलोल को

अविवाहित रहना पडता है।

उत्तर प्रदेश की भोटिया जनजाति पशुपालन के साथ-साथ खेती भी करती है। मध्य भारत मे भी कुछ जनजातियाँ हैं जो पशुओं को पालकर ही अपनी जीविका का निर्वाह करती हैं।

(3) खेती करने वाली जनजातियां (Agricultural tribes)—सन् 1951 की जनगणना के अनुसार एक करोड नब्बे लाख जनजातीय व्यक्तियो में से एक करोड सत्तर लाख व्यक्ति खेती पर निर्भर हैं। इनको दो भागो मे बाँटा जा सकता है—**एक** तो वे जो स्थानान्तरित खेती (shifting cultivation) करते हैं **और दूसरे** वे जो स्थायी खेती करते हैं।

स्थान्नातरित खेती का प्रचलन भारतीय जनजातियो मे बहुत अधिक है; यद्यपि अलग-अलग जनजातियां इसे अलग-अलग नाम से पुकारती हैं। उदाहरण के लिए, नागा जनजाति इसे 'झूम' (*jhum*) कहती है, मरिया इसे 'पेंडा' (*penda*), खोड इसे 'पोडू' (*podu*) और बैंगा जनजाति इसे 'बेवर' (*bewar*) कहती है। इस प्रकार की खेती से उत्पन्न होने वाली फसल अत्यधिक निम्न स्तर की होती है और इससे भूमि की भी अधिक बर्बादी होती है। इस ढग की खेती आसाम, मध्य प्रदेश, मद्रास, आंध्र, ट्रावन्कोर और कोंकण की अनेक जनजातियां करती हैं। अनुमान है कि प्राय 10 लाख व्यक्ति लगभग 13 हजार वर्ग मील मे इस प्रकार की कृषि करते हैं। विभिन्न जनजातियो मे इसकी पद्धति मे थोडा-बहुत अन्तर भी देखने को मिलता है, फिर भी इसका सामान्य रूप निम्न-लिखित है—

अपनी जनजाति के पुरोहित से पूछकर धार्मिक विधियो के अनुसार खेती के लिए जगल का एक भाग चुन लिया जाता है। फरवरी के महीने मे इस स्थान के सब पेडो को काटकर सूखने दिया जाता है। अप्रैल के अन्त मे सूखे हुए सब पेडो को एक स्थान पर इकट्ठा करके जला दिया जाता है और उसकी राख को उतने स्थान पर बिछा दिया जाता है जितने पर खेती करनी है। वर्षा ऋतु की पहली बौछारो के बाद यहाँ या तो बीज बिखेर कर बोये जाते हैं या खुरपी या नुकीले औज़ार से जमीन मे छेद करके उनमे डाले जाते हैं। अगस्त-सितम्बर तक फसल पकने लगती है। फसल तैयार हो जाने पर उसे काट लिया जाता है और फिर दूसरे वर्ष पुन फसल के ठूँठो और घास-पात को जलाकर खेती के लिए भूमि तैयार कर ली जाती है। दो या तीन वर्ष तक एक स्थान पर खेती करने के बाद पुन खेती करने के लिए दूसरी नयी जगह चुनी जाती है और पुरानी जगह को कुछ वर्षों के लिए (जैसे उडीसा मे 4 से 6 वर्ष तक तथा बस्तर मे 15 से 20 वर्ष तक), खाली छोड दिया जाता है, ताकि भूमि फिर खेती करने के योग्य हो जाय। स्थानान्तरित खेती मे मकई, चना, बाजरा आदि अन्न, अनेक प्रकार के तिलहन, दालें, साग-सब्जिया उत्पन्न की जाती हैं।

इस प्रकार से खेती क्यो की जाती है, इसके सम्बन्ध मे जनजातियो मे अनेक धार्मिक विश्वास भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ, जैसे मध्य प्रदेश के बैंगा लोगो का यह विश्वास है कि भगवान ने उनके पूर्वज बैंगा को हिन्दुओ और गोडो की भाँति हल चला-

कर खेती करने का निषेध किया था, क्योंकि इससे धरती माता की छाती विदीर्ण होती है।

स्थायी खेती का भी प्रचलन भारतीय जनजातियो में है। भारत की अनेक जनजातियो ने स्थानान्तरित खेती का परित्याग कर स्थायी खेती का पेशा अपना लिया है। इस प्रकार की जनजातियों मे राजस्थान के भील और गोंड, मद्रास के बडग, कोट, इरूला व परजा, बगाल के संथाल, आसाम के खासी, मणिपुरी, बिहार के मुण्डा, 'हो' तथा ओरांव और उत्तर प्रदेश के थारू, माझी, विन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

(4) **हस्तकार जनजातियाँ (Handicraft tribes)**—अनेक जनजातियाँ विविध प्रकार के सहायक उद्योग-धन्धे या दस्तकारी के काम भी करती हैं। इनमे टोकरी बनाना, सूत कातना और बुनना, रस्सी, चटाई आदि बनाना, बेंत का काम, लोहे के औजार, मिट्टी और धातुओं के बर्तन बनाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। छोटा नागपुर और उड़ीसा के बिरहोर जगल की कुछ लताओ से बहुत मजबूत और सुन्दर रस्सी बनाते हैं। सओरा, कोंड और गोंड सूत कातने, बेंत का काम, मिट्टी के बर्तन और धातु का काम बहुत अच्छा करते हैं। कोरवा और अगरिया लोहे को गलाकर उससे अनेक चीजें बनाते हैं। घासी मृत जानवरों से तांत तैयार करते हैं। मद्रास के इरूला बांस की चटाइयाँ और टोकरियाँ बुनते हैं और हलों और पहियो को भी बनाते हैं।[1] बैगा, कमार, पेंचू आदि जनजातियाँ बांस के बर्तन प्राचीन काल से ही बनाते आये हैं। वे अब इस कला का उपयोग आर्थिक लाभ के लिए करने लगे हैं। उत्कल के आदिवासी बोदो बुनने का काम करते हैं। बढ़ईगिरी का काम प्रायः प्रत्येक जनजाति के लोग करते हैं।

(5) **उद्योग में लगी हुई जनजातियाँ (Tribes engaged in Industries)**—औद्योगिक जीवन के साथ जनजातियों का सम्पर्क दो प्रकार से हुआ है—या तो वे नौकरी की तलाश में स्वयं ही औद्योगिक केन्द्रो मे जा बसी हैं या उनके निवास क्षेत्र में ही उद्योग का विकास हुआ है।[2] भारत में जैसे-जैसे उद्योगो, चाय-बागानों और खानों का काम बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे आस-पास मे बसी हुई जनजातियों पर भी उसका प्रभाव पड़ता जा रहा है, क्योंकि इन कामो के लिए मजदूरों की जो आवश्यकता होती है, वह अत्यधिक कम मजदूरी पर इन जनजातियो के लोग पूरा कर देते हैं। इस प्रकार के मजदूरो की पूर्ति सबसे अधिक बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश की जनजातियों द्वारा होती है। मध्य प्रदेश के मैंगनीज (Manganese) उद्योग मे लगे श्रमिकों मे 50 प्रतिशत जनजातीय लोग हैं। जमशेदपुर के टाटा के लोहे के कारखाने में 17 हजार से भी अधिक श्रमिक संथाल और 'हो' जनजाति के हैं।[3]

इस सम्बन्ध मे यह याद रखना होगा कि उपर्युक्त विभाजन एक सैद्धान्तिक रूप-रेखा (theoretical outline) मात्र है। अधिकतर जनजातियाँ एक से अधिक श्रेणियों मे आती हैं। ऐसी अनेक जनजातियाँ हैं जो केवल खेती ही नहीं करती, बल्कि दस्तकारी

1. Majumdar and Madan, *op. cit*, p 199.
2. *Ibid*., p 199.
3. *Ibid*., p. 200

के काम और औद्योगिक श्रमिक के रूप मे भी काम करती हैं, जैसे गोंड जनजाति । इस कारण इनमे कोई अन्तिम विभाजक रेखा खीचना उचित न होगा।

तीन जनजातियों का आर्थिक जीवन
(Economic Life of Three Tribes)

भारत की जनजातीय अर्थ-व्यवस्था को ओर भी अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम दो-एक जनजातियो के आर्थिक जीवन की बिल्कुल अलग रूप से विवेचना करें। इस सम्बन्ध मे तीन विभिन्न स्तर वाली—कादर, टोडा तथा कोरवा—जनजातियों की आर्थिक दशाओ का सक्षिप्त परिचय उदाहरण के लिए दिया जा सकता है।

कादर (Kadar)—केरल की दुर्गम पर्वतमालाओं और घने जगलो मे रहने वाली कादर ही सम्भवतः भारत की एकमात्र ऐसी जनजाति है जिसमे खेती का प्रचलन किसी भी रूप मे नही है। कुछ समय पहले तक ये लोग केवल जगल मे घूम-घूमकर शिकार करके तथा फल, मूल, कन्द शाक-पात व शहद इकट्ठा करके अपना पेट भरते थे। चूकि इन्हे अपने भोजन को इकट्ठा करने के लिए इधर-उधर घूमना पडता है, इस कारण इनका आर्थिक जीवन स्थिर नही है। वे खानाबदोशी जीवन व्यतीत करते हैं। आर्थिक क्रियाओ के सम्बन्ध मे स्त्री और पुरुष के बीच कोई निश्चित श्रम विभाजन नही है। स्त्री और पुरुष दोनों ही मिलकर फल-मूल आदि इकट्ठा करते है। परन्तु बहुधा यह काम स्त्रियो पर छोडकर पुरुष मछली पकडने और शिकार करने के काम मे अधिक ध्यान देते हैं। हवा से बचने के लिए बाँस की अस्थायी झोपडियाँ बनाना तथा आग को जलाये रखने का काम भी स्त्रियाँ ही करती हैं। शिकार बांस के तीर-धनुष, कुदाल (digging stick) आदि से किया जाता है। कादर लोग लगूर का शिकार करना बहुत पसन्द करते हैं। वे बकरियाँ, मुर्गियाँ तथा अन्य पशु भी पालते हैं। पुरुष बांस की बडी सुन्दर कघियाँ बनाते हैं। कादर लोग बांस के प्याले के अतिरिक्त और कोई बर्तन सामान्यत. काम मे नही लाते हैं। वे अपने शरीर को पेड़ की छाल तथा पत्तो से सजाया करते थे। परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे इनके जगलों से इमारती लकडी, शहद, जगली काली मिर्च आदि को प्राप्त करने के लिए ठेकेदारो का प्रवेश इनके समाज मे हुआ जिसके फलस्वरूप अब इनकी अर्थ-व्यवस्था मे धीरे-धीरे परिवर्तन शुरू हो गया है।

टोडा (Toda)—कादर जनजाति की अर्थ-व्यवस्था भोजन इकट्ठा तथा शिकार करने वाली जनजातियो की अर्थ-व्यवस्था है। इसके विपरीत, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नीलगिरी के टोडा, विशुद्ध रूप से पशुपालक हैं। ये कृषि अथवा दस्तकारी का कोई कार्य नही करते हैं, बल्कि काफी सख्या मे भैंस को पालते हैं और भैंस के दूध तथा दूध से बनी चीजो को पास-पड़ौस के लोगो को देते हैं और उसके बदले मे अपनी रोज की आवश्यक चीजो को प्राप्त करते है। दूध और उससे बनी चीजो को बेचने के कारण इन टोडा लोगों का सम्पर्क नीलगिरी पर्वत के नीचे समतल भूमि पर रहने वालों से भी हो गया है। इस प्रकार टोडा [illegible] के आर्थिक जीवन का एकमात्र आधार भैंस

है। इसलिए कुछ भैंसे इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि जहां इनका दूध निकाला और दही मथा जाता है वह स्थान इस जनजाति के लागों का मन्दिर होता है। यहां बड़ी ऊँची तथा शंकु के आकार वाली (conical) छत वाली पवित्र झोंपड़ी में बड़े जटिल कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हुए पुरोहित इन भैंसों का दूध निकालते हैं। स्त्रियों को इनसे सम्बन्धित समस्त कार्यों से दूर रखा जाता है। इस सम्बन्ध मे विस्तारित विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं।

कोरवा (Korwa)—कोरवा जनजाति उत्तर प्रदेश मे मिर्जापुर के दुद्धी परगने में रहती है। वहां का अधिकांश भाग बहुत घने जंगलों से भरा था परन्तु आदिवासियों ने स्थानान्तरित खेती करने के लिए इस जंगल के कुछ भागों को जलाकर साफ कर दिया है। वे लोग खेती करने के लिए जंगल के पेड़ों को काटकर उन्हें एक स्थान पर एकत्र करके जला देते हैं और फिर उस राख को सारे स्थान में, जहां खेती करनी हो, बिछा देते हैं और उसमें बीज बो देते हैं। जब दो-एक वर्ष खेती करने के बाद उस स्थान की भूमि की उर्वरा-शक्ति समाप्त हो जाती है तो वे लोग स्थान परिवर्तन करके दूसरे किसी स्थान पर इसी प्रकार से खेती करते हैं। कोरवा प्रदेश में पानी की बहुत कमी है, क्योंकि कन्हार रिन्ध, बिच्छी, लहूरा तथा अन्य छोटी-छोटी नदियां पूरे साल तक पानी नहीं पहुचा पाती हैं। साथ ही, इस परगने में सूखी जलवायु तथा पानी के अभाव के कारण वहां पक्षी देखने को नहीं मिलते हैं। इसलिए कोरवा लोगों को अपना पेट भरने के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रदेश के निर्बल पशु गहरी जुताई नहीं कर पाते हैं। जो कुछ भी कर पाते हैं उसे जुताई न कहकर जमीन को खुरचना ही कहना अधिक उचित होगा। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिए पानी की कमी, खाद का अभाव आदि खेती को कोरवा लोगों के लिए एक समस्या ही बना देते हैं। पानी आदि के लिए प्रकृति पर अत्यधिक निर्भर रहना पड़ता है और प्रकृति प्रायः सहयोग करने को राजी नही होती है जिसके फलस्वरूप फसलों का खराब होना कोरवा लोगो के आर्थिक जीवन की एक साधारण घटना है। यही कारण है कि कोरवा लोग बहुत गरीब हैं और साल-भर कठोर परिश्रम करने के बाद भी पेट भरने की समस्या को सुलझा नही पाते हैं। फलतः वे निर्दयी महाजनों के पंजों में फँस जाते हैं या भूमि के मालिकों के द्वारा उनका खूब शोषण होता है।

अधिकतर भारतीय जनजातियों की यही 'कहानी' है।

SELECTED READINGS

1. A Committee of the Royal Anthropological Institution of Great Britain and Ireland : *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1954.

2. Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The Ma cmillan Co., New York, 1959.

3. Boas and Others : *General Anthropology*, D. C. Heath & Co., New York, 1938.

4. Govt. of India : *The Adivasis*, The Publication Division, Delhi, 1960.

5. Herskovits, M. J. : *Economic Anthropology*, Alfred A. Knopf, New York, 1952.

12 टोटमवाद (Totemism)

अनेक जनजातीय संस्कृतियों मे धर्म तथा सामाजिक संगठन के तत्त्व और विशेषताएँ अनोखे ढग से मिली-जुली रहती हैं और वह इस अर्थ मे कि ये जनजातियाँ किसी भौतिक पदार्थ, पशु या पेड़-पौधों से अपना एक रहस्यमय सम्बन्ध जोड़कर अलौकिक विश्वासो को पनपाती एव सामाजिक जीवन को नियमित करती हैं। मानवशास्त्री इन जनजातियो को टोटमवादी (Totemic) कहते है और जिससे ये लोग एक रहस्यमय सम्बन्ध होने का दावा करते हैं, उसे 'टोटम' (Totem) कहते हैं। 'टोटम' शब्द का बोध उत्तरी अमेरिका के इण्डियनों से सर्वप्रथम श्री जे० लांग (J. Long) ने सन् 1791 में किया था; और श्री जे० एफ० मैकलिनन (J. F. McLennan) ने एक आदिम सामाजिक सस्था के रूप मे टोटमवाद (Totemism) के महत्त्व को सबसे पहले स्वीकार किया।[1]

वास्तव मे जैसा, कि हम आगे देखेंगे, टोटमवाद (Totemism)[2] जनजातियो के सामाजिक सगठन का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आधार है। इसके आधार पर गोत्र-जीवन संगठित तथा विवाह आदि नियन्त्रित होते है। इस कारण टोटम और टोटमवाद के स्वरूपो को समझना बहुत ही आवश्यक है।

जनजातीय समूह अपने गोत्र का सम्बन्ध केवल मनुष्यो तक ही सीमित नही रखते हैं, बल्कि किसी भौतिक वस्तु, पशु, पेड़-पौधे तथा अन्य प्राकृतिक चीजों से अपना सम्बन्ध होने का दावा करते हैं और केवल सम्बन्ध ही नही, अपितु उस सम्बन्ध के आधार पर अनेक अन्धविश्वासों, श्रद्धा, भक्ति और आदर के भाव को जन्म देते हैं। इस प्रकार, **किसी भौतिक वस्तु या पशु-पक्षी या प्रकृति की अन्य कोई चीज, जिसके साथ एक गोत्र अपना गूढ़ सम्बन्ध मानता है, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त धारणाओं, विश्वासों और संगठन को टोटमवाद कहते हैं।**[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि

---

1 D N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 333

2. "This term is derived from a Chippewa word, variously rendered as *dodaim, toodaim, oteteman, and ododam*, which has been adopted into the English language in the form *totem*."—Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 200.

3 "Thus, any material object or animal or bird, or any other phenomenon of nature with which a clan thinks of a mystic relation is called totam, and all the ideas, beliefs and organization associated with this totem is known as totemism "—R.N. Mukherjee, *Bharatiya Janta tatha Sansthayen*, Saraswati oorie, 1961, p 73.

टोटमवाद धार्मिक तत्त्वों और सामाजिक सगठन का एक अनोखा संयोग (combination) है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना होगा कि टोटमवाद न तो धर्म है और न ही टोटम कोई भगवान या भगवान का प्रतीक।

टोटम की परिभाषा

(Definition of Totem)

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, 'टोटम एक पदार्थ, प्राय एक पशु अथवा एक पौधा है जिसके प्रति एक सामाजिक समूह के सदस्य विशेष श्रद्धाभाव रखते हैं और जो यह अनुभव करते हैं कि उनके और टोटम के बीच भावनात्मक समानता का एक विशिष्ट बन्धन है।'[1] श्री फ्रायड (Freud) के अनुसार, 'वास्तव मे, टोटम एक पशु है (चाहे भक्ष्य हो तथा हानिरहित, भयकर हो तथा डरावना) और यदा-कदा एक पौधा अथवा एक प्राकृतिक पदार्थ (जैसे वर्षा या जल) भी हो सकता है, जिसका कि समग्र गोत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।'[2] श्री जेम्स फ्रेजर (James Frazer) ने टोटम की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "टोटम भौतिक वस्तुओ का एक वर्ग है जिसका एक आदिम जाति, यह विश्वास रखते हुए कि उसके तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट आन्तरिक सम्बन्ध विद्यमान है, अन्धविश्वासपूर्ण आदर करती है।"[3] श्री गोल्डनवीजर(Goldenweiser) ने टोटम के अर्थ को और भी विस्तारपूर्वक समझाते हुए लिखा है कि "गोत्रों मे विभाजित अनेक आदिम जनजातियो मे गोत्र-नाम एक पशु, पौधा अथवा प्राकृतिक पदार्थ से लिया गया है और गोत्र से सदस्य इन पशुओं अथवा वस्तुओं के प्रति विशिष्ट मनोभाव रखते हैं। इसी को मानवशास्त्री टोटम कहते हैं।"[4]

उपरोक्त परिभाषाओ से टोटम के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट धारणा बन जाती है। अगर उक्त परिभाषाओ का विश्लेषण किया जाय तो हमे टोटम के सम्बन्ध मे दो-तीन बातो का पता चलता है—प्रथम तो यह है कि साधारणतया टोटम कोई अभौतिक या अमूर्त्त वस्तु नहीं होती है, यह कोई-न-कोई भौतिक चीज, पशु-पक्षी या पेड़-पौधा होता

1 "Totem is an object, often an animal or a plant, held in special regard by the members of a social group, who feel that there is a peculiar bond of emotional identity between themselves and the totem "—E A Hoebel, *Man in the Primitive World*, p 512

2. "It is as a rule an animal (whether edible and harmless, dangerous and fear) and more rarely a plant or a natural phenomenon such as rains or water, which stands in close relation to the whole clan."—S Freud, *Totem and Taboo*

3 "A totem is a class of material objects which a savage regards with superstitious respect believing that there exists between him and every member of clan an intimate altogether a special relation."—James Frazer, *Totemism*

4 "Among many primitive tribes divided into sibs (clans or gentes) the sib name is derived from an animal, plant or natural object and the sib mates display special attitude towards these creatures or things which in this connection are designated by anthropologist as totems."—A'Goldenweiser, *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. 13, p. 657.

है। दूसरी बात यह है कि यह भौतिक चीज, पशु या पौधा एक गोत्र-समूह के सदस्यों के दृष्टिकोण से कोई सामान्य या साधारण चीज नहीं होती है, इसलिए अन्य भौतिक चीज, पशु या पौधों से टोटम बिल्कुल ही भिन्न होता है। तीसरी बात यह है कि चूँकि यह टोटम नामधारी भौतिक पदार्थ या पशु या पक्षी या पेड़ या पौधा असाधारण या अलौकिक या विशिष्ट शक्तिसम्पन्न है, इस कारण इसके प्रति गोत्र-समूह के सदस्यों की अन्धविश्वास-मूलक श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना होती है। अन्तिम बात यह है कि इस श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना के आधार पर यह भी विश्वास किया जाता है कि टोटम तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट, आन्तरिक, रहस्यमय या अलौकिक सम्बन्ध विद्यमान है। इन समस्त विशेषताओं से सम्बन्धित भौतिक पदार्थ, पशु, पक्षी, पेड़ व पौधे को ही टोटम कहते हैं।

टोटमवाद की परिभाषा
(Definition of Totemism)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, किसी भौतिक वस्तु, पशु, पक्षी, पेड़, पौधा या प्रकृति की अन्य कोई चीज जिसके साथ एक गोत्र के सदस्य अपना एक अलौकिक या गूढ़ सम्बन्ध मानते हैं और जिसके प्रति वे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर का भाव रखते हैं, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त धारणाओं, विश्वासों और संगठन को टोटमवाद कहते हैं। अति संक्षेप में, **टोटम की संस्थागत अभिव्यक्ति** (institutionalized expression) **ही टोटमवाद है।** इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत टोटम की परिभाषा निम्नवत् है—

श्री मैरेट (Marett) के अनुसार, "किसी गोत्र के सम्बन्ध में टोटमवाद उस पद्धति को कहते हैं, जिसके अनुसार किसी जनजाति का कोई उपभाग किसी विशेष जानवर या वनस्पति से अपना विशिष्ट सम्बन्ध समझता है, उसके नाम का प्रयोग करता है और यह दावा करता है कि उसके साथ उसका एक रहस्यमय सम्बन्ध है।"

रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने टोटमवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है, "टोटमवाद प्रथाओं और विश्वासों का वह समूह है जिसके द्वारा समाज तथा पशुओं और पौधों एवं अन्य प्राकृतिक वस्तुओं, जो कि सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं, के बीच सम्बन्धों की एक विशेष व्यवस्था स्थापित हो जाती है।"[1]

श्री गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने टोटमवाद के संस्थात्मक पक्ष पर विशेष बल देते हुए लिखा है कि "गोत्रों, उनके टोटम तथा उनसे सम्बन्धित विश्वासों, प्रथाओं व संस्कारों के योग से बनने वाली संस्था को टोटमवाद कहते हैं।"[2]

1. "Totemism is a set of customs and beliefs by which there is set up a special system of relation between the society and the animals and plants and other natural objects that are important in the social life."—Radcliffe-Brown, *Social Organization of Australian Tribes, The Oceania Monographs,* No. 1, Macmillan & Co., Melbourne, 1931, p. 29.

2. "The institution which comprises the sibs, their totems and the attendent beliefs, customs and rituals is called totemism."—A. Goldenweiser, *Encyclopaedia of the Social Sciences,* Vol. 13, 1957, p. 657.

श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) के अनुसार, "टोटमवाद उस धारणा या विश्वास को कहते हैं जिसके अनुसार किसी मानव-समुदाय का किन्ही वनस्पति, पशु या कभी-कभी अन्य कोई प्राकृतिक वस्तु के साथ अलौकिक सम्बन्ध माना जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओ की ऊपरी-तौर पर विवेचना करने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि धर्म और टोटमवाद मे कोई विशेष अन्तर नही है। श्री दुर्खीम (Durkheim) ने तो टोटमवाद को ही समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर माना है। आपके अनुसार, ऐसा टोटमवाद प्रकृति से ही सम्भव हुआ क्योकि टोटमवाद नैतिक कर्त्तव्यो और मौलिक विश्वासो की वह समष्टि है जिसके द्वारा समाज अर्थात् एक गोत्र के सदस्यो और पशु, पौधों या अन्य प्राकृतिक वस्तुओ के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यद्यपि श्री दुर्खीम के विचारो मे कुछ सत्यता है, फिर भी आज अधिकतर मानवशास्त्री धर्म और टोटमवाद मे एक स्पष्ट भेद मानते हैं। विभिन्न जनजातीय समाजो के अध्ययन से इस बात की ही पुष्टि होती है कि आदिवासी समाजो मे धर्म और टोटम अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। टोटमवाद मे एक गोत्र के सदस्य टोटम से अपने रहस्यमय सम्बन्ध को जोडते हैं और उसीके आधार पर एक टोटम-समूह के सदस्य आपस मे शादी-विवाह नही करते हैं। ये दोनो ही विशेषताएँ टोटमवाद मे अनिवार्य हैं, परन्तु धर्म मे इन दोनो का ही अभाव होता है। अगर धर्म का आधार टोटमवाद ही होता तो अब तक ये दोनो घुल-मिलकर एक हो गये होते। साथ ही टोटम सर्वव्यापी नही है और न ही आवश्यक रूप से यह प्रत्येक गोत्र मे पाया जाता है। ऐसे अनेक जनजातीय समाज हैं, जिनमे कि टोटमवाद का दर्शन ही नही होता है। वास्तव मे टोटमवाद केवल उन रहस्यमय सम्बन्धों की ओर निर्देश करता है जो कि टोटम तथा गोत्र-समूह के सदस्यो के बीच पाये जाते है। इन रहस्यमय सम्बन्धो के आधार पर ही कुछ विशेष प्रकार के विश्वासो, प्रथाओ एव सस्कारो का जन्म होता है। इरोक्यूइस इण्डियनो मे तो टोटम जैसे रीछ, कछुआ, सॉप आदि केवल गोत्रो के नाम को बताने के लिए ही होते है। इन गोत्रो का अपने टोटम से इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा सम्बन्ध, जैसा कि भारत तथा अन्य देशो के जनजातीय समाजो मे पाया जाता है, नही है। श्री मुरडॉक (Murdock) का कथन है कि वास्तव मे टोटम गोत्र के लिए केवल एक चिन्ह (sign) के रूप मे कार्य करता है और उस रूप मे वह गोत्र को कुछ प्रमुख विशेषताओ को बताता है। परन्तु श्री मुरडॉक का यह कथन सभी स्थानो पर लागू नही होता। उदाहरणार्थ, भारत के जनजातीय समाजो मे टोटम केवल एक गोत्र-चिन्ह ही नही, बल्कि उससे कही अधिक महत्त्व का है। यहाँ के गोत्र-सदस्यो के लिए टोटम कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न है और इसीलिए उससे सम्बन्धित कितने ही विश्वास, प्रथाएँ तथा सस्कार विकसित हो गये हैं। गोत्र को केवल एक गोत्र-चिन्ह मानने से इन सब विश्वासो, प्रथाओ और सस्कारो का विकास कदापि सम्भव न होता। इसीलिए सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि टोटमवाद टोटम से सम्बन्धित विश्वासो, प्रथाओ तथा सस्कारो का वह योग है जो कि एक गोत्र के सदस्यो को एक सूत्र मे बाँधता है और सामाजिक सगठन को एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है।

टोटम और टोटमवाद की विशेषताएँ
(Characteristics of Totemism)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम टोटम और टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(1) टोटम के साथ एक गोत्र के सदस्य अपना कई प्रकार का गूढ, अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध मानते हैं।

(2) टोटम के साथ इस अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध के आधार पर ही यह विश्वास किया जाता है कि टोटम उस शक्ति का अधिकारी है जो उस समूह के सदस्यो की रक्षा करती है, उन्हे चेतावनी देती तथा उनके भविष्य के कार्यों को निर्देशित करने के लिए भविष्यवाणी करती है। उदाहरणार्थ, अगर एक गोत्र का टोटम एक पक्षी है, तो उस गोत्र के सदस्यो मे यह विश्वास हो सकता है और होता है कि उस टोटम-पक्षी का एक विशेष आवाज या ढग से चिल्लाना इस बात की चेतावनी है कि उस गोत्र-समूह पर कोई विपदा आने वाली है। उसी प्रकार अगर टोटम-पक्षी या पशु एकाएक मर जाता है तो यह विश्वास किया जाता है कि गोत्र-समूह पर आने वाली किसी आफत को टोटम ने अपने ऊपर लेकर समूह के सदस्यो की रक्षा की।

(3) इसी कारण टोटम के प्रति विशेष भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। टोटम को मारना, खाना या अन्य किसी भी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है और उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है। टोटम, उसकी खाल और उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओ को बहुत पवित्र माना जाता है। टोटम की खाल को विशेष-विशेष अवसरो पर धारण किया जाता है। टोटम के चित्र बनाकर या बनवाकर रखे जाते हैं और शरीर पर टोटम के चित्र की गुदाई भी प्रायः सभी लोग करवाते हैं। टोटम-सम्बन्धी निषेधो का उल्लघन करने वालो की समाज द्वारा निन्दा की जाती है और दूसरी ओर इससे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट नैतिक कर्त्तव्यों को प्रोत्साहित किया जाता है।

(4) टोटम के साथ जो गूढ और अलौकिक सम्बन्ध का दावा किया जाता है, उसीके आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि उस गोत्र-विशेष के सभी सदस्य उसी से सम्बन्धित हैं और परस्पर भाई-भाई या भाई-बहन हैं।

(5) चूँकि एक टोटम के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य टोटम से सम्बन्धित मानते हैं, इस कारण वे कभी भी आपस मे विवाह आदि नहीं करते। इस अर्थ में प्रत्येक टोटम-समूह बहिर्विवाही (exogamous) होता है और अपने टोटम-समूह से बाहर विवाह करता है।

(6) टोटम के प्रति भय, भक्ति और आदर की जो भावना होती है, वह इस बात पर निर्भर नही होती कि कौनसी वस्तु टोटम है या वह कैसी है, क्योंकि टोटम तो प्रायः अहानिकारक पशु या पौधा होता है। यदि टोटम कोई हिंसक पशु जैसे शेर, चीता आदि या कोई विषैला जन्तु जैसे साँप आदि भी है, तो भी गोत्र के सदस्यो का यह दृढ विश्वास होता है कि उससे उन्हें कोई हानि नही पहुँचेगी।

(7) जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, यदि किसी गोत्र का टोटम कोई पशु या पक्षी है तो उसे मारना अथवा उसका मांस खाना वर्जित माना जाता है, परन्तु कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, रेब्बिट गोत्र में, जहाँ कि पशु भोजन का महत्त्वपूर्ण साधन है, इस प्रकार का कोई भी निषेध नहीं है। उसी प्रकार खाद्य सकट के समय भी उसके मास का उपयोग किया जा सकता है; इस प्रकार की छूट भी कुछ जनजातीय समाजो में पाई जाती है। परन्तु ऐसी स्थिति में टोटम-गोत्र के सदस्य कई प्रकार की प्रार्थनाएँ तथा धार्मिक व सामाजिक सस्कार करते हुए, अर्थात् एक विशेष प्रकार की विधि द्वारा टोटम-पशु को मारते हैं। श्री फ्रॉयड (Freud) का कथन है कि कभी-कभी पूर्वज-भोज (ancestral feast), जो कि गोत्र के पूर्वज की पुण्य-स्मृति मे किया जाता है, के अवसर पर भी टोटम-पशु को मारने की और उसके मास को खाने की छूट होती है। गोत्र का प्रत्येक सदस्य इस भोज को पवित्र मानकर उसमे भाग लेता है।

सामान्य तौर पर, जैसाकि सर्वश्री मजूमदार और मदान का कथन है, टोटमवाद के सबसे आधारभूत लक्षण तीन हैं—

(क) एक पशु या वनस्पति के प्रति एक विशिष्ट मनोभाव, (ख) एक गोत्र-सगठन, और (ग) गोत्र-बहिर्विवाह।[1]

टोटम के भेद

(Kinds of Totem)

टोटम आठ प्रकार के होते हैं जो कि निम्नवत् हैं—

(1) **गोत्र-टोटम** (Clan Totem)—इस प्रकार के टोटम का सम्बन्ध सम्पूर्ण गोत्र से होता है। गोत्र के सभी सदस्यों का विश्वास यदि एक टोटम-विशेष पर है तो उसे गोत्र-टोटम कहते हैं। इस टोटम पर विश्वास वश-परम्परागत रूप से चलता रहता है। सगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र मिलकर एक बडे समूह को जन्म देते हैं जिसे कि गोत्र-समूह या भ्रातृदल (phratry) कहते हैं। हो सकता है कि इस भ्रातृदल का समग्र रूप में एक सामान्य टोटम हो, उसी प्रकार द्विदल-सगठन (Dual organization) और उसके अर्द्धांश (moiety) का भी एक सामान्य टोटम हो।

(2) **पितृवशीय टोटम** (Patrilineal Totem)—यह वह टोटम है जिसका कि सम्बन्ध पितृवशीय परिवारों से है। इस प्रकार का टोटम वश के आधार पर होता है और प्रत्येक वश अपना एक अलग टोटम अपना लेता है। अगर वह वश पितृवशीय है तो उस वश से सम्बन्धित टोटम को पितृवशीय टोटम कहते हैं। इस प्रकार के टोटम आस्ट्रेलिया के जनजातीय समाजो मे पाये जाते हैं।

(3) **मातृवशीय टोटम** (Matrilineal Totem)—यह वह टोटम है जिसका कि सम्पर्क मातृवशीय परिवारो से है। अगर एक वश मातृवंशीय है और उस वश का अपना टोटम है, तो उसे मातृवशीय टोटम कहते हैं। इस प्रकार के टोटम दक्षिणी वेल्स,

---

1 Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p. 124.

विक्टोरिया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं।

(4) **व्यक्तिगत टोटम** (Individual Totem)—इस प्रकार के टोटम से गोत्र के किसी व्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध होता है और चूँकि यह टोटम सम्पूर्ण गोत्र का नहीं बल्कि व्यक्ति का होता है इसलिए इसका महत्त्व गोत्र के लिए न होकर केवल उसी व्यक्ति के लिए होता है। गोत्र के अन्य व्यक्ति उसमें विश्वास नहीं रखते और न ही इस प्रकार का टोटम अधिक स्थायी होता है। व्यक्तिगत टोटम के उत्तम उदाहरण नयी दक्षिणी वेल्स में मिलते हैं जहाँ पर कि प्रत्येक चिकित्सक (medicine man) कुछ असाधारण अलौकिक शक्ति का अधिकारी होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ उसे अपने व्यक्तिगत टोटम, कोई पशु, से प्राप्त हुई हैं जिससे उस व्यक्ति के लिए जादू-टोना आदि करना सम्भव होता है।

(5) **लिंग टोटम** (Sex Totem)—लिंग टोटम से तात्पर्य यह होता है कि कुछ समाजों में स्त्री और पुरुष दोनों का ही टोटम अलग-अलग होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के आधार पर एक गोत्र दो टोटम-समूहों में बँट जाता है—एक समूह स्त्रियों का होता है और इनका अपना एक टोटम होता है जिसमें कि गोत्र की सभी स्त्रियाँ विश्वास करती हैं। दूसरा समूह पुरुषों का होता है और इनका भी अपना पृथक् टोटम होता है जिसमें कि गोत्र के सभी पुरुष विश्वास करते हैं। आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में रहने वाले आदिवासियों में इस प्रकार के लिंग टोटम पाये जाते हैं। उसी प्रकार हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियों में कठफोड़वा (woodpecker) तो स्त्रियों का टोटम है और चमगादड़ (bat) पुरुषों का।

(6) **विभक्त टोटम** (Split Totem)—कई समाजों में किसी पशु या पक्षी को पूरे तौर पर टोटम न मानकर उसके शरीर के किसी एक अंग को, जैसे उसके दिल को, लिवर को या खाल को टोटम माना जाता है। इस प्रकार के विभक्त टोटम की उत्पत्ति तब ही होती है जब कि मूल गोत्र भी अनेक भागों में बँट जाता है। पहले जबकि यह गोत्र अविभाजित था तब एक पशु पूरे तौर पर ही उस गोत्र का टोटम था, परन्तु जैसे-जैसे गोत्र विभिन्न भागों में बँट जाने लगे वैसे-वैसे प्रत्येक भाग ने उस पशु के शरीर के एक-एक अंग को टोटम के रूप में ग्रहण कर लिया जिससे कि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ विशिष्टता बनी रहे। इस प्रकार गोत्र के विभक्त होने के साथ-साथ टोटम-पशु भी विभक्त होते जाते हैं, इसीलिए इसे विभक्त टोटम कहा जाता है। छोटा नागपुर की जनजातियों में ऐसे टोटम के उदाहरण मिलते हैं। वहाँ पर जैसे ही एक गोत्र का आकार बड़ा हो जाता है वैसे ही वह गोत्र कुछ उपगोत्रों में बँट जाता है और प्रत्येक उपगोत्र अपने मूल टोटम-पशु, पक्षी या पेड़-पौधे के एक अंग-विशेष को टोटम के रूप में अपनाकर सतोष कर लेता है।

(7) **गर्भधारण करने वाला टोटम** (Conceptional Totem)—टोटम का वास्तविक जटिल रूप आस्ट्रेलिया की जनजातियों में देखने को मिलता है। उसी जटिल रूप का एक अनोखा स्वरूप यही गर्भधारण करने वाले टोटम पर विश्वास है। उत्तरी-केन्द्रीय आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानी भाग में रहने वाली अरून्टा (Arunta) जनजाति

मे एक टोटम-समूह की सदस्यता कुछ टोटम-केन्द्रों के आधार पर निश्चित होती है और वह इस प्रकार से कि एक बच्चा उसी टोटम-केन्द्र से सम्बन्धित समझा जाता है जहाँ कि उसकी माँ सर्वप्रथम गर्भवती हुई थी। और भी स्पष्ट रूप से, इस जनजाति में यह विश्वास किया जाता है कि स्त्रियाँ टोटम की कृपा से ही गर्भवती होती हैं या टोटम ही स्त्रियो को गर्भधारण करवाने वाला होता है। यह टोटम-आत्मा कुछ 'केन्द्रों' (साधारणत. कोई टीला, पेड आदि) मे निवास करती है और जब कोई स्त्री उस केन्द्र के पास से गुजरती है तो वह आत्मा उस स्त्री के शरीर मे प्रवेश कर जाती है। फलत: वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जिस टोटम-केन्द्र से यह स्त्री गर्भवती होती है या गर्भवती होने का ज्ञान होता है, उसकी सन्तान उसी टोटम-केन्द्र की सदस्य मानी जाती है। इस विश्वास के आधार पर ही उक्त जनजाति में कई ऐसे पवित्र टोटम-केन्द्र होते हैं जहाँ पर कि, उनके विश्वास के अनुसार, उनके काल्पनिक पूर्वज या प्रवर्तक की आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् निवास करती हैं। इन केन्द्रो मे पूर्वजों की दो आत्माएँ रहती हैं, एक तो वह जो उस पवित्र स्थान पर सदैव बनी रहती है, और दूसरी वह जो कि अवसर मिलते ही किसी स्त्री के शरीर मे प्रवेश करके उसे गर्भ धारण करवाती है। इस प्रकार विद्यमान अरूण्टा जनजाति मे उन पूर्वजो का पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण ही अरूण्टा जनजाति की निरन्तरता कायम रहती है और इसीलिए यह जनजाति इन टोटम केन्द्रों को अपने अस्तित्व का कारण मानती है।

(8) **बहुसंख्यक टोटम** (Linked or Multiple Totem)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही गोत्र-समूह के दो या अधिक टोटम हैं। बगण्डा (Baganda) जनजाति मे बिल्कुल यही स्थिति है। इस जनजाति मे 36 बहिर्विवाही गोत्र हैं और प्रत्येक गोत्र एक से अधिक टोटम पर विश्वास करता है।

टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त

(Theories of the Origin of Totem)

श्री जॉन फर्गूसन मैकलिनन (John Ferguson McLennan) ने सन् 1869-70 में *Fortnightly Review* मे दो निबन्ध आदिम समाजों में पशुओं और पौधों की पूजा के विषय पर प्रकाशित किये थे। इनमें से प्रथम का विषय-वस्तु टोटम और टोटमवाद था, जब कि दूसरा आदिम लोगों के टोटम-ईश्वर (Totem-Gods) से सम्बन्धित था।[1] उस समय से लेकर, विशेषकर श्री जॉन फ्रेजर (John Frazer) द्वारा लिखित पुस्तक *Totemism* (1887) के प्रकाशित होने के पश्चात् टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न मानवशास्त्रियो ने अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। केवल मानवशास्त्री ही नही, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि ने भी इस विषय पर अपने-अपने मतों को व्यक्त किया है। उनमे से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

1. Alexander Goldenweiser, 'Totemism', *The Making of Man*, Edited by V F Calverton, The Modern Library, New York, 1931, p. 364.

(1) **नामवादी सिद्धान्त** (Nominalistic Theory)—इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम मेजर पॉवेल (Major Powell) ने प्रस्तुत किया था जिसका कि आंशिक रूप में सर्वश्री पिकलर तथा सोमलो (Pikler and Somlo) ने समर्थन किया था। मेजर पॉवेल ने टोटमवाद को 'नामकरण की एक व्यवस्था' (system of naming) के रूप में माना था। इसके पश्चात् इस सिद्धान्त को और भी क्रमबद्ध रूप में श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने प्रस्तुत किया। आपका विश्वास था कि पहले आदिम समाजों में लोग पशुओं के नाम के आधार पर ही अपने बच्चों का नामकरण करते थे। परन्तु चूंकि आदिम समाजों में भाषा अधिक विकसित नहीं है इस कारण आगे चलकर व्यक्तियों के नाम को ही भूल से फिर पशुओं से सम्बन्धित मान लिया गया। संक्षेप में, पहले व्यक्तियों को पशुओं का नाम मिला और फिर अविकसित भाषा के कारण पशुओं को ही पूर्वज मान लिया गया और पूर्वज के रूप मे पशुओं की पूजा शुरू हो गई।[1] एक उदाहरण के द्वारा इस स्थिति को उत्तम ढंग से समझाया जा सकता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति 'अ' है; इसका नामकरण किसी पशु के नाम पर हुआ और यह 'अ' महाशय 'बिल्ली' नाम से परिचित हुए। इसके बाद दो-चार पीढ़ियाँ बीत गईं। प्रत्येक पीढ़ी के वंशज यह जानते रहे कि उनके पूर्वज 'बिल्ली' हैं। आदिम समाजों की भाषा मे शब्द भण्डार बहुत कम होने के कारण बहुत समय बीत जाने पर यह निश्चित रूप से निर्धारित न हो सका कि यह पूर्वज 'बिल्ली', व्यक्ति है अथवा पशु। पशु मान लेने की सम्भावना अधिक थी क्योंकि बिल्ली नामक पशु उस समय भी पाये जाते थे या लोग देखते थे। इसीलिए उस पशु बिल्ली को ही पूर्वज मानकर उसे ही लोगो ने पूजना या उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति के भाव को रखना प्रारम्भ किया। इसीके आधार पर टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई।

श्री ए० लैंग (Andrew Lang) ने अपनी पुस्तक '*Secret of the Totem*' (1850) मे उस सिद्धान्त को आंशिक रूप में ग्रहण किया। आपके मतानुसार यह सम्भव है कि किसी कारणवश पहले-पहल पशुओं के नाम के आधार पर सामाजिक समूहों (न कि व्यक्तियों) का नाम रखा जाता था, परन्तु बाद में लोग इन नामों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सब कुछ भूल गये और इस सम्बन्ध मे उन्होंने अपनी-अपनी कल्पना को दौड़ाया जिसके फलस्वरूप टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई। श्री लैंग (Lang) का विश्वास था कि अपने पशु नामधारी समूह की उत्पत्ति के विषय मे लोगो को ज्ञान न होना, समान नामधारी मानव तथा पशुओं के बीच वंशानुगत सम्बन्ध के विषय मे विश्वास तथा रक्त के सम्बन्ध में अन्धविश्वास—ये तीन तत्त्व ही टोटम, टोटमवाद, यहाँ तक कि बहिर्विवाह की प्रथा को जन्म देने के लिए पर्याप्त थे।[2]

---

1. "Spencer assumed that animal names were once given to individuals, that these names were subsequently confused with the animals themselves owing to the vagueness of primitive languages and that ultimately such animals came to be worshipped as ancestors."—*Ibid*, pp. 364-365.

2. "No more than these three things—argued Lang—a group animal name of unknown origin, belief in a transcendental connection between all

(2) आत्मा का सिद्धान्त (Theory of Soul)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जेम्स फ्रेज़र (James Frazer) ने अपनी पुस्तक *'Totemism and Exogamy'* (1910) मे किया है। आपके मतानुसार टोटम की उत्पत्ति आदिम लोगों मे आत्मा पर विश्वास के आधार पर हुई है। आदिम लोगो मे यह विश्वास दृढ है कि मृत्यु के पश्चात् मृत व्यक्तियों की आत्मा बाहर किसी पशु अथवा पेड मे निवास करती है। इससे स्वभावतः ही इन पशुओ या पेडो के प्रति आदिम लोगो के मन मे श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना पनपी और इन पशुओ या पेडों को किसी भी रूप में हानि पहुँचाना या आघात करना निषिद्ध हो गया। इसी के फलस्वरूप टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई। अरूण्टा जनजाति मे यह बात बहुत ही सच प्रतीत होती है। उनमे से एक अनोखा विश्वास यह प्रचलित है कि मरे हुए पूर्वजो की आत्मा पुनर्जन्म की राह देखती हैं, और इसीलिए *शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह आत्मा कुछ निश्चित स्थानों मे पेड अथवा पशु मे* निवास करती हैं। इस स्थान से जो भी स्त्री निकलती है, वह आत्मा उस स्त्री के शरीर मे प्रवेश कर जाती है और स्त्री गर्भवती हो जाती है। अतः उस पेड अथवा पशु का, अपने पूर्वजो की आत्मा के ठहरने के आधार के रूप मे, अरूण्टा लोग आदर करते हैं। श्री फ्रेजर ने लिखा है कि गर्भधारण का यह सिद्धान्त ही टोटमवाद का मूल आधार है; साथ ही, यह सिद्धान्त या टोटमवाद गर्भवती स्त्रियो की, न कि पुरुषो के मस्तिष्क की, उपज है।[1]

(3) आर्थिक सिद्धान्त (Economic Theory)—कुछ विद्वानों ने टोटमवाद की उत्पत्ति का आर्थिक कारण बताया है। इस सिद्धान्त मे श्री हॉपकिन्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। *आपके मतानुसार टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति आर्थिक* उपयोगिता के आधार पर हुई है। जिस पशु या वनस्पति का किसी जनजाति के लिए आर्थिक महत्त्व है अथवा उस पशु या वनस्पति के द्वारा उसे जीवित रहने के साधन प्राप्त हो रहे हैं, तो यह मानी हुई बात है कि उसके प्रति उस जनजाति की धीरे-धीरे श्रद्धा की भावना पनपती है जिससे कि आगे चलकर टोटम की उत्पत्ति होती है। भारत की टोडा जनजाति इसका प्रमुख उदाहरण है। टोडा जनजाति का टोटम भैंस है, क्योंकि वह उन्हे भोजन देती है। यह जनजाति, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, एक पशु-पालक जनजाति है। इसके सदस्यो के जीवन-धारण का एक मात्र उपाय भैंसो के दूध तथा दूध से बनी चीजो को बेचना है। अतः स्पष्ट है कि भैंस के प्रति उनका आदर भाव स्वाभाविक ही है।

---

bearers, human and bestial, of the same name, and belief, if the blood super-stitions—were needed to give rise to all the totemic creeds or practices including exogamy."—*cf* Alexander Goldenweiser, *op. cit.*, p 365

1. "If we use what in particular may have suggested the theory of con-*ception which appears to be the tap-root of totemism, it seems probable that,* as I have already indicated, a preponderant influence is to be ascribed to the sick fancies of pregnant women, and that so far, totemism may be described as a creation of the feminine rather than of the masculine mind"—James Frazer.

(4) सामाजिक सिद्धान्त (Social Theory)—इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक श्री दुर्खीम हैं। आपके अनुसार टोटम सामुदायिक जीवन का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप में समाज या समूह के प्रति अपने श्रद्धाभाव के कारण हुई है। टोटम, श्री दुर्खीम के मतानुसार, सामूहिक प्रतिनिधित्व (collective representation) है। इसीलिए टोटम साधारण (profane) नहीं, पवित्र (sacred) वस्तु है।

अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में श्री दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है उनका कहना है कि इस जनजाति के लोगों के जीवन का अध्ययन करने पर टोटम से सम्बन्धित पवित्र अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह है कि पवित्रता का ज्ञान एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना (group excitement) के कारण है। त्यौहारों तथा उत्सवों पर जब गोत्र के सभी लोग एक साथ एकत्र होते थे तो प्रत्येक मनुष्य को ऐसा अनुभव होता था कि समूह की शक्ति उसकी वैयक्तिक शक्ति से कहीं अधिक उच्च और महान है। ऐसा अनुभव करने के स्पष्ट कारण भी हैं। इन त्यौहारों तथा उत्सवों का अस्तित्व ही अनेक लोगों की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावों, विचारों व रुचियों वाले अनेक व्यक्तियों के वैयक्तिक भावों, विचारों व रुचियों के सम्मेलन और संगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है। यही सामूहिक शक्ति होती है जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता है। टोमस इसी सामूहिक शक्ति का प्रतीक है। साथ ही, इन त्यौहारों तथा उत्सवों के अवसर पर एकत्रित भीड़ में एक प्रकार का मानसिक उल्लास प्रदर्शित होता है। यह उल्लास सम्भवतः मानव की सामाजिक मूल-प्रवृत्ति के कारण है। ऐसे अवसरों में एक ही समय पर अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते हैं और व्यक्ति के विचार व संवेग सभी उपस्थित व्यक्तियों के विचारों व संवेगों के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। फलतः व्यक्ति की अपनी शक्ति गौण हो जाती है और समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। व्यक्ति समूह की इस शक्ति के सामने झुकता है और उसकी शक्ति से प्रभावित होकर उसके मन में समूह या समाज के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना पनपती है। वह समूह को साधारण से श्रेष्ठ या महान समझने लगता है। चूँकि कोई-कोई पेड़-पौधा, पशु या पक्षी समूह या समाज का प्रतिनिधित्व करता है इस कारण वह पेड़-पौधा या पशु या श्रद्धा-भक्ति का आधार हो जाता है। उसे वह पवित्र समझने लगता है और उसका आदर करता है। इस प्रकार टोटम, श्री दुर्खीम के अनुसार, समाज-पूजा का एक प्रतीक है। अतः टोटमवाद समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर है।

(5) आकस्मिक ऐतिहासिक घटना का सिद्धान्त (Theory of Historical Accident)—इस सिद्धान्त के समर्थकों में श्री एलविन, डा० मजूमदार तथा रायबहादुर शरत् चन्द्र राय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री एलविन के मतानुसार टोटम आकस्मिक सम्बन्ध या घटना का परिणाम होता है। जैसे, किसी व्यक्ति ने एक कबूतर

को मारा, उसके बाद किन्हीं कारणों से वह अकस्मात् अन्धा हो गया। उस समूह के चिकित्सक (medicine man) ने इन दोनों घटनाओं में सम्बन्ध जोड़कर यह बताया कि उस व्यक्ति का अन्धा होना उसके द्वारा कबूतर को मारने से सम्बन्धित है। इससे कबूतरके प्रति आदर-मिश्रित-भय का भाव उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे कबूतर उस समूह का टोटम बन गया।

श्री राय ने ओरॉव जनजाति के टोटमों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ऐसी घटनाओं का होना सम्भव है जिसमे किसी व्यक्ति की प्राणरक्षा अथवा हानि किसी विशेष प्राणी या वनस्पति से हुई हो। इससे उस वस्तु के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा और आदर-मिश्रित-भय का पनपना ही स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति मे वह वस्तु उस समूह का टोटम बन जाती है। उदाहरणार्थ, ओरॉव जनजाति मे यह किंवदन्ति प्रचलित है कि उस जनजाति का कोई प्रधान या मुखिया जगल में कुंजर वृक्ष के नीचे सो रहा था। जंगल मे अनेक हिंसक पशु तथा विषैले जन्तु थे जिनसे कि उस प्रधान की किसी भी क्षण प्राणहानि हो सकती थी। परन्तु कुंजर पौधों ने उसे चारों ओर से घेर लिया और इस प्रकार उसकी रक्षा की। इस प्रधान ने कुंजर पौधे को अपना टोटम मान लिया। कुंजर पौधे की यह कहानी उस समूह में फैल गई और अपने सरदार या प्रधान के माध्यम से उस पौधे के महत्व से सब लोग प्रभावित हुए और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता तथा सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उसे अपना टोटम मान लिया। साथ ही, उस प्रधान के जितने भी वंशज हुए, उन सभी ने कुंजर पौधे को महत्त्व दिया। इस प्रकार कुंजर पौधा उस जनजाति का टोटम बन गया।

टोटम या टोटमवाद के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि भारतवर्ष के हिन्दू समाज मे भी तुलसी, गाय, गगा आदि को लोग श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखते हैं तथा उनकी रक्षा और पूजा करते हैं। परन्तु इन सब चीजों को या पशु या प्राकृतिक पदार्थों को टोटम समझना बहुत बडी गलती होगी, क्योंकि इन सबके साथ इनके मानने वाले कोई गूढ़ सम्बन्ध नही जोडते, न ही बहिर्विवाह के नियमो का पालन करते हैं। तुलसी की पूजा करने वाले सभी व्यक्ति आपस मे शादी-विवाह करते हैं और वे तुलसी से कोई रहस्यमय सम्बन्ध भी नही मानते। ये दोनो ही विशेषताएँ टोटमवाद मे अनिवार्य हैं। इस कारण ये सब चीजें टोटम नही हैं।

टोटमवाद का सामाजिक महत्त्व
(Social Importance of Totemism)

टोटमवाद का जनजातियो के जीवन में काफी महत्त्व है और उनकी सामाजिक व्यवस्था को संगठित तथा व्यवस्थित करने मे यह काफी महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। टोटम के आधार पर ही सामुदायिक भावना और इस कारण भ्रातृभाव का जन्म होता है जो कि जनजातीय सगठन को स्थिर रखने मे काफी सहायक सिद्ध होती है। टोटम-समूह के सभी सदस्य एक-दूसरे के भाई-बहन हैं, यह भावना इतनी तीव्र होती है कि उनमे विवाह एवं किसी भी प्रकार का संसर्ग निषिद्ध है। इसी टोटम के आधार पर

उनमें परस्पर सहिष्णुता, सहानुभूति, भ्रातृभाव, स्नेह और सहयोग पाया जाता है। ये तत्त्व सामाजिक जीवन की शान्ति और सुव्यवस्था में बड़े महत्त्व के होते हैं। संकट के समय में इसीलिए टोटम समूह के सदस्य एक-दूसरे की सहायता करते हैं और प्रत्येक के प्रति सबका उत्तरदायित्व सभी सदस्य अनुभव करते हैं। बाहर के किसी भी व्यक्ति ने अगर टोटम-समूह के किसी सदस्य को किसी प्रकार से हानि या आघात पहुँचाया है, तो सम्पूर्ण टोटम-समूह उसका बदला लेता है।

टोटम या टोटमवाद सामाजिक नियंत्रण का भी एक साधन है। टोटम के आधार पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विवाह-सम्बन्धों को नियमित किया जाता है ताकि एक समूह के अन्तर्गत यौन-सम्बन्धी व्यभिचार न फैल सके। कुछ निश्चित वस्तुओं के प्रति आदर भाव रखना, उन्हें मारना या आघात न करना तथा उनके मांस आदि को न खाना आदि अनेक रूपों में टोटम के आधार पर व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है। टोटम की कुछ विशिष्ट शक्ति होती है; उस शक्ति के डर से भी टोटम-समूह के सदस्य अपने व्यवहारों को नियंत्रित तथा नियमित रखते हैं।

टोटमवाद का भौगोलिक वितरण
(Geographical Distribution of Totemism)

आदिम समाजों की अत्यधिक विस्तृत संस्थाओं में टोटमवाद एक है। उत्तरी अमेरिका की अधिकतर जनजातियों में टोटमवाद पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका में भी प्रायः यही स्थिति है। अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान से लेकर कालाहारी (kalahari) रेगिस्तान तक की प्रायः सभी जनजातियों में टोटमवाद का विस्तार पाया गया है। आस्ट्रेलिया में तो शायद ही कोई जनजाति ऐसी हो जिसमें टोटमवाद न पाया जाता हो।

उपरोक्त देशों में किन-किन जनजातियों में टोटमवाद का विस्तार है, इसका भी संक्षिप्त ज्ञान यहाँ आवश्यक है। उत्तरी अमेरिका में टिलनगिट, हैडा, जूनी, होपी तथा अन्य दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेश की जनजातियों में, दक्षिण-पूर्व में, नेटेज़, क्रीक आदि में तथा कुछ कैलीफोर्निया और दुडलैण्ड की जनजातियों में टोटमवाद अत्यधिक प्रचलित है। अमेरिका के मैदानी भागों में रहने वाली जनजातियाँ जैसे, सियान, गाभाहो, क्रो, चीईनी आदि में भी टोटमवाद पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका की जनजातियों तथा ब्राज़ील के इण्डियनों में टोटमवाद अति व्यापक है। भूमध्यसागरीय जनजातियों तथा दक्षिणी अफ्रीका की बुशमैन और हॉटेनटॉट जनजातियों को छोड़कर टोटमवाद अफ्रीका के अन्य सभी भागों में पाया जाता है। बगण्डा, एकिक्यू, बिडोयिन, लांगो, मसाई आदि जनजातियों में टोटमवाद अत्यधिक लोकप्रिय संस्था है। वैसे तो आस्ट्रेलिया की सभी जनजातियों में टोटमवाद का प्रचलन है; फिर भी इस सम्बन्ध में अरूण्टा, केरीरा, तस्मानियन आदि जनजातियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer . *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. Calverton, V F. (edited) : *The making of man* The modern Library, New York, 1931.

3. Goldenweiser, A. : *Anthropology*, F. S. Crofts and Co., New York, 1946.

4. Majumdar, D. N. : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

5. Majumdar and Madan : *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1960.

6. Piddington, R. : *An Introduction of Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952.

13 धर्म और जादू
(Religion and Magic)

मानव संसार की समस्त घटनाओं या सृष्टि के रहस्यों को नहीं समझ पाता है। अपने जीवन के रोज के अनुभवों से वह यह सीखता है कि अनेक ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर उसका कोई वश नहीं है। स्वभावतः ही उसमें यह धारणा पनपती है कि कोई एक ऐसी भी शक्ति है जो कि दिखाई नहीं देती, परन्तु वह किसी भी मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली है। यह शक्ति अलौकिक शक्ति है; इसे डरा-धमकाकर या ऐसे अन्य किसी उपाय से अपने वश में नहीं किया जा सकता है। इस शक्ति को अपने पक्ष में लाने का एकमात्र उपाय इसके सम्मुख सिर झुकाकर पूजा, प्रार्थना या आराधना करना है। इस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित विश्वासों और क्रियाओं को ही धर्म कहते हैं।

इसके विपरीत, कुछ ऐसी शक्तियां भी हैं जो कि मनुष्य की अपनी शक्ति से अधिक शक्तिशाली हैं; परन्तु इन पर कुछ निश्चित तरीकों से अधिकार किया जा सकता है। इसीलिए मानव इस शक्ति के सामने झुकने के बजाय इस पर अपना अधिकार स्थापित करके उससे अपने उद्देश्यों की पूर्ति करवाता है। इसी को जादू कहते हैं।

उपरोक्त दो प्रकार की शक्तियों को और अच्छी तरह समझने के लिए हम अब धर्म और जादू की अलग-अलग विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

धर्म
(Religion)

धर्म की परिभाषा
(Definition of Religion)

धर्म किसी-न-किसी प्रकार की अतिमानवीय (superhuman) या अलौकिक (supernatural) या समाजोपरि (suprasocial) शक्ति पर विश्वास है, जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना है।[1] उपरोक्त परिभाषा आदिम और आधुनिक दोनों प्रकार के समाजों में पाये जाने वाले धर्मों की एक सामान्य व्याख्या है। प्रत्येक धर्म का आधार किसी शक्ति

1. "Religion is the belief in one or the other superhuman, or supernatural, or suprasocial power which (the belief) has for its basis the fear, the reverence, the devotion and the idea of sacredness and which is expressed through prayer, worship or submission."—R. N. Mukherjee, *People and Institution of India*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1961, p. 94.

पर विश्वास है और यह शक्ति मानव-शक्ति से अवश्य ही श्रेष्ठ है। परन्तु केवल विश्वास से ही धर्म सम्पूर्ण नहीं है। इस विश्वास का एक भावनात्मक (emotional) आधार भी होता है, जैसे उस शक्ति के सम्बन्ध में भय या उसके दण्ड का भय। साथ ही, उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रेम-भाव भी धर्म का आवश्यक अंग है। उस शक्ति से लाभ उठाने के लिए और उसके कोप से बचने के लिए प्रार्थना, पूजा या आराधना करने की विधियाँ या संस्कार (rituals) भी हुआ करते हैं। इन धार्मिक क्रियाओं में अलग-अलग समाज में अलग-अलग तरह की धार्मिक सामग्रियाँ (religious objects), धार्मिक प्रतीकों (religious symbols) और जादू-टोने, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है। उस शक्ति का, जिस पर विश्वास किया जाता है, रूप और स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग-अलग होता है। कहीं तो निराकार शक्ति की आराधना की जाती है और कहीं उस शक्ति का साकार रूप (मूर्ति या प्रतिमा) पूजा जाता है। संक्षेप में, इस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित समस्त विश्वासों, भावनाओं और क्रियाओं के सम्मिलित रूप को धर्म कहते हैं।

आधुनिक मानवशास्त्र के प्रवर्तक श्री एडवर्ड टायलर (Edward Tylor) ने ही शायद सर्वप्रथम सबसे कम शब्दों में धर्म की सबसे विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की थी। आपके अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।"[1]

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) के मतानुसार धर्म की प्रकृति और भी निश्चित है। आपने लिखा है, "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती और नियन्त्रित करती हैं।"[2] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्री फ्रेजर ने धर्म के तीन प्रमुख पहलुओं पर बल दिया है। प्रथम तो यह कि धर्म का सम्बन्ध एक ऐसी शक्ति से होता है जो कि मानव-शक्ति से श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि यह वह शक्ति है जो कि प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्देशित तथा नियन्त्रित करती है। और तीसरी बात यह है कि यह शक्ति मनुष्य-शक्ति से श्रेष्ठ है और चूंकि वह प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्धारित तथा नियन्त्रित करने वाली है, इस कारण भलाई इसी में है कि उसे खुश रखा जाय चाहे वह खुश रखने का तरीका आराधना हो, या पूजा हो या और कुछ। धर्म के अन्तर्गत ये तीनों तत्त्व सम्मिलित हैं।

कुछ विद्वानों ने अपनी परिभाषा में मानसिक या मनवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। उदाहरणार्थ, श्री हानिगशीम (Honigsheim) के अनुसार "प्रत्येक मनोवृत्ति, जो कि इस विश्वास पर आधारित या इस विश्वास से सम्बन्धित है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव व महत्त्वपूर्ण है, धर्म

1. "Religion is the belief in Spiritual Beings."—Edward B. Tylor, *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913, p. 424.

2. "By religion .... I understand a propitiation or conciliation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of human life."—Sir James Frazer, *The Golden Bough*, The Macmillan Co., New York, 1950, p. 459.

कहलाती है।"[1] इस परिभाषा में हानिगशीम ने चार बातों पर बल दिया है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक धर्म का आधार विश्वास है। अविश्वास के क्षेत्र में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता है अर्थात् जहां अविश्वास है वहां से धर्म भी दूर है क्योंकि धर्म तो मनुष्य के विश्वास पर ही टिका हुआ है। दूसरी बात यह है कि धर्म इस विश्वास से सम्बन्धित मानव की मनोवृत्ति है। ये दोनों ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व (psychological element) हैं। धर्म की यह विशेषता सम्भवत: इस ओर संकेत करती है कि धर्म कोई बाहरी घटना (external phenomenon) नहीं है, धर्म तो एक आन्तरिक अनुभूति है, इसका स्थान तो मनुष्य के मन में है। तीसरी बात यह है कि मनुष्यों में इस बात का भी विश्वास होना चाहिए कि अलौकिक (supernatural) शक्तियों का अस्तित्व है और मनुष्यों के लिए यह सम्भव है कि वे इन शक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। यह धर्म की एक बहुत ही रोचक विशेषता है। धर्म में शक्तियां अलौकिक हैं, फिर भी वे अपनी ही हैं और चूंकि अपनी हैं इसी कारण उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव है। भक्तों के भगवान अर्थात् भगवान भक्तों के (यानी जो उन पर विश्वास करता है उनके) ही आत्मजन होते हैं, इस कथन में धर्म की उपरोक्त तीसरी विशेषता ही झलकती है। और चौथी बात यह कि अलौकिक शक्ति से केवल सम्बन्ध स्थापित ही नहीं हो सकता है, बल्कि ये सम्बन्ध मनुष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowaski) धर्म के समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही पहलुओं को एक-सा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसी आधार पर आपके अनुसार, "धर्म क्रिया का एक तरीका है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी; और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"[2] इस कथन से धर्म की चार प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हैं। पहली विशेषता यह है कि धर्म विश्वासों की एक व्यवस्था है। यह विश्वास किसी अलौकिक शक्ति, आत्मा, परमात्मा या और किसी पर हो सकता है। ये विश्वासों की एक व्यवस्था इस अर्थ में है कि उस अलौकिक शक्ति पर कुछ परम्परा-स्वीकृत तरीकों से विश्वास करते हैं या उसके विषय में चिन्ता करते हैं। उदाहरणार्थ, एक समाज अपने धर्म के अन्तर्गत निराकार शक्ति पर विश्वास करता है, तो वह समाज उस निराकार शक्ति के बारे में जो कुछ सोचेगा या जिस ढंग से सोचेगा वह उस समाज के ढंग से भिन्न होगा, जहां साकार शक्ति पर विश्वास किया जाता है। धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक धर्म में विश्वासों से सम्बन्धित कुछ क्रियाएँ या कर्म होते हैं। अर्थात् धार्मिक विश्वास उस शक्ति के प्रति मनुष्य को निष्क्रिय (passive) या उदासीन रहने नहीं देता। उसे कर्म करना पड़ता है और इस कर्म की अभिव्यक्ति

1. "The term religion will be used to denote every attitude based on, and connected with the conviction that supernatural forces exist and that relations with them are possible and significant."—P. Honigsheim, *Sociology of Religion*, Modern Sociological Theory, The Dryden Press, New York, 1957, p. 452

2. "Religion is a mode of action as well as a system of belief, and a sociological phenomenon as well as a personal experience."—B. Malinowski, *Magic, Science and Religion and Other Essays*, Glencoe, 1948, p. 24.

प्रार्थना, पूजा-पाठ या आराधना के रूप में होती है। धर्म की तीसरी विशेषता यह है कि धर्म एक सामाजिक घटना (phenomenon) है। एक ही समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग धर्म है, ऐसा देखा नहीं गया। धर्म की चौथी विशेषता यह है कि धर्म को मानना या न मानना स्वयं व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है और यह बात उसके व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा प्रभावित होती है। हो सकता है कि एक हिन्दू के जीवन में कुछ ऐसे अनुभव हो जिनके कारण वह हिन्दू-धर्म को त्यागकर इस्लाम को अपना ले। धर्म की यह विशेषता अनुभव द्वारा प्राप्त व्यक्ति की अपनी मानसिक स्थितियों पर बल देती है।

ऐसे तो धर्म की असङ्ख्य परिभाषाएँ[1] विभिन्न विद्वानों ने प्रस्तुत की हैं, फिर भी धर्म का सामान्य स्वरूप उपरोक्त परिभाषाओं व विवेचना से काफी स्पष्ट हो जाता है। आगे यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories regarding Origin of Religion)

मानव-समाज में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई और उसका प्रारम्भिक रूप क्या था, इस सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। विकासवादी लेखकों के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज जनजातीय या आदिकालीन समाजों का ही क्रमिक विकसित रूप है, इस कारण धर्म की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम जनजातीय समाजों में ही हुई होगी। अतः अनेक मानवशास्त्री जनजातियों के जीवन का विश्लेषण करके धर्म की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप को ढूंढने का प्रयत्न करते हैं। यहां हम धर्म की उत्पत्ति के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

(1) आत्मावाद या जीववाद
(Animism)

श्री एडवर्ड टायलर (Edward B. Tylor) इस सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। आपके अनुसार आत्मा की धारणा ही "आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के

---

1. "Religion," says Schleiermacher, "consists of an absolute sense of our dependence." ' It is," says Feuerbach, "a desire which manifests itself in prayer, sacrifice and faith " Kant saw in it, "a sense of our duties as based on divine law " "Religion," says Max Muller, "is a faculty of the mind which enables a man to grasp the infinite independently of sense and reason." The great English ethnographer, Tylor, is more modest, and accepts as the minimum definition of religion "a belief in spiritual beings," Marie-Jean Guyau was the first, in 1887, to introduce into the definition of religion an element *essential to* "all religions, a social character' . "Religion," he said, "is a universal sociomorphism " Quoted by Salomon Reinach, *Orpheus A History of Religions*, translated by William Siegel, Liveright Publication Corporation, New York, 1942, p 23.

(For a recent survey of the numerous conceptions of religion, please see Joachim Wach, *Sociology of Religion*, University of Chicago Press, Chicago, 1944.)

दर्शन का आधार है।"[1] यह आत्मावाद दो वृहत् विश्वासों में विभाजित है—प्रथम तो यह कि मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व मृत्यु या शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी बना रहता है और द्वितीय यह है कि मनुष्यों की आत्माओं के अतिरिक्त शक्तिशाली देवताओं की अन्य आत्माएँ भी होती हैं।[2] श्री टायलर के अनुसार आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली देवताओं की श्रेणी तक की होती हैं। ये पारलौकिक आत्माएँ केवल अमर ही नहीं हैं, वरन् वे इस भौतिक संसार की सब घटनाओं को तथा मनुष्यों के जीवन की दिशा को भी निर्देशित व नियन्त्रित करती हैं। इसीलिए लोग इन आत्माओं से डरते हैं या श्रद्धा-भक्ति करते हैं, जिससे कि धर्म की उत्पत्ति होती है।

अतः स्पष्ट है कि श्री टायलर के मतानुसार धर्म की उत्पत्ति में आत्माओं पर विश्वास ही सर्वप्रमुख है। परन्तु आत्माओं पर विश्वास आदिवासियों को कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री टायलर का कथन है कि आत्माओं पर विश्वास आदिवासियों के रोज के जीवन से सम्बन्धित दो प्रकार के अनुभवों के कारण विशेष रूप से उत्पन्न हुआ। वे दो अनुभव (अ) मृत्यु और (ब) स्वप्न थे। एक जीवित और एक मृत व्यक्ति के बीच पाये जाने वाले भेदों को देखकर आदिम मनुष्य के मस्तिष्क में यह बात आयी कि जीवित व्यक्ति के शरीर के अन्दर अवश्य ही कोई-न-कोई ऐसी चीज या शक्ति रहती है जिसके चले जाने पर अर्थात् शरीर से निकल जाने पर शरीर क्रियाहीन हो जाता है। उस अवस्था में मनुष्य न बोल पाता है न खा सकता है, न चल पाता है और न ही अन्य कोई कार्य कर सकता है। पर यह चीज या शक्ति क्या है ? इसका उत्तर स्वप्न तथा अन्य अनुभवों ने दिया। मनुष्य अपनी आवाज की गूँज सुनता था, अपनी परछाईं देखता था और स्वप्न में अनेक प्रकार के कार्य करता था, अपने को और दूसरे अनेक जीवित और मृत व्यक्तियों को उस सपने में देखता भी था। शरीर से सम्बन्धित इन चीजों को ही मनुष्य ने 'आत्मा' का नाम दिया जो कि उसके उपरोक्त अनुभवों के अनुसार "एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया की भाँति है।"[3]

फिर भी इस सम्बन्ध में मनुष्य को एक शंका बनी ही रही और वह यह कि सोते समय भी तो मनुष्य मृत-तुल्य होता है, पर सपनों में कोई चीज या शक्ति शरीर से निकल कर विभिन्न स्थानों में जाती है, अनेक प्रकार का कार्य करती है और अनेक जीवित और मृत व्यक्तियों से मिलती है और अन्त में एक समय अपनी इच्छानुसार फिर लौट आती है और मनुष्य, नींद टूटने पर, फिर पूर्ववत् हो जाता है। अर्थात् यह दूसरी शक्ति पहली शक्ति की तरह नहीं है कि शरीर से एक बार निकल जाने के बाद फिर लौटकर नहीं

1. "Animism is the groundwork of the Philosophy of Religion from that of savages up to that of civilized men."—E B Tylor, *op. cit*, p. 426.

2. Animism is subdivided into "two great dogmas......first, concerning souls of individual creatures, capable of continued existence after the death or destruction of the body; second, concerning other spirits, upward to the rank of powerful duties."—*Ibid*, p. 426.

3. "It is a thin unsubstantial human image, in its nature a sort of or shadow."—*Ibid.*, p. 429.

आती। यह स्वतन्त्र शक्ति है जो अपनी इच्छानुसार शरीर से बाहर निकल जाती है और परछाइं के रूप मे दिखाई देती है, आवाज की प्रतिध्वनि करती है और सपनों मे अनेक प्रकार का अनुभव करती है। संक्षेप में, सपनो के आधार पर आदिमानव दो निष्कर्षों पर आता है—प्रथम तो यह कि आत्माएँ दो हैं—(अ) स्वतन्त्र-आत्मा (free soul) जो शरीर के बाहर जाकर विभिन्न प्रकार के अनुभव करने और फिर वापस चले जाने के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र है; और (ब) शरीर-आत्मा (body soul) जो एक बार शरीर छोड़कर चले जाने के बाद फिर लौटकर नहीं आती और मनुष्य मर जाता है। दूसरा निष्कर्ष यह था कि आत्मा अमर है, क्योंकि सपनो मे वे व्यक्ति दिखायी देते हैं जो बहुत पहले ही मर चुके हैं। अगर आत्मा अमर न होती तो उन्हें फिर से देखना कैसे सम्भव होता?

श्री टायलर के अनुसार आदिम मानव में यह विश्वास है कि ये आत्माएं मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं। साथ ही, यह भी माना जाता है कि ये आत्माएँ मनुष्यो से सम्बन्ध बनाये रखती हैं, मनुष्य के अच्छे-बुरे कार्यों से इन आत्माओ को दुःख और सुख होता है। इसके अतिरिक्त, इन आत्माओ को प्रसन्न रखने से मनुष्य को लाभ और इनके अप्रसन्न होने पर मनुष्य को नुकसान हो सकता है। इसलिए इनकी विनती या आराधना करना आवश्यक है जिससे वे हमारा अनिष्ट न करें। इस विश्वास को लेकर आदिम मनुष्यों ने पितरों की विनती आरम्भ की और यही आगे चलकर धर्म के रूप में विकसित हुई।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर आत्मावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(1) आत्मावाद का मूल आधार आत्माओं के अस्तित्व मे विश्वास है। यह 'वाद' यह विश्वास करता है कि मनुष्यो की आत्माओ के अलावा दूसरी प्रकार की आत्माएँ भी हैं जिनमे प्रेतात्माओ से लेकर शक्तिशाली देवताओं की श्रेणी तक की सभी आत्माएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार आत्मावाद मे आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। दूसरे शब्दो मे आत्मावाद अनेक आत्माओं पर विश्वास है।

(2) इन आत्माओं की अवधारणा (concept) का जन्म आदिम मनुष्यो के रोज के जीवन मे होने वाले अनुभवों के कारण हुआ। इन अनुभवो मे मृत्यु और स्वप्न सर्वप्रमुख थे। इनके अतिरिक्त आवाज का गूंजना, परछाइं आदि को देखना इस प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हुए।

(3) इन अनुभवों के आधार पर आत्माओं को दो मुख्य श्रेणियों मे बाँटा गया—एक तो स्वतन्त्र-आत्मा, जिसका कि अस्तित्व शरीर नष्ट हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है और दूसरी शरीर-आत्मा जो कि मनुष्य की मृत्यु या शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहती है। आत्मावाद का सम्बन्ध इन अमर आत्माओ से ही है।

(4) ये आत्माएँ इस भौतिक संसार की सब घटनाओं को तथा मनुष्यों के वर्तमान तथा पारलौकिक जीवन को प्रभावित या नियन्त्रित करती हैं। आत्मावाद मे यह

विश्वास उल्लेखनीय है। यदि किसी समाज में मनुष्यों में यह विश्वास नहीं है तो ऐसे समाज मे आत्मावाद का जन्म नही हो सकता।

(5) उपरोक्त विश्वास अपने-आप, अनिवार्य और सक्रिय रूप से मनुष्य को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह उन प्रभावशाली आत्माओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी आराधना, प्रार्थना या पूजा करे। आत्माओ की पूजा ही धर्म का प्रारम्भिक रूप है।

समालोचना (Criticism)—सर्वश्री लैंग (Lang), मैरेट (Marett), वुण्ट (Wundt), जेवन्स (Jevons) आदि विद्वानों ने श्री टायलर के सिद्धान्त की जो समालोचना की है उसमे से निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

(क) श्री टायलर के सिद्धान्त की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि आपने आदिम मनुष्यो को अत्यधिक तर्कयुक्त दार्शनिक के रूप मे मान लिया है। आत्मावाद के सिद्धान्त को देखने से पता लगता है कि सम्पूर्ण सिद्धान्त को बहुत सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है। इतने सिलसिलेवार से आदिम मनुष्य तो क्या आधुनिक मनुष्य भी सोच नहीं सकता। इसलिए हम कह सकते हैं कि इतने क्रमबद्ध रूप से आत्मा की धारणा को विकसित करना आदिम मनुष्य के लिए सम्भव नहीं था जैसा कि श्री टायलर ने सोचा है।

(ख) श्री टायलर के सिद्धान्त से यह पता चलता है कि आदिम समाजो मे धर्म का स्वरूप आत्माओं पर विश्वास और उनकी पूजा या आराधना है। दूसरे शब्दों में, श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया है कि जनजातियों में ऊँचे देवताओ की धारणा नहीं होती। श्री एन्ड्रयू लैंग (Andrew Lang) के अनुसार श्री टायलर का यह विचार गलत है। उन्होंने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे नैतिक दृष्टि से विशुद्ध सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर की धारणा पाई जाती है। श्री श्मिड (Schmidt) ने भी श्री लैंग के विचार का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि कुछ नीग्रिटो जनजातियो में, अमेरिका के कैलीफोर्निया की जनजातियों मे और फ्यूजो जनजातियों में परमेश्वर की धारणा पाई जाती है। इन तथ्यों के आधार पर श्री टायलर के इस मत से सहमत होना उचित न होगा कि जनजातियों के धर्म मे अर्थात् प्रारम्भिक रूप के धर्म मे केवल आत्मा को धारणा थी और ऊँचे देवताओं की धारणा का विकास बाद में हुआ।

(ग) श्री मैरेट (Marett) का कथन है कि श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त में केवल आत्मा पर विश्वास का ही उल्लेख किया है परन्तु जनजातियो के जीवन का गहन अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जनजातीय लोग दूसरी ऐसी शक्तियो मे भी विश्वास करते हैं, जो कि आत्मा की शक्ति से भिन्न है। इसलिए केवल आत्मा की धारणा को ही जनजातीय धर्म का आधार मानना उचित न होगा, क्योकि जनजातियों मे अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर श्री मैरेट ने अपने जीवितसत्तावाद (Animatism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

(घ) श्री टायलर ने धर्म को अति सरल रूप मे प्रस्तुत किया है और इसीलिए उसकी उत्पत्ति को भी सरल ही मान लिया है। परन्तु धर्म इतनी सरल संस्था नहीं है

जितना कि श्री टायलर ने सोचा है। धर्म की उत्पत्ति परछाइं, स्वप्न, प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित अनुभवों के आधार पर हुई है, यह सोचना गलत है।

(ङ) श्री टायलर के कुछ आलोचको के अनुसार धर्म एक सामाजिक घटना (social phenomenon) है। इस कारण इसकी उत्पत्ति मे सामाजिक कारण अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु श्री टायलर ने धर्म के 'सामाजिक उपादानों' की सर्वथा अवहेलना की है।

श्री टायलर के सिद्धान्त मे उपरोक्त कमियाँ होने पर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि श्री टायलर ही प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने कि धर्म की एक स्पष्ट परिभाषा और धर्म की उत्पत्ति का एक स्पष्ट कारण प्रस्तुत किया, जिसके कारण बाद मे मानवशास्त्रियों को इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक सीधा रास्ता मिल गया।

(2) जीवितसत्तावाद या मानावाद

(Animatism or Manaism)

जीवितसत्तावाद या जीविवाद के प्रमुख समर्थकों मे सर्वश्री प्रीयस (Preuss) और मैक्समूलर (Max Muller) उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ में, चाहे वह चेतन हो या जड, एक जीवितसत्ता है। वह सत्ता अलौकिक है और इसे प्रसन्न रखना लाभदायक सिद्ध होता है। इन विद्वानो के अनुसार इसी अलौकिक सत्ता या शक्ति की आराधना ही सबसे प्रारम्भिक धर्म था।

श्री कॉडरिंगटन (Codrington) के मेलानेशिया की जनजातियो के सम्बन्ध मे अनुसन्धानो के आधार पर हाल ही मे श्री मैरेट (Marett) ने जीवितसत्तावाद के सिद्धान्त को एक नये रूप मे प्रस्तुत किया है। इसे मानावाद (Manaism) कहते हैं। इसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति 'आत्मा' की धारणा से नही, 'माना' की धारणा से हुई है। मेलानेशिया की जनजातियों में 'माना' की अवधारणा की जो प्रमुख विशेषताएँ हैं, उसके आधार पर श्री कॉडरिंगटन ने 'माना' को इस प्रकार परिभाषित किया है : "'माना' एक शक्ति है जो कि भौतिक या शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है; यह भले और बुरे सभी रूपो मे कार्य करती है और इस पर आधिपत्य या नियन्त्रण पाना अत्यन्त लाभदायक है। यह एक शक्ति या प्रभाव तो अवश्य है, पर शारीरिक शक्ति नहीं है, और एक अर्थ मे यह अलौकिक है, किन्तु यह शारीरिक शक्ति या अन्य किसी प्रकार की शक्ति या क्षमता मे, जिसका कि एक मनुष्य अधिकारी है, अपने को प्रकट करती है। यह अलौकिक इस अर्थ मे है कि यह सब चीजो पर प्रभाव डालने के लिए जिस रूप मे कार्य करती है, वह मनुष्य की साधारण शक्ति से परे है और प्रकृति की साधारण प्रक्रियाओं के बाहर है।"[1]

---

1. "It (*Mana*) is a force altogether distinct from physical power which act in all kinds of ways for good and evil and which it is of greatest advantage to possess or control .. . If it is a power or influence, not physical, and in a way supernatural, but it shows itself in physical force or in any kind of power or excellence which a man possesses ......It is supernatural in the sense that it is

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर हम 'माना' की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(1) 'माना' शारीरिक शक्ति नही है। यह शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है। यह एक अलौकिक शक्ति है और वह इस अर्थ मे कि यह प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करने वाले ऐसे कार्यों को करती है जो साधारण मनुष्यों की शक्ति से और प्रकृति की सामान्य प्रक्रियाओ से परे हैं।

(2) 'माना' अलौकिक शक्ति होते हुए भी शारीरिक शक्ति या अन्य प्रकार की शक्तियों में प्रगट होती है। अर्थात् 'माना' की शक्ति की क्रियाशीलता का आधार शारीरिक शक्ति या वे अन्य प्रकार की शक्तियाँ हैं जिन्हे मनुष्य पाना चाहता है।

(3) 'माना' की शक्ति का कोई शारीरिक रूप नहीं है। इसलिए इस शक्ति को अशरीरी (impersonal) कहा जाता है। चूँकि यह शक्ति अलौकिक तथा अशरीरी है, इस कारण इसका ज्ञान इन्द्रियो द्वारा नही किया जा सकता।

(4) यह हो सकता है कि 'माना' की शक्ति किसी चीज में कम और किसी मे अधिक हो, पर होगी यह सब मे।

(5) 'माना' का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनो तरीकों का हो सकता है। दूसरे शब्दों मे, इस शक्ति से हमे हानि व लाभ दोनों ही हो सकते हैं।

(6) 'माना' की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि यह बिजली की करेण्ट (current) या शक्ति की भाँति होती है जो व्यक्तियों और चीजों को प्रभावित कर सकती है और जो एक से दूसरे मे आ-जा सकती है। कोई आशातीत सफलता 'माना' के कारण और असफलता इसके अभाव के कारण होती है।[1]

मेलानेशिया की जनजातियों मे यह विश्वास है कि किसी काम मे भी उन्हें तब तक सफलता नहीं मिल सकती जब तक कि 'माना' सहायक न हो। युद्ध मे योद्धाओं को विजय 'माना' के कारण मिलती है, शिकार मे शिकारियो की सफलता का कारण भी 'माना' है और जाल मे आकर मछलियो का फँसना भी उसी 'माना' की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है।

उपरोक्त आधार पर श्री मैरेट ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदिकालीन समाज के लोग विश्व की सभी जड और चेतन वस्तुओ मे 'माना' के आधार पर एक अनिर्वचनीय, अवैयक्तिक या अशरीरी, उत्प्राकृतिक, अलौकिक तथा दैवीय जीवितसत्ता पर विश्वास करते थे। इस सत्ता या शक्ति का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनो प्रकार का होता है और इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नही किया जा सका। इसी कारण आदिकालीन समाज के लोग

---

what works to effect every thing, which is beyond the ordinary power of man, outside the common process of nature."—R.H. Codrington, *The Melanesians*, Oxford, 1891, p. 119

1. "*Mana* was like an electrical fluid that could charge persons and things and be diverted from one to another. Any conspicuous success was due to *mana*, failure to its absence or loss."—Robert H. Lowie, *An Introduction to Cultural Anthropology*, Farrar and Rinehart, New York, 1934, p. 303.

इस शक्ति को ही सब कुछ मानकर इसके सम्मुख नतमस्तक हुए और अपने जीवन में अधिकाधिक सफलता पाने और शक्ति के बुरे प्रभावों से बचने के लिए उस सत्ता या शक्ति की आराधना करने लगे। यही धर्म का प्रारम्भिक रूप था।

अनेक विद्वानो ने मानावाद के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया है। श्री दुर्खीम (Durkheim) ने इस सिद्धान्त की जो आलोचना की है वह निम्नवत् है—

(1) मानावाद की सर्वप्रथम दुर्बलता यह है कि इस सिद्धान्त मे इस बात की स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती कि 'माना' की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ। एक अशरीरी या अलौकिक शक्ति की धारणा को पनपने के लिए किसी न-किसी आधार की आवश्यकता होती है। इस शक्ति के बारे मे केवल कल्पना की सहायता से सब कुछ सोच सके, इतनी उच्च कोटि का दार्शनिक आदिमानव कदापि न था और न ही होना सम्भव था। परन्तु सर्वश्री मैरेट, कॉडरिंगटन आदि विद्वानो ने अपने सिद्धान्त मे आदिम मनुष्य को उसी रूप मे प्रस्तुत करने या मान लेने की गलती की है।

(2) धर्म एक सामाजिक तथ्य (social fact) है और सामाजिक तथ्य व्यक्ति के मस्तिष्क में नहीं वरन् मस्तिष्क के बाहर वास्तविक सामाजिक परिस्थिति मे निवास करता है। इस कारण धर्म की उत्पत्ति का कारण समाज मे न ढूँढकर व्यक्ति के मस्तिष्क मे ढूंढने का प्रयत्न करना उचित न होगा।

(3) मानावाद का एक बहुत बडा दोष यह भी है कि यह धार्मिक जीवन के केवल कुछ भागो पर ही प्रकाश डालता है। अगर हम आदिमानव के धर्म तथा जादू से सम्बन्धित विश्वासो का गहन अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि उन विश्वासो की सख्या इतनी अधिक है कि उन सबको 'माना' के आधार पर नही समझा जा सकता।

(4) श्री दुर्खीम का यह भी कहना है किसी भी धर्म मे एक विशेष बात यह होती है कि उसमे पवित्र और अपवित्र वस्तुओं में एक स्पष्ट भेद माना जाता है। धर्म का सम्बन्ध 'पवित्र' से होता है परन्तु मानावाद मे इस धारणा का कोई भी आभास नहीं होता।

(5) मानावाद का सिद्धान्त अस्पष्ट इस अर्थ मे भी है कि इसमे अशरीरी तथा अलौकिक शक्ति को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया है। फलत: धर्म एक सामाजिक घटना होते हुए भी वास्तविक ससार से बहुत दूर हो गया है जो कि उसे इतना अस्पष्ट कर देता है जितना कि वास्तव मे न तो वह कभी था और न ही आज है। श्री दुर्खीम का दावा है कि इस सिद्धान्त मे यह कमी कदापि न पनपती अगर इसके प्रतिपादक सामाजिक कारको की पूर्णतया अवहेलना न करते।

मानावाद और आत्मावाद में अन्तर

(Distinction between Animatism and Animism)

मानावाद और आत्मावाद के सम्बन्ध मे उपरोक्त-विवेचना के आधार पर हम इन दोनों मे निम्नलिखित अन्तर पाते हैं—

(क) मानावाद एकत्ववादी और आत्मावाद बहुत्ववादी है—आत्मावाद का अर्थ आत्माओं मे विश्वास है। ये आत्माएँ अनेक हैं, क्योंकि ये पूर्वज, भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच किसी की भी आत्मा हो सकती हैं और अलौकिक शक्ति, जिस पर कि विश्वास किया जाता है, का प्रकट रूप इन्हीं में से कुछ भी हो सकता है। ये आत्माएँ पशु, पक्षी, चट्टान किसी में भी निवास कर सकती हैं। अतः स्पष्ट है कि आत्मावाद मे अलौकिक शक्ति की धारणा कोई एक निश्चित रूप प्रकट नही करती, क्योंकि आत्माएँ भी एक नहीं, अनेक होती हैं। इस अर्थ मे आत्मावाद बहुत्ववादी है। इसके विपरीत मानावाद का सम्बन्ध अनेक आत्माओं से नहीं, वरन् एक अशरीरी, उत्प्राकृतिक तथा अलौकिक शक्ति या सत्ता से है जो कि सभी जड़ और चेतन वस्तुओं मे छायी हुई है। आत्माएँ अनेक होती हैं, इसके अनेक रूप हैं; परन्तु जीवितसत्ता अनेक नही, अनेक वस्तुओं मे एक है। इस प्रकार मानावाद का जीवितसत्तावाद एकत्ववादी है।

(ख) मानावाद अवैयक्तिक या अशरीरी शक्ति पर विश्वास है, आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर—आत्मावाद मे आत्मा किसी पूर्वज, भूत, प्रेत-विशेष की होती है और प्रत्येक आत्मा का सम्बन्ध एक विशेष व्यक्ति से ही होता है। इस अर्थ मे आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर विश्वास है। इसके विपरीत मानावाद एक अशरीरी और अवैयक्तिक शक्ति पर विश्वास करता है, जिसका सम्बन्ध किसी भी व्यक्ति-विशेष से नहीं है। यह शक्ति प्रत्येक मे एक ही है, यद्यपि इस शक्ति की मात्रा किसी चीज मे कम और किसी मे अधिक होती है।

(ग) आत्मावाद सीमित है, मानावाद व्यापक है—आत्मावाद का क्षेत्र अधिक व्यापक नही है क्योकि इसमे वैयक्तिक आत्मा की अवधारणा पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा का दर्शन प्रत्येक चीज मे नही होता। परन्तु मानावाद में 'माना' सर्वव्यापक और सृष्टि की समस्त वस्तुओ मे पाया जाता है। आत्मा का क्षेत्र सीमित और 'माना' का सर्वव्यापी है।

(3) प्रकृतिवाद
(Naturism)

श्री मैक्समूलर (Max Muller)[1] का प्रकृतिवाद भी जीवितसत्तावाद का ही एक रूप है। आदिकालीन मानव का जीवन प्रकृति की गोद मे ही पलता है। प्रकृति की विभिन्न चीजों से उसे लाभ व हानि दोनों ही होते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य से उसे धूप मिलती है जो कि ठण्डक से उसकी रक्षा करती थी अर्थात् ठण्डक में उसे आराम पहुँचाती थी। दूसरी ओर आँधी उसकी झोपडी को उड़ाकर ले जाती थी; बिजली गिरकर उसके पेड़ और घर को जला देती थी। ऐसी अवस्था मे प्रकृति के विभिन्न रूपों को देखकर आदिकाल मे मानव के मन मे श्रद्धा, भय, आतंक, आश्चर्य आदि होना स्वाभाविक ही था। इन मानसिक भावनाओ के कारण वह प्रकृति से ऐसा डरने लगा या उसे इतनी

1. See Max Muller, *Lectures on the Origin and Growth of Religion*, Longmans, Green and Co., London.

श्रद्धा करने लगा जैसे किसी जानदार वस्तु से डरता या उसे श्रद्धा करता था। प्रकृति की विभिन्न चीजों को देखकर उसके मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि वे भी कोई जानदार चीजें हैं और साथ ही अधिक शक्तिशाली। उदाहरण के लिए, आदिमानव ने यह देखा कि जिस झोपड़ी को उसने बहुत दिनों के परिश्रम से बड़ी मुश्किल से बनाया था उसे 'आँधी' ने एक मिनट मे उड़ाकर फेंक दिया। इस दृश्य को देखकर उसके दिल मे यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही थी कि कोई ऐसी शक्ति है जो कि दिखायी तो नहीं देती, पर है मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली। इसीलिए उसके प्रति उन लोगों के दिल मे श्रद्धा, भक्ति, भय आदि उत्पन्न हुए। इसीके आधार पर संस्कृत और भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान श्री मेक्समूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि धर्म की उत्पत्ति का प्रथम चरण प्रकृति के विभिन्न पदार्थों जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, और यहाँ तक कि कुछ पेड़-पौधे आदि की आराधना थी। मिस्र मे तथा अन्यत्र हुई खुदाइयों से इस विचार की पुष्टि मिली। मिस्र मे सबसे बड़ा देवता 'रा' अर्थात् सूर्य था। यह कहा जाता है कि प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को सजीव समझना और उनके प्रति श्रद्धा, प्रेम या भय की भावना का जन्म दोषपूर्ण भाषा के कारण हुआ। प्रायः कहा जाता है कि 'सूर्य उदय और अस्त होता है', 'आँधी आ रही है' इत्यादि। परन्तु वास्तव मे सूर्य न तो उदय ही होता है और न अस्त ही होता है। पर कुछ भी हो, आदिमानव प्रकृति की इस असीम विशालता के सम्मुख नत-मस्तक होता है और धर्म की प्रथम नीव पड़ती है।[1]

इस सिद्धान्त की जो समालोचना (criticism) आधुनिक मानवशास्त्री करते हैं उनमे से तीन उल्लेखनीय हैं—

(क) प्रकृति की पूजा से धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या बहुत ही संकुचित विश्लेषण प्रतीत होती है। केवल प्रकृति की पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति कैसे सम्भव है, इसे श्री मैक्समूलर उचित ढग से नहीं समझा पाये हैं।

(ख) दोषपूर्ण भाषा के आधार पर प्रकृति के पदार्थों को सजीव समझने की बात भी कुछ स्पष्ट प्रतीत नही होती।

(ग) धर्म एक सामाजिक संस्था है, परन्तु श्री मैक्समूलर के सिद्धान्त मे धर्म की उत्पत्ति मे सामाजिक कारकों को कोई भी स्थान प्राप्त नही है। इस सिद्धान्त की यह एक बहुत बडी दुर्बलता है।

(4) फ्रेजर का सिद्धान्त
(Theory of Frazer)

श्री फ्रेजर (Frazer) के मतानुसार[2] सर्वप्रथम आदिम मनुष्यों ने जादू-टोने के द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और असफल होने पर यह मान लिया कि 'संसार' मे उनसे भी कोई अधिक शक्तिशाली है जो उनके प्रयत्नो को व्यर्थ करता है, अतः उस शक्ति पर जादू-टोने के द्वारा शासन करना कदापि

1. *Ibid*, p. 37.
2. Sir James Frazer, *op. cit*, pp. 11—50.

सम्भव नहीं है। इस धारणा के फलस्वरूप ही वह उस शक्ति पर शासन करने की इच्छा त्यागकर उसकी आराधना करने लगता है और इसी से धर्म की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में, श्री फ्रेजर के अनुसार धर्म की प्राथमिक अवस्था (initial primacy) जादू-टोना है और जादू-टोने से निराश होकर ही लोगों ने धर्म की अर्थात् किसी अलौकिक व महान शक्ति की शरण ली थी। इस प्रकार धर्म प्रकृति के द्वारा पराजित मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

श्री फ्रेजर के सिद्धान्त की सबसे प्रमुख दुर्बलता यह है कि इन्होंने सामाजिक विकास में एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की है जब केवल जादू-टोने का ही राज्य था। वास्तव में ऐसी किसी स्थिति के पक्ष में कोई भरोसे-योग्य प्रमाण नहीं मिलता है।

(5) धर्म का सामाजिक सिद्धान्त
(Social Theory of Religion)

श्री दुर्खीम ने अपनी पुस्तक '*The Elementary Forms of Religious Life*' में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण, प्रभाव आदि के विषय में अत्यधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की है। अपने धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त के द्वारा आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ में कि नैतिक रूप से सामूहिक-चेतना (collective consciousness) का प्रतीक (symbol) ही धर्म है। इस सम्बन्ध में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, श्री दुर्खीम का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि "समाज ही वास्तविक देवता है।"

अपने धर्म के सामाजिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए श्री दुर्खीम ने धर्म-सम्बन्धी अब तक के सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन सिद्धान्तों में धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बताये गये कारण केवल अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि अवैज्ञानिक भी हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए श्री दुर्खीम ने सर्वश्री एडवर्ड टायलर, मैक्स-मूलर, फ्रेजर आदि विद्वानो के मतों का इस आधार पर खण्डन किया कि इन विद्वानों ने धर्म की उत्पत्ति मे सामाजिक कारकों की पूर्णतया अवहेलना की है। श्री दुर्खीम ने लिखा है कि आदि मानव के लिए प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओं मे अन्तर करना सम्भव नहीं; न तो उन्हे प्राकृतिक चीजों और घटनाओं के सम्बन्ध मे उचित ज्ञान है और न ही वे अलौकिक घटनाओं को ठीक से समझते हैं। साथ ही, धर्म एक इतनी सरल घटना नही है कि इसकी उत्पत्ति परछाई, स्वप्न, प्रतिध्वनि, मृत्यु आदि कुछ सीमित तथा व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर सम्भव है। प्रत्येक धर्म का तो कोई 'वास्तविक' आधार होता है और वह आधार, श्री दुर्खीम के अनुसार, स्वयं 'समाज' है। "स्वर्ग का साम्राज्य एक महिमान्वित समाज है" (*The Kingdom of Heaven is a glorified Society*)।

श्री दुर्खीम के अनुसार, सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओं या घटनाओं को—चाहे वे सरल हों या जटिल, वास्तविक हों या आदर्शात्मक—दो प्रमुख भागों मे बाँटा जा सकता है—(अ) साधारण (Profane), और (ब) पवित्र (sacred)। समस्त धर्मों का सम्बन्ध 'पवित्र' पक्ष से होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सभी

पवित्र वस्तुएँ ईश्वरीय या ईश्वर होती हैं, यद्यपि समस्त ईश्वरीय या आध्यात्मिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ पवित्र अवश्य ही होती हैं। ये पवित्र वस्तुएँ समाज की प्रतीक या सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि हैं। इसी कारण व्यक्ति इनके अधीन और इनसे प्रभावित रहता है।

समाज के सदस्य जिन्हे पवित्र समझते हैं, उन्हे अपवित्र या साधारण से सदा दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासो, आचरणों, संस्कारों और उत्सवों को जन्म देते हैं।[1] धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। चूँकि इन प्रयत्नो से सम्बन्धित विश्वासों, आचरणो, संस्कारो आदि के पीछे समस्त समाज की अभिमति और दबाव होता है, इस कारण समाज की इस सामूहिक सत्ता के सामने मनुष्य को नत-मस्तक होना ही पड़ता है। यहीं से धर्म की नींव पड़ती है।

अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि मे श्री दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा (Arunta) जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। श्री दुर्खीम का कहना है कि इन जनजातीय लोगों के जीवन का अध्ययन करने पर धार्मिक अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह कि धार्मिक अनुभव एक प्रकार की *सामूहिक उत्तेजना (group excitement)* के कारण है। *त्योहारो तथा उत्सवों पर जब* गोत्र (clan) के सभी लोग एकसाथ एकत्र होते हैं तो प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता था कि समूह की शक्ति उसकी वैयक्तिक (individual) शक्ति से कही अधिक उच्च और महान् है। ऐसे अनुभव करने के स्पष्ट कारण भी हैं। इन त्योहारों तथा उत्सवों का अस्तित्व ही अनेक लोगों की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावो, विचारों व रुचियों वाले अनेक व्यक्तियों के वैयक्तिक भावो, विचारो व रुचियो के सम्मिलन और संगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है। यही सामूहिक शक्ति होती है जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता है। साथ ही, इन *त्योहारो तथा उत्सवो के अवसरो पर एकत्रित भीड मे एक प्रकार का मानसिक उल्लास* प्रदर्शित होता है। यह उल्लास सम्भवतः मानव की सामाजिक मूलप्रवृत्ति के कारण है। ऐसे अवसरो मे एक ही समय पर अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते हैं और व्यक्ति के विचार व संवेग सभी उपस्थित व्यक्तियों के विचारो व संवेगों के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। फलतः व्यक्ति की अपनी शक्ति गौण हो जाती है और समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। व्यक्ति समूह की इस शक्ति के सामने झुकता है और उसकी शक्ति से प्रभावित होकर उसके मन मे समूह के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना पनपती है। वह समूह को साधारण से *श्रेष्ठ या महान समझने लगता है। वस्तुतः यह समूह या समाज ही धार्मिक पूजा का प्रतीक* हो जाता है।

---

1. The final key characteristic of sacred things is found in the fact that they "are those which the interdictions protect and isolate, profane things, those to which these interdictions are applied and which must remain at a distance from the first"—Emile Durkheim, *The Elementary Forms of Religious Life*, translated by J.W. Swain, Free Press, Glencoe, 1947, p. 41.

उपर्युक्त तर्क श्री दुर्खीम के शब्दों में इस प्रकार है—"यह बात बड़ी सरलता से समझी जा सकती है कि जब व्यक्ति अपनी उत्तेजना की अवस्था मे होता है तो क्यों वह अपने अस्तित्व को भी भूल जाता है। चूँकि उस समय वह अपने को किसी बाहरी शक्ति के अधीन तथा उसके द्वारा सचालित अनुभव करता है जो उसे इस प्रकार से सोचने और कार्य करने को बाध्य करती है जैसा कि शायद वह सामान्य परिस्थितियों में न करता, तब स्वभावतः उसके मन में यह धारणा घर कर लेती है कि अब उसका अपना कोई पृथक् अस्तित्व नही है। उसे ऐसा लगता है जैसे कि वह एक नया प्राणी बन गया हो।......इसी प्रकार उसके सब साथी भी अपने को बदले हुए पाते हैं।...सम्पूर्ण परिस्थिति इस प्रकार की होती है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अनुभव होने लगता है कि वह एक नयी दुनिया में आ गया है; यह दुनिया उस दुनिया से बिल्कुल भिन्न है जिसमे कि वह साधारणतया रहता है, और वह अपने को असाधारण प्रभावशाली शक्तियों से भरपूर एक ऐसे वातावरण में पाता है जो कि उसे अपने अधिकार मे रखता और रूपान्तरित करता रहता है। जब इस प्रकार के अनुभव प्रति-दिन और प्रति-सप्ताह होते रहते हैं, तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि व्यक्ति को यह विश्वास न हो जाय कि वास्तव में दो असमान तथा परस्पर अतुलनीय दुनिया का अलग-अलग अस्तित्व है ? एक दुनिया तो वह है जिसमे कि उसका दिन-प्रतिदिन का जीवन नीरस रूप में लुढ़कता चलता है; लेकिन एक दूसरी दुनिया भी है जिसमें वह उस समय तक प्रवेश नहीं कर सकता जब तक उसका सम्बन्ध ऐसी असाधारण शक्तियों से स्थापित न हो जाय, जो उसे अपने को भुला दें। पहली साधारण (profane) दुनिया है और दूसरी पवित्र (sacred)।"[1]

फिर भी इस सम्बन्ध में एक शंका रह जाती है और वह यह कि पवित्रता की धारणा के पनपने का 'वास्तविक' आधार क्या है ? इसके उत्तर में श्री दुर्खीम का कथन है कि टोटमवाद के आधार पर ही पवित्र और साधारण वस्तुओं में भेद करने की भावना का जन्म हुआ। अतः टोटमवाद ही समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर या रूप है। ऐसा टोटमवाद की प्रकृति से ही सम्भव हुआ, क्योंकि टोटमवाद नैतिक कर्त्तव्यों और मौलिक विश्वासो की वह समष्टि है जिसके द्वारा समाज और पशु-पौधे या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और मौलिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(क) टोटम के साथ एक गोत्र के सदस्य अपना कई प्रकार का गूढ़, अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध मानते हैं।

(ख) टोटम के साथ इस अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध के आधार पर ही यह विश्वास किया जाता है कि टोटम उस शक्ति का अधिकारी है जो उस समूह की रक्षा करती है, सदस्यों को चेतावनी देती है और भविष्यवाणी करती है।

(ग) टोटम के प्रति विशेष भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। टोटम को मारना, खाना या किसी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है और उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है। टोटम, उसकी खाल और उससे सम्बन्धित अन्य

1. *Ibid*, pp. 218-219

वस्तुओं को बहुत पवित्र माना जाता है। टोटम की खाल को विशेष-विशेष अवसरों पर धारण किया जाता है; टोटम के चिह्न बनवाकर रखे जाते हैं और शरीर पर उसके चिह्न की गुदाई भी प्राय: सभी लोग करवाते हैं। टोटम-सम्बन्धी निषेधों का उल्लंघन करने वालो की समाज द्वारा निन्दा की जाती है और दूसरी ओर इससे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट नैतिक कर्त्तव्यो को प्रोत्साहित किया जाता है।

(घ) टोटम के प्रति भय, भक्ति और आदर की जो भावना होती है वह इस बात पर निर्भर नहीं होती कि कौनसी वस्तु टोटम है या वह कैसी है, क्योंकि टोटम तो प्राय अहानिकारक पशु या पौधा होता है। श्री दुर्खीम के मतानुसार टोटम सामुदायिक प्रतिनिधित्व (collective representation) का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप मे समाज के प्रति अपने श्रद्धाभाव के कारण हुई है। यही श्रद्धाभाव पवित्रता की भावना को जन्म देता है और टोटम-समूह के समस्त सदस्यो को एक नैतिक बन्धन मे बाँधता है। यही कारण है कि टोटम-समूह के सभी सदस्य अपने को एक-दूसरे का भाई-बहन मानते हैं और वे आपस मे कभी विवाह नही करते।

टोटमवाद की उपरोक्त विशेषताओं का उल्लेख करते हुए श्री दुर्खीम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी धर्म की उत्पत्ति मे उक्त सभी तत्त्वो (elements) का होना परमावश्यक है। इस कारण यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि टोटमवाद सब धर्मों का प्राथमिक रूप है क्योंकि टोटम एक समूह के नैतिक जीवन के सामूहिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है। इस प्रकार धर्म का मूल स्रोत तो स्वय समाज है। और भी स्पष्ट शब्दों मे, श्री दुर्खीम के अनुसार, ईश्वर समाज की प्रतीकात्मक (symbolic) अभिव्यक्ति है।

अत: स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति से नहीं, बल्कि उसके सामूहिक जीवन से है। यहीं पर धर्म और जादू में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जादू मे भी धर्म की भाँति अनेक विश्वास, संस्कार आदि होते हैं, फिर भी मूल रूप मे जादू वैयक्तिक (individualistic) होता है। जादू का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से होता है। इसी कारण जादू उस पर विश्वास करने वालों को एक समूह मे सयुक्त नहीं कर पाता है। इसके विपरीत धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं होता है। इसका आधार तो स्वय समाज है। इसी कारण धर्म इस पर विश्वास करने वालो को एक नैतिक समुदाय (moral community) मे सयुक्त करता है। श्री दुर्खीम का मत है कि धर्म की कोई भी परिभाषा धर्म की इस विशेषता के आधार पर होनी चाहिए। इसी कारण श्री दुर्खीम के अनुसार धर्म की परिभाषा इस प्रकार है—"धर्म पवित्र वस्तुओ से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणो की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय मे संयुक्त करती है।[1]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्री दुर्खीम का धर्म-सम्बन्धी सामाजिक सिद्धान्त पवित्र और साधारण के बीच अन्तर पर आधारित है और इन दोनों मे भेद करने की

1. "Religion is the unified system of beliefs and practices relative to sacred things which unite into one single moral community......all those who adhere to them."—Emile Durkheim, *Ibid.* p. 47.

भावना का जन्म टोटमवाद के आधार पर हुआ। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति का प्रमुख स्रोत टोटम या अन्तिम रूप मे, समाज है क्योकि टोटम समाज का ही सामूहिक प्रतिनिधि या प्रतीक है। टोटम के प्रति जो भय और आदर का रहस्यमय मनोभाव होता है और टोटम के साथ एक गोत्र (clan) के सदस्यो का जो गूढ और अलौकिक सम्बन्ध माना जाता है, उसी के आधार पर पवित्रता की भावना पनपती है जिसके फलस्वरूप उस समूह के सभी सदस्यो मे एक भाईचारे की भावना जागृत होती है और वे एक नैतिक समुदाय मे सयुक्त हो जाते हैं। यहीं से धर्म की नीव पडती है क्योकि टोटम के आधार पर सयुक्त नैतिक-समूह जिस शक्ति का अधिकारी होता है उसकी तुलना मे व्यक्ति अपनी वैयक्तिक शक्ति को तुच्छ समझने लगता है और उसी के सामने सिर झुका देता है।

श्री दुर्खीम ने अपने सिद्धान्त का सामान्य निष्कर्ष निम्न शब्दों मे दिया है—"धार्मिक प्रतिनिधित्व (religious representation) सामूहिक प्रतिनिधित्व है जो कि सामूहिक वास्तविकताओ (realities) को व्यक्त करते हैं; धार्मिक कृत्य (rites) क्रिया करने का वह तरीका है जो कि समवेत समूहों मे पनपता है और जो इन समूहों मे पाई जाने वाली कुछ मानसिक अवस्थाओं (mental states) को उत्तेजित, व्यवस्थित तथा पुनर्जीवित करता है। धार्मिक जीवन समग्र सामूहिक जीवन की सारकृत (concentrated) अभिव्यक्ति है। समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है। इस कारण धार्मिक शक्तियां वास्तव मे मानव-शक्तियां, नैतिक शक्तियां हैं। "समाज की अवहेलना करना या उससे पृथक् रहना तो दूर रहा, धर्म समाज की ही प्रतिमा (image) है; धर्म समाज के समस्त पक्षो को, यहाँ तक कि सबसे अशिष्ट तथा सबसे घृणात्मक पक्षों को भी प्रतिबिम्बित (reflect) करता है।[1]

श्री अलेक्ज़ेंडर गोल्डनवीजर तथा अन्य विद्वानो ने श्री दुर्खीम के उपरोक्त सिद्धान्त की जो समालोचना की है, वह सक्षेप मे निम्नवत् है—

(1) श्री दुर्खीम का यह कथन कि टोटमवाद धर्म का सर्वप्रमुख तथा सर्वप्रथम आधार है, गलत है। विभिन्न जनजातीय समाजों का अध्ययन इस बात की पुष्टि नहीं करता है। आदिवासी समाजों मे धर्म और टोटम अपने-अपने पृथक् अस्तित्व रखते हैं। टोटमवाद मे एक गांव के सदस्य टोटम को अपना मूल-पुरुष या सामान्य पुरुष मानते हैं और उसे मानने वाले सभी व्यक्ति आपस मे शादी-विवाह नही करते हैं। ये दोनों ही विशेषताएँ टोटमवाद मे अनिवार्य है, परन्तु धर्म मे इन दोनो का ही अभाव होता है। अगर धर्म का आधार टोटमवाद ही होता तो अब तक ये दोनों घुल-मिलकर एक हो गये होते।

1 "Religious representations are collective representations which express collective realities, the rites are manner of acting which take rise in the midst of the assembled groups and which are destined to excite, maintain, or recreate certain mental states in these groups .The religious life is the concentrated expression of the whole collective life. ...The idea of society is the soul of religion. Religious forces are therefore human forces, mental forces. ... Religion far from ignoring the real society and making abstraction of it, is its image. It reflects all its aspects, even the most vulgar and the most repulsive"—Emile Durkheim, *Ibid*, pp. 157-158.

सुलझाने के लिए, या इनका सामना सफलतापूर्वक करने के लिए मानव जो प्रयत्न करता है, धर्म उन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। चूँकि ये सबकी समस्याएँ हैं, इस कारण इनसे सम्बन्धित क्रियाओं में सब लोग दिलचस्पी लेते हैं। सार्वजनिक दिलचस्पी या सारे समूह के भाग लेने के कारण धार्मिक नियमों के पीछे सारे समाज का बल होता है।

श्री नैडेल (Nadel) ने लिखा है कि श्री मैलिनोवस्की के मत में "यह ठीक है कि धर्म-समूह के मूल्यों और मान्यताओं की रक्षा करता है, पर बिना व्यक्ति की अभिवृत्तियों और विचारों से धर्म नहीं चल सकता। इस प्रकार धर्म सामाजिक और वैयक्तिक या मानसिक दोनों आधारों पर उत्पन्न होता है।"

उपरोक्त सिद्धान्त की जो समालोचनाएँ की जाती हैं, उनमें सबसे प्रमुख यह है कि श्री मैलिनोवस्की ने धर्म के प्रकार्यात्मक पक्ष पर इतना अधिक बल दिया है कि धर्म का वास्तविक आधार अत्यधिक अस्पष्ट और दुर्बल हो गया है। साथ ही, आपने केवल ट्रोब्रियंड द्वीप के निवासियों का अध्ययन करके जो निष्कर्ष निकाला है वह सभी समाजों पर कैसे लागू किया जा सकता है, इसे श्री मैलिनोवस्की ने सोचा ही नहीं है। अतः आपका निष्कर्ष अत्यन्त सीमित तथ्यों (facts) पर आधारित होने के कारण पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक विद्वान ने अपने निजी तरीके से धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या की है। पर उनमें से किसी भी सिद्धान्त को न तो सम्पूर्ण असत्य और न ही धर्म की उत्पत्ति का अन्तिम कारण मानना चाहिए क्योंकि प्रत्येक समाज की सामाजिक व प्राकृतिक और साथ ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अन्तर होने के कारण धर्म की उत्पत्ति भी अलग-अलग समाज में अलग-अलग कारणों से हुई है; बहुधा एकाधिक कारणों का योग रहा है।

धर्म का व्यावहारिक पक्ष
(Practical Aspect of Religion)

धार्मिक विश्वासों को लोग अपने मन में ही रखकर सन्तुष्ट नहीं होते हैं, वरन् उन्हें व्यावहारिक तथा बाहरी तौर पर अभिव्यक्त भी करते हैं। धर्म में किसी-न-किसी शक्ति पर विश्वास किया जाता है और प्रार्थना, पूजा, आत्मनिवेदन व आराधना द्वारा उस शक्ति को प्रसन्न कर उससे लाभ उठाने और उसके कोप से बचने का प्रयत्न किया जाता है। यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। अत: स्पष्ट है कि प्रत्येक धर्म में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष होते हैं। सैद्धान्तिक पक्ष में एक अदृष्ट, अज्ञेय या अलौकिक शक्ति पर विश्वास होता है और व्यावहारिक पक्ष में इस शक्ति के प्रति आत्मनिवेदन की बाह्य अभिव्यक्ति। *धर्म के व्यावहारिक पक्ष में उपासना, पूजा या आत्मनिवेदन की* विधियाँ अलग-अलग समाज में अलग-अलग हो सकती हैं, परन्तु इनका होना धर्म के अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही प्रत्येक समाज में इस व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित कुछ विशेषज्ञ होते हैं जो कि धार्मिक क्रियाओं को व्यावहारिक रूप देने में निपुण होते हैं। धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष के सामान्य तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(क) विधि-विधान तथा संस्कार (Codes and Rituals)—सब धर्मों में संस्कार, विधि-विधान पाये जाते हैं। विधि-विधान से हमारा तात्पर्य उन नियमों और रीतियों से है जिनके अनुसार उस अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। ये नियम और रीतियाँ अलग-अलग धर्म में अलग-अलग होती हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू मन्दिर में जाकर कुछ विशेष ढंग से ईश्वर की पूजा करते हैं, जबकि मुसलमान मस्जिद में जाकर किसी दूसरे ही ढंग से नमाज पढकर उस शक्ति की आराधना करते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक धर्म में अनेक संस्कार भी होते हैं। जन्म के समय, विवाह के समय और मृत्यु के समय धर्म के आधार पर अनेक संस्कारो को करना पडता है, वरना वह कार्य पूरा नहीं समझा जाता है। उदाहरणार्थ, यह एक सामान्य विश्वास है कि सन्तान का जन्म ईश्वर-कृपा का ही फल है। इसीलिए बच्चा ठीक-ठाक उत्पन्न हो जाने के बाद ईश्वर की पूजा की जाती या बलि चढ़ाई जाती है। ग्रहण के समय गर्भवती स्त्री को बाहर नहीं निकाला जाता है क्योंकि उससे गर्भ के बच्चे पर बुरा प्रभाव पडता है। उसी प्रकार छत्तीसगढ के कमारो मे प्रसव यदि बहुत पीडापूर्ण होता है तो देवी-देवताओ को भेंट-बलि देकर कष्ट को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। उत्कल की बोदो जनजाति मे शिशु का नामकरण करने के लिए देवी-देवताओ के सामने मुर्गे की बलि देकर उसका एक पैर नवजात शिशु के हाथ मे दे दिया जाता है। बच्चे के निकट उसका कोई रिश्तेदार बैठकर धीरे-धीरे एक-एक पूर्वज का नाम लेता है। कोई विशेष नाम लिए जाते समय यदि बच्चा मुर्गे के पैर को हाथ से दबाता है तो यह माना जाता है कि उसकी आत्मा ने ही जन्म लिया है और शिशु को सब लोग उसी नाम से पुकारने लगते हैं। उसी प्रकार हिन्दू विवाह तथा मृत्यु के समय अनेक धार्मिक संस्कारों को करते हैं।

(ख) धार्मिक कथाएँ—धर्म से सम्बन्धित अनेक कथाएँ भी प्रत्येक समाज मे पाई जाती है। ये गाथाएँ विशेषकर उस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित होती हैं जिस पर कि लोग विश्वास करते हैं। इन गाथाओं के माध्यम से ईश्वर की महिमाओं को प्रस्तुत किया जाता है, ताकि उस शक्ति के प्रति लोगो की श्रद्धा और आस्था अटल रहे। घर घर पूजा-आराधना करते समय परिवार का कोई सदस्य या पुरोहित इन धार्मिक गाथाओं को सबको सुनाता है। किस प्रकार एक नास्तिक व्यक्ति अन्त मे भगवान की महिमाओं से प्रभावित होकर कट्टर भक्त बन गया या किस प्रकार भगवान अपने भक्तो की रक्षा हर सकट मे करते हैं, इसी की रोचक गाथाएँ लोगो को सुनायी जाती हैं।

(ग) शामन तथा पुरोहित—प्राय सभी समाजो मे धार्मिक कृत्यो के विशेषज्ञ पाये जाते हैं। उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार उन्हें दो प्रमुख वर्गों मे बाँटा जा सकता है। वे वर्ग हैं—शामन और पुजारी। 'शामन' शब्द का प्रयोग मानवशास्त्रियो ने साइबेरिया की जनजातियो मे पाये जाने वाले कुछ इस प्रकार के विशेषज्ञों के नाम के आधार पर किया है जो कि बहुधा रोगियों का उपचार करने का कार्य करते हैं। कुछ ऐसे रोग हैं जिनके बारे मे आदिवासियों मे यह विश्वास है कि वे रोग विशेष दैवी शक्तियो के कोप के फलस्वरूप होते हैं। इन रोगों को ठीक करने के लिए ही 'शामन' की सेवाएँ मां' जाती हैं। उसी प्रकार धार्मिक कृत्यो को करने के लिए प्रत्येक समाज मे पुरोहित ति

हैं। इनका सदसे प्रमुख काम अलौकिक शक्ति के आराधना-कार्य मे जनता का पथ-प्रदर्शक के रूप मे कार्य करना है। ऐसा भी होता है कि पुरोहित किसी व्यक्ति, परिवार या समूह की ओर से अपनी प्रार्थना और आराधना द्वारा दैवी शक्तियो को प्रसन्न रखने का निरतर प्रयास करता रहता है। अनेक समाजों मे धार्मिक उत्सवों मे पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य है। हिन्दू-समाज मे तो जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के समय जो धार्मिक कृत्य होते हैं उनका सचालन पुरोहित के द्वारा ही होता है। जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, नीलगिरी की टोडा जनजाति मे कुछ भैंसें इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि दुग्धशालाएँ ही इन लोगो का मन्दिर होता है और बड़े जटिल धार्मिक कृत्यो को करते हुए पुरोहित इन भैंसो का दूध निकालते हैं। इनके मुख्य पुरोहित 'पोलोल' को अपने पद पर काम करते हुए अठारह वर्ष अविवाहित रहना पड़ता है। यह अवधि पूरी होने पर उसे समाज यह अधिकार देता है कि वह किसी भी समय किसी भी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करे। वैसे भी प्राय प्रत्येक समाज मे ही पुजारियो से यह आशा की जाती है कि वे पवित्र और मादा जीवन व्यतीत करें।

(घ) **पारिवारिक देवता और पितृ या/व मातृ-पूजा**—अनेक समाजो मे पारिवारिक देवता को पूजने की प्रथा है। यह साधारणत. उन समाजो मे होता है जहाँ कि एक से अधिक देवी-देवताओ पर विश्वास किया जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दुओ के अनेक देवी-देवता होते हैं। अनेक परिवार इनमे से किसी एक देवी या देवता को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं। एक परिवार लक्ष्मी-नारायण की पूजा करता है तो एक परिवार मे सीता-राम की मूर्ति की पूजा होती है। उसी प्रकार परिवारो के पूर्वजो को भी देवता के रूप मे पूजा जाता है। चीन मे पितृ-पूजा की भावना और उससे सम्बन्धित अनेक धार्मिक कृत्यों का विकसित रूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार हिन्दुओ मे भी श्रद्धा-पक्ष साल मे एक बार अपने पूर्वजो को पिण्डदान करने या श्रद्धाजलि अर्पित करने के उद्देश्य से मनाया जाता है। इसमे भी अनेक धार्मिक विश्वासो व कृत्यो का समावेश होता है। कुछ समाजो मे पूर्वजो के लिए चबूतरे बनाकर उनकी नियमित पूजा करना भी आवश्यक समझा जाता है। मुसलमान अपनी कब्रो पर सप्ताह मे एक दिन दीया जलाते तथा फूल आदि चढाकर मृत व्यक्तियो के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं।

जादू
(Magic)

जादू क्या है ?
(What is Magic ?)

जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, मनुष्य से अतिमानवीय जगत् पर या अलौकिक शक्ति के नियन्त्रण करने के हेतु दो उपायों को अपनाया—प्रथम तरीका उस शक्ति विनती या आराधना करके उसे प्रसन्न करना और फिर उस प्रसन्नता से लाभ उठाना या शक्ति के द्वारा की जाने वाली हानियो से बचना है। इसी से धर्म का विकास हुआ।

और दूसरा तरीका उस शक्ति को दबाकर अपने अधिकार मे करके उस शक्ति को अपने उद्देश्य-पूर्ति के हेतु प्रयोग करना है। यही जादू है।

डा० दुबे के अनुसार, "जादू उस शक्ति-विशेष का नाम है, जिससे अतिमानवीय जगत् पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके और उसकी क्रियाओ को अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ-अशुभ उपयोग मे लाया जा सके।"[1]

उपरोक्त परिभाषा मे डा० दुबे ने "जादू की **तीन** विशेषताओ का उल्लेख किया है। **प्रथम** तो यह है कि जादू का सम्बन्ध अतिमानवीय जगत् से होता है। **दूसरा** यह कि जादू एक शक्ति है। जादूगर इस शक्ति को अपने अधिकार मे अतिमानवीय जगत् पर नियन्त्रण पाने के उद्देश्य से रखना चाहता है और **तीसरी** बात यह है कि इस शक्ति का प्रयोग जादूगर अपनी इच्छानुसार करता है या कर सकता है और इसीलिए इस शक्ति का प्रयोग भले या बुरे, शुभ या अशुभ काम के लिए किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे जादूगर अपनी उस शक्ति की सहायता से दूसरे को हानि या लाभ पहुँचा सकता है।

श्री फ्रेजर (Frazer) के विचार उक्त विचार से कुछ भिन्न है। जादू की परिभाषा करते हुए आपने लिखा है कि, "जादू इस आधार पर एक आभासी-विज्ञान (pseudo-science) है कि कार्य-कारण सम्बन्ध के एक अटल नियम के अनुसार यह प्रकृति पर दबाव डालता है।" इस प्रकार श्री फ्रेजर के अनुसार जादू प्रकृति पर नियन्त्रण पाने का एक साधन है। यह साधन कुछ नियमो पर इस अर्थ मे आधारित है कि इसके अन्तर्गत कार्य-कारण की एक नियमितता पाई जाती है। इस दृष्टि से जादू प्रकृति को नियन्त्रित करने के लिए कुछ प्रविधियो और पद्धतियो का एक समूह है। श्री फ्रेजर के अनुसार जादू मे विश्वास करने वाले व्यक्ति अर्थात् जादूगर की **दो** विशेषताएँ होती है। **पहली** तो यह कि उसमे यह विश्वास होता है कि उसकी जादू की शक्ति प्राकृतिक शक्तियो से अधिक शक्तिशाली है, क्योकि एक जादूगर प्राकृतिक शक्तियो के कार्य-कारण सम्बन्धों के अटल नियमो को समझता है और इसीलिए वह उनपर प्रभुत्व करने का दावा करता है। वह प्राकृतिक शक्तियो को स्वामी नही बल्कि दास समझता है जिसे कि वह इच्छानुसार अपने काम मे लगा सकता है। इसलिए वह प्राकृतिक शक्ति को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से नही देखता है। जादूगर की **दूसरी** विशेषता उसकी कार्यविधि से सम्बन्धित है। धर्म पर विश्वास करने वाले व्यक्ति की भाँति जादूगर प्राकृतिक शक्ति की विनती या आराधना, पूजा या प्रार्थना करके उसे प्रसन्न करके उस प्रसन्नता से लाभ उठाने का प्रयत्न नही करता, बल्कि वह उस शक्ति के भेद को जानकर उसे दबाकर अपने अधिकार मे करके उस शक्ति को अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे प्रयोग करता है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने जादू के सम्बन्ध मे लिखा है कि, "जादू विशुद्ध व्यावहारिक क्रियाओं का योग है जिन्हें कि उद्देश्यो की पूर्ति के साधन के रूप मे प्रयोग किया जाता है।"[2] आपने यह भी लिखा है कि जब इच्छित परिणामो को अन्य

1. Dr S C. Dube, *Manava aur Sanskriti*, Delhi, 1960, p 138
2 "Magic is a body of purely practical acts, performed as a means to an end."—B. Malinowski, *op cit*, p. 70

किसी भौतिक प्रविधि या उपाय से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, तब जादू के साधन से उन परिणामों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की ने जादू के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। जादू की यह व्यावहारिकता या उपयोगिता आदिकालीन समाज मे और भी अधिक है क्योंकि आदिवासी लोगों के जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ उठ खडी होती हैं जिनका कि हल वे अपनी सीमित बुद्धि और कौशल के आधार पर नहीं कर पाते हैं। उनकी इस कमी को धर्म और जादू पूरा करता है। उनके जीवन मे अनेक खतरे होते हैं और ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ होती हैं जिनका अन्दाजा पहले से नही लगाया जा सकता। ऐसी परिस्थितियों मे जादू लोगों का बहुत बडा सहारा है। इसके अतिरिक्त जादू चमत्कारों में विश्वास दिलाकर अनेक कठिन परिस्थितियो का सामना करने का साहस लोगों को प्रदान करता है। जादू का चमत्कार इसके अधिकारी को शत्रु का विनाश करने या उसे हानि पहुँचाने में भी मदद करता है। इसीलिए श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादू वह शक्ति है जो कुछ व्यावहारिक हितो की पूर्ति के साधन के रूप मे प्रयोग में लायी जाती है।

जादुई क्रियाओं के तत्त्व
(Elements of Magical Acts)

डा० दुबे के अनुसार, किसी भी जादुई क्रिया में हमें तीन तत्त्वो का समावेश मिलता है।[1]

(1) **कतिपय शब्द—उच्चारित या अभिमन्त्रित**—ये शब्द साधारण से कुछ भिन्न और सामान्यतः गुप्त रखे जाते हैं। इनका उपयोग केवल वे लोग ही जानते हैं जो कि जादुई 'क्रिया मे निपुण होते हैं। ये निपुण व्यक्ति जादू के इन शब्दों या मन्त्रों को अपने शिष्यो को ही सिखाते हैं। कभी-कभी जब जादू को एक सामान्य सामाजिक घटना के रूप मे स्वीकार किया जाता है, तब उस समाज के सभी सदस्य इन शब्दो से परिचित होते हैं, किन्तु उस स्थिति मे भी इन शब्दों को उन लोगों से गुप्त रखा जाता है जो उस समाज के सदस्य नहीं, क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि वैसा न करने पर जादू की प्रभावशीलता के कम हो जाने की सम्भावना रहती है।

(2) **शब्दोच्चारण के साथ कतिपय विशिष्ट क्रियाएँ**—मन्त्रों के प्रतिफलित होने के लिए बहुधा उनके उच्चारण के साथ कतिपय क्रियाओं का करना भी आवश्यक होता है। ये क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण को नाटकीय तत्त्व प्रदान करती हैं और यह विश्वास किया जाता है कि उनका सम्मिलित प्रभाव उद्देश्य की पूर्ति या अभीष्ट की सिद्धि मे सहायक सिद्ध होता है।

(3) **जादू करने वाले व्यक्ति की विशेष स्थिति**—जिन दिनों जादू की क्रियाएँ की जाती हैं, उन दिनों रोज जैसा जीवन बिताया जाता है उससे कुछ भिन्न प्रकार का जीवन बिताना आवश्यक समझा जाता है। इस काल मे जादूगर को कुछ चीज़ों को खाने-पीने या कुछ विशिष्ट व्यवहारों की मनाही होती है।

1. Dr S.C. Dube, *op cit*, pp. 138-139.

डा० दुबे ने आगे और लिखा है कि उपरोक्त तीन तत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्त्र ही होते हैं, अन्य क्रियाएँ तो उनके सहायक के रूप मे प्रयोग की जाती हैं। इसीलिए कभी-कभी इन क्रियाओं मे से कुछ क्रियाओं को बेकार का समझकर जादुई क्रिया मे सम्मिलित नहीं किया जाता है, परन्तु मन्त्र सदैव आवश्यक अग के रूप मे प्रत्येक जादुई क्रिया में उपस्थित रहते हैं। ईश्वर या अदृष्ट शक्ति मानव के साथ सुलह करे, इस उद्देश्य से इन्हें प्रयोग किया जाता है। आदर्शत यदि ठीक प्रकार से मन्त्रों का उच्चारण हो और अन्य क्रियाएँ नियमानुसार सम्पन्न की जाएँ तो अतिप्राकृतिक शक्ति कर्त्ता अर्थात् जादूगर की इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य हो जाती है। और यदि ऐसा नहीं होता है तो यह *विश्वास किया जाता है कि मन्त्रों के उच्चारण मे या उनके साथ की जाने वाली अन्य* क्रियाओं मे कहीं कोई त्रुटि रह गई है।

श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादुई क्रियाओं मे निम्नवत् चार तत्त्व होते हैं[1]—

(अ) मन्त्र (Spell)—मन्त्र प्रत्येक जादुई क्रिया का सर्वप्रथम और आधारभूत तत्त्व है। इसके बिना कोई भी जादुई क्रिया सम्पन्न हो ही नहीं सकती। यह मन्त्र की ही शक्ति है जो कि अतिप्राकृतिक शक्ति पर दबाव डालकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेती है। प्रत्येक मन्त्र मे तीन विशेषताएँ होती हैं—पहली प्राकृतिक आवाजों की नकल आवश्यक है। यह विश्वास किया जाता है कि कार्य की सिद्धि के लिए कुछ कारणों को उत्पन्न करना आवश्यक है। इसीलिए जादूगर नकली आवाजों को उत्पन्न कर उन कारणों के उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। दूसरी, आदिम मनुष्यों के मन्त्रों में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो किसी वर्तमान परिस्थिति को बतलाते हैं और इच्छित उद्देश्य को पूरा करने का आदेश देते हैं। तीसरी, प्रत्येक सम्मोहन मन्त्र मे उन पूर्वजों के नाम का भी उल्लेख होता है जिनसे जादू प्राप्त हुआ माना जाता है।

(ब) भौतिक पदार्थ—प्रत्येक प्रकार की जादुई क्रिया में कुछ निश्चित भौतिक पदार्थों को काम मे लाया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इन भौतिक चीज़ों को प्रयोग में न लाये बिना इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव नहीं है। इस कारण ये भौतिक चीज़ें भी जादुई क्रिया का एक आवश्यक अग हो गई हैं। काले जादू मे कटार या चाकू या जहरीली चीज़ों का प्रयोग होता है और प्रेम-जादू मे इत्र, फूल या अन्य इस प्रकार की वस्तुएँ काम मे लायी जाती हैं जो प्रेमी को उद्दीप्त करें।

(स) *कृत्यों की नियमबद्धता*—*जादुई क्रिया मनमाने ढंग से नहीं की जाती है।* एक इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए जादुई क्रिया की एक निश्चित विधि या तरीका होता है। किस क्रम मे और किस तरह कौनसी जादुई क्रियाएँ की जायेंगी, इसका उचित तथा क्रमबद्ध ज्ञान जादूगर को होना चाहिए। यदि जादुई क्रिया अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल *न हुई तो यह सोच लिया जाता है कि जादूगर अज्ञान है या उसने मन्त्रों के शब्दक्रम अथवा* उनके साथ की जाने वाली क्रियाओं मे कोई त्रुटि की है या उस जादूगर ने उस विशिष्ट स्थिति मे अनिवार्य निर्देशों का उल्लघन किया है।

(द) संवेगों की अभिव्यक्ति—प्रत्येक प्रकार के जादू में उद्देश्यों के अनुसार

---

1. B. Malinowski, *op. cit*

अलग-अलग संवेगो (emotions) की अभिव्यक्ति की जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि इन संवेगों को जाहिर करने पर मन्त्रो को बल मिलता है और उनका सम्मिलित प्रभाव अभीष्ट की सिद्धि को पास लाता है। इसलिए जादूगर अपने उद्देश्य के अनुसार संवेगो को अवश्य प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, काले जादू मे जादूगर का उद्देश्य दुश्मन को मारना होता है, इसलिए जादू करने के समय जादूगर के चेहरे से क्रूरता का भाव टपकता है और वह अपने क्रोध को झलकाते हुए मन्त्रो का उच्चारण करता है।

जादू के भेद
(Kinds of Magic)

श्री फ्रेज़र (Frazer) ने जादू के सम्बन्ध मे विवेचना करते हुए लिखा है कि "जादू मे दो आधारभूत सिद्धान्तो का समावेश है—प्रथम तो यह कि समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होता है, अर्थात् एक कार्य अपने कारण के सदृश्य होता है; और द्वितीय यह कि जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क मे आ जाती है वह सदैव उसके सम्पर्क मे रहकर उस समय भी एक-दूसरे पर क्रिया व प्रतिक्रिया करती रहती है जबकि उनका शारीरिक सम्बन्ध टूट गया हो, अर्थात् वे एक-दूसरे से दूर या पृथक् हो।"[1] श्री फ्रेज़र ने अपने इन दो सिद्धान्तो को नियमो का रूप दिया है और इन्ही के आधार पर जादू के दो भेदो का उल्लेख किया है। प्रथम सिद्धान्त को आपने 'समानता का नियम' (the law of similarity) कहकर पुकारा है। समानता के नियम पर जो जादू आधारित है उसे होमियोपैथिक (homoeopathic) या अनुकरणात्मक (imitative) जादू कहते हैं। दूसरे सिद्धान्त को श्री फ्रेज़र ने 'सम्पर्क या संसर्ग का नियम' (the law of contact or contagion) कहकर पुकारा है। संसर्ग के नियम पर जो जादू आधारित है उसे संक्रामक जादू (contagious magic) कहते हैं।

इस प्रकार श्री फ्रेज़र के अनुसार जादू के दो भेद हैं—(1) अनुकरणात्मक जादू, और (2) संक्रामक जादू।

अनुकरणात्मक जादू इस नियम पर आधारित है कि जब एक प्रकार की क्रिया की जाती है तो परिणाम भी उसी प्रकार का होता है अर्थात् समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, आस्ट्रिया मे यह विश्वास किया जाता है कि यदि प्रसवा माँ को किसी वृक्ष का प्रथम फल खाने को दिया जाय तो उस वृक्ष पर अगले वर्ष काफी फल आयेंगे। गेलेलारी समाज मे जब कभी युवक प्रेमी अपनी प्रेयसी से मिलने रात्रि मे उसके घर जाता है तो वह श्मशान से कुछ मिट्टी अपने साथ ले जाता है जिसे वह अपनी प्रेयसी के घर की छत पर डाल देता है। इस जादू का यह उद्देश्य होता है कि गुप्त भेंट के समय प्रेयसी के माता-पिता मृतवत् अर्थात् गहरी नींद मे सोते रहें और उन प्रेमी-

1. "Magic involves two basic assumptions: First, that like produces like, or that an effect resembles its cause, and second, that things which have once been in contact with each other at a distance, even after the physical contact has been severed."—James Frazer, *The Golden Bough*, Abridged Edition, Vol. I, The Macmillan Co., 1928, p. 11.

प्रेमिका के मिलन में कोई बाधा न पहुँचे।[1]

इसके विपरीत सक्रामक जादू इस नियम पर आधारित है कि जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क मे आ जाती है, वह हमेशा सम्पर्क मे रहती है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के बाल या नाखून उसके शरीर के सम्पर्क मे हैं। अगर उन बालो या नाखूनों को काट डाला जाय तो बाहरी तौर पर उनका सम्पर्क उस व्यक्ति के शरीर से समाप्त हो जाता है। परन्तु सक्रामक जादू के नियम के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि बाहरी तौर पर उन बालो या नाखूनो का सम्पर्क व्यक्ति के शरीर से समाप्त हो जाने पर भी उन दोनो का सम्पर्क बना रहता है। इसीलिए यदि किसी व्यक्ति के कटे हुए बालों या नाखूनो को कोई भी नुकसान पहुँचाया जाय तो उस व्यक्ति को भी कष्ट पहुँचेगा।

इन दोनो प्रकार के जादुओ को श्री फ्रेजर (Frazer) ने 'सहानुभूत-जादू' (sympathetic magic) कहा है, क्योकि इन दोनो प्रकार के जादुओ मे कारण और कार्य का आन्तरिक सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध सम्पर्क के द्वारा या समानता के कारण उत्पन्न होता है। इसी सम्बन्ध के कारण जादुई क्रिया के प्रति उसके लक्ष्य की सहानुभूति होती है। इसीलिए इन्हे सहानुभूत-जादू कहा गया है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने एक दूसरे तरीके से जादू का वर्गीकरण किया है। आपके अनुसार समस्त प्रकार के जादू को दो प्रमुख श्रेणियो मे रक्खा जा सकता है—(1) सफेद जादू (White Magic), और (2) काला जादू (Black Magic)।

सफेद जादू के दो भेद है। पहले भेद मे वे जादू आते हैं जिन्हे कि जीवन की अनिश्चितता और खतरो से मनुष्य की रक्षा करने के हेतु काम मे लाया जाता है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियड द्वीपसमूह के निवासी गहरे समुद्र मे मछली का शिकार करने जाते हैं तब वहाँ उन्हे प्राय नाना प्रकार के खतरो का सामना करना पडता है। इन खतरो से बचने के लिए वे जादू की सहायता लेते हैं। सफेद जादू के दूसरे भेद मे विचित्र घटनाएँ (miracles) आती हैं। जब कोई व्यक्ति जादू की शक्ति से कोई ऐसा चमत्कार दिखाता है जिसकी कि कोई भी आशा नही कर सकता, तो उसे इस श्रेणी के अन्तर्गत लाते हैं। इन दोनो प्रकार के जादुओ को सफेद जादू इसलिए कहा जाता है कि इनका उद्देश्य सामाजिक दृष्टिकोण से कल्याणकारी होता है। इस कारण ऐसे जादू को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

इसके विपरीत काला जादू का उद्देश्य दूसरो को हानि पहुँचाना होता है। इसीलिए इन्हें काला जादू कहा जाता है और इन्हे समाज की स्वीकृति प्राप्त नही होती है। इन जादुओ को जादूगर अपने शत्रु के प्रति प्रयोग करता है जिससे कि उसे जान-माल की हानि हो या वह बीमार पड जाय या उसे अन्य प्रकार से कष्ट पहुँचे। श्री मैलिनोवस्की काले जादू के अन्तर्गत टोना (sorcery) तथा भूत-प्रेतो की सिद्धि (witchcraft) को भी सम्मिलित करते है।

डा० दुबे ने जादुई क्रिया के उद्देश्य के आधार पर जादू को तीन भागो मे बाँटा

1 Dr S C. Dube, *op. cit.*, p. 139.

हैं[1]—(1) **संवर्द्धक जादू**—इसके अन्तर्गत आखेट का जादू, उर्वरता का जादू, वर्षा के लिए जादू, मछली पकड़ने का जादू, नौका चलाने का जादू, वाणिज्य-लाभ का जादू और प्रणय के लिए जादू आते हैं।

(2) **संरक्षक जादू**—इसके अन्तर्गत सम्पत्ति-रक्षा के लिए जादू, दिए हुए ऋण को पुनः प्राप्त करने के लिए जादू, दुर्भाग्य से बचाव के लिए जादू, रोग-उपचार के लिए जादू, यात्रा में सुरक्षा के लिए जादू, विनाशक जादू का प्रभाव रोकने के लिए अवरोधक जादू आदि सम्मिलित हैं।

(3) **विनाशक जादू**—इसके अन्तर्गत तूफान लाने के लिए जादू, सम्पत्ति नष्ट करने के लिए जादू, बीमार करने के लिए जादू, मृत्यु बुलाने के लिए जादू आदि आते हैं।

जादू और विज्ञान
(Magic and Science)

श्री फ्रेजर ने अपनी जादू की परिभाषा में लिखा है कि जादू एक आभासी-विज्ञान (pseudo-science) है। एक अन्य स्थान पर आपने जादू को विज्ञान की 'अवैध बहन' (bastard sister) कहा है। इस अर्थ में, श्री फ्रेज़र के अनुसार, जादू आदिमानव का विज्ञान है। स्वभावतः ही इन दोनों में कई समानताएँ हैं—(1) जादू और विज्ञान दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि घटनाएँ कुछ प्राकृतिक नियमों के कारण ही घटित होती हैं और इन नियमों में एक निश्चित व्यवस्था और नियमबद्धता होती है। (2) "सहानुभूत-जादू यह विश्वास करता है, एक घटना का अनिवार्यतः अन्य घटनाओं पर प्रभाव पड़ता है, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है।" विज्ञान में भी यह विशेषता पाई जाती है। (3) वैज्ञानिक और जादूगर दोनों ही यह मानते हैं कि प्राकृतिक घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को समझकर कारणों को उत्पन्न कर कार्य को भी पैदा किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, दोनों ही यह विश्वास करते हैं कि यदि कुछ कार्यक्रमों को नियमानुसार और सूक्ष्म रूप से काम में लाया जाय तो इच्छित परिणाम अवश्य निकलेंगे। (4) जादू और विज्ञान में एक और समानता यह है कि दोनों में ही कुछ-न-कुछ सीमा तक भविष्यवाणी करने की क्षमता होती है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने भी जादू और विज्ञान में कई समानताओं का उल्लेख किया है। पहली समानता तो यह है कि दोनों का ही मनुष्य की प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं से सम्बन्धित कोई-न-कोई निश्चित उद्देश्य होता ही है। दूसरी समानता यह है कि जादू और विज्ञान दोनों ही कुछ निश्चित नियमों पर आधारित हैं। मनमाने ढंग से न तो जादू में कार्य होता है और न ही विज्ञान में। तीसरी समानता यह है, जादू व विज्ञान दोनों में एक विशेष प्रविधि (technique) का प्रयोग किया जाता है।

उक्त समानताओं के होते हुए भी जादू और विज्ञान को एक समझने की गलती

1. *Ibid*, p. 141.

न करनी चाहिए क्योंकि बाहरी तौर पर ये समानताएँ प्रगट होने पर भी वे वास्तविक नहीं हैं। वास्तव में जादू तथा विज्ञान दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। इन दोनो मे कुछ आधार-भूत भिन्नताएँ हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—(1) जादू और विज्ञान में सर्वप्रमुख भिन्नता यह है कि जादू का सम्बन्ध अधिप्राकृतिक (supernatural) जगत् से है, जबकि विज्ञान केवल प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखता है। अधिप्राकृतिक जगत् विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत कदापि नहीं आता है जबकि जादू की समस्त रुचि इसी में होती है। (2) रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) के अनुसार विज्ञान के परिणामों की परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है क्योंकि इसमे वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग होता है और इन पद्धतियो का एक वास्तविक आधार भी होता है। परन्तु चूंकि जादू का सम्पर्क अधिप्राकृतिक जगत् से होता है, इस कारण जादू की विधियाँ मानव-मस्तिष्क की कल्पना मात्र होती हैं। (3) विज्ञान की असफलता अपर्याप्त ज्ञान के कारण होती है और इसका संशोधन शोध (research) के द्वारा हो सकता है। परन्तु जादू में असफल होने का कारण यह सोचा जाता है कि जादूगर ने "मन्त्रों के शब्द-क्रम अथवा उसके साथ की जाने वाली क्रियाओं मे कोई त्रुटि की, अथवा उसने इस विशिष्ट स्थिति के अनिवार्य निषेधों का उल्लंघन किया।" (4) श्री गोल्डनवीजर के अनुसार एक जादूगर जिन उपकरणों का प्रयोग करता है उनमे रूढ़िवादिता या परम्परा की बू रहती है और इसी कारण वे अनुभवों से परे होते हैं। परन्तु वैज्ञानिक के उपकरण परिवर्तनशील होते हैं और अनुभव के आधार पर उन्हें किसी भी समय बदला जा सकता है। (5) श्री मैलिनावस्की के अनुसार "विज्ञान, यहा तक कि आदिमानव का विज्ञान भी निरीक्षण (observation) के आधार पर तर्क (reason) द्वारा निर्धारित रोज के जीवन के उन स्वाभाविक तथा सार्वभौम अनुभवों पर आधारित है जो कि अपनी जीविका (subsistence) और सुरक्षा के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष करने के दौरान पर मनुष्य प्राप्त करता है। इसके विपरीत, जादू मनुष्य की उद्वेगात्मक अवस्थाओं (emotional states) के विशिष्ट अनुभवों पर आधारित होता है, जिसमें की मनुष्य प्रकृति को नहीं बल्कि अपने को निरीक्षण करता है, जिसमें कि सत्य का निर्णय तर्क द्वारा नहीं बल्कि मानव-शरीर पर उद्वेगों की क्रियाशीलता द्वारा होता है। (6) विज्ञान इस विश्वास पर आधारित है कि अनुभव, प्रयत्न तथा तर्क सही हैं, पर जादू इस विश्वास पर आधारित है कि आशा व्यर्थ नहीं हो सकती, न ही इच्छा कभी धोखा दे सकती है।"[1]

---

1. "Science, even as represented by the primitive knowledge of savage man, is based on the normal, universal experience of everyday life, experience won in man's struggle with nature for his subsistence and safety, founded on observation, fixed by reason. Magic is based on specific experience of emotional states in which man observes not nature but himself, in which the trust is revealed not by reason, but by the play of emotions upon the human organism. Science is founded on the conviction that experience, effort and reason are valid, magic on the belief that hope cannot fail nor deceive."—B. Malinowski, *op. cit.*

जादू और धर्म
(Magic and Religion)

समानताएँ—आदिम संस्कृति मे धर्म और जादू एक-दूसरे से इतना अधिक घुले-मिले हुए हैं कि इन्हे अलग करना एक प्रकार से असम्भव ही है। (1) श्री गोल्डनवीज़र ने लिखा है कि जादू तथा धर्म मे जो सामान्य तत्त्व (common element) है वह यह कि दोनो का ही सम्बन्ध अधिप्राकृतिक शक्ति से है। (2) साथ ही, इन दोनो मे ज्ञान परम्परागत होते है। (3) धार्मिक तथा जादुई क्रियाओं में उद्‌वेगो की उपस्थिति भी होती है जो कि इन दोनो को और भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित करती है। श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि धर्म तथा जादू दोनो ही उद्‌वेगात्मक तनाव की परिस्थितियो मे उत्पन्न होते हैं, जैसे जीवन के सकट, असफल प्रेम और घृणा की परिस्थितियाँ।" (4) इन दोनो मे एक दूसरी समानता यह है कि दोनों उन सकटमय परिस्थितियो से बचने के साधन के रूप मे प्रयोग किये जाते हैं जिनसे कि अन्य किसी साधन के माध्यम से पार नही पाया जा सकता है। लोग यह विश्वास करते है कि धर्म या जादू मे चमत्कार दिखाने की शक्ति है क्योंकि यह अधिप्राकृतिक शक्ति पर आधारित है। इसलिए जिन उद्देश्यो की पूर्ति अन्य उपायों से सम्भव नही, वह धर्म तथा जादू की सहायता से सहज ही सम्भव हो सकती है। (5) जादू तथा धर्म-सम्बन्धी क्रियाओ को करने के लिए कुछ परम्परागत विधियाँ होती हैं जिनका कि अनुसरण करना आवश्यक समझा जाता है। अगर जादू या धर्म-सम्बन्धी क्रियाओ मे अभीष्ट की सिद्धि नही होती है तो यह मान लिया जाता है कि उन परम्परागत विधियो का ठीक-ठीक अनुसरण नही किया गया है। (6) धर्म तथा जादू की क्रियाओं को करने के लिए नित्यप्रति से भिन्न प्रकार का जीवन बिताना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, इन दोनो मे ही कुछ अनिवार्य निषेधो का पालन करना पड़ता है वरना यह सोचा जाता है कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति असभव है।

भेद—उपरोक्त समानताओ के होते हुए भी धर्म और जादू मे निम्नलिखित भेद स्पष्ट हैं—(क) धर्म एक सामाजिक कृत्य है, जब कि जादू एक वैयक्तिक कृत्य है। धर्म और जादू के इस भेद पर श्री दुर्खीम ने अत्यधिक बल दिया है। आपने लिखा है कि जादू मे भी धर्म की भाँति अनेक विश्वास सस्कार, कृत्य आदि होते हैं; फिर भी मूल रूप मे जादू वैयक्तिक (individualistic) होता है। जादू का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से होता है। इसी कारण जादू उस पर विश्वास करने वालो को एक समूह मे सयुक्त नही कर पाता है। इसके विपरीत, धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से नही होता है। यह तो एक सामाजिक तथ्य है। इसी कारण धर्म उसपर विश्वास करने वालो को एक नैतिक समुदाय (moral community) मे सयुक्त करता है। (ख) जादू और धर्म दोनों मे ही अधिप्राकृतिक या अलौकिक शक्ति मे विश्वास किया जाता है। परन्तु धर्म मे उस शक्ति की विनती, पूजा, प्रार्थना या आराधना करके उसे प्रसन्न करने और फिर उस प्रसन्नता से लाभ उठाने या उस शक्ति के द्वारा की जाने वाली हानियों से बचने का प्रयत्न किया जाता है। इसके विपरीत जादू मे उस शक्ति को दबाकर अपने अधिकार मे करके उस शक्ति को

अपने उद्देश्य की पूर्ति मे प्रयोग किया जाता है। इस भेद को श्री गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—धर्म मे आत्मसमर्पण या अधीनता निहित है, जब कि जादू मे दृढ आत्मसंकल्प तथा नियन्त्रण।[1] (ग) इन दोनो मे एक अन्तर यह है कि धर्म मे अलौकिक शक्ति के प्रति धार्मिक व्यक्ति के मन मे भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की भावना होती है। परन्तु जादू मे जादूगर प्राकृतिक शक्तियो को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता है क्योंकि वह उनका भेद जानता है और उन पर काबू पा सकता है। (घ) श्री मैलिनोवस्को ने लिखा है कि जादू सबके लिए नहीं होता है अर्थात् जादुई क्रियाएँ केवल वे लोग ही कर सकते हैं जो कि इन क्रियाओ मे निपुण हैं। इन क्रियाओ को ये निपुण व्यक्ति अपने शिष्यो को ही सिखाते हैं। इसके विपरीत धार्मिक क्रियाएँ सबके द्वारा और सबके लिए की जाती हैं। (ङ) धर्म समूह के कल्याण की चिन्ता करता है; जादू बहुधा व्यक्ति का कल्याण सोचता है। (च) धर्म मे प्रार्थना सफल और असफल दोनों ही हो सकती हैं परन्तु जादुई क्रिया इस विश्वास के साथ की जाती है कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति या अभीष्ट की सिद्धि अवश्य ही होगी।

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. Boas and Others : *General Anthropology*, New York, 1938

3. Dube, S. C. : *Manava our Sanskriti*, Rajkamal Prakashan, Delhi, 1960.

4. Durkheim, Emile *The Elementary Forms of Religious Life*, Translated by J. W. Swain, Free Press, Glencoe, 1947

5. Frazer, James *The Golden Bough*, The Macmillan Co, New York, 1950.

6. Goode, W. J. · *Religion among the Primitives*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1951.

7. Malinowski, B : *Magic, Science and Religion and Other Essays*, Glencoe, 1948.

8. Max Muller *Lectures on the Origin and Growth of Religion*, Longmans, Green and Co., London.

9. Radin, Paul *Primitive Religion*, Dover Publications, New York, 1957

10 Titiev, Mischa, *Introduction to Cultural Anthropology*, Henry Holt and Co, New York, 1959.

11. Tylor, E. B. . *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913.

1. "In the first case (religion) there is submission or dependence, in the second case (magic) self-determination and control "—Goldenweiser, *op. cit*

14 आदिकालीन कला
(Primitive Art)

मानव आदिकाल से ही सौन्दर्य का भूखा है। वह सौन्दर्य को केवल आँखों से देखकर ही तृप्त नहीं होता है, वरन् उसे रचनात्मक कल्पना की सहायता से एक मूर्त्त रूप देना चाहता है इसी के फलस्वरूप कला का जन्म होता है। कला का यह जन्म मानव-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि इसके जन्म से मानव व पशु मे जो अन्तर-रेखा खिंच गई वह आज भी अमर है। पशु कलाविहीन है, मनुष्य कलाकार है; पशु कला से दूर है, मनुष्य कला मे ही अमर है। इस प्रकार मानव-समाज या मानव-जीवन की एक सार्वभौम (universal) विशेषता उसकी कला है।

प्रत्येक मानव या मानव-समाज सस्कृति का अधिकारी है और कला उसी मानव-सस्कृति का एक आवश्यक अग है। इस अर्थ मे कला न केवल अति प्राचीन है, वरन् सार्वभौम भी। इसका कारण भी स्पष्ट है। आदिकाल से ही मानव केवल प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं रह पाया; उस सौन्दर्य को और उन्नत स्तर पर लाकर उसे मूर्त्त रूप देने तथा नवीन सौन्दर्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति मानव मे सदा से ही विद्यमान रही है। मानव केवल भोजन, वस्त्र तथा निवास को उत्पन्न या निर्माण करके ही कभी भी सन्तुष्ट नहीं हुआ; जीवन के समस्त सघर्षों के बीच भी उसने इतना समय निकाल ही लिया कि उस समय मे खेल-कूद सके, चित्र बना सके या नृत्य व सगीत मे अश ग्रहण कर सके। मानव की सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि की यह शक्ति व प्रवृत्ति ही उसकी मानवता को बनाये रखती है और मानव फिर से पशु-स्तर पर लौट नहीं जाता है। यही कारण है कि मानव जब गुफाओ मे रहता था तभी वह कई प्रकार के चित्रो तथा बहुमुखी कला का विकास कर चुका था। डा० दुबे ने लिखा है कि "प्राचीन प्रस्तर युग के प्रथम भाग से ही पत्थर और सीपो के प्राथमिक आभूषण मिलने लगते हैं। इस युग के मध्य भाग मे अधिक विकसित आभूषणो का प्रचलन हो गया था, तथा वे पत्थर के अतिरिक्त हड्डियो और कच्ची धातु के टुकड़ो से भी बनाये जाने लगे थे। इस युग के अन्तिम चरण मे मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया था। पश्चिमी यूरोप की गुफाओं की दीवारों और निचली छतो पर उक्त काल की अनेक सुन्दर 'पॉली-क्रोम' पेंटिंग मिलती हैं।" हमारे भारतवर्ष मे भी अजन्ता की गुफाओं मे प्राचीन भारतीय कला का जो प्रमाण मिलता है वह न केवल विशिष्ट है, बल्कि चमत्कृत करने वाला भी। अतः स्पष्ट है कि कला मानव-जीवन का एक अति प्राचीन सहचर है। परन्तु इस 'सहचर' के विषय मे और कुछ विवेचना करने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि 'कला' कहते किसे हैं?

कला क्या है ?
(What is Art ?)

कला के बिना मानव का अस्तित्व शायद असम्भव न था; फिर भी इन दोनों को—मानव और कला को—एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के कारण ही मानव की भाँति कला का क्षेत्र तथा अर्थ भी अत्यधिक व्यापक हो गया है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई कला की कुछ परिभाषाओं को हम यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं—

सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दों मे, "कला एक क्रिया है जो कि इसके व्यावहारिक या उपयोगी मूल्यो के अतिरिक्त कलाकार को तथा उन लोगों को जो कि उसके उस कार्य मे दर्शक, श्रोता या सहयोगी के रूप मे अंश ग्रहण करते हैं, सन्तुष्टि प्रदान करती है। यही सौन्दर्यपूर्ण या ललित तत्त्व है जो कि कला को संस्कृति के दूसरे पक्षों से पृथक् करता है।"[1]

उपरोक्त परिभाषा पर ध्यान देने से कला की वास्तविक प्रकृति के विषय में एक स्पष्ट धारणा हो सकती है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने अपनी परिभाषा मे कला को एक ललित-तत्त्वयुक्त क्रिया माना है। इस क्रिया के दो स्पष्ट पक्ष हैं—एक तो बाह्य या बाहरी (overt) और दूसरा आन्तरिक या अन्दरूनी (covert)। बाहरी तौर पर इस क्रिया अर्थात् कला का व्यावहारिक या उपयोगी मूल्य तो होता ही है, पर इससे भी बडी बात यह है कि कला ललित-तत्त्वयुक्त या सौन्दर्यपूर्ण वह क्रिया है जो कि उस क्रिया को करने वाले अर्थात् कलाकार को तथा उन लोगों को जो कि उसके उस कार्य मे दर्शक, श्रोता या सहयोगी के रूप मे अंश ग्रहण करते हैं, एक आन्तरिक सन्तुष्टि प्रदान करती है। अत. स्पष्ट है कि कला का सम्पर्क हृदय से है। मनुष्य का हृदय जो कुछ भी सुन्दर मानकर बनाता है या करता है, उसी को कला कह सकते हैं। और भी संक्षेप में, मनुष्य द्वारा 'सुन्दर' की सृष्टि ही कला है। जो इस सुन्दर का सृजन करता है और जो इस सुन्दर को निहारता या सुनता है, दोनों को ही आनन्द का अनुभव होता है।

इसीलिए श्री नित्यानन्द दास ने लिखा है, "कला सम्मिलित रूप से धार्मिक तथा प्राकृतिक बोध का एक प्रतीक है। इसका एक पक्ष सुन्दर स्वरूपों की सृष्टि का आनन्द है और साथ ही उन पर मनन करने का आनन्द भी।"[2] इस प्रकार कला का

---

1. "Art is defined as an activity which, over and above its practical or utilitarian values, also brings satisfaction both to the artist and to those who participate in his work as beholders, audience, or collaborators. It is this aesthetic component that distinguishes art from other aspects of culture."—Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co, New York, 1959, p. 626.

2. "Art is an emblem of spiritual and natural feelings combined together. One aspect of it is the pleasure of creating beautiful forms as well as pleasure of contemplating them."—Nityanand Dass, 'Preliterate Art and Handicrafts of Bihar', an article in Report of the Third Conference for Tribal Adim Jati Sewak S[illegible]

सम्बन्ध हृदय तथा प्रकृति दोनों से ही है। जब एक गायक संगीत की रचना करता है तो वह अपने हृदय के अनुभव या बोध (feeling) को ही व्यक्त करता है परन्तु इस बोध में प्राकृतिक तत्त्व भी इस अर्थ में सम्मिलित है कि उस बोध के लिए आवश्यक कच्चा माल वह अपने आस-पास की परिस्थिति से ही प्राप्त करता है। साथ ही, कुछ बोध करने की शक्ति उसे प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। इस प्राकृतिक शक्ति के कारण ही मानव के हृदय में एक भाव उठता है, उसमे इच्छा होती है कुछ सुन्दर चीजों की सृष्टि करने को। वह वैसा ही करता है, सृष्टि करने का आनन्द उसे प्राप्त होता है। कलाकार इस सौन्दर्य-सृष्टि के हर पग पर आनन्द से भरपूर हो उठता है, उसे आत्मिक सन्तोष प्राप्त होता है, वह कुछ सुन्दर चीज या स्वरूप को बनाने में सफल होता है। उस सुन्दर की सृष्टि हो जाने के बाद कलाकार का परिश्रम सार्थक होता है। अपनी इस सार्थकता या सफलता पर उसे आनन्द होता है और जो उसे देखता या सुनता है, उसे भी आनन्द ही प्राप्त होता है। यही कला है, यही कला की सार्थकता भी।

श्री हॉबल (Hoebel) ने अपनी परिभाषा में मानव की सौन्दर्य-वृद्धि व सौन्दर्य-सृष्टि की उक्त प्रवृत्तियों (impulses) की ओर ही संकेत किया है। मानव में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो उसे सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा देती है। इन प्रवृत्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति (overt expression) ही कला है जो कि रेखाचित्र, रंगीन-चित्र, मूर्ति, संगीत, नृत्य, कविता व साहित्य के रूप मे व्यक्त होती है या हमे देखने व सुनने को मिलती है। इसी आधार पर श्री हॉबल (Hoebel) ने कला को परिभाषित करते हुए लिखा है, "कला से हमारा तात्पर्य रेखा, आकृति, रंग, ताल तथा शब्द—जैसे रेखा-चित्र, रंजनकला, मूर्तिकला, नृत्य, संगीत, कविता व साहित्य के रूप में मानव-प्रवृत्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति है।"[1]

कला के अर्थ को समझने के पश्चात् हमे स्पष्ट रूप से यह भी समझ लेना होगा कि आदिकालीन कला किसे कहते हैं।

आदिकालीन कला क्या है ?
(What is Primitive Art ?)

श्री हॉबल (Hoebel) ने लिखा है कि यही उचित होगा कि आदिकालीन कला क्या है, इस प्रश्न के उत्तर मे हम यह कहें कि आदिकालीन कला आदिम लोगो की कला है। आदिकालीन कला को केवल भद्दी और अपरिपुष्ट कला कहकर परिभाषित करना सत्य को अस्वीकार करना होगा क्योंकि अनेक आदिकालीन कला मे पर्याप्त जटिलता भी देखने को मिलती है।[2] श्री हॉबल का कथन है कि इसको हम बच्चो की कला (childish art) भी नहीं कह सकते क्योंकि कई स्थानों पर कला की पद्धति में बड़ी सावधानी बरती

1. "By Art as meant overt expression of impulses in line, form, colour, rhythm, and tone, as in drawing, painting, sculpture, dance, music, and literature."—E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co New York, 1958, p. 352.
2. *Ibid.*, p 174.

जाती है। विशेषकर मूर्तिकला में कुछ जनजातियों की निपुणता को देखकर आज भी कलाकार दाँतों तले अँगुली दबाते हैं। साथ ही आदिकालीन कला केवल प्रकृतिवादी (naturalistic) है, ऐसा सोचना भी गलत है क्योंकि आदिकालीन कला मे हमे अनेक उच्चकोटि की शैली तथा परम्परा देखने को मिलती है। श्री हॉबल ने उचित ही लिखा है कि 'आदिम लोगों की कला का क्षेत्र कलात्मक दृष्टिकोण से भद्देपन से लेकर उच्च कौशल तक, बालकों-सी सरलता से लेकर आश्चर्यजनक जटिलता तक, तथा प्रकृतिवाद व यथार्थवाद से लेकर औपचारिकवाद तक विस्तृत है।'[1] उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलियन कला अति शैलीपूर्ण है किन्तु कुछ स्थानों में सांकेतिक (symbolic) तथा औपचारिक कला भी हमें देखने को मिलती है। इसके विपरीत एस्किमो-कला अधिकतर प्रकृतिवादी है। अतः स्पष्ट है कि आदिकालीन कला को किसी एक निश्चित दायरे में सीमाबद्ध करके परिभाषित करने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। वास्तव मे आदिम अथवा आधुनिक मानव की सौन्दर्य-बुद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि की प्रवृत्ति को किसी निश्चित सीमा-रेखा के अन्दर रखना सम्भव नहीं है। यह तो मुक्त पक्षी की भाँति उन्मुक्त आकाश में उड़ती-फिरती है। इसकी अभिव्यक्ति कहाँ और किस समय किस रूप मे होगी, यह किसी निश्चित नियम के आधार पर कहा नहीं जा सकता। हाँ, आदिम कला के सम्बन्ध मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनका सम्पर्क आदिम संस्कृति से अति घनिष्ठ है क्योंकि आदिम कला आदिम संस्कृति का ही उसी प्रकार एक अंग है जिस प्रकार आधुनिक कला आधुनिक संस्कृति का ही एक पक्ष है। आधुनिक चित्रकला में एक इंजिन का चित्र बन सकता है क्योंकि इंजिन आधुनिक संस्कृति का ही एक तत्त्व (trait) है, परन्तु एस्किमो-चित्रकला में इंजिन का चित्र वास्तव में असम्भव है क्योंकि इंजिन एस्किमो-संस्कृति के अन्तर्गत नही आता है।

आदिकालीन कला के विषय में एक उल्लेखनीय बात यह है कि यह कला धर्म तथा अन्धविश्वासो द्वारा अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। धर्म का सम्बन्ध विश्वासों से है, और इन विश्वासो की स्पष्ट छाप आदिवासियो की कला मे देखने को मिलती है। प्रत्येक समाज मे धार्मिक क्रियाओ मे नाना प्रकार की धार्मिक सामग्रियाँ (religious objects), धार्मिक प्रतीक (religious symbols) आदि का समावेश होता है। आदिम समाजों मे ये धार्मिक सामग्रियाँ तथा प्रतीक ही कला की अभिव्यक्ति (expression) का सर्वप्रमुख साधन या माध्यम हैं। एक उदाहरण के द्वारा आदिकालीन कला के इस पक्ष को स्पष्ट किया जा सकता है। आदिवासी लोग प्रायः एकाधिक अलौकिक शक्तियो या देवी-देवताओं पर विश्वास करते हैं। इनके प्रति उनके मन मे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। कल्पना द्वारा इन अलौकिक शक्तियो का एक रूप भी निश्चित कर लिया जाता है और उसी के अनुरूप उन अलौकिक शक्तियो के चित्र व मूर्तियाँ बनवाकर रखी जाती हैं या शरीर पर उसके चित्र की गुदाई (tattoo) भी सामान्य रूप से की जाती है। इस

1. "The art of primitive peoples runs a wide gamut from technical clumsiness to high skill, from childlike simplicity to confusing complexity, from naturalism [illegible]

प्रकार उस अलौकिक शक्ति के प्रति अपने हृदय की श्रद्धा-भक्ति को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न के फलस्वरूप अनायास ही कला की सृष्टि होती है। साथ ही, अलौकिक शक्तियाँ ही कला को व्यक्त करने का एक अच्छा माध्यम बन जाती हैं। जब आदिवासी अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार अलौकिक शक्ति को एक मूर्त्त (concrete) रूप देने की इच्छा से उसकी मूर्ति बनाता है या चित्र अंकित करता है तो वह सहज और स्वाभाविक रूप से कला की ही, सृष्टि करता है। साथ ही, आदिमानव इन अलौकिक शक्तियों से डरता भी है। उन शक्तियो से लाभ उठाने के लिए और उनके कोप से बचने के लिए वह उन्हे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, और इस उद्देश्य से वह उन शक्तियों की स्तुति मे गीतों की रचना करता है, उन्हे गाता है और नाचता है। इस रूप मे भी वह कला की सृष्टि करता है। आदिम समाजो में धर्म से सम्बन्धित अनेक मूर्ति, चित्र, संगीत तथा नृत्य की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति कलाकारो के बिना सम्भव नहीं। ये कलाकार की सृष्टि करते हैं।

कला की उत्पत्ति
(The Origin of Art)

आदिकालीन कला के सम्बन्ध में एक स्पष्ट धारणा कर लेने के पश्चात् यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि कला की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। कला के सम्बन्ध मे जो कुछ हम ऊपर कह चुके हैं, उससे स्पष्ट है कि कला की बुनियाद या जड़ स्वयं मानव के हृदय, मस्तिष्क या प्रवृति मे ही निहित है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति चित्रकार, संगीतकार, नर्तक या साहित्यकार नही होता और न ही हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे वह अनुभूति या प्रवृत्ति नहीं होती, जो कि कला की सृष्टि के लिए आवश्यक है। यह भी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्य-सृष्टि की क्षमता या प्रवृत्ति को जागृत करने का प्रयास नही करता है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि कला की उत्पत्ति तभी सम्भव हुई होगी जब कि मानव मे वह प्रवृत्ति जागृत हुई जो कि सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि के लिए आवश्यक थी। इसके बिना कला की उत्पत्ति सम्भव न थी क्योंकि इस प्रवृत्ति की बाह्य अभिव्यक्ति ही कला है।

इस सम्बन्ध मे एक दूसरी स्मरणीय बात यह है कि कला की उत्पत्ति मानव की मानसिक आवश्यकता के फलस्वरूप ही हुई है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि मानव की कुछ भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताएँ ही नही वरन् कुछ मानसिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। और भी स्पष्ट रूप से मानव केवल क्षुधा-तृप्ति और यौन-तृप्ति ही नहीं बल्कि मानसिक सन्तोष भी चाहता है। केवल शरीर का ही नही, उसके मन अथवा मस्तिष्क का भी अपना तगादा या माँग होती है। कला की उत्पत्ति इसी माँग की पूर्ति के हेतु है। श्री होमेस (Holmes) ने उचित ही लिखा है कि मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जिसे कि केवल शरीर की माँग को ही नही वरन् मस्तिष्क की माँग को भी पूरा करना पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो शायद मानव के लिए पशु-स्तर

से ऊँचा उठना आज भी सम्भव न होता।[1] कला की उत्पत्ति का रहस्य इसी में छिपा हुआ है।

कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपरोक्त सामान्य बातों को जान लेने के पश्चात् इस सम्बन्ध मे कुछ विशेष सिद्धान्तों की विवेचना भी आवश्यक है।

कला के उद्‌विकासवादी सिद्धान्त
(Evolutionary Theories of Art)

अन्य सामाजिक घटनाओं (phenomena) की भाँति कला भी स्थिर और जड़ नहीं होती; गतिशीलता इसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। यह देखा गया है कि संस्कृति के अन्य पक्षों मे परिवर्तन के साथ-साथ कला में भी परिवर्तन होता रहता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हम पहले ही बता चुके हैं कि मानसिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओं से कला का रूप प्रभावित होता है और इन आवश्यकताओं मे होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही कला के गठन मे परिवर्तन होता है। सौन्दर्य के प्रति मानव के बदलते हुए दृष्टिकोण तथा परिवर्तित होती मानसिक मांगों के परिणामस्वरूप कला के रूप मे अथवा सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि के ढंग मे परिवर्तन होना ही स्वाभाविक है। गहन अध्ययन द्वारा यह भी देखा गया है कि कला के स्वरूप, प्रक्रियाओं तथा गठन में होने वाले परिवर्तनों मे एक नियमबद्धता होती है। इसी नियमबद्धता का अतिरंजित रूप कला का उद्‌विकासवादी सिद्धान्त है।

उद्‌विकासवादी लेखकों का कथन है कि कला का क्रमिक विकास होता है। परन्तु इस क्रमिक विकास के कुछ निश्चित स्तर (definite stages) होते हैं जिनमें से होकर कला प्रत्येक समाज में गुजरी है और तब कहीं आधुनिक स्तर पर पहुँच पाई है। कला के क्रमिक विकास के ये निश्चित स्तर कौन-कौनसे हैं, इस विषय पर विभिन्न उद्‌विकासवादी लेखकों के अलग-अलग मत हैं। उदाहरणार्थ, एक लेखक के अनुसार कला का उद्‌विकास निम्नलिखित स्तरों मे से गुजरता हुआ होता है और हुआ है—(1) प्रारम्भिक स्तर (formative stage), (2) पुरातन स्तर (archaic stage), (3) परिपक्व स्तर (mature stage), (4) तड़क-भड़क का स्तर (flamboyant stage), और (5) पतन का स्तर (decadent stage)। इस विकासवादी योजना के समर्थकों का कहना है कि माया मूर्तिकला पेरुयाँ नास्का की मिट्टी के बर्तन-सम्बन्धी कला उपरोक्त पाँच स्तरों मे से होकर ही गुजरी है।[2] परन्तु इस विकासवादी योजना के समर्थन में जो दो-एक उदाहरण मिलते हैं उसके आधार पर कोई यथार्थ नियम न तो बन सकते हैं और न बनाना उचित होगा।

परन्तु कला के सम्बन्ध मे विकासवादी लेखकों के सिद्धान्तों मे सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त श्री ए० सी० हड्डन (A. C. Haddon) का है। आपके अनुसार कला के

1. O W. Holmes, 'Law in Science and Science in Law', *Collected Legal Papers*, p. 212.
2. Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p. 173.

उद्विकास मे सर्वप्रथम स्तर यथार्थवादी स्तर (realistic stage) था। शुरू-शुरू में आदिकालीन मानव यथार्थ चित्रण करता था अर्थात् जिस चीज को वह जिस रूप में देखता था उसे उसी रूप मे कला के माध्यम से प्रस्तुत करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न करता था। आस्ट्रेलिया की चित्रकला में यथार्थ के साथ मेल रखने का इतना प्रयत्न किया जाता है कि अगर कगारू का चित्र बनाना हो, तो वहाँ का चित्रकार केवल कंगारू के शरीर को ही नही बनायेगा बल्कि उसकी रीढ़, हृदय, पेट आदि को भी चित्रित करके अपने चित्र को अधिक-से-अधिक यथार्थ बनाने का प्रयत्न करता है। हैदराबाद की चेंचू जनजाति का चित्रकार पेड़ का चित्र बनाने में उसके तने-शाखा-पत्ते के साथ-साथ वह उसकी जड़ों का भी चित्र बना देता है। ये सब इस बात की ओर संकेत करते हैं कि आदिकालीन मानव का कला-सम्बन्धी विचार यथार्थवादी था। इस यथार्थवादी कला के बाद दूसरे स्तर पर ज्यामितिक कला का विकास होता है। इस प्रकार की कला में रेखाओं के द्वारा चित्र के सम्पूर्ण भाव को प्रगट करने का प्रयत्न किया जाता है। ज्यामितिक रेखाएँ आकृतियाँ भी बना सकती हैं और ज्यामितिक डिज़ाइन भी। इस ज्यामितिक स्तर (Geometric stage) के बाद कला का प्रगतिशील सरलीकरण (progressive simplification) स्तर आता है। इस स्तर मे कला को सरस और सहज ढग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है ताकि उसमे कृत्रिमता कम-से-कम हो। इसके पश्चात् सकेतवादी स्तर (symbolic stage) आता है। इस स्तर पर जो है उसे उसी रूप में प्रस्तुत न करके कुछ संकेतों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की कला का जन्म तभी सम्भव है जब कि संकेतों के सम्बन्ध में मानव को पर्याप्त ज्ञान हो; वह समझ सके कि अमुक सकेत से अमुक भाव प्रकट होता है। वास्तव मे साकेतिक कला में कलाकार सब कुछ प्रस्तुत नही करता वरन् दर्शकों से कुछ सकेतों से ही यथार्थ की कल्पना कर लेने की आशा की जाती है। इस प्रकार श्री हड्डन के अनुसार कला का क्रम-विकास यथार्थवादी स्तर से संकेतवादी स्तर की ओर हुआ है। यह नियम सार्वभौम है; अर्थात् प्रत्येक समाज मे ही कला का उद्विकास उपरोक्त स्तरों में से गुज़रता हुआ होता है। ऐसा नहीं होता है कि किसी समाज मे यथार्थवादी स्तर पहले आया है और दूसरे किसी समाज मे ज्यामितिक स्तर कला का प्रारम्भिक स्तर रहा हो। प्रत्येक समाज मे ही कला के उद्विकास में वही स्तर उसी क्रम से आये हैं जिस क्रम से उसकी ऊपर विवेचना की गई है। अगर कहीं इसके विपरीत कुछ हुआ है तो वह केवल अपवाद (exception) है, नियम नहीं। श्री हड्डन के अनुसार अगर कहीं इस शृंखला या क्रम मे कोई हेर-फेर होता है तो यह समझ लेना चाहिए कि उसका कारण व्यक्तिगत अयोग्यता या साधनों का उचित प्रयोग न करना या उचित साधन उपलब्ध न हो सकना है। इससे उपरोक्त नियम की सार्वभौमिकता अप्रमाणित नहीं होती है।

अपनी उपकल्पना (hypothesis) को प्रमाणित करने के लिए श्री हड्डन ने उसकी पुष्टि में टौरेस स्ट्रेट्स (Torres Straits) से एकत्रित किये गये तीरों (arrows) का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन तीरों पर मगरमच्छ के चित्र बने थे। इनमे से कुछ

तीरों पर तो मगरमच्छ के यथार्थ चित्र बने थे, कुछ पर रेखाओं द्वारा मगरमच्छ की आकृतियाँ अंकित थी और कुछ पर मगरमच्छ के शरीर के विभिन्न अंगो के केवल सांकेतिक चिह्न बने हुए थे। श्री हड्डन ने इन तीरो को इस क्रम से सजाकर रक्खा कि उन्हे देखने से स्पष्टत. यह ज्ञात होता है कि आदिकालीन कला सर्वप्रथम यथार्थवादी थी, फिर ज्यामितिक हुई और अन्त मे सांकेतिक कला का विकास हुआ। सक्षेप में, तीरों को इस भाँति रखा गया था कि श्री हड्डन का सिद्धान्त उचित जान पड़े।

परन्तु उपरोक्त प्रमाण के सम्बन्ध में श्री हड्डन यह भूल जाते हैं कि वे सब तीर एक ही काल में बनाए गए थे, वास्तव में श्री हड्डन ने इस तथ्य (fact) की कोई भी परवाह न करते हुए तीरों को एक पूर्वनिश्चित क्रम से इस भाँति प्रस्तुत किया है जिससे कि उनका सिद्धान्त उचित जान पड़े। श्री हड्डन के सिद्धान्त की यही सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसीलिए आज अधिकतर मानवशास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि यथार्थ कला को प्रस्तुत करने के लिए जिस कुशलता, ज्ञान तथा उपकरणो की आवश्यकता होती है वे सब आदिकालीन मानव के पास न तो थे और न ही उनके होने की कल्पना हम कर सकते हैं। इस सम्बन्ध मे गहन अध्ययन करने से पता चला है कि पश्चिमी यूरोप के कुछ ही इने-गिने प्रदेशों की चित्रकला, न्यू गिनी की सगतराशी तथा मध्य अमेरिका के बर्तनो पर के चित्रों को छोडकर अन्य कही यथार्थ कला का विकास नहीं हुआ था। साथ ही, इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह पता चलता है कि टोकरी तथा वस्त्र बनाने की कला-शैलियों (art styles) का प्रारम्भ ज्यामितिक अथवा साकेतिक तौर पर ही हुआ था और यथार्थवादी स्तर केवल तब ही आया था जब कि लोगों की कुशलता उच्च स्थिति पर पहुच गई थी।[1]

विकासवादी सिद्धान्त की एक और दुर्बलता यह है कि इसके लेखक यह मान लेते हैं कि प्रत्येक समाज मे कला के उद्विकास का एक ही क्रम, दिशा या स्तर रहा है। सभी समाजो मे कला का उद्विकास कुछ निश्चित स्तरों मे से होकर गुजरा है, यह सोचना गलत है। क्योंकि प्रत्येक समाज की परिस्थिति, उपलब्ध साधन, व्यक्तियों के मनोभाव आदि भिन्न-भिन्न होते हैं और उसी के अनुरूप प्रत्येक समाज मे संस्कृति के विभिन्न पक्षो का (जिसमे कला भी एक है) विकास अलग-अलग ढग से हुआ है।

साथ ही, कला मे परिवर्तन केवल उद्विकास के नियमों से ही घटित होता है, यह सोचना गलत है। दूसरे लोगों की कला को देखकर या दूसरों के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप भी कला मे परिवर्तन होता है। सक्षेप मे उद्विकासवादी लेखको ने अपने सिद्धान्त मे प्रसार (diffusion) के नियमो की अवहेलना करके अपने सिद्धान्त को और भी निर्बल बना दिया है।

कला के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Art)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि कला की उत्पत्ति किसी निश्चित

1. *Ibid*, p. 174.

नियम के अनुसार नहीं हुई है। जिस समाज में जिस प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं उन्हीं की प्रतिक्रिया के रूप मे कला भी उत्पन्न हुई है। कला के विकास में प्रसार (diffusion) का नियम भी क्रियाशील रहा है। साथ ही, मानव की मानसिक आवश्यकताओं या मनोभाव मे जो परिवर्तन हुआ है उसका भी स्वाभाविक प्रभाव कला पर सदैव पड़ता रहा है। इन सबके अलावा भी कला के कुछ आवश्यक तत्त्व हैं जिनके विषय में सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेना लाभकारी सिद्ध होगा—

सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग
(Aesthetic Emotion)

कला की उत्पत्ति तथा विकास के लिए सर्वप्रथम आवश्यक तत्त्व मानव का सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है। पशुओं में यह उद्वेग नहीं होता, इसी कारण वे कला को भी जन्म नही दे पाये हैं। मानव सुन्दर और असुन्दर में भेद कर पाता है। उसका अन्त.करण जिसे सुन्दर मानकर ग्रहण करता है मानव उसे अनुभव करता है और केवल अनुभव करके ही चुप नही बैठता बल्कि उसे मूर्त्त रूप देने या बाह्य रूप मे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। जो उसे ऐसा करने की प्रेरणा देता है वही उसका सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है। श्री रूथ बंज़िल (Ruth Bunzel) के अनुसार यह सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग अन्य उद्वेगों से एक विशेष अर्थ में भिन्न होता है।[1] अन्य प्रकार के उद्वेग किसी स्वार्थ, साध्य (end) अथवा आवश्यकता की पूर्ति का एक साधन (means) होते हैं, परन्तु सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग स्वयं ही साध्य (end in itself) है। एक सुन्दर फूल को देखकर या एक सुमधुर संगीत को सुनकर हमारे अन्दर जो 'आनन्द' भाव उत्पन्न होता है वही सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है, इस सौन्दर्य को हम पूर्णता प्रदान करना चाहते हैं। हमारा यह प्रयत्न कला को जन्म देता है। इस सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग के दो स्पष्ट पक्ष हैं—एक तो सुन्दर वस्तुओं या आकृतियों की सृष्टि करने का आनन्द और दूसरा उसे देखने या सुनने या उस पर मनन करने से प्राप्त होने वाला आनन्द। अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने, अपनी कामवासना को तृप्त करने या समस्त आर्थिक व राजनैतिक सुविधाओं को प्राप्त कर लेने से जो आनन्द या सुख हमें प्राप्त होता है वह उस आनन्द से बिलकुल ही भिन्न है जो कि कला के सृजन से या उसे देखने और सुनने से अर्थात् एक चित्रकला, संगीत या नृत्य की रचना करने या देखने या सुनने से प्राप्त होगा। यही सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है और इसी मे समस्त सौन्दर्य-वृद्धि व सौन्दर्य-सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है।

कला में सामाजिक तत्त्व
(Social Element in Art)

प्रत्येक कला का एक सामाजिक आधार होता है। कला समाज से पृथक् नहीं है और न होना सम्भव ही है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि कलाकार सदैव

1 Ruth Bunzel, 'Art', *General Anthropology*, New York, 1938, pp. 539.

अपने समाज के सामाजिक विचार, मूल्य, धर्म, परम्परा तथा अन्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होता रहता है। कलाकार जिस कला की सृष्टि करता है उसकी सार्थकता इसी में है कि वह समाज के अधिकाधिक सदस्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर ले, जनसाधारण उसे मान ले। साथ ही, आस-पास की परिस्थिति भी कलाकार को प्रभावित करती है। समुद्र के किनारे रहने वाला एक चित्रकार अपने चित्रों में समुद्र की लहरों को जिस सजीवता से चित्रित कर सकेगा, वह पहाड़ के पास रहने वाले एक चित्रकार के लिए सम्भव न होगा। यह बात आदिकालीन कला के सम्बन्ध में और भी सच है, क्योंकि आदिमानव पर आधुनिक मानव की तुलना मे सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों, धर्म, परम्परा आदि का प्रभाव अधिक होता है। साथ ही, आदिकालीन कला केवल कला के लिए है (art for art sake), यह भी सच नहीं है। उसमे सामाजिक उपयोगिता का कुछ अंश अवश्य ही होता है। आदिवासी कला का सृजन करता है, केवल मानसिक सुख-प्राप्ति के लिए ही नहीं वरन् सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी। वह टोकरी बनाकर कला की सृष्टि करने के साथ-साथ उससे सामाजिक आवश्यकता की भी पूर्ति करता है। वह नाचता या गाता है, दिन-भर की थकावट या जीवन की नीरसता को दूर करने के लिए या अलौकिक शक्ति को सतुष्ट करने के लिए। परन्तु प्रत्येक प्रकार की कला मे या उससे सम्बन्धित क्रियाओं मे उपयोगिता होगी ही, ऐसा कोई निश्चित नियम भी नही है।

शैली
(Style)

कला की एक आकृति, रूप, स्वरूप, रेखा, ताल या सुर होता है। इसे प्रस्तुत करने का कोई-न-कोई परम्परागत या प्रचलित ढग होता है, यद्यपि कलाकार अपने अनुभव तथा योग्यता के अनुसार उसमे हेर-फेर कर सकता है और करता भी है। इस 'ढग' को ही कला की शैली (art style) कहते हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है। एक चित्रकार को एक चित्र अकित करना है। इसके लिए उसे कुछ रेखाओं को खीचना होगा और यदि कलाकार आवश्यक समझे तो उन रेखाओं द्वारा बनी आकृति मे वह कुछ रगो को भी भरेगा। इन सब चीजो को वह कुछ हेर-फेर करते हुए एक निश्चित ढग से प्रस्तुत करता है। यही उसकी शैली है। कोई गायक अपने सगीत को 'सरगम' के साथ प्रस्तुत करता है और कोई गीत गाते समय उसे 'बोल' के रूप मे कहता नहीं है। कोई नृत्य को द्रुत लय मे प्रस्तुत करता है तो कोई विलम्बित लय मे। ये सभी कला की शैलियां हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कला को मनमाने ढग से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रत्येक कला की किसी-न-किसी रूप मे एक स्वीकृत शैली होती है जो कि समय-समय पर बदलती रहती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला की शैली का एक स्वीकृत या प्रचलित रूप होता है; पर उस शैली मे परिवर्तन भी होता है और साथ ही नयी शैलियों का जन्म भी, क्योंकि कला एक सामाजिक क्रिया है और अन्य सामाजिक क्रियाओं की भांति यह कोई स्थिर या जड़ क्रिया नहीं है। कला की शैली पर

भी सामाजिक परिस्थितियों, मूल्यों तथा व्यक्तियों के मनोभावों का प्रभाव स्पष्ट होता है। पाश्चात्य नृत्य में अर्द्धनग्न नारी अशोभन नहीं है, पर उस शैली का प्रयोग भारतीय नृत्य में दृष्टिकटु ही होगा।

संकेतवाद
(Symbolism)

संकेतवाद भी कला का एक आवश्यक अंग है। 'संकेत' शब्द से ही स्पष्ट है कि बहुधा कलाकार को जो कुछ भी व्यक्त करता है उसका सब कुछ वह साफ-साफ अपनी कला में व्यक्त नहीं करता है, बरन् विभिन्न चीजों को व्यक्त करने के लिए कुछ ऐसे चिह्नों या प्रतीकों का व्यवहार करता है जिसके माध्यम से वह अपने वास्तविक भाव की ओर देखने या सुनने वालों को संकेत करता है। देखने या सुनने वाला इन चिह्नों, प्रतीकों या संकेतों से ही यथार्थ की कल्पना कर लेता है। उदाहरणार्थ, साँप को एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा के संकेत से अभिव्यक्त किया जाता है। उसी प्रकार नृत्य में एक विशेष 'मुद्रा' के द्वारा क्रोध, भय, अनुराग, उल्लास आदि को अभिव्यक्त किया जाता है। नर्तकी अपने मुख से यह नहीं कहती कि वह डर गई है, पर उसकी एक विशेष मुद्रा उसके मन के उस भाव को दर्शक के सामने स्पष्ट व्यक्त करती है। कला मे यही संकेतवाद है। रोज के जीवन मे भी हम इस प्रकार के अनेक संकेत देखते हैं। उदाहरणार्थ, क्रास (Cross) का चिह्न ईसाइयों के लिए धार्मिक संकेत है और इस एक चिह्न से ही ईसा मसीह के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ स्पष्टतः व्यक्त हो जाती हैं। रेड इण्डियन में नीला रंग पुरुष का प्रतीक और पीला रंग स्त्री का प्रतीक माना जाता है। जूनी (Zuni) जन जातीय समाज मे प्रेम, संगीत तथा तितलियों के देवताओं की प्रार्थना-छड़ियों को पीले और नीले रंग से संकेत किया जाता है।[1]

विभिन्न काल में कला
(Art in Different Ages)

प्रागैतिहासिक काल में भी मानव अपनी कला की अनेक कृतियाँ छोड़ गया है। इस सम्बन्ध में अब तक जो अध्ययन हुए हैं उससे यह पता चलता है कि आदिवासीय समाज मे भी कला के भिन्न-भिन्न स्तरों के उदाहरण देखने को मिलते हैं। प्राचीन प्रस्तर युग में भी आदिमानव सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि के सम्बन्ध में सचेत था और पत्थर, सीपो, हड्डियों और कच्ची धातु के टुकड़ों से वह आभूषण आदि को बनाता था। प्राचीन प्रस्तर युग के शेष भाग मे आदिमानव की कला काफी विकसित हो चुकी थी। पश्चिमी यूरोप की गुफाओं की दीवारो तथा निचली छतों पर उक्त काल की अनेक सुन्दर पॉली-क्रोम पेंटिंग मिलती हैं। अल्टामिरा (स्पेन) की एक गुफा पर अंकित बाइसन का चित्र इस प्रकार की कला का एक आदर्श उदाहरण माना जा सकता है। इस युग के

1. *Ibid.*, pp. 581-582.

लोग फल-फूल इकट्ठा करके और पशुओं का शिकार करके जीवननिर्वाह करते थे। इस कारण इस काल के चित्रो मे पशुओ जैसे हाथी, गैंडे, जगली सूअर घोडे आदि के चित्र अधिक मिलते हैं। इनमे से अधिक चित्रो मे पशुओ की गति भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। चित्रो मे कभी-कभी रग का भी प्रयोग किया गया है। इन चित्रो मे शिकार, युद्ध-दृश्य आदि के चित्र भी मिलते हैं। इनमे आदि मानव के आस-पास के पर्यावरण तथा उनकी जीवन-विधि की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। इसी काल मे खुदाई का काम भी आदिमानव करता था। यह खुदाई का काम बहुधा हाथीदाँत पर किया जाता था। इस युग मे हाथीदाँत तथा पत्थर की मूर्तियाँ भी बनायी जाती थीं। इन मूर्तियों में सिर तथा पैर का निर्माण तो न के बराबर है, पर उरोजो तथा जघाओ को अत्यधिक उभारकर दिखाया जाता था। इन मूर्तियो मे सबसे प्रसिद्ध मूर्ति ऑस्ट्रिया मे मिली है जो कि 'विलेनडार्फ की वीनस' (Venus of Willendorf) के नाम से प्रसिद्ध है।

केवल यूरोप मे ही नही, उत्तर अफ्रीका मे भी प्रारम्भिक कला की अनेक कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। नव-पाषाण युग के पूर्व ही एटलस पर्वत के क्षेत्र मे निवास करने वाला आदिमानव चट्टानी दीवारो पर खुदाई द्वारा या पत्थर तोडकर पशुओं की मूर्तियाँ बनाता था। दक्षिण अफ्रीका की बुशमेन जनजाति के लोग मनुष्य की आकृतियों को भी अकित कर लेते थे और रेखाओ की सहायता से गति को भी दिखलाने मे सफल हुए थे। प्रस्तर युग से सम्बन्धित सुन्दर ढग से रगे हुए बर्तन जावा और चीन मे पाये गये हैं।

जहाँ तक समकालीन (contemporary) आदिकालीन कला का प्रश्न है, इस काल मे मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया है। इस काल मे चट्टानो पर चित्र बनाने, रेखाओ द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ अंकित करने, लकडी, हाथीदाँत, पत्थर आदि से नाना प्रकार की मूर्तियाँ बनाने, मिट्टी के खिलौने तथा बर्तन बनाने, वृक्ष की छाल, जानवर की खाल तथा कपड़े आदि पर चित्रकारी करने, बर्तनो पर बेल-बूटा बनाने तथा चित्रकारी करने, डिज़ाइनदार टोकरी बनाने, खम्बों पर खुदाई करने तथा गुदाई द्वारा शरीर पर नाना प्रकार की चित्रकारी करने की कला में संसार की जनजातियाँ आज सिद्धहस्त हैं। इनके सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

अफ्रीका की नीग्रो जनजाति लकडी तथा हाथीदाँत की खुदाई तथा मूर्ति बनाने मे विशेष निपुण है। पश्चिमी अफ्रीका के नीग्रो कलाकार लकड़ी के काम के विशेषज्ञ माने जाते हैं। यद्यपि ये लोग पूर्वजो की पूजा नहीं करते, फिर भी व पूर्वजो की काष्ठ-मूर्तियों का निर्माण करते हैं। वहाँ की काष्ठ-मूर्तियाँ, चेहरे (mask), लकडी के खिलौने प्रसिद्ध हैं, इनको रगने के लिए वे लोग रग का भी प्रयोग करते हैं। लकडी पर नक्काशी के काम मे भी ये लोग सिद्धहस्त हैं। फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका मे पूर्वजो की बडी-बडी काष्ठ-मूर्तियाँ बनायी जाती हैं। कागो तथा दक्षिणी नाइजीरिया की जनजातियों मे हाथीदाँत को तराशकर उसकी तथा पीतल की भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। न्यू गिनी मे रोज के व्यवहार के लिए लकडी की अनेक वस्तुएँ बनायी जाती हैं जिनमे कि कला का पुट दिखाई देता है। यहाँ पर लकड़ी पर खुदाई का काम बहुत अच्छा होता है। डच न्यू

गिनी मे 'कोरवार' नामक पूर्वजों की आत्माओं के निवास के लिए जो काष्ठ-समाधियाँ बनाई जाती हैं, वे वहाँ की जनजाति की विकसित कला का एक उत्तम उदाहरण हैं। पापुअन जनजाति के लोग गोलाकार लकड़ी की चीजें बनाने में निपुण हैं। ये लोग लकड़ी के गोल प्याले, पशुओं तथा मनुष्यों की आकृतियों को बड़े आकर्षक रूप मे बनाते हैं और उन्हे रंगते भी हैं। सेपिक तथा रामू जनजाति के लोग चित्रकला में पूर्वज की आत्मा को पक्षी का रूप देकर प्रस्तुत करते हैं। मेलानेशिया के टोम्बारा द्वीप के दक्षिणी भाग में चाक के विशाल टुकड़ों से पूर्वजों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। उनकी सजावट बहुधा लाल और कभी-कभी काली रेखाओं से की जाती है। केन्द्रीय न्यू आयरलैण्ड की जनजातियाँ अपने मुखियाओं की स्मृति में उनकी काष्ठ-मूर्तियाँ बनाती हैं जिन्हें कि वे लोग 'उली' कहते हैं। न्यू ब्रिटेन मे नरम पत्थर की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं और उनपर खुदाई का काम भी वहाँ की जनजातियाँ करती हैं। माइक्रोनेशिया में मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-निर्माण दोनों की ही कला पाई जाती है। यहाँ के लोग लकड़ी की खुदाई मे जानवरों का चित्रण करते हैं, पत्थरों की मूर्तियाँ बनाते हैं तथा विविध रंगो से अलंकृत चित्र, लकड़ी की खुदाई, मूर्तियाँ, बर्तन आदि बनाने मे सिद्धहस्त हैं। माओरी जनजाति के लोग नेफ्राइन व ह्वेल की हड्डी आदि की खुदाई के काम मे निपुण हैं। आस्ट्रेलिया के आदिवासी चट्टानों पर रेखाचित्रों को अंकित करने तथा उनमे रंग भरने का काम बहुत अच्छा कर लेते हैं। इनकी कला मे यथार्थवाद की झलक स्पष्ट होती है। उत्तरी अमेरिका के एस्किमो लोग नकाब या चेहरा बनाने की कला तथा खुदाई का काम दोनों मे ही समान रूप से निपुण हैं। इन नकाबों (masks) पर वे पौराणिक नायकों और देवताओं के चित्रों को अंकित करते हैं और उन्हे धार्मिक उत्सवों तथा हास्यात्मक नाटकों के अवसरों पर पहनते हैं। खुदाई का काम ये लोग लकड़ी तथा हड्डियों पर करते हैं।

भारत में जनजातीय कला
(Tribal Art in India)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जनजातीय कला अत्यधिक स्वाभाविक, विशुद्ध तथा निष्कपट है। इसका कारण यह है कि जनजातीय कला आत्मिक या आध्यात्मिक अनुभवों तथा धार्मिक विचारों द्वारा प्रोत्साहित होती है और प्राकृतिक परिस्थितियों की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यद्यपि, जैसा कि डा० दुबे ने कहा है, "सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि की ओर नैसर्गिक रूप से मानव की प्रवृत्ति रही है।" भारतीय जनजातीय कला भी इससे पृथक् नहीं है। भारतीय जनजातियों का जो अध्ययन हुआ है उससे पता चलता है कि उनकी कला भी नाना प्रकार से विकसित हुई है। भारत के विभिन्न जनजातीय समाजों से उनकी कला के भिन्न-भिन्न स्तरों के उदाहरण हमें प्राप्त हुए हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ कहने से पहले हम संक्षेप में भारत की जनजातीय कला की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

भारतीय जनजातीय कला की विशेषताएँ
(Characteristics of Indian Tribal Art)

(1) भारतीय जनजातीय कला में सरल और जटिल दोनों ही प्रकार की शैली का समावेश देखने को मिलता है। दो-एक पाश्चात्य लेखकों का तो मत है कि आसाम की कुछ जनजातियों को छोडकर भारत की अन्य जनजातियो की जो कला है उसे वास्तव में कला नही कहा जा सकता, क्योंकि वे न तो सौन्दर्यपूर्ण हैं और न ही उनमे कलात्मक प्रतिभा का कोई परिचय मिलता है।[1] परन्तु श्री एलविन (Elwin) इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि अगर हम आधुनिक दृष्टिकोण या मान (standard) से उनकी कला की विवेचना करेंगे तो नि.सन्देह ही बहुत बडी गलती का शिकार बनेंगे। यह सच है कि वास्तविकता को यथार्थरूप में कल्पना करने की प्रतिभा आदिवासियों में नही है इसलिए यथार्थ प्राय. विकृत रूप मे प्रस्तुत किया जाता है; किन्ही-किन्हीं विषयों मे अतिरंजना भी देखने को मिलती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय जनजातीय कला का अस्तित्व ही नही है।

(2) भारतीय जनजातीय कला मे यथार्थवाद तथा सकेतवाद दोनों के ही तत्त्व पाये जाते हैं। नागा, 'हो' आदि जनजातियों की कला में यथार्थवाद की झलक अधिक देखने को मिलती है। नागा लोग शिकार खेलने के चित्र बनाते हैं तथा 'हो' लोग पशु-पक्षियों का यथार्थ चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। हैदराबाद की चेंचू जनजाति के लोग पेड़ का चित्र बनाते हुए न केवल उसके तने, टहनी और पत्ते ही बनाते हैं, बल्कि उसकी जड़ों का चित्र भी खीच देते हैं। साकेतिक कला मे भी अनेक भारतीय जनजातियाँ निपुण हैं।

(3) भारत की जनजातियों मे मूर्ति-कला तथा चित्र-कला दोनो ही पाई जाती हैं। भारत की अनेक जनजातियाँ पत्थरो, लकडी आदि की मूर्तियाँ बनाती हैं। लकड़ी और मिट्टी के बर्तनों पर खुदाई का काम भी उन्हे आता है। चट्टानो, दीवारो, खम्भों, औजारो तथा आभूषणों पर चित्र बनाने की कला भी अनेक भारतीय जनजातियों को आती है। शरीर पर चित्र गोदने का काम भी उन्हें आता है। कपड़ों, आभूषणों, कौड़ियों आदि को रग-बिरगे चित्रो से ये लोग भर देते हैं। सिर की वेश-भूषा को नाना प्रकार से सजाने की ओर इनका विशेष ध्यान होता है। मुरिया गोंड जनजाति के लोग सिर पर सीग धारण करते हैं और इसे नाना प्रकार के चित्रो तथा कौडियों आदि से सजाते हैं। भारत के जनजातीय कलाकार मूर्ति बनाते समय मुखाकृति, पैर आदि पर विशेष ध्यान नही देते, शरीर के कतिपय अग, विशेषकर उरोजों तथा जघाओं को अवश्य उभारकर दिखाते हैं।

(4) दीवारों पर चित्र बनाने की कला सारे जनजातीय समाजों मे पारस्परिक रूप से प्रचलित है। त्योहारो, पर्वों, विवाहों आदि के अवसरो पर घरों की दीवारो पर और आँगन मे विभिन्न प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध विशेषत. पौराणिक

---

1. See Verrier Elwin, 'Tribal Art', *The Adivasis*, The Publication Division, Govt. of India, New Delhi, 1960, p. 126.

कथाओं से होता है। लोक-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण, स्थानीय प्रभाव और संकेतों (symbols) से भी ये चित्र भरपूर होते हैं। उनसे समाज की गतिविधियों, प्रभावों, वेश-भूषा-सम्बन्धी बातों का आभास होता है।

(5) श्री एलविन (Elwin) के अनुसार भारतीय जनजातीय कला की एक विशेष उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसको उपयोगिता-पक्ष (utilitarian aspect) या सामाजिक महत्त्व (social significance) से पृथक् करके इनकी विवेचना सम्भव नहीं है। 'कला केवल कला के लिए है' इस प्रकार की कला का दर्शन जनजातीय ग्रामों मे बहुत कम होता है। अधिकतर कला का एक धार्मिक या जादू-सम्बन्धी उद्देश्य होता है और इसका सामाजिक महत्त्व भी होता है। केवल सौन्दर्य की सृष्टि करने या सजाने के उद्देश्य से कला का सृजन आदिवासी समाज मे बहुत कम होता है।[1] मूर्तियाँ बनाकर पूजा करने या मन्दिर मे रखने की प्रथा भारतीय जनजातियो मे बहुत कम है। गोंड, संथाल, भील आदि जनजातियों के मन्दिरों में पत्थर, मिट्टी का ढेला आदि देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस कारण जनजातीय लोग जिन मूर्तियों को बनाते हैं, वे देवताओं की मूर्तियाँ नहीं होती परन्तु देवताओं को अर्पित करने के लिए होती हैं। बस्तर की मुरिया जनजाति हाथी, घोड़ा और मानव की मूर्तियाँ बनाकर देवता को अर्पित करती हैं। उसी प्रकार विवाह को धूमधाम से मनाने और उस समय आने वाली समस्त विपदाओं को रोकने के लिए भी अनेक कलात्मक चीज़ों को जनजाति के लोग बनाते हैं। संथाल लोग विवाह की डोली को खूब सजाते हैं और उस पर जो खुदाई करते हैं उससे उत्साह और उल्लास का आभास होता है। इस अवसर पर अनेक जनजातियाँ भूत, चुड़ैल आदि की आकृतियाँ बनाकर विवाह-स्थान पर रखते है, जिससे कि इन भूत, चुड़ैल का प्रभाव कम हो जाय। सामाजिक दृष्टिकोण से मृत्यु ने भी कला को प्रोत्साहित किया है। समुद्र के किनारे रहने वाली गजम (Ganjam) जनजाति सुन्दर कब्रें बनाती हैं, उस कब्र पर नाना प्रकार की चित्रकारी होती है। अनेक जनजातियाँ मृत व्यक्तियो की स्मृति मे बीमारी को भगाने के लिए, ज़मीन की उर्वरा-शक्ति को बढाने के लिए तथा विशेष-विशेष त्योहारों मे दीवारो पर चित्र बनाती हैं।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय आदिकालीन कला की एक प्रमुख विशेषता इसका धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष है।

प्रागैतिहासिक कला[3]
(Pre-historic Art)

आमधारणा के अनुसार भारत के प्राचीनतम कला-भण्डार अजन्ता, बाग तथा बादामी की गुफाओ मे पाये जाते हैं। परन्तु भारत मे इससे भी प्राचीन कला-भण्डार का

1 "There is very little art for art's sake in a tribal village. Much of the art has a religious or magical purpose, much again has social importance; there is very little that is simply decorative or that aims at the creation of beauty and nothing else."—*Ibid*, p 127.

2. *Ibid*, pp 127–129

3. Based on Sri Vakankar's article in *Dharmayug*, June 14, 1959, pp.

अस्तित्व है, ये भण्डार उन शिलाश्रयों तथा गुफाओं में हैं जो विन्ध्याचल एवं सतपुड़ा की श्रेणियों में सर्वत्र पाये जाते हैं। दक्षिण प्रदेश मे भी कतिपय स्थानो पर जैसे वीला सरगम, कोडाईकल मेलोर में ऐसे भण्डार देखने को मिले हैं। गुफाओ की दीवारों मे पाषाण युग के मानव ने जो चित्र बनाये हैं वे गेरू, सफेद मिट्टी एवं काले रंग से रंगे गये हैं। चित्रों को बनाते समय अनेक शैलियो का प्रयोग किया गया है तथा कई बार स्थानाभाव के कारण चित्र परस्पर एक-दूसरे पर भी रंगे गये हैं। इन चित्रो मे यथार्थवादिता तथा आवेग अधिक है। रेखाओं का अत्यधिक प्रयोग भी इनमें देखने को मिलता है। चित्रो के विषय भी विविध हैं; पशुपालन, शिकार, सामूहिक नृत्य, युद्ध-चित्रण, जंगली पशु-पक्षी एव धार्मिक विचारों का यहाँ सर्वत्र प्रकटीकरण हुआ है। जगली पशु-पक्षियों मे हिरन, साभर, नील-गाय, घोड़ा, सुअर, हाथी, शेर, बकरी, कुत्ता, बन्दर, साँप, कौआ, बिच्छू, मोर आदि के चित्र मिलते हैं। साथ ही, नाना प्रकार के पत्थरों के औज़ार और मूर्तियों को भी बनाने की कला उन्हें आती थी।

इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले की विजयगढ नाम की गुफाओ मे कुछ चित्रों के नमूने पत्थरों की शिलाओं पर मिले हैं। इनमे से एक चित्र मे एक गैंडे पर हमला करने वाले छ. शिकारी दिखाये गये हैं। कुछ शिकारी सिर पर पंख लगाये हुए हैं। मध्य प्रदेश के रायगढ़ जिले मे सिंघनपुर नामक ग्राम मे भी इस प्रकार के कतिपय रंगीन चित्र वहाँ की चट्टानों पर अंकित किये हुए मिले हैं। उनमे तीन विभिन्न रंगो का प्रयोग किया गया है और मानव, पक्षी और सुअरो की आकृतियाँ बनाई गई हैं।[1]

समकालीन कला
(Contemporary Art)

भारतीय जनजातियों की समकालीन कला के विषय मे हम इसकी विशेषता की विवेचना पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर संक्षेप मे केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि समकालीन जनजातीय कला मे मूर्तिकला, चित्रकला, मौखिक साहित्य, नृत्य, नाटक तथा संगीत सभी अपने पर्याप्त विकसित रूप मे देखने को मिलता है। उनमे सामाजिक और धार्मिक स्वर ही अधिक मुखर है चाहे उनकी शैली कोई भी हो। अनेक सामाजिक तथा धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के जनजातीय कलाकार मूर्ति बनाते हैं; चट्टानो दीवारों तथा औजारों आदि पर चित्रकारी करते हैं। मूर्तियों मे तथा चित्रकारी में जिस प्रकार मनुष्यों की आकृतिया बनाई जाती हैं, इसी प्रकार गाय, हाथी, घोडा, सूअर, बन्दर तथा अन्य प्रकार के पक्षियों की आकृतियाँ तथा भूत व चुडैलों की शक्लें भी बनाई जाती हैं। जो लोग पूर्वजों की आत्मा पर विश्वास करते हैं, वे यह भी मानते हैं कि वह आत्मा एक विशेष स्थान पर निवास करती है। उस स्थान को भी कला की अनेक कृतियों द्वारा सजाने का प्रयत्न किया जाता है। टोटम का चित्र बनाना, शरीर पर उसके चित्र की गुदाई करना आदि भारतीय जनजातियों की कला को व्यक्त करने का एक और

---

1. Majumdar and Madan, *op. cit.*, p. 177.

तरीका है। कोरापुट के साओरा लोग अदृश्य जगत् का एक काल्पनिक चित्र देवताओं, भूतों और पूर्वजों के चित्र बनाकर प्रस्तुत करते हैं। मुरिया गोंड के लोग सिर पर सींग धारण करते हैं जिसे कि वे खूब सजाते हैं। कौड़ियों के अनेक प्रकार के अलंकार बनाना भी उन्हें आता है। नागा लोग अपने वस्त्रों पर विभिन्न प्रकार के चित्र बनाते हैं। उसी प्रकार अधिकतर जनजातियाँ युवागृह को भी कलात्मक ढग से सजाने का प्रयत्न करती हैं। आदिवासियों में विवाह के गाने, नृत्य-गीत, मृत्यु-गान आदि भी होते हैं। संगीत, नृत्य, लोक-कथा और मौखिक साहित्य के विषय में हम अगले अध्यायों में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer : *An Introduction to Social Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. Boas, F. : *Primitive Art*, Dover Publications, New York, 1951.

3. Bunzel, R. : 'Art' in F. Boas, *General Anthropology*, D. C. Heath and Co., New York, 1938.

4. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958

5. Jacobs and Stern : *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955.

6. Publication Division, *The Adivasis*, Delhi, 1960.

7 Read, H. : *Art and Society*, Faber and Faber, London, 1946.

15 संगीत तथा नृत्य (Music and Dance)

भूमिका—संगीत तथा नृत्य का महत्त्व
(Introduction—Importance of Music and Dance)

सौन्दर्य तथा आनन्द की उपभोग करने तथा उन्हे एक मूर्त रूप देने की चिरंतन अभिलाषा मानव मे सदा से ही है। मानव अपने कष्टो को, दुख और दुर्दशा को उसी मे डुबो देना चाहता है, उसे भूल जाना चाहता है। संगीत के स्वर मे या नृत्य की ताल मे वह विभोर हो जाता है, सब कुछ भूल जाता है। संगीत तथा नृत्य मे मानव-जीवन का हास-उल्लास सभी कुछ व्यक्त है। इसी कारण संगीत तथा नृत्य की उत्पत्ति उसी दिन से है जिस दिन मानव ने हँसना और रोना सीखा है, विभिन्न मुद्राओ के माध्यम से अपने मन को अभिव्यक्त करना जान लिया है।

आदिकालीन समाज मे तो संगीत तथा नृत्य का और भी अधिक महत्त्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजो मे मानव का जीवन अति संघर्षपूर्ण है। उन्हे अपनी जीविका-पालन के हेतु कठोर परिश्रम करना पडता है। उस कठोर परिश्रम के दौरान मे परिश्रम के भार को सहन करने के लिए तथा परिश्रम के बाद थकावट को भूलने के लिए संगीत तथा नृत्य का महत्त्व वास्तव मे अत्यधिक है। यह देखा गया है कि कठिन-से-कठिन काम के दौरान मे अगर नाचते-गाते हुए उस काम को किया जाय तो वह काम वास्तव मे बहुत सरल प्रतीत होने लगता है और काम करने वाले निरन्तर नये उत्साह को प्राप्त करते जाते हैं। हो सकता है इसलिए भी आदिमानव में काम करते-करते गाना गाने का एक रिवाज-सा देखने को मिलता है। आदिम समाजो मे ही नही बल्कि भारत के गाँवो मे भी स्त्रियाँ खेत मे काम करते तथा चक्की मे कुछ पीसते समय बहुधा गीत गाती रहती हैं। उसी प्रकार नाव खेते हुए मल्लाहो का गीत विशेषत. बंगाल के लोक-गीत की एक अमूल्य सम्पदा है। साथ ही, संगीत तथा नृत्य का एक और महत्त्व यह है कि इसके द्वारा त्योहार, मेल-मिलाप, धार्मिक अनुष्ठान तथा मेले के अवसरो पर अपनी खुशियो को सरलता से व्यक्त किया जा सकता है। इन अवसरो पर नाचने और गाने वालो के लिए जिस प्रकार संगीत व नृत्य अपने उल्लास को व्यक्त करने का एक उत्तम साधन बन जाता है, उसी प्रकार उन्हे देखने व सुनने वालो के लिए वे मनोरंजन का एक साधन हैं। इस प्रकार संगीत तथा नृत्य के कलाकार तथा दर्शक के बीच एक आत्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो कि सामाजिक नियन्त्रण, संगठन व एकता सभी के लिए परम उपयोगी सिद्ध होता है।

जिस प्रकार खाने-पीने की समस्या मानव को व्याकुल करती है, उसी प्रकार सौन्दर्य और आनन्द का उपभोग करने के लिए भी वह छटपटाता है। यह सच है कि जीवन-धारण के लिए अर्थात् जीवित रहने के लिए खाने-पीने की चीज़ों की अत्यधिक आवश्यकता है, परन्तु यह भी सच है कि जीवित रहने के लिए केवल ये चीज़ें ही पर्याप्त नहीं हैं। खाने-पीने की चीज़ें तो 'शरीर' की खुराक हैं; शरीर की खुराक के अलावा भी मानव को अपने 'मन' की खुराक भी जुटानी पड़ती है।

संगीत
(Music)

संगीत की उत्पत्ति
(Origin of Music)

संगीत की उत्पत्ति मानव की उस अभिलाषा के फलस्वरूप हुई जिसके कारण वह सौन्दर्य तथा आनन्द को एक मूर्त रूप देना चाहता है। सौन्दर्य तथा आनन्द को कई प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसके लिए सर्वप्रथम तो भाषा की आवश्यकता होती है। चूंकि पशुओं के पास भाषा नहीं है इस कारण उनमें संगीत का विकास भी नहीं हो पाया है। मानव अपने मन की भावना को भाषा के माध्यम से व्यक्त कर सकता है और करता है। इस भाषा के साथ मन की भावना भी आवश्यक है। मन की भावना को जब छन्द रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब उसे कविता कहते हैं। कविता संगीत का वह कच्चा माल है जिससे कि संगीतकार संगीत को बनाता है। कविता को ही जब नियमानुसार ताल (rhythm) तथा सुर (melody) के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है तब उसीको संगीत कहते हैं। इस ताल तथा सुर को नियमित तथा निर्देशित करने के लिए नाना प्रकार के संगीत-यंत्रों या वाद्य-यंत्रों (musical instruments) की सहायता ली जाती है। संगीत की उत्पत्ति तभी हुई होगी जबकि मनुष्य को इन सबको एकसाथ मिलाकर प्रस्तुत करने का ज्ञान प्राप्त हुआ होगा।

ताल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्री बूचर (Bucher) का मत है कि इसकी उत्पत्ति मानव के रोज के अनुभव से ही सम्भव हुई है। आदिमानव ने यह देखा कि काम करते हुए कुछ निश्चित समय के बाद आवाज द्वारा या शरीर की गति द्वारा जोर देने से परिश्रम का दबाव बँट जाता है और काम सरल हो जाता है। इसका कारण यह है कि बराबर समय छोड़कर आवाज या शारीरिक गति द्वारा जोर देने पर परिश्रम का दबाव शरीर या मन पर बोझ नहीं बन पाता और परिश्रम करने की नयी स्फूर्ति परिश्रम करने वाले को प्राप्त होती रहती है। एक बार जोर देने के बाद ऐसा लगता है, जैसे कि वह काम नये तौर पर प्रारम्भ किया जा रहा है। इसी कारण काम का बोझ हल्का हो जाता है और वह काम आसान हो जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर जब स्वर या आवाज में कुछ निश्चित समय के बाद जोर दिया गया तब संगीत या नृत्य में ताल की उत्पत्ति हुई। श्री बूचर के इस सिद्धान्त को चक्की चलाती हुई स्त्रियों का गीत गाने या नाव खेते हुए मल्लाहों का

गीत गाने के आधार पर समझा जा सकता है। ये स्त्रियाँ या मल्लाह गीत क्यों गाते हैं? इसीलिए कि लगातार काम करते जाने पर जल्द ही थक जाने की सम्भावना होती है, परन्तु थोड़ा-थोड़ा अन्तर देकर गीत के स्वर पर जोर देने से उनके शरीर को नयी स्फूर्ति मिलती रहती है और वे अपने काम को सरलता से कर डालते हैं। श्री वुण्ट (Wundt) ने इसी सिद्धान्त को नृत्य के सम्बन्ध मे भी लागू किया है। उनके अनुसार नृत्य मे भी संगीत की भांति ताल की आवश्यकता होती है जोकि थोड़े-थोड़े समय के बाद शरीर की एक गति-विशेष पर जोर देने से उत्पन्न होती है। जोर इसीलिए दिया जाता है कि ऐसा करने पर शरीर का बोझ हल्का हो जाता है और काम सरलता से हो जाता है। परन्तु श्री बोआस (Boas) सर्वश्री बूचर तथा वुण्ट के मत से सहमत नहीं हैं।[1] उनका कथन है कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी रचना को सुन्दर बनाने का प्रयास करता है। किसी भी रचना में अगर बीच-बीच में समान अन्तर दिया जाय तो वह सुन्दर दीखने लगती है। उदाहरणार्थ, अगर आप सुलेख लिख रहे हैं तो प्रत्येक अक्षर के बाद अगर आप समान फासला छोड़ते जाएँ तो वह लेख सुन्दर प्रतीत होगा। किसी चीज को सुन्दर बनाकर हमे प्रसन्नता होती है। इस प्रसन्नता की अभिव्यक्ति ही ताल है। जब एक व्यक्ति नाचता या गाता है तो उसे अपनी उस रचना पर प्रसन्नता होती है और वह उस प्रसन्नता को उप-भोग करने के लिए थोड़े-थोड़े समय बाद अपने स्वर या शरीर-गति पर जोर देता है या क्षण-भर के लिए रुक जाता है। यही संगीत या नृत्य का ताल है।

सुर (melody) के आधार पर ही संगीत श्रुति-मधुर होता है। इस सुर का मुख्य आधार गाने वाले का स्वर या आवाज है जिससे कि वह संगीत की कथाओं या गीत के शब्दों को अपने मुँह से निकालता है। स्वर के एक नियमित चढाव-उतार से आनन्दप्रद या आकर्षक ध्वनि (tone) प्रस्तुत करना ही सुर की सृष्टि है। यह सुर-ताल से नियमित तथा नियन्त्रित होता है; तभी संगीत बनता है। अर्थात् ताल और सुर के मेल से संगीत बनता है। सुर की उत्पत्ति आवेग या संवेग से होती है। एक परिस्थिति-विशेष मे एक विशिष्ट प्रकार का संवेग मन मे उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के मुँह से एक विशेष प्रकार की ध्वनि निकलती है जो कि या तो आनन्दप्रद व श्रुति-मधुर होती है या केवल आकर्षक। यह ध्वनि आनन्दप्रद होगी या और कुछ, यह परिस्थिति पर निर्भर करता है। क्योंकि परिस्थिति के अनुसार ही व्यक्ति मे एक विशेष संवेग उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, एक धार्मिक अनुष्ठान मे व्यक्ति के मुख से जिस प्रकार की ध्वनि निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि सामाजिक उत्सव मे नहीं निकल सकती और जिस प्रकार की ध्वनि इस सामाजिक उत्सव में निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि प्रेमिका के वियोग मे कभी नही निकलेगी। वियोग-व्यथा से पीडित संगीत मे भी सुर होता है और उल्लास मे विभोर संगीत मे भी सुर होता है। इस कारण सुर मे केवल आनन्दप्रद या श्रुति-मधुर ध्वनि ही होगी, यह कहना गलत होगा। पर सुर श्रुति-कटु नही होता है; वह किसी-न-किसी रूप में आकर्षक अवश्य ही होता है।

1. For detailed information please see Franz Boas, 'Literature, Music, and Dance', *General Anthropology*, D.C. Heath and Co., New York, 1938, Chapter XII.

श्री कार्ल स्टम्फ (Carl Stumpf) का कहना है कि सुर की उत्पत्ति पहले-पहल क्रन्दन या रोने से हुई है। रोने मे एक प्रकार की स्वाभाविक ध्वनि निकलती है। यह एक इस प्रकार की ध्वनि होती है जो कि सहज ही दूसरे को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इसी अनुभव से सुर की सृष्टि मनुष्य ने की। विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल आकर्षक ध्वनि की सहायता से गीत के शब्दों को कहना लोगों ने प्रारम्भ किया। यही संगीत है।

वाद्य-यंत्र (musical instruments) ताल-लय व सुर को नियंत्रित करने तथा संगीत को और भी आकर्षक बनाने के लिए व्यवहार मे लाये जाते हैं। पहले-पहल इनका प्रयोग नही किया जाता था, कण्ठ से ही संगीत गाया जाता था। पर धीरे-धीरे नाना प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का आविष्कार और संगीत के क्षेत्र मे प्रवेश होता गया। आदिम समाजों में आज भी गिने-चुने वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग होता है परन्तु आधुनिक समाजों में तो संगीत के साथ वाद्य-यन्त्रो का मेल-सा बैठ जाता है। इसके विषय मे कुछ विस्तार से लिखने का अवसर हमे आगे मिलेगा।

संगीत के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Music)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सगीत के तीन आवश्यक तत्त्व हैं—ताल, सुर तथा वाद्य-यंत्र। आदिकालीन मानव के दृष्टिकोण से इन तीनो पर कुछ विचार करना आवश्यक है।

(1) **ताल** (Rhythm)—जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, संगीत का सर्वप्रथम तत्त्व ताल है। परन्तु इस ताल का ज्ञान आदिवासियों मे उतना सूक्ष्म नहीं है जितना कि आधुनिक समाज के सगीतकारो मे। वर्तमान सगीत मे एक पद या उसके अंश-विशेष को गाकर ही ताल दे दी जाती है, परन्तु आदिवासियो के संगीत मे इतनी जल्दी ताल नहीं दी जाती है। उनमे ताल काफी रुक-रुक के देने की रीति है। साथ ही, चूंकि आदिवासियों का ताल-ज्ञान अधिक सूक्ष्म नहीं होता, इस कारण एक बार जिस रूप मे ताल दी गई, सगीत के प्रारम्भ से अन्त तक उसी रूप में दी जायगी, ऐसा कोई नियम नही है। दो ताल के बीच समय की दूरी या व्यवधान घटता-बढ़ता रहता है।

(2) **सुर** (Melody)—सगीत का दूसरा प्रमुख तत्त्व सुर है जोकि कम-से-कम आदिवासियों के दृष्टिकोण से ताल से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुर की सृष्टि संगीतकार की कण्ठ-ध्वनि से ही होती है। अत सुर किस प्रकार का होगा, यह पूर्णतया गायक के कण्ठ पर ही निर्भर करता है। कण्ठ का यह सुर अभ्यास द्वारा उत्तमतर किया जा सकता है। आज का गायक इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से सचेत रहता है और कण्ठ-स्वर को उन्नत करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप उसका सुर उसके नियंत्रण में रहता है और वह अपनी इच्छानुसार और आवश्यकतानुसार उसे चढ़ा-उतार सकता है या लहरदार बना सकता है। परन्तु आदिवासी कण्ठ-स्वर को अपने नियंत्रण में रखने के लिए उतना अभ्यास नही कर पाते और न ही उनके पास उतना समय होता है।

पेशेवर गायक आदिवासियों मे शायद ही होता है। उनके समाज मे सभी को जीविका-पालन के हेतु सदा प्रयत्नशील बना रहना पडता है जिसके कारण सगीत का नियमित अभ्यास करना उनके लिए सम्भव नही होता। इस कारण आदिवासियो के सगीत मे सुर मे समता और नियमितता अधिक नही होती है। वे उच्च स्वर का प्रयोग अधिक करते हैं।

वर्तमान अंग्रेजी सगीत मे अष्टक (octave) को बारह सम-भागो मे बांटा जाता है, परन्तु आदिवासियो मे इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही है। जावा की जन-जातियां अष्टक को पाच सम-भागो मे और स्याम की जनजातियां इसे सात सम-भागो मे बांटती हैं। सगीत के लय तथा सुर की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए अनेक जन-जातियो मे निरर्थक शब्दो को जोड दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे सगीत मे त-न-न-न-न, अग्रेजी मे ला-ला-ला को सगीत में सुर का पुट देने के लिए जोड़ा जाता है। जन-जातियो मे भी इस प्रकार के अनेक शब्दो को प्रयोग मे लाया जाता है।

(3) वाद्य-यंत्र (Musical Instrument)—संगीत का तीसरा आवश्यक तत्त्व वाद्य-यन्त्र है। वाद्य-यन्त्रो के दो प्रमुख कार्य होते हैं। प्रथम कार्य तो ताल व सुर को नियमित और निर्देशित करना और दूसरा सुर को ही प्रकट करना है। वाद्य-यन्त्र स्वय ही सुर की सृष्टि करते हैं और गायक उससे कण्ठ मिलाकर गाता जाता है। यह भी हो सकता है कि गायक का कण्ठ जैसे ध्वनि या सुर को अभिव्यक्त करता है वैसे यन्त्र भी सुर को प्रकट करने लगते हैं। अफ्रीका की कुछ जनजातियां ढोल से ऐसी ध्वनि निकालती हैं जो कण्ठ की ध्वनि का अनुकरण करती है। ताल देने के लिए भी वाद्य-यन्त्र अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं। जब तक तबला, ढोल, मृदग आदि ताल देने के यन्त्रो का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक ताली या भूमि पर पैर बजाकर इनसे ताल दी जाती थी

वाद्य-यन्त्रो को तीन भागो मे बांटा जा सकता है—डोरी, तांत या तार से बजने वाले वाद्य-यन्त्र (stringed instruments), हवा से बजने वाले वाद्य-यन्त्र (wind-instruments), और चोट लगाकर बजाये जाने वाले यन्त्र (percussion instruments)। जनजातियों मे डोरी, तांत या तार से बजने वाले वाद्य-यन्त्र जैसे तम्बूरा, सारगी, सितार, वीणा, वायलिन आदि न के समान पाये जाते हैं। तम्बूरा और सारगी जैसे वाद्य-यन्त्र कतिपय भारतीय जनजातियो मे देखने को मिलते हैं। मुंह की हवा से बजने वाले वाद्य-यन्त्रों जैसे बांसुरी, तुरही आदि का प्रचलन जनजातियो में अपेक्षाकृत अधिक है। जन-जातियां लकडी सीग, बांस, मिट्टी आदि नाना पदार्थ से इस प्रकार के वाद्य-यन्त्रो को बनाती हैं। कतिपय जनजातियो मे नाक से बजने वाले यन्त्र भी पाये जाते हैं। चोट देने से बजने वाले वाद्य-यन्त्र जनजातियो मे बहुत अधिक सख्या मे पाये जाते है। इस प्रकार के यन्त्रों मे ढोल, नगाड़ा और ढोलक बहुत लोकप्रिय हैं। घण्टा, घड़ियाल व घुंघरू को भी जनजातियां बहुत प्रयोग मे लाती हैं। अफ्रीका की कतिपय जनजातियो मे एक तरह का पियानो बजाया जाता है जिसे वे लोग जैंजा (Zanza) कहते हैं। इस यन्त्र में भिन्न-भिन्न नापो की धातु की पट्टियां या बांस की धज्जियां इस प्रकार लगायी जाती है कि जब किसी पट्टी या धज्जी को अगूठे से दबाकर छोड़ दिया जाता है तो वह ढोल की तरह

आवाज को गूंजाने वाले खोल पर जाकर बजने से इस यंत्र में से तरह-तरह के स्वर निकलते हैं।[1] ढोल के जितने नाना प्रकार के रूप जनजातियों में देखने को मिलते हैं उतने और किसी भी वाद्य-यंत्र के नहीं होते। किसी भी खोखली चीज पर चमड़ा मढ़ दिया जाता है। चमड़ा सूख जाने पर उस पर चोट देने से आवाज निकलती है। चमड़ा मढ़ने के लिए जिस खोखली चीज की आवश्यकता होती है उसे जनजाति के लोग मिट्टी, लकड़ी आदि का बना लेते हैं। ढोल का वादन एक अर्थ में उल्लास का प्रतीक है। जनजातियों मे किसी-किसी खास अवसरों पर उल्लास की माता जितनी ही बढ़ती जाती है, ढोल पर चोट भी उतनी ही उन्मत्त होकर की जाती है। अफ्रीका की कुछ जनजातियाँ ऐसे ढोल बनाती हैं कि एक ही ढोल के भिन्न-भिन्न भागों पर चोट देने से चार अलग-अलग तरह के स्वर निकलते हैं। कांगो तथा अमेजन की जनजातियाँ भी ढोल बनाने में निपुण हैं। युद्ध के समय मे भी लड़ने वालो को उत्तेजित करने के लिए जनजातियाँ ढोल को उन्मत्त होकर पीटती हैं। उसी प्रकार युद्ध मे तुरही का भी प्रयोग किया जाता है। तुरही के स्वर से लड़ने वालों को नाना प्रकार का संकेत भेजा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि उन्हें यह कहना है कि 'युद्ध रोक दो' तो तुरही मे वे एक विशेष स्वर को उत्पन्न करेंगे, उस स्वर को सुनकर सेना उसका आशय समझ जाती है।

भारतीय जनजातियों मे जो वाद्य-यंत्र प्रयुक्त किये जाते हैं उनमें तम्बूरा व सारंगी की तरह का एक यंत्र, बाँसुरी, तुरही, बीन, ढोलक, ढोल, मृदंग, घण्टा और घड़ियाल बहुत ही लोकप्रिय हैं; यद्यपि इनका वितरण तथा रूप प्रत्येक जनजाति में एक-सा नहीं है।

संगीत के वाद्य-यन्त्र के सम्बन्ध मे एक यह बात स्मरणीय है कि प्रत्येक वाद्य-यंत्र मे उसकी निजी विशेषता है। इसी कारण भिन्न-भिन्न प्रयोजन तथा अवसर के लिए भिन्न-भिन्न वाद्यों की आवश्यकता होती है। जनजातियों में संगीत के वाद्य-यन्त्र युद्ध-क्षेत्र मे पर्याप्त माता मे प्रयुक्त होते हैं, फिर भी प्रत्येक प्रकार के वाद्य-यंत्र का प्रयोग युद्ध-क्षेत्र मे नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, यह सुना नहीं गया है कि युद्ध-क्षेत्र में बाँसुरी का प्रयोग किसी जनजाति ने किया है या कभी किया था। युद्ध-क्षेत्र में इस प्रकार के वाद्य-यंत्रों को काम मे लाया जाता है जिनके स्वर लोगों में जोश व उमंग पैदा कर सकें। इन वाद्य-यंत्रो को प्रयोग करने का एक मात्र कारण यह था कि इनकी आवाजों को सुनकर योद्धाओं का उत्साहवर्धन होता रहे। कहा जाता है कि दुदुभी के नाद को सुनकर भीम की भुजाएँ फड़कने लगती थीं और यही दुदुभी का प्रयोजन था। जनजातियों के लोग भी इस विषय में पर्याप्त सचेत प्रतीत होते हैं क्योंकि अवसर (occasion) भेद के अनुसार वाद्य-यंत्रों में भी भेद जनजातीय समाज में देखने को मिलता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। दैनिक जीवन मे प्रयुक्त होने वाले वाद्य युद्धभूमि के वाद्यों से भिन्न इस कारण होते हैं कि दैनिक जीवन में व्यवहार होने वाले वाद्यों का उद्देश्य योद्धाओं का उत्साहवर्धन करना नहीं, वरन् लोगों का मनोरंजन करना होता है।

1. Franz Boas, *Ibid*, p. 605.

भारत के लोक-गीत
(Folk-Songs of India)

लोक-गीत की प्रकृति
(Nature of Folk-songs)

आदि-जगत् के लोगों को हम प्राय: 'जंगली' कहकर सम्बोधित करते हैं और यह आशा करते हैं कि उनका जीवन असभ्य तथा हिंसक प्रवृत्तियों से भरपूर होगा। परन्तु यह सत्य नहीं है। उनके हृदय में भी अनेक कोमल भावनाएँ तथा विचारधाराएँ होती हैं; उनका हृदय और मस्तिष्क भी प्रेम, प्रीति, विरह, मिलन, आनन्द और आंसु से प्लावित होता है। हृदय की इन अनुभूतियों को संगीतमय करने की शैली उन तथाकथित जंगलियों को भी मालूम होती है। यह सच है कि यह शैली संस्कृति के स्तर से सम्बन्धित है अर्थात् संस्कृति के क्रमिक विकास के साथ-साथ लोक-गीतों को प्रस्तुत करने की शैली में भी उन्नति होती जाती है। आदि-संस्कृति के लोग सरल मनोभाव वाले होते हैं इस कारण उनका गीत को प्रस्तुत करने का ढंग भी बहुत सरल होता है। साधारणतया वे अपने ही दैनिक जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना को गीत के विषय के रूप में चुन लेते हैं और फिर उससे सम्बन्धित अपने मनोभाव को सरल ढंग से व्यक्त करते हैं। यही लोक-गीत है। लोक-गीत की सबसे प्रमुख विशेषता स्वत.स्फूर्तता तथा स्वाभाविकता है। वैसे भी संगीत का प्रमुख लक्ष्य लोकरजन है; जो इस लक्ष्य की सिद्धि में अधिक सफल है, वही अधिक स्वाभाविक है। जो जितना स्वाभाविक है, वह उतना ही लोक-गीत के अन्तर्गत आता है। लोक-गीत के सम्बन्ध में डा० दुबे ने उचित ही लिखा है कि "लोक-गीत स्वत.स्फूर्त प्राकृतिक काव्य का अंग है। लोक-गीतों में उनके रचयिता अथवा रचना-काल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं होता; उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौन्दर्य में रहता है। उनमें एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक-हृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है। व्यक्ति-विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोक-गीत समुदाय की भावना के कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लांघ, लोक-गायकों और गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोक-गीत अतीत की परम्परा को वर्तमान में भी अंशत. जीवित बनाये रखते हैं, समय के व्यवधान से लोक-गीतों के बाह्य स्वरूप में तो परिवर्तन अवश्य होते हैं; किन्तु उनके मूल-भाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यत: अपरिवर्तित ही रहती हैं।"

लोक-गीत में कविता की विशेषताएँ बहुधा नहीं होतीं। लोक-गीत में छन्दों का मिलान नहीं होता। यह बात विशेष करके जनजातियों के लोक-गीतों के सम्बन्ध में अधिक सच है। भारतीय गाँवों में जो लोक-गीत गाये जाते हैं उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में होती है। परन्तु जनजातियों के लोक-गीत के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। फिर भी सभी जनजातियों के सभी लोक-गीतों में काव्यात्मक अभिव्यक्ति का पूर्णतया अभाव होता है, ऐसा सोचना भी उचित नहीं है। हैदराबाद दक्षिण की चेंचू जनजाति के लोगों के गीत "प्राय: अस्पष्ट उद्गार ही होते हैं; उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति का

अभाव रहता है।" आसाम की कोनयाक नागा तथा छत्तीसगढ की कमार जनजाति के गीतों के सम्बन्ध मे भी यह बात कही जा सकती है। परन्तु छोटा नागपुर के संथाल जन-जातीय समूह के लोक-गीतो मे कविता की विशेषताएँ भी मौजूद होती हैं।

लोक-गीत की परिभाषा

(Definition of Folk-songs)

उपरोक्त विवेचना से लोक-गीत की प्रकृति तथा विशेषताएँ बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती हैं। लोक-गीत के सम्बन्ध मे श्री सामर ने लिखा है कि चूंकि लोक-संगीत का सृजन अनन्तकाल से होता आया है, इसका इतिहास बहुत पुराना और प्रचार-क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसलिए इसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ होनी भी स्वाभाविक हैं। सच पूछिए तो जिस लोक-सगीत की परम्पराएँ ही नही होतीं, वह लोक-सगीत ही नही है। किसी व्यक्ति-विशेष का रचा हुआ गीत जब सामाजिक क्षेत्र मे उतरकर समाज की धरोहर बन जाता है और उस व्यक्ति का व्यक्तित्व उस गीत से हट जाता है तथा समस्त समाज का व्यक्तित्व उस पर अंकित हो जाता है, तभी वह गीत लोक-गीतो की श्रेणी मे आता है। श्री सामर ने आगे और लिखा है कि इन गीतो मे भाषा तथा भाव की दृष्टि से क्षेत्रीय तथा जातीय विशेषताएँ अवश्य होती हैं, परन्तु इनकी आत्मा एक होती है और इनका व्यवहार लग-भग एक ही प्रयोजन से होता है। ऐसे गीत चूंकि सामाजिक धरोहर होते हैं, इसलिए अधिकतर सामूहिक रूप से ही गाये जाते हैं। लोक-गीतो मे वैयक्तिक रूप से गाने की परम्परा लगभग नही के बराबर है।

लोक-गीत के प्रकार

(Kinds of Folk-songs)

लोक-गीत अनेक प्रकार के होते हैं जैसे सामान्य गीत, नृत्य-गीत, उत्सव-गीत, धार्मिक-गीत, स्त्रियों के गीत, भिखारियों के या 'बाउल'-गीत, विवाह व जन्म-गीत, आदि। श्री सामर ने भारतीय लोक-गीतों को निम्नलिखित छः भागो मे बाँटा है—

(1) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, तथा पर्व-समारोह आदि पर गाए जाने वाले गीत, (2) मनोविनोद तथा उमग के समय गाये जाने वाले गीत, (3) धार्मिक तथा सास्कारिक गीत, (4) भजन तथा कीर्तन के गीत, (5) नृत्य तथा नाटकों के साथ गाये जाने वाले गीत, और (6) व्यावसायिक गीत। इन विभिन्न प्रकार के लोक-गीतो का जो विवरण श्री सामर ने दिया है उसका संक्षिप्त-सार निम्नवत् है।

(1) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व आदि मे जो लोक-गीत गाये जाते हैं उनकी संख्या अनगिनत है। ये गीत प्रायः सभी जातियो, समुदायों तथा व्यक्तियों द्वारा गाये जाते हैं। ये गीत चूंकि बड़े दायरे मे बड़ी तादाद द्वारा तथा लम्बे समय तक गाये जाते हैं इसलिए इनकी स्वर-रचना सरल, शब्द-चयन छोटा और लय सादी तथा गतिशील होती है। ये गीत विशिष्ट त्योहारो, पर्वों तथा मागलिक अवसरों के साथ सास्कारिक रूप मे ही जुड़े होते हैं। इनको गाये बिना वह पर्व या त्योहार अधूरा ही समझा जाता है। इन गीतो मे विवाह के बधावे, द्वारचार, सम्बन्धियों की गालियाँ, फेरा या विदाई के क्षण

मूर्त्त हो उठते हैं। तीज, राखी, होली, आदि पर्वों तथा त्योहारों में ये विशेषकर गाये जाते हैं।

(2) उमंग तथा मनोविनोद के समय गाये जाने वाले लोक-गीतों की पसन्द चूंकि मनुष्य के विशिष्ट हास-उल्लास के क्षणों पर अवलम्बित रहती है- इसलिए इनका प्रचार-क्षेत्र बहुत लम्बा-चौड़ा नहीं होता और न इन्हें अधिक व्यापक रूप से गाया ही जाता है। चूंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों से अधिक है, इसलिए इनका सांगीतिक पक्ष अधिक प्रबल होता है। इन गीतों में कल्पना की उड़ानें अधिक और स्वरों की रचना राग की दृष्टि से बहुत ही मधुर होती है। राजस्थानी लोक-गीत में इस श्रेणी के अन्तर्गत गोरबन्ध, पनिहारी, इण्डोणी, अलेचो, पीपली, हिचकी, काजली, चौमासा, झूला, पोमचे, बादली, सपना, पादीना, आदि प्रमुख हैं।

(3) धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीत भी उत्सव, त्योहारों आदि पर गाये जाने वाले गीतों की तरह व्यापक और लोकप्रिय होते हैं। परन्तु इनके साथ देवी-देवताओं की पूजा-पाठ की विधियां, परम्पराएँ, विश्वास आदि जुड़े रहने के कारण ये गीत मन्त्र-तन्त्र आदि की तरह कुछ रूढिवादी हो गये हैं। किसी विशिष्ट धार्मिक क्रिया के समय ये गीत यदि नहीं गाये जाएँ तो अपशकुन-सा माना जाता है। ये गीत प्रचलित और व्यापक इसलिए हैं कि इनके साथ सैकड़ो वर्षों की धार्मिक परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं।

(4) धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीतों की श्रेणी मे भजन तथा कीर्तन नहीं रखा गया है। इसका कारण, श्री सामर के अनुसार, यह है कि इनमें प्रकृति, रचना तथा व्यवहार की दृष्टि से काफी भिन्नता है। भजन-कीर्तनों में कोई संकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा अन्धपरम्परा नहीं है। इसका प्रचार एवं प्रभाव-क्षेत्र अधिक व्यापक है। इन गीतों मे धार्मिक तथा आध्यात्मिक उच्च भावनाएँ अंकित रहती हैं। इनका काव्य तथा सागीतिक पक्ष भी उनसे अधिक मधुर होता है। इन गीतों का लय-पक्ष तो सभी लोक-गीतों से अधिक प्रबल होता है।

(5) नृत्य तथा नाटकों के साथ गाये जाने वाले लोक-गीत अनेक लोकप्रिय कथाओं के साथ जुड़े होने के कारण इनकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढी हुई होती है। इन गीतों का साहित्यिक पक्ष अत्यन्त दुर्बल होता है, तथा संगीत-पक्ष प्रबल।

(6) लोक-गीत की परिभाषा के अनुसार किसी भी लोक-गीत को व्यावसायिक नहीं होना चाहिए। यदि वह व्यावसायिक हो जाता है, तो उसका लोक-पक्ष निश्चय ही दुर्बल होता है। परन्तु कुछ सामाजिक कारणो से भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे कुछ समूह ऐसे बन गये हैं, जिनका व्यवसाय ही नाच-गाकर अपनी आजीविका उपार्जन करना हो गया है। चूंकि गाना-बजाना तथा नाचना उनका व्यवसाय हो गया है, इसलिए उनमे थोड़ी-सी क्लिष्टता तथा चमत्कारिता होना स्वाभाविक है। उनकी गायन-विधि मे थोड़ा-सा व्यावसायिक गुण यदि नहीं हो, तो उनके आश्रयदाता अथवा जजमान उनकी कभी माग ही न करें। ऐसे गीतों को गाने वाली अनेक जातियां राजस्थान मे पाई जाती हैं। ये गीत ढोला, मिरासी, कामड, सरगड़े, राव, भाग, ढाढी, भाड, भवाई आदि व्यावसायिक जातियों की धरोहर बन गये हैं जिनमे कला-पक्ष की दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है।

उनके गाने की शैली भी शास्त्रीय गीतों के ढंग की बनती जा रही है।

संक्षेप में, जीवन के विभिन्न पक्षों की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक-गीतों मे होती है। लोक-गीत मानव-जीवन या सामूहिक जीवन के किसी विशेष पक्ष से नहीं वरन् प्रायः सभी पक्षों से सम्बन्धित होते हैं। लोक-गीतों के निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

लोक-गीत के उदाहरण
(Examples of Folk-songs)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लोक-गीत का विषय-क्षेत्र मानव का सम्पूर्ण जीवन है। इसकी अभिव्यक्ति कितने विभिन्न रूपों में हो सकती है, इसकी कुछ झलक हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

अंधेरी रात थी
धीरे-धीरे चन्द्रमा निकला,
प्रतीक्षा और कष्ट के बाद
घर पुत्र का जन्म हुआ,
गाओ भाई ! गाओ !
नाचो भाई ! नाचो !

उपरोक्त गीत मध्य प्रदेश के आदिवासियों का लोक-गीत है जो कि परिवार में पुत्र के जन्म होने के अवसर पर हृदय में उठने वाली सामान्य भावनाओं को सरल किन्तु सरस ढंग से व्यक्त करता है। यह गीत बच्चा उत्पन्न होने के ठीक बाद ही गाया जाता है। बच्चे का आगमन परिवार के लिए अनेक शुभ सम्भावनाओं को लेकर होता है। इस बच्चे के सम्बन्ध मे उसकी विवाहिता बुआ का विशेष स्थान तथा महत्त्व होता है। इसलिए बच्चे के जन्म से सम्बन्धित लोक-गीत में बुआ का भी विशेष रूप से उल्लेख होता है, जैसे—

जीओ जीओ रे लाला
पेट मे से बच्चा बोले
बुआ रे बुआ।

उसी प्रकार पारिवारिक जीवन के अन्य पक्षों को भी लोक-गीत अपने अन्दर समेट लेता है। उदाहरणार्थ, "जब तक माँ-बाप जीवित रहते हैं, अविवाहित लड़कियों को अपने भरण-पोषण के लिए विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती; किन्तु जब उन्हें अपने विवाहित भाइयों के साथ रहना पड़ता है तो ननद-भौजाई के झगड़े उठ खड़े होते हैं जिससे आपस मे पर्याप्त कटुता बढ़ती है और सम्मिलित रूप से रहना दूभर हो जाता है। मुण्डा जनजातियों के सैकड़ों लोक-गीतों में व्यस्का कुमारियों के कष्टों, भौजाइयों द्वारा उन पर किये गये अत्याचारों और दुर्व्यवहारों तथा नवयुवकों की उनके प्रति उपेक्षा का विस्तृत विवरण दिया गया है। कुमारियों द्वारा समस्त मुण्डा देश में गाये जाने वाले गीतों में भौजाई और सौत की डाह का उल्लेख आता है। लोक-गीत की निम्न पंक्तियों में यही

भाव व्यक्त किया गया है—

भौजाई की डाह,
सौतेली-माँ की डाह,
जब वह झगड़ती है तो बादल काँपते हैं,
पेट, पेट, मैं भूखी हूँ,
पानी, पानी, मैं प्यासी हूँ,
कहाँ, हे ! हिली (भाभी) पानी मिल सकता है ?
राजा के तालाब पर, रानी के तालाब पर
जा वहाँ मिलेगा।

भौजाई और सौतेली-माँ उसे एक बूँद पीने का पानी भी नहीं देतीं और उस कुमारी मुण्डा कन्या को प्यास बुझाने के लिए गाँव के तालाब का रास्ता दिखाती हैं।"

विवाह के पश्चात् बेटी की विदा एक और सामान्य पारिवारिक घटना है। इस अवसर पर अनेक तरह से गीत गाये जाते हैं जिनमें कि घर वालों या बेटी की हृदय-वेदना मूर्त्त हो उठती है। एक गुजराती गीत है —

अमे रे लीलुड़ा बननी चल कलड़ी
उड़ी जाशुं परदेश जी
आजा रे दादा जी ना देश मां,
काले जाशु परदेश जी।

इसका अर्थ यह है कि "मैं तो हरे-भरे वन की चिड़िया हूँ, उड़कर परदेश चली जाऊँगी। आज दादाजी के देश मे हूँ, कल परदेश चली जाऊँगी।"

लोक-गीत मे प्रेमिका अथवा प्रेमी के हृदय के उद्‌गारों को भी आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जो कि अपनी सरलता के कारण ही रोचक व मोहक हो जाता है। एक तामिल लोक-गीत का हिन्दी अनुवाद निम्नवत् है। सेलम के मेले के बाद जब एक युवक अपनी प्रेयसी से मिला तो कहने लगा—

जानती हो !
मेले से लाया हूँ
लाया हूँ एक साड़ी तुम्हारे लिए।
अपने हाथों से
हाथों से पहनाऊँगा तुम्हें
दुलहन सजाऊँगा तुम्हें
अपने हाथो से।
तुम मेरी हो
तुम घर की रानी हो
रानी की तरह सजाऊंगा तुम्हें
दुलहन बनाऊंगा तुम्हें
अपने हाथों से।

मेले से लाया हूँ
लाया हूँ एक साड़ी तुम्हारे लिए।

लोक-गीत मे प्रेम और परिहास, मिलन व विरह ही नही, वीर-रस भी मूर्त होता है, जैसे—

मेरा रंग दे केसरिया चोला रे
जिस चोले मे रंग केसरिया भगतसिंह ने घोला रे
मेरा रंग दे केसरिया चोला रे।

इतना ही नही, जैसा कि डा० दुबे ने लिखा है, "लोक-गीतों मे कभी-कभी तत्त्व-ज्ञान की गम्भीरता से जीवन पर दृष्टिक्षेप करने के प्रयत्न भी मिलते हैं। एक छत्तीसगढ़ी लोक-गीत है—

जीयत जन्म लेवो,
हंसि लेवो खेल लेवो;
मरे ले दूलभ संसार!
जिनगी के नई है भरोसा!

अर्थात् "जन्म लिया है तो जी ले, हँस ले और खेल ले; मरने से ससार दुर्लभ हो जाएगा; जीवन का कोई भरोसा नही।"

भक्ति-मूलक लोक-गीत का एक सरल व सुन्दर रूप बंगाल का 'बाउल-गीत' है। बाउल (एक प्रकार का भिखारी) बंगाल के देहाती-पथ पर अपना एकतारा लेकर उदात्त मधुर कण्ठ से गाता हुआ सम्पूर्ण वातावरण को सरल संगीतमय करता फिरता है। अवसाद व दुविधा-वेदना से जीवन जब व्यर्थ, विकल, अर्थशून्य जान पड़ता है, तभी बाउल के कण्ठ से व्याकुल प्रार्थना ध्वनित होती है—

दीप मेरा चाहता तुम्हारी ही शिखा,
मौन वीणा मेरी ध्यान करती
तुम्हारी उंगलियो का ही स्पर्श;
तृष्णा से आतुर मेरा अन्धकार
ताराओ मे ढूढता संगसुधारस!

फिर भी भगवान् की ओर से जब कोई उत्तर नहीं मिलता है तब गम्भीर वेदना के आघात से आहत बाउल के रुद्ध कण्ठ से आवेग से छलछल गीत निकलता है—

जीवन भर ढूंढा
जीवन भर सोचा
कहाँ है मेरे वेदना का धन
विश्वभुवन मे वह व्याप्त है
पर, जीवन मे उसे नहीं पाया।

एक अज्ञात हताशा से गायक बाउल का प्राण हाहाकार कर उठता है; वह रोता, आकुल होकर केवल रोता जाता है। उसकी विरही आत्मा कहती है—

आ मिलो, अब तो आ मिलो
दीनबन्धु ! दीनानाथ।
तुम्हे ढूढता-ढूढता मैं थक गया हूँ
तुम्हारी राह ताकता-ताकता मैंने आँखें गँवा दिया है
अब तो आ मिलो निठुर
अब तो दर्शन दो ठाकुर !

लोक-गीत का महत्त्व
(Importance of Folk-song)

लोक-गीत अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही मोहक होता है। इसमे अलकार, छन्द, शब्द-चयन आदि का आडम्बर तो निश्चय ही नही होता है, परन्तु इसके माध्यम मे जो लोक-परम्परा झांकती है उसकी तुलना शायद किसी से भी नही की जा सकती और इसीलिए लोक-गीत का महत्त्व भी असीम हो जाता है। लोक-गीत समाज की धरोहर ही नही, लोक-जीवन का दर्पण भी है। लोक-गीतो का अध्ययन करके हम समस्त समाज के व्यक्तित्व का, अर्थात् एक समाज-विशेष की विशिष्टताओ का परिचय पा सकते हैं। इन गीतो के साथ जन-मानस की आत्मा अकित होती है और उन्हे बडे रस के साथ लोग गाते हैं। उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व-समारोह के अवसरो पर इनके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते हैं। उसी प्रकार मनोविनोद तथा उमग के समय गाये जाने वाले लोक-गीतो का अपना महत्त्व है। ये गीत विशिष्ट जनो के मनपसद होते है और मौज, मजे, आनन्द, उल्लास और विनोद के क्षणो मे तो गाये जाते ही हैं परन्तु ऋतुओ के सौन्दर्य के साथ भी इनका सौन्दर्य जुडा हुआ होता है जो कि मन को एक अनिर्वचनीय आनन्द और तृप्ति से भर देता है और जीवन की वास्तविकताओ का सामना करने की अनन्त प्रेरणाएँ प्रदान करता है। उसी प्रकार धार्मिक तथा सास्कारिक लोक-गीतो को लीजिए। "इन गीतो मे मानव-जीवन के उच्च आदर्शों तथा भगवान् की अपार शक्ति की ओर सकेत होता है। सास्कारिक गीतो से यदि मनुष्य की अन्धपरम्परा और उसके जीवन की अत्यधिक चिन्ता व्यक्त होती है तो भजन-कीर्तनो मे उसे इन वृत्तियो से मुक्त करने की चेष्टा होती है। मनुष्य जब जीवन के सताप और उसकी सीमाओ से कुठित हो जाता है, तो वह सास्कारिक लोक-गीतो की शरण लेता है। परन्तु भजन-कीर्तनो मे मनुष्य-जीवन का निराश पक्ष अवश्य प्रधान रहता है, फिर भी इनमे जीवन के सतापो से व्यथित तथा भयभीत होने की प्रेरणा नही है। भजन-कीर्तनो से मनुष्य को एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता है और उसे जीवन के सतापो को झेलने की ताकत मिलती है। पिछले तीन-चार सौ वर्षों मे पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन मे अनेक निराशाओं का समावेश होने के कारण इन गीतो का महत्त्व और भी बढ गया है।'

अत. स्पष्ट है कि मानव-जीवन के विभिन्न पक्षो की सरल तथा स्वाभाविक अभि-व्यक्ति लोक-गीतो मे जितनी मिलती है उतनी और किसी मे नही। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने

सच ही कहा है, "भारतवर्ष का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति-रिवाजों और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, जितना कि लोक-गीत कर सकते हैं।" इसीलिए अगर हम भारतवर्ष के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों की विशेषताओं से परिचित होना चाहते हैं तो उनके लोक-गीतों का अध्ययन आवश्यक है। लोक-गीतों के इस महत्त्व की अवहेलना सामाजिक मानवशास्त्र का कोई भी विद्यार्थी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि आम जनता की स्वाभाविक व्यवहार-प्रणाली किस भाँति है, उनकी प्रथा व परम्परा की अनिवार्य दिशा क्या है या रही है, उनके विश्वासों तथा विचारों की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं, इन सब मानवशास्त्रीय विषयों का विश्लेषण तथा निरूपण लोक-गीतों के अध्ययन के बिना असम्भव है। डा० दुबे ने लिखा है, "वेद और स्मृतियाँ भारतीय संस्कृति के जिन पक्षों के सम्बन्ध में मौन हैं, लोक-गीत अंशतः उनके सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं। आर्येत्तर सभ्यता की अनेक प्रथाएँ, जो आर्य-प्रभुत्त्व की स्थापना के बाद भी भारत में बनी रहीं, लोक-गीतों की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अँधेरे पृष्ठों को भी लोक-गीत और लोक-कथाओं से यदा-कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती हैं। यद्यपि लोक-गीत में किसी घटना का वर्णन होना ही इतिहास के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, फिर भी लोक-गीतों की दिशा-संकेत के आधार पर इतिहास-अन्वेषक अपने कार्य को आगे बढ़ा सकता है।"

नृत्य
(Dance)

शरीर की गतियों द्वारा उत्पन्न 'सुन्दर अभिव्यक्ति' को नृत्य कहते हैं। यह गति हाथ, पैर, आँख, शरीर के किसी अन्य अंग या सारे शरीर की हो सकती है। परन्तु केवल हाथ-पैर हिलाने से ही वह नृत्य नहीं हो जाता है जब तक वह गति, ताल और लय के नियमों के अनुसार अर्थपूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो। नृत्य में शरीर या उसके किसी अंग की प्रत्येक गति नृत्य देखने वाले तक एक विशिष्ट भाव को पहुँचा देती है। इसे नृत्य की 'मुद्रा' कहा जाता है। नृत्य की एक मुद्रा देखकर एक दर्शक कह सकता है कि उससे क्रोध का भाव अथवा उल्लास का भाव प्रगट हो रहा है।

नृत्य में शरीर की एक 'विशिष्ट' गति होती है। विशिष्ट इस अर्थ में कि नृत्य में शरीर की गति मनमाने ढंग से नहीं होती। इन गतियों में संगीत की भाँति ताल (rhythm) होती है। यह ताल या तो केवल शरीर की गति द्वारा होती है या ढोल, तबला, मृदंग आदि किसी एक वाद्य-यंत्र या एकाधिक वाद्य-यंत्रों का स्वर इसके साथ मिला रहता है। नृत्य के साथ-साथ संगीत गाया जा सकता है और नहीं भी गाया जा सकता है। आधुनिक नृत्य में विशुद्ध शरीर-मुद्राओं द्वारा समस्त भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु फिल्मी नृत्यों में बहुधा नृत्य के साथ संगीत का भी समन्वय किया जाता है। आदिवासी लोग भी नाच और गाने दोनों को ही सुन्दर ढंग से मिला देते हैं।

नृत्य संसार के सभी देशों व हर काल मे पाया जाता है। मानव जब उल्लसित हो उठता है तो वह अपने उल्लास को नाना प्रकार से प्रगट करना चाहता है। नृत्य भी उस उल्लास को प्रगट करने का एक साधन है। केवल उल्लास ही नहीं अन्य प्रकार के मनोभाव को भी नृत्य के माध्यम से प्रगट किया जा सकता है। आदिवासियो मे नृत्य की लोकप्रियता सभ्य समाज से कहीं अधिक है। वहां तो बच्चा-बच्चा नृत्य का शौकीन होता है। जनजातीय समाजो की परम्परा के अनुसार उनके प्रत्येक उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, पर्व-समारोह, मनोविनोद तथा उमंग के समय तथा धार्मिक एवं सांस्कारिक समारोह का नृत्य एक अनिवार्य अंग है। इसके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते हैं।

जनजातीय समाजों में उत्सव, त्योहार आदि के अवसर पर स्त्री-पुरुष सब मिलकर नाचते-गाते हैं। नाचते समय वे लोग प्रायः घेरा बनाकर नाचते हैं। दो पंक्तियो मे आमने-सामने खड़े होकर भी नाचा जाता है। इन पंक्तियों मे किसी-किसी समाज मे स्त्री-पुरुष मिल-जुलकर नाचते हैं। ऐसी दशा मे प्रत्येक पंक्ति मे स्त्री और पुरुष दोनो ही होते हैं। पर किसी-किसी जनजातीय समाज मे एक पंक्ति केवल पुरुषों की होती है और दूसरी केवल स्त्रियों की। जोड़े में नाचने की रीति भी अनेक जनजातीय समाजो मे लोकप्रिय है। अण्डमानी-लोगो मे स्त्रियां नृत्य में सम्मिलित नहीं होती। पॉलीनेशिया, अफ्रीका आदि मे नाचते हुए घेरा बनाने की रीति है। वे लोग नाचते हुए बहुधा दो घेरे बना लेते हैं—स्त्रियां अन्दर के घेरे में और पुरुष बाहर के घेरे मे आ जाते हैं।

वास्तव में प्रत्येक जनजाति मे नृत्य का अपना-अपना तरीका होता है, फिर भी इन समाजों में सामूहिक नृत्य का अधिक प्रचलन है। सामूहिक नृत्य भी अनेक प्रकार से किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पॉलीनेशिया के लोग बैठे-बैठे शरीर की गतियाँ करते हैं; उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इण्डियन प्रत्येक ताल पर घुटने झुकाकर, हथेली सामने कर और शिरोभाग को कम्पन देते हुए नाचते हैं।[1] कहीं-कहीं पर एक-दूसरे की कमर पकड़कर नाचा जाता है और किसी-किसी समाज में नाचने के दौरान मे उछल-कूद का बोलबाला होता है।

जनजातियो मे 'अनुकरण-नृत्य' (mimetic dancing) का अधिक प्रचलन है। वे तरह-तरह के चेहरे लगाकर अपने को शिकारी, जादूगर, राजा अथवा कोई जानवर के रूप में प्रस्तुत करते हैं और फिर उसी के अनुसार नृत्य करते हैं। अगर वह राजा के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है तो राजा के प्रमुख व्यवहारों की नकल वह करता है और नाचते हुए नाना-प्रकार की अंग-भंगिमा के द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। अगर वह शिकारी के रूप मे नृत्य करता है तो वह नृत्य के द्वारा शिकार करने, शिकार फँसाने तथा उसे मारने की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को प्रस्तुत करता है। बुशमेन, आस्ट्रेलिया, कैलीफोर्निया तथा भारत की कुछ जनजातियाँ इस प्रकार के नृत्य मे बहुत कुशल होती हैं।

1. *Ibid.*, p. 605.

भारत में लोक-नृत्य
(Folk-dance in India)

भारत के विभिन्न राज्यों में लोक-नृत्य के असंख्य रूप देखने को मिलते हैं। इनमे नृत्य-भंगिमा, छन्द, गीत, वाद्य-यंत्र व साज-पोशाक में जो विलक्षणता और अन्तर देखने को मिलता है उस आधार पर किसी भी राज्य या प्रदेश के लोक-नृत्य की श्रेष्ठता का विचार करना वास्तव में कठिन कार्य है। उदाहरणार्थ, काठियावाड़ के रास-नृत्य की तुलना अगर उत्तरी-पूर्वी प्रान्त के नागा सम्प्रदाय के नृत्यों के साथ की जाय तो हम यह देखेंगे कि इन दोनों प्रकार के नृत्यों मे बहुत अधिक अन्तर है। साधारण दर्शक रास-नृत्य को ही अधिक उत्तम मान लेंगे परन्तु नागा लोगों के नृत्य मे जो सहज और सरल छन्दमय एक माधुर्य है उसकी उपेक्षा भी शायद ही की जा सकती है। वास्तव में बाहरी भेद होते हुए भी सभी भारतीय लोक-नृत्यों की कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जिन्हें कि निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) अधिकतर भारतीय लोक-नृत्य दलबद्ध सामाजिक नृत्य हैं। ये नृत्य व्यावसायिक नृत्य नहीं हैं। व्यावसायिक-नृत्य में थोड़ा-बहुत चामत्कारिक या तड़क-भड़क होनी स्वाभाविक है, ताकि दर्शकों का ध्यान आकर्षित हो। लोक-नृत्य मे यह नहीं होता। अन्य शिल्प-कलाओं की भाँति लोक-नृत्य का उद्देश्य भी समाज के सामूहिक जीवन को पूर्णता प्रदान करना है। इस कारण इसका कलाकार नृत्य मे अंश ग्रहण करता है दूसरों का ध्यान आकर्षित करने या आजीविका-पालन करने के लिए नहीं बल्कि आत्म-सन्तोष तथा आत्म-विनोद के लिए।

(2) दलबद्ध लोक-नृत्य एकता और समरूपता का नृत्य है। यह है एक साथ, एक छन्द में सबका नृत्य। इसीलिए नाचते समय सबका हृदय एक प्रकार की एकता और मिलन के सूत्र मे बँध जाता है। नृत्य में जो लोग भाग लेते हैं वे विभिन्न आयु, विचार तथा मनोवृत्ति के आदमी होते हैं। परन्तु नाचने के समय मन तथा शरीर की ये सब भिन्नताएँ स्वतः ही दूर हो जाती हैं और वे सब अपने भेद-भाव को भूलकर एक तन और एक मन होकर नृत्य में भाग लेते हैं। एकता का वातावरण लोक-नृत्य की ही नहीं, सम्पूर्ण समाज की एक अमूल्य सम्पदा है क्योंकि सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

(3) छन्द की गति लोक-नृत्य की एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु है। नृत्य का प्रारम्भ किसी भी लय से क्यों न हो, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे छन्द की गति बढ़ती रहती है। किन्तु यह परिवर्तन इतने सहज व स्वाभाविक ढंग से होता है कि नृत्य मे भाग लेने वाले लोग उसे अनुभव ही नहीं करते। द्रुत छन्द की गति के समय नाचने वालों को काफी शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है परन्तु उस समय वे लोग नृत्य के आनन्द-सागर मे इस भाँति डूबे रहते हैं कि शारीरिक परिश्रम का प्रश्न ही उनके मन में नहीं उठता है। छन्द की गति बढ़ने का भी यही कारण है। लोगों मे धीरे-धीरे आनन्द की धारा जोश के रूप में एकत्रित होती रहती है जिसकी बाहरी अभिव्यक्ति छन्द की गति में वृद्धि

के रूप मे होती है। नृत्य का उन्मादक आनन्द नाचने वाले के छन्द मे गति ला देता है जो कि धीरे-धीरे बढ़ता ही चला जाता है। भरपूर आनन्द में शिल्पी झूमता रहता है। लोक-नृत्य की यही सार्थकता है।

(4) भारतवर्ष का अधिकतर लोक-नृत्य गीत तथा ताल देने वाले वाद्य-यंत्रों के साथ प्रस्तुत किया जाता है। और केवल ताल देने वाले वाद्य-यंत्र (जैसे, ढोल, ढोलक, मृदंग आदि) ही नही, बल्कि अन्य प्रकार के वाद्य-यंत्र, जैसे बाँसुरी, शहनाई, तुरही आदि का भी सम्मिलन बहुधा होता है। परन्तु ऐसे भी लोक-नृत्य होते हैं जिनमे कि किसी भी प्रकार के वाद्य-यंत्र का प्रयोग नहीं किया जाता; केवल नाचने वाले मुँह से या ताली बजाकर ताल देते रहते हैं। भिन्न-भिन्न तरह के नृत्यो के साथ अलग-अलग तरह के गीत गाये जाते हैं। इस सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन गीतों के भाव के साथ दलबद्ध लोक-नृत्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् गीत के शब्दों से जो अर्थ प्रगट होता या उसी अर्थ को नृत्य की मुद्राओं या अंग-भंगिमाओ के माध्यम से प्रकाशित करने का प्रयत्न नही किया जाता।

(5) लोक-नृत्य मे प्रयोग की जाने वाली पोशाक मे जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताएं अवश्य ही होती हैं। ऐसे भी भारत के प्रत्येक प्रदेश में वेश-भूषा मे पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। नृत्य के समय भी शिल्पी अपने प्रदेश की विशिष्ट वेश-भूषा को ही शोभन व सुन्दर रूप मे पहनते हैं। नृत्य के समय शिल्पी अपनी रुचि के अनुसार नाना रग की तथा नाना प्रकार की बेल-बूटेदार वेश-भूषा को व्यवहार करते हैं। ये पोशाकें दैनिक जीवन मे नही पहनी जाती।

(6) भारतीय लोक-नृत्य बहुधा गोल घेरा बनाकर नाचा जाता है; परन्तु कभी-कभी एक या एकाधिक पक्ति बनाकर भी नाचा जाता है।

(7) लोक-नृत्य के साथ जो लोग वाद्य-यंत्रों को बजाते हैं वे आधुनिक नृत्य मे बाजा बजाने वालो की भाँति एक कोने मे या पर्दे की ओट मे बैठकर वाद्य-यंत्र को नहीं बजाया करते। उनका इससे कही अधिक सक्रिय भाग नृत्य मे होता है। यह भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण नृत्य मे वे एक अभिन्न अग के रूप मे क्रियाशील रहते हैं। वे नाचने वालों के बीच, सामने, बगल या उनके चारों ओर उपस्थित रहकर वाद्य-यंत्रों को बजाते हुए अपने शरीर के विभिन्न अगों को प्राय: उसी प्रकार हिलाते रहते हैं जैसा कि नाचने वाले कर रहे हैं।

उपरोक्त विशेषताओ को और भी स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण के रूप में हम 'कुमायूँ के उल्लासमय लोक-नृत्य'[1] का विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

कुमायूँ के लोक-नृत्य—कुमायूँ के लोक नृत्य भी अपने ढंग के निराले ही हैं। इन लोक-नृत्यो मे कुमायूँ के जन-जीवन का हास-उल्लास सभी कुछ अभिव्यक्त है। साधारण त्योहार, मेल-मिलाप और मेले के अवसरो पर कुमायूँ के युवक और युवतियाँ मिल-जुलकर अपने लोक-नृत्यों मे मस्त दिखाई देते हैं।

---

1. Exclusively based on Shree Umashanker Satish's article in 'Dharmyug', July 12, 1959, p. 25.

कुमायूँ के लोक-नृत्यों में 'चांचरी' और 'छपेली' अपना विशेष महत्त्व रखते हैं और यही यहाँ के लोकप्रिय नृत्य माने जाते हैं। 'चांचरी' लोक-नृत्य सर्वाधिक लोकप्रिय है। एक वृत्ताकार मण्डल में स्त्री-पुरुष एकत्र होकर चांचरी नृत्य शुरू करते हैं। इसमें भाग लेने वाले नाना रंग की वेश-भूषा तथा नाना प्रकार के आभूषणों से अपने को सजाकर आते हैं। ऊँचे पर्वतों की गोद में मस्त छिटकी हुई चाँदनी के मोहक प्रकाश में कुमायूँ के तरुण और तरुणियाँ भी चांचरी नृत्य करते हुए मस्ती में झूम उठते हैं। अपना हुड़का (एक प्रकार का छोटा ढोलक जैसा बाजा) लेकर हुड़किया वृत्त के बीच में हुड़का बजाता हुआ, गीत के अलाप लेता हुआ, स्वयं भी नाचता है; और उसकी हुड़की की ताल के साथ-साथ वृत्त में बाजू-से-बाजू मिलाये हुए स्त्री-पुरुष गीत गाते हुए मस्ती से नाचते और झूमते रहते हैं।

दो तारों से बना हुआ 'दोतारा' कितना मधुर संगीत देता है। चांचरी नृत्य के साथ गाये जाने वाला गीत भी यही कहता है—

> धो तारी को तार तिलका दो तारी को तार,
> ऊनी रौ यो दिनमाशा हो उन रौं बहार।

अर्थात् मेरा-तेरा मिलन उस जीवन-संगीत की सर्जना करेगा जिसकी सर्जना दोतारे का संगीत करता है। यह दिन और यह मास इसी प्रकार आते रहें और आती रहे ऐसी ही बहार भी।

इस प्रकार की गीत की लड़ियों के साथ चांचरी नृत्य चलता रहता है। हुड़किया बदलते हैं, गायक बदलते हैं—आराम लेते हैं और नये-नये कलाकार नाचने के हेतु वृत्त में प्रवेश करते हैं। घेरे कभी-कभी दो बन जाते हैं—स्त्रियाँ अन्दर के घेरे में और पुरुष बाहर के घेरे में आ जाते हैं। चाँदनी बेचारी थककर सो जाती है, पर चांचली में चंचल चरण मानो रुकना ही नहीं जानते।

कुमायूँ का दूसरा लोकप्रिय नृत्य 'छपेली' है। हुड़किया अपनी हुड़की के लिए, अपनी आकर्षक वेश-भूषा में नाचता है और कुमायूँ की रूपसी अपने रंग-बिरंगे घाघरा और सदरी, मोतियों की माला, सोने-चाँदी के जेवरों से लदी हुई और शीश-रूमाल के साथ युवक के नयनों से कटाक्ष करती हुई झूम-झूमकर नाचती है। एक ओर मस्ती से गाते, तालियाँ बजाते तरुण-तरुणियाँ खड़े दोनों का नृत्य देखते रहते हैं। गीत और उसके भाव इस प्रकार हैं—

> बेड़ु पाको बारमासा हो नारैण काफल पाको चैता मेरी छैला।
> भड़ा-भूका दिन आया हो नारैण पूजा मेरा मैता मेरी छैला।
> तेरा खुटा कानो बुडो हो नारैण मेरा खोटा पीड़ा मेरी छैला।
> मेरो हियो भरी ऊ छ हो नारैण जसो नैनीताल मेरी छैला।

अर्थात् गूलर बारह महीने पकता रहता है; और काफल केवल चैत में ही। समय चूक गया तो फिर हाथ नहीं आता। लो, गर्मी के उदासीन दिन भी लौट आये। मायके की स्मृति में रूपसी का हृदय भर आता है जैसे नैनीताल का ताल; और तब प्रेमी प्रेम-भरे स्वरों में कहता है, ओह! मेरी छैला, उस पहाड़ की चोटी पर तुम कौन हो, मोकेर धारे के समान आओ, शान्ति के प्रीति-गीत गायें।

SELECTED READINGS

1 Boas and Others : *General Antluogolog* D C Heath & Co , New York, 1938.

2. Dubey, S C. : *Manava aur Sanskriti*, Raj Kamal Prakasuan Delhi, 1960

3 Herskovits, M. J. . *Man and His Works*, Alfred A Knopf, New York, 1956.

16 पौराणिक कथाएँ तथा लोक-गाथाएँ
(Mythology and Folk-Tales)

'कल्पना' मानव का आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव धरती को छोड़कर स्वर्ग या नरक तक घूम आता है, आकाश की सैर करता है। कल्पना की लम्बी उड़ान उसे कहीं भी ले जा सकती है और एक वैचित्र्यपूर्ण नव-लोक की सृष्टि कर सकती है। सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि दोनों के लिए ही कुछ-न-कुछ कल्पना की आवश्यकता होती है और ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानव में नैसर्गिक रूप से विद्यमान होती हैं और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य, पौराणिक कथा तथा लोक-गाथा के रूप में होती है। पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं में कल्पना की सहायता सर्वाधिक ली जाती है और उससे एक कथा, गाथा या कहानी खड़ी की जाती है जिसे कि दूसरों को सुनाकर अपनी कल्पना को सार्थक किया जाता है। डा० दुबे ने लिखा है कि "मानवीय कलाओं में कहानी कहने की कला अत्यन्त प्राचीन है। लेखक *के आविष्कार के सहस्रों वर्ष पूर्व ही मानवीय मस्तिष्क ने अपनी वैचित्र्यपूर्ण अनुभूतियों* को कथा का रूप देना आरम्भ कर दिया था, और इन कहानियों के माध्यम से उसके अपरिपक्व, अस्पष्ट जीवन-दर्शन की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति हुई थी।

पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं में अन्तर
(Distinction between Myths and Folk-tales)

श्री बोआस (Boas) का मत है कि पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचना प्रायः असम्भव है। इसका कारण यह है कि एक ही कहानी पौराणिक कथा और लोक-गाथा दोनों ही रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है। अगर हम पौराणिक कथाओं को प्राकृतिक घटनाओं (natural phenomena) से सम्बन्धित मानें तो भी कठिनाई यह है कि लोक-गाथाओं का सम्बन्ध भी प्राकृतिक घटनाओं से हो या नहीं हो सकता है। धार्मिक आधारों पर भी इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों में ही धर्म के तत्त्व मौजूद हो सकते हैं।[1] फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हम इन दोनों में निम्नलिखित भेद को आधार मान सकते हैं—

पहला अन्तर तो यह है कि पौराणिक कथा प्राचीन काल से ही अधिकतर सम्बन्धित होती है जबकि लोक-गाथाएँ अधिक-से-अधिक 'बहुत दिन पहले की बात' होती हैं।

1. Franz Boas, 'Mythology and Flolkore', *General Anthropology*, D.C. Heath and Co., New York, 1938, p. 609.

दूसरा अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओ की विषय-वस्तु मे सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-देवताओ का वर्णन, प्राकृतिक घटनाओ (natural phenomena) जैसे जल, पृथ्वी, आकाश, वायु आदि के रहस्यो का विश्लेषण तथा निरूपण होता है। इसके विपरीत लोक-गाथाओ की विषय-वस्तु मानव स्वय—या तो सुख-दुख का साधारण मानव या राजा, रानी, राजकुमार और राजकुमारी के रूप मे मानव—होता है। बहुधा मानव को छोड-कर लोक-गाथाएँ अपने अन्दर भूत, प्रेत, चुड़ैल, दानव आदि को भी समेट लेती हैं। **तीसरा** अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओ का उद्देश्य सृष्टि, प्रकृति या देवी-देवताओ से सम्बन्धित गहन तत्त्वो की गहराई मे जाने का प्रयत्न करना और उनके रहस्यो को उद्घाटित करके प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे ज्ञान-वर्धन करना होता है। पौराणिक कथाओ मे धार्मिक हितोपदेश के तत्त्व भी कभी-कभी छिपे होते हैं। इसके विपरीत लोक-गाथाओ का उद्देश्य मुख्यत मन बहलाना या मनोरजन करना ही होता है, यद्यपि इनके माध्यम से भी किसी-न-किसी प्रकार के उपदेश, आदर्श या सामाजिक मूल्य को प्रस्तुत करने का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रयत्न किया जाता है।

पौराणिक कथा
(Mythology)

पौराणिक कथा का अर्थ
(Meaning of Mythology)

उपरोक्त विवेचना से ही पौराणिक कथा की प्रकृति तथा अर्थ बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया है। यहाँ पर सक्षेप मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पौराणिक युग से सम्ब-न्धित वे कथाएँ, जिनमे सृष्टि या ससार की उत्पत्ति, देवी-देवताओ का वर्णन और प्राकृतिक घटनाओ के तत्त्वो का निरूपण हो उन्हे पौराणिक कथाएँ कहते हैं। एक विद्वान ने पौराणिक कथा को 'बालक-सुलभ दर्शन' कहकर परिभाषित किया है। कुछ लोगो का मत है कि केवल उन कथाओ को ही पौराणिक कथाओ के अन्तर्गत सम्मिलित करना चाहिए जिनके माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का वर्णन किया जाय। परन्तु पौराणिक कथाओ का वह एक सकुचित अर्थ होगा। इन कथाओ मे केवल सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का ही वर्णन नही होता, वरन् अन्य अनेक दैवीय घटनाओ का वर्णन भी होता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की जनजातियाँ अपने पूर्वजो के भूत-प्रेतो के साथ युद्ध, जादू-गरनियो और डायनो के साथ उनकी मुठभेड़ आदि के सम्बन्ध मे भी अनेक दैवीय घटनाओ का उल्लेख पौराणिक कथाओ मे करती हैं। उसी प्रकार कोरयक (Koryak) जनजाति के पुजारी की दुष्ट प्रेतात्मा के साथ हाथापाई या ईसाइयो के सन्त-महन्तो का शैतान के साथ युद्ध का जो वर्णन मिलता है, वे सभी पौराणिक कथाएँ हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे कथाएँ जो कि मानव तथा विश्व की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत्, मानव-शरीर, जीवन तथा सस्थाओ से सम्बन्धित हैं, उन्हे पौराणिक कथा कहते हैं।

पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति
(Origin of Mythology)

अज्ञात के विषय मे जानने की इच्छा मानव की एक निरन्तर इच्छा है जो कि शायद उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं मानव और उसका समाज। आदिमानव अपने को देखता है, अपने आस-पास के 'जगत्' को देखता है, प्रकृति की अनेक घटनाएँ—जल, पृथ्वी, वायु, आकाश, नदी, समुद्र, पहाड़, आँधी, वर्षा आदि को देखता और चकित होता है। ये सब कब बने, कैसे बने और किसने बनाये — ऐसे ही अनेक प्रश्न आदिमानव के मन और मस्तिष्क के द्वार पर बार-बार आघात कर जाते हैं और उसे इन विषयों पर सोचने-विचारने के लिए बाध्य करते हैं। आदिमानव सोचता है और सोचकर अपनी योग्यता व अनुभव के अनुसार वह एक सम्भावित उत्तर ढूंढ भी निकालता है और उसे दूसरों को कहकर सुनाता है। यहीं से पौराणिक कथा का बीजारोपण होता है। चूंकि मानव को हर चीज की व्याख्या के लिए किसी-न-किसी आधार की आवश्यकता होती है, इसलिए वह कभी देव-देवी को, तो कभी साधु-सन्त को, तो कभी सूर्य-चन्द्र या पशु-पक्षी को व्यक्ति के रूप मे मानकर अपनी कथा को विश्वासयोग्य बनाने का प्रयत्न करता है। इसी रूप मे मानव अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही नही, बल्कि अपनी आशा, आकाक्षा, आदर्श तथा इच्छाओं को अभिव्यक्त करने का भी एक साधन ढूंढ लेता है। यहीं से पौराणिक कथाओं का इतिहास प्रारम्भ होता है।

कुछ लोगों का कथन है कि पौराणिक कथा केवल कल्पना की लघु उड़ान मात्र (light play of imagination) है। परन्तु ऐसा नही है। श्री बोआस (Boas) का कथन है कि पौराणिक कथाओं की विषय-वस्तु का महत्त्व तथा जिस गम्भीरता से इस विषय-वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है उसे देखते हुए यह कहना अधिक उचित होगा कि पौराणिक कथाएँ संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, सांस्कृतिक कृतियों तथा पवित्र संस्कारों के सम्बन्ध में मानव के सुचिन्तन का ही परिणाम है।[1]

श्री हैडले के अनुसार, "वस्तुओं की उत्पत्ति की समस्या के सम्बन्ध में मनुष्य की कल्पना-शक्ति ने समय-समय पर जो उत्तर दिया है, पौराणिक कथाएँ उनका प्रतिनिधित्व करती हैं।" लार्ड रेगलेन ने इस विचार का विरोध करते हुए लिखा है कि श्री हैडले का यह कहना गलत है कि पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति केवल कल्पना व कौतूहल के फल-स्वरूप हुई है। वास्तव मे पौराणिक कथाएँ वस्तु-स्थिति का यथार्थ चित्र हैं क्योंकि आदि-मानव को ऐसी किसी वस्तु मे रुचि नहीं होती जो उसकी चेतना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न करती हो। इस कारण, लार्ड रेगलेन के अनुसार, पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति मे कौतूहल को आधार मानना अनुचित है क्योंकि कौतूहल का न केवल आदिकालीन समाज मे सर्वथा अभाव है, वरन् वह अपेक्षाकृत सभ्य समाजों मे भी बहुत कम पाया

1. "The importance of the subject-matter and the seriousness with which they are treated suggest that they are the result of thought about the origin of the world and of wonder about cultural achievements and the meaning of sacred rites."—*Ibid.*, p. 616.

जाता है। लार्ड रेगलेन के इस मत से वे सभी विद्वान असहमत हैं जिन्हें आदि समाजों और आदिवासियों को अधिक निकट से देखने तथा जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। श्री वैरियर एलविन (Verrier Elwin) ने लार्ड रेगलेन के उपरोक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है, "मैं केवल यही कल्पना कर सकता हूँ कि आदिवासियो के सम्बन्ध मे लार्ड रेगलेन का ज्ञान उतना ही है जितना कि किसी अज्ञात कुत्ते का पशुओ के एक झुण्ड के विषय में होता है। व्यक्तिगत अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि आदिवासी प्राय कभी भी उतने जड़ नहीं होते जैसे कि वे प्रथम दृष्टि मे प्रतीत होते हैं। कौतूहल-शून्य होना तो दूर रहा, उनमे से अनेक अपना बहुत-सा समय अतिशय असाधारण विचारो और कल्पनाओ मे व्यतीत करते हैं।"

अतः स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत् की अनेक आश्चर्यजनक घटनाओ तथा मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के सम्बन्ध मे जिज्ञासा आदिमानव के मन मे होती है जिसके फलस्वरूप वह उन विषयो के सम्बन्ध मे सोचता-विचारता या कल्पना करता है और अपने अनुभव या पूर्व ज्ञान के आधार पर उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। पौराणिक कथाओ की उत्पत्ति का यही आधार है।

पौराणिक कथाओं की विशेषताएँ
(Characteristics of Mythology)

(1) **व्यक्तिकरण** (Personification)—पौराणिक कथाओ की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमे पशु, पक्षी, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, यहाँ तक कि पेड़-पौधे तक को व्यक्ति का रूप दे दिया जाता है और इसीलिए पौराणिक कथाओ मे पेड़-पौधे से लेकर पशु-पक्षी, सूर्य-चन्द्र तक सभी व्यक्ति की भांति व्यवहार कर सकते हैं, बोल सकते हैं, यहाँ तक कि मानव-शिशु को भी जन्म दे सकते हैं। कुछ विद्वान इसका कारण यह बताते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पेड आदि की शक्ति से आदिमानव बहुत ज्यादा प्रभावित था। इन्हे व्यक्ति के रूप मे मान लेने से कथा कहने मे भी सरलता होती थी।

(2) **कल्पना और दर्शन का मिश्रण**—पौराणिक कथाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमे कल्पना और दर्शन का एक अपूर्व मिश्रण होता है। आदिमानव किसी विषय मे गम्भीरतापूर्वक सोचता है। परन्तु इस सोचने की प्रक्रिया का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण उसे कल्पना की सहायता लेनी ही पड़ती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि पौराणिक कथाओं को कोरी कल्पना की उड़ान मान लिया जाय। वास्तव मे, सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति, गुण आदि गम्भीर विषय हैं। इनके विषय मे मानव को सन्तोषप्रद उत्तर तब तक नही मिल सकता जब तक वह उनके विषय मे गम्भीर चिन्तन न करे। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि मानव दार्शनिक के रूप मे, कल्पना की सहायता लेते हुए, सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयो के सम्बन्ध मे जिस निष्कर्ष पर आया है वही पौराणिक कथाओ के रूप मे विकसित हुआ है।

(3) **प्राचीनता**—पौराणिक कथा वर्तमान युग की कथा नही होती है। इसका सम्बन्ध तो पौराणिक काल से ही होता है। प्राय. पौराणिक कथा एक ऐसे युग से

सन्दन्प्रित होती है जिसके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। यह विशेषता पौराणिक कथाओं को प्रभावपूर्ण करने में सहायक सिद्ध होती है। चूंकि पौराणिक कथा में जो कुछ कहा गया है वह सच है या झूठ, यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता; इस कारण उसके प्रति लोगों का विश्वास बना रहता है और मानव-मस्तिष्क पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है।

(4) कोई सामान्य रूप नहीं—पौराणिक कथाओं में कोई एक सामान्य शैली व रूप नहीं होता। किन्हीं-किन्हीं कथाओं में अलंकार का आधिक्य होता है, और कुछ कथाओं में आश्चर्यजनक सरलता। पौराणिक कथाओं को कहानी के रूप में ही अधिकतर प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु कविता, गीत या नाटक के रूप में भी उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी-किसी पौराणिक कथा में साहित्यिकता का नाम तक नहीं होता और किसी-किसी में यह तत्त्व कूट-कूटकर भरा होता है। उसी प्रकार कुछ पौराणिक कथाएँ अति सरल ढग से प्रस्तुत की जाती हैं और कुछ कथाएँ बोझिल तथा पाण्डित्यपूर्ण होती हैं। कुछ कथाओं को कुछ मिनटों में सुनकर समाप्त किया जा सकता है और कुछ को सुनकर समाप्त करने में कई सप्ताह और मास तक लग जाते हैं।

पौराणिक कथाओं का महत्त्व
(Importance of Mythology)

मानव-जीवन में, विशेषकर आदिमानव के जीवन में पौराणिक कथाओं का अत्यधिक महत्त्व है। संक्षेप में, इसकी विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(क) श्री अनातोले फ्रांस (Anatole France) के शब्दों में, "राष्ट्र अपनी पौराणिक कथाओं पर जीवित रहता है; अपनी लोक-गाथाओं से वे जीवन के लिए आवश्यक विचार ग्रहण करते हैं। उन्हें अधिक आवश्यकता नहीं होती; थोड़ी-सी उपदेशात्मक कथाएँ ही लाखों प्राणों को प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त होती हैं।"[1] इस अर्थ में पौराणिक कथाएँ मानव-जीवन के लिए आवश्यक प्रेरणा का मूल स्रोत हैं। पौराणिक कथाओं के माध्यम से मानव को एक नवीन बातों का पता चलता है, अनेक नवीन सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों (values) से उसका परिचय होता है जिससे वह अपने जीवन के भावी कार्यक्रम को निश्चित करता है और जीवित रहने की प्रेरणा पाता है। इस प्रकार पौराणिक कथाएँ वह नींव प्रदान करती हैं जिसपर कि समाज के आचार-विचार आश्रित होते हैं।

(ख) डा० दुबे के अनुसार, पौराणिक कथाओं में "लोक-जीवन की भौतिक एवं धार्मिक चेतना का मूल स्रोत निहित रहता है। अन्ततः ये मानव-समुदायों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं जीवन-मूल्यों को निश्चित कर लोक-जीवन को स्थिरता और स्थायित्व

1. "Nations live on mythology. From legends they draw all the ideas necessary to their existence. They do not need many, and a few simple fables will suffice to build millions of lives."—Anatole France, quoted from M. J. Herskovits, *Man and His Works*, Alfred A. Knopf, New York, 1956, p. 414.

देती हैं।" इस अर्थ मे सामाजिक निरन्तरता को बनाये रखने के लिए आवश्यक सामाजिक अन्त.क्रियाओं मे जो-जो चीजें महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती हैं, उनमे पौराणिक कथाएँ भी एक हैं। पौराणिक कथाओ के माध्यम से मानव अपने समाज के अतीत (past) की झाकी देखता है और उस 'आदर्श रूप' को फिर से लौटा लाने का प्रयत्न करता है।

(ग) व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी पौराणिक कथाओं का महत्त्व कम नही है। यद्यपि इन कथाओ को मनोरंजन का साधन मात्र ही मानना उचित न होगा, फिर भी इन कथाओ को सुनते समय इन पर विश्वास करने वाले सासारिक कष्ट को भूल जाते हैं और सब भूलकर एक आनन्द का अनुभव करते हैं—कभी हँसते हैं तो कभी भक्ति और आनन्द मे विभोर होकर रो पडते हैं। जीवन के सघर्ष मे रत मानव इन कथाओ मे बहुत-कुछ देखता और पाता है। मानव-जीवन मे इनका अपना एक महत्त्व है। विपदाओ के समय मे मनुष्य कोई सहारा चाहता है। पौराणिक कथाएँ युगो से उसे सहारा देती आयी हैं और मानव को मानसिक सतोष प्राप्त हो सका है।

(घ) सामाजिक दृष्टि से पौराणिक कथाओ का एक महत्त्वपूर्ण कार्य मानव के व्यवहार को नियमित व निर्देशित करके सामाजिक नियन्त्रण मे योगदान करना है। अनेक पौराणिक कथाओं को लोग सामान्य कहानी या किस्सा कदापि नही मानते, बल्कि उनका दृढ विश्वास होता है कि वे कथाएँ बीते हुए युगो की वास्तविक व सत्य घटनाएँ हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मानव-मस्तिष्क पर उन कथाओ का गहरा तथा निश्चित प्रभाव पडता है। यह प्रभाव मानव को स्वाभाविक ढग से अपने वश मे कर लेता है। फलत. ये कथाएँ बहुत सीमा तक मानव-व्यवहार की दशा को निर्धारित करती हैं और मानव अपने जीवन को पौराणिक कथाओ मे प्रस्तुत आदर्शों के अनुरूप निश्चित करता है। सामाजिक नियन्त्रण का काम पौराणिक कथाएँ बहुत सरलता से इस कारण भी कर सकती हैं क्योंकि इन कथाओ मे लोक-समुदाय का धार्मिक विश्वास तथा जादू-टोने का तत्त्व भी बहुधा स्पष्ट रूप से सम्मिलित होता है। धार्मिक क्रियाओ से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होने के कारण इन कथाओ का प्रभाव व्यक्ति पर और भी गहरा तथा वास्तविक होता है। सामाजिक नियन्त्रण मे, या व्यक्ति के व्यवहार को नियमित तथा नियन्त्रित करने मे इन सब तत्त्वों का अत्यधिक महत्त्व होता है।

(ङ) मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ये पौराणिक कथाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनका अध्ययन करके हम एक समाज की परम्परा, आदर्श व सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ अनुमान कर सकते हैं। लोक-मस्तिष्क की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति व गुण के विषय मे भी स्पष्ट ज्ञान हमे पौराणिक कथाओ के माध्यम से हो सकता है। पौराणिक कथाओ के अध्ययन से आदि-मस्तिष्क की साहसपूर्ण कल्पना का भी आभास हमे हो सकता है।

पौराणिक कथाओं के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Mythology)

पौराणिक कथाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। परन्तु डा० दुबे ने उन्हे चार

प्रमुख भागों में बांटा है—(1) मानव तथा विश्व की उत्पत्ति से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ, (2) प्राकृतिक जगत् से सम्बन्धित, (3) मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित और (4) मानवीय संस्थानों से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ। इनमें से प्रत्येक प्रकार की पौराणिक कथाओं के एक-दो उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव की उत्पत्ति कैसे हुई, इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा बाइबल की है और वह यह कि मानव की सृष्टि करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम परमात्मा ने मिट्टी का पुतला बनाया और उसमें फूंक मार दी तो जिन्दा इन्सान पैदा हो गया। फिर परमात्मा ने उसकी पसली की एक हड्डी को लेकर स्त्री को बनाया। उसी प्रकार कैथोलिक धर्म में प्रचलित एक कथा इस प्रकार है कि आदम तथा ईव ने स्वर्ग में ज्ञान के वृक्ष के फलों को खा लिया था। इस अपराध के दण्डस्वरूप ईश्वर ने उन दोनों का स्वर्ग से बहिष्कार कर दिया और उन्हें पृथ्वी पर आना पड़ा। उनको बहिष्कार करते समय ईश्वर ने उन्हें वह दण्ड दिया कि अब से ईव और उसकी कन्याएँ कष्ट से बच्चे को जन्म देंगी और आदम व उसके पुत्रों को एड़ी-चोटी का पसीना एक करके रोटी कमानी होगी।

विभिन्न मानव-प्रजातियों का जन्म कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में अति रोचक पौराणिक कथा ग्रेट स्मोकी पहाड़ के चेरोकी इण्डियनों में प्रचलित है। इस कथा के अनुसार सृष्टि के निर्माता ने एक तन्दूर गर्म किया, आटा साना और इस सने आटे की तीन मूर्तियाँ बनायीं। इन्हें पकाकर मनुष्य बनाने के लिए उस सृष्टिकर्त्ता ने इन तीनों मूर्तियों को तन्दूर की आग में रख दिया। उसे यह जनाने की बड़ी उत्सुकता थी कि उसका बनाया हुआ मनुष्य कैसा होगा। उसी उत्सुकता के कारण सृष्टिकर्ता ने झट से एक मूर्ति को बाहर निकाल लिया। मनुष्य की यह मूर्ति अधपकी थी। इस कारण इसका रंग सफेद था। परन्तु अब उसे फिर आग में रखा भी नहीं जा सकता था क्योंकि तन्दूर में से निकालते ही वह जीवित हो गई थी। इससे श्वेत प्रजाति की उत्पत्ति हुई। परन्तु सृष्टिकर्ता इससे संतुष्ट न हुआ। इसके कुछ बाद उसने दूसरी मूर्ति को निकाला। यह पक चुकी थी, इस कारण इसका रंग लाल था। इस मूर्ति से रेड इण्डियन (Red Indian) लोगों की उत्पत्ति हुई। अपनी इस अति सुन्दर सृष्टि को देखकर सृष्टिकर्त्ता आनन्द में इतना विभोर हो गया कि वह भूल गया कि तन्दूर में अभी एक मूर्ति और पड़ी है। पर जब वह मूर्ति जलने लगी और उससे धुआं निकलने लगा तो सृष्टिकर्ता का ध्यान उस पर गया। उसने झट उस मूर्ति को तन्दूर में से निकाला। पर तब तक वह मूर्ति जलकर काली हो चुकी थी। इससे नीग्रो प्रजाति का जन्म हुआ।

कमार जनजाति में पृथ्वी की उत्पत्ति व निर्माण के सम्बन्ध में एक रोचक पौराणिक कथा प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है—एक बार महादेवजी ने इस संसार को नये तौर पर बनाने के लिए सब-कुछ का विनाश करने का निश्चय किया। एक वृद्धा को इस बात का पता चला। वह भागकर पति के पास गई और उससे सब-कुछ कहा। पति भागकर जंगल गया और एक विशाल नौका बनायी। इस नाव में उसने खाने-पीने का सामान भर दिया और फिर उसने अपने लड़के और लड़की को उस नाव के एक कमरे में बन्द कर दिया। इसके बाद बिजली, वर्षा और तूफान ने पृथ्वी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

टहनियों ने उसके शरीर के चारों ओर लिपटकर उसकी रक्षा की। परिणामस्वरूप उस मनुष्य ने कुजुर के पौधों को अपना टोटम स्वीकार किया और अब उसके वंशज कुजुर कुल के कहलाते हैं। ऐसी टोटम-सम्बन्धी एक और पौराणिक कथा तमटियाओं में प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है—एक तमटिया स्त्री नदी पर पानी भरने गई। घर पर कोई उस बच्चे की देखभाल करने वाला न था। माँ ने नहाकर नदी से अपना घड़ा भरा और उसे सिर पर रखकर घर लौटी। वहाँ उसने आश्चर्यचकित होकर देखा कि एक काला साँप बच्चे के सिर पर अपना फन फैलाये उसकी रक्षा कर रहा था। माँ को देखकर साँप धीरे-से खिसक गया। इस बच्चे के समस्त वंशज अब नाग को ही अपना टोटम मानते हैं।

लोक-गाथाएँ
(Folk-tales)

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है, 'कल्पना' मानव का आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव बहुत-कुछ सोचता और कहता आया है। लोक-गाथाएँ या लोक-कथाएँ इसी का सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय रूप हैं। और भी स्पष्ट रूप में, लोक-कथाएँ 'मानव के कल्पनाशील मस्तिष्क की वैचित्र्यपूर्ण स्वप्न सृष्टि' हैं। अर्थात् लोक-कथा में कल्पना का तत्त्व (element of imaginatian) अधिक होता है, वास्तविक बहुत कम। इसकी विषय-वस्तु की कोई सीमा नहीं है। लोक-कथा हमारे आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन से सम्बन्धित हो सकती है और ऐसी भी लोक-कथाएँ हो सकती हैं जिनका कि इनमें से किसी से कोई सम्बन्ध न हो।

लोक-गाथाओं की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ
(Origin and Characteristics of Folk-tales)

श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) ने उचित ही लिखा है कि लोक-गाथाओं की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई, इस विषय पर सम्भवतः कोई सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।[1] श्री बोआस का मत है कि लोक-कथाएँ दैनन्दिन जीवन के अनुभवों के आधार पर *कल्पना की उड़ानों का परिणाम हैं*।[2] लोक-कथाओं के विश्लेषण से इसी बात का पता चलता है कि लोक-कथाओं के अन्तर्गत प्रायः ऐसी सभी घटनाएँ आ जाती हैं जो कुछ भी मानव-जीवन व समाज में घटित होती हैं। ये घटनाएँ ही लोक-कथाओं का आधार होती हैं। इसे आधार मानकर जब मानव अपनी कल्पना द्वारा एक नवीन घटना को नवीन रूप में प्रस्तुत करता है तो वही लोक-कथा बन जाती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि मानव ऐसा करता ही क्यों है? इसका उत्तर भी सरल है। मानव के मस्तिष्क की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसका मस्तिष्क प्रारम्भिक काल से ही कल्पनाशील है। इस कल्पनाशील मस्तिष्क को अपनी खुराक चाहिए। यह खुराक मानव को

1. *Ibid*, p. 417.
2. Franz Boas, *op. cit.*, p. 610.

जुटानी पड़ती है और तभी मस्तिष्क रोचक कुछ रचता है। तभी लोक-कथा की उत्पत्ति होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य मे अनेक इच्छाएँ, आशाएँ या अभिलाषाएँ अज्ञात मन या मस्तिष्क मे दबी हुई होती हैं। वास्तविक जीवन मे इन इच्छाओं व आशाओं की पूर्ति सम्भव नही होती है। तब मनुष्य कल्पित नायक और नायिका की शरण लेता है और उनके माध्यम से अपनी उन इच्छाओं और आशाओं को अभिव्यक्त करता है एव उन नायक-नायिका के जीवन मे उन इच्छाओं की पूर्ति करवा देता है। कभी-कभी समाज मे ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं जिनमे कि मानव अपनी उन अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होते देखता है। बस, उसी घटना को लेकर उस पर कल्पना की तूलिका से रग भरकर वह एक कथा को तैयार करता है जो कि अपनी रोचकता के कारण लोक-कथा हो जाती है। इस सम्बन्ध मे एक बात स्मरणीय है कि लोक-कथा और साहित्यिक कहानी-किस्सो मे अन्तर है और वह इस अर्थ मे कि लोक-कथाओ का समाज मे कहानी-किस्सो से कही अधिक प्रचलन या लोकप्रियता होती है। लोक-कथाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगो मे इस प्रकार फैल जाती हैं कि वे उनकी सस्कृति का एक आवश्यक अंग हो जाती हैं। आदि समाज मे जहाँ किताब या छपी हुई पत्रिकाओ का प्रचलन नही है या जिन समाजो मे लोग लिखना नही जानते हैं वहाँ भी मौखिक रूप से एक से दो, दो से चार और इसी भाँति पूरे समाज मे इन लोक-कथाओ का प्रचलन हो जाता है, लोग इन्हे बड़े चाव से सुनते और याद रखते हैं।

लोक-कथाओ की अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) लोक-कथाओ मे भी पशु-पक्षी, वायु, सूर्य आदि को व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। इनको व्यक्ति मानने के कारण वे भी मनुष्य की भाँति बात कर सकते हैं, दौड सकते हैं और अन्य प्रकार से भी व्यवहार कर सकते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि इससे लोक कथा कहने वाला अपने भावो को सरलता से प्रस्तुत कर सकता है और साथ ही, कथा की रोचकता भी बढ जाती है। हाथी को बन्दर से बातचीत करते सुनकर हम स्वतः ही कथा कहने वाले की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

(ख) लोक-कथाओ को प्रस्तुत करने की शैली साधारणत सरल और स्वाभाविक होती है। इसका कारण यह है कि लोक-कथाओ के नाम को सार्थक करने के लिए यह आवश्यक है कि इसे अधिक-से अधिक लोग—बच्चों से बूढे तक सहज ही समझ सकें। सरल और स्वाभाविक शैली का यह अर्थ नही है कि उसमे साहित्यिक सौंदर्य का एकदम अभाव ही होता है। बहुत-सी लोक-कथाओ मे साहित्यिक सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा मे होता है, पर ऐसी भी लोक-कथाएँ होती हैं जिनमे साहित्यिक सौन्दर्य का नितान्त अभाव होता है।

(ग) लोक-कथाएँ जिस समाज मे पनपती हैं, उस समाज की संस्कृति-विशेष का प्रभाव उन कथाओं पर स्पष्ट होता है। एक-सस्कृति विशेष मे कुछ विशिष्ट प्रकार की लोक-कथाओं का प्रचलन होता है। साथ ही, इन लोक-कथाओं मे एक सस्कृति से दूसरी संस्कृति मे फैलने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक लोक-कथा एकाधिक संस्कृतियो द्वारा प्रभावित हो सकती है जिससे कि उसके मूल

रूप में इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि उससे उसकी मूल संस्कृति का कुछ भी परिचय प्राप्त नही हो सकता है।

(घ) लोक-कथा की विशेषता का उल्लेख करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि वे "शिशुवत् मस्तिष्कों द्वारा रचित लघु उपन्यासों के समान होती हैं।" उनमें कथा के तीन तत्त्वों—चरित्र, घटना तथा कथानक—का समावेश होता है। ये तीनों तत्त्व वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी; मनुष्य भी हो सकते हैं और चूहा, बिल्ली व हाथी भी। साथ ही, इन कथाओं मे हँसी-मजाक, आनन्द-अश्रु, विरह-मिलन, प्रेम-प्रीति, घृणा-द्वेष, कलह-क्लेष, भय-आतक, रोमाच आदि सब-कुछ होता है या हो सकता है।

(ङ) लोक-कथाओं के प्रचलन की कोई निश्चित सीमा या क्षेत्र नहीं होता है। अनेक लोक-कथाएँ ऐसी हैं जो कि संसार की प्रत्येक भाषा तथा संस्कृति मे प्रचलित हैं, यद्यपि प्रत्येक समाज में इनका थोड़ा-बहुत परिवर्तित रूप देखने को मिलता है। साथ ही, ऐसी भी अनेक लोक-कथाएँ हैं जिनका प्रचलन सीमित क्षेत्रो मे ही पाया जाता है।

(च) लोक-कथाओं मे जादू का तत्त्व भी आश्चर्यजनक रूप मे मिला होता है। जादू का उड़नखटोला अनेक लोक-कथाओं की एक प्रमुख विषय-वस्तु होती है। उसी प्रकार रस्सी से साँप बनना, मनुष्य का पशु रूप धारण करना, जादू के दर्पण मे ससार का दर्शन होना आदि लोक-कथाओ की रोचक सामग्री है। इतना ही नही डायन, भूत-प्रेत, राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी आदि का उल्लेख भी लोक-कथाओं में बहुत ज्यादा मिलता है, विशेषत: भारतीय लोक-कथाओं मे।

लोक-कथाओं का महत्त्व
(Importance of Folk-tales)

(1) लोक-कथाओं का सर्वप्रमुख महत्त्व यह है कि इनके द्वारा श्रोताओं का मनोरजन होता है। दिन-भर के नीरस जीवन मे लोक-कथाएँ रस का आस्वादन करवाती हैं। केवल इतना ही नहीं इनसे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से ज्ञान की भी वृद्धि होती है।

(2) लोक-कथाओं के माध्यम से लोग अपनी सस्कृति के सम्बन्ध मे बहुत-सी नयी बातो को सीखते हैं। जनजातीय समाजों मे लोक-कथाएँ तो बच्चों को शिक्षा देने का सर्वमान्य साधन हैं। इन समाजों मे लोक-गाथाओ के माध्यम से युवागृह मे युवक-युवतियो को जनजातीय अनुशासन, सामाजिक न्याय तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाती है। अपराध और दण्ड के विचार, बुरे कार्यों का परिणाम आदि के विषय मे भी कथाओ द्वारा सदस्यों को बताया जाता है।

(3) अत स्पष्ट है कि लोक-कथाएँ सामाजिक नियन्त्रण में भी सहायक सिद्ध होती हैं क्योंकि इन कथाओं का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर, विशेषकर बच्चों पर बहुत ज्यादा पड़ता है और वे लोग कथाओ मे प्रस्तुत आदर्शों का अनुसरण करते हैं।

(4) लोक-कथाओं का एक और महत्त्व यह है कि इनके अध्ययन से हमे जनजातीय समाजों के विषय मे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस सम्बन्ध मे श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) ने लिखा है कि श्री बोआस ने प्रशान्त महासागर के उत्तर-

पूर्व में बसने वाले सिमसियन इण्डियन समूह की केवल लोक-कथाओं का अध्ययन व विश्लेषण करके ही उक्त जनजाति के सामाजिक संगठन, धार्मिक विश्वास, अर्थ-व्यवस्था निर्माण-कला तथा भौतिक संस्कृति के अन्य पक्षों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है।[1]

लोक-गाथाओं के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Folk-tales)

डा० मजमूदार तथा मदान (Majumdar and Madan) ने 'हो' जनजाति में प्रचलित एक लोक-कथा का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् है[2] —

"कुइड्-बुरा नाम का एक किसान अपने खेत में एक चूहे को देखकर मारने को दौड़ा। चूहे ने किसान से प्रार्थना की कि तुम मुझे न मारो, इसके बदले में, मैं आजीवन तुम्हारी सेवा करता रहूँगा। किसान ने उसकी बात मान ली और उसे घर ले आया। लोमड़ियाँ आकर उस किसान की बत्तखों तथा बगीचे की उपज को रोज खा जाती थीं। चूहे ने लोमड़ियों के बीच चक्कर मारना शुरू किया और उनकी सब चालों का पता लगाता रहा। इन बातों को वह किसान को बताकर उसे सावधान कर देता था। पर लोमड़ियों को जब यह पता चला कि उनकी चालाकियाँ खुल गई हैं तो उन्होंने नयी योजनाएँ बनायी। इससे किसान तंग आ गया। अन्त में चूहे ने एक अति चामत्कारिक योजना बनायी और किसान की स्त्री की सहायता से सब लोमड़ियों का सफाया कर दिया। इसके बाद से चूहा, किसान व उसकी स्त्री आराम और शान्ति से रहने लगे।"

गोंड जाति में सामाजिक सहयोग के महत्त्व को बताने के लिए गिलहरी और कौए की निम्नलिखित लोक-कथा प्रायः कही जाती है—

"एक पेड़ पर गिलहरी और एक कौआ रहते थे। एक दिन कौए ने गिलहरी से कहा, "चलो हम खेती करें। जो पैदा होगा उसको आधा-आधा बाँट लेंगे।" गिलहरी बोली, "ठीक है। चलो खेत जोत आयें।" कौए ने कहा, "तू चल, मैं आता हूँ।" गिलहरी खेत जोत आयी। कौआ बैठा ही रहा। गिलहरी ने कहा, "चलो भाई, अपने खेत में बीज बो आयें।" कौआ फिर बोला, "तू चल मैं आता हूँ।" गिलहरी खेत में बीज भी बो आयी। कौआ बैठा ही रहा। गिलहरी ने कहा, 'पौधे बड़े हो गये हैं। घास उग आयी है। चलो, निराई कर आयें।" कौए ने फिर वही उत्तर दिया। गिलहरी खेत भी निरा आयी। फसल पक गई। गिलहरी अकेले फसल भी काट लायी। कौआ बैठा ही रहा। जब अनाज तैयार हो गया, तो कौआ हिस्सा बँटाने पहुँच गया। गिलहरी अपना अनाज घर ले आयी। कौए का हिस्सा वहीं पड़ा रहा। दूसरे दिन बड़े जोर से पानी बरसा। कौए का सारा अनाज बह गया। कौआ पेड़ की डाल पर बैठा काँव-काँव ही करता रह गया।"

उक्त गाथा को सुनने वालों ने उसीसे बहुत-कुछ सीख लिया।

---

1. See M. J. Herskovits, *op cit*, p 418.
2. Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p. 185.

SELECTED READINGS

1. Benedict, R.: 'Folklore' in *Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol. VI. 1931.

2 Boas and Others : *General Anthropology*, D. C. Heath and Co., New York, 1938.

3. Herskovits : *Man and His Works*, Alfred A. Knopf, New York, 1956.

17 भाषा
(Language)

अभौतिक सस्कृति के क्षेत्र मे भाषा मानव की सबसे बडी शक्ति है। यदि मानव के पास वाणी अथवा भाषा की शक्ति न होती तो उसके आविष्कारो का विस्तार एव प्रसार अत्यन्त सीमित हो जाता। मानव की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनैतिक उन्नति का प्रमुख कारण आविष्कार है और उस आविष्कार को प्रसारित करने का सबसे अधिक श्रेय मनुष्य की भाषा-शक्ति को है। यह शक्ति वास्तव मे वह शक्ति है जो कि मानव को पशु-जगत् से पूर्णतया पृथक् करती है। पशु कई प्रकार की आवाजो द्वारा अपने मन के भाव को व्यक्त करते हैं, परन्तु भाषा का अधिकारी तो केवल मानव ही है। इस भाषा के द्वारा मानव अपने मन के भाव प्रकट करता है सामाजिक आदान-प्रदान या अन्त क्रिया मे भाग लेता है, सगीत-रचना करता और गाता है, साहित्य की सृष्टि करता है, और आविष्कारो का प्रसार मानवीय धरातल मे करता है। भाषा मानव की वह शक्ति है जिसके माध्यम से वह दुनिया को सबसे कटु आघात कर सकता है और अमरत्व का सन्देश भी सुना सकता है। भाषा के माध्यम से ही मानव की मानवता महान है, अमर है। भाषा के कारण ही मनुष्य पशु नही है।

भाषा की परिभाषा
(Definition of Language)

श्री स्टर्टविण्ट (Sturtevant) के अनुसार, "भाषा मुँह से उच्चारण किये जाने वाले सकेतो की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग तथा अन्त.क्रिया करते है।"[1] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सगठन की दृष्टि से भाषा असम्बद्ध नही बल्कि नियमबद्ध है—अर्थात् यह एक व्यवस्था है। साथ ही, इस व्यवस्था मे जिन संकेतो (symbols) का समावेश होता है उनके अर्थों को भी उसी प्रकार सीखना पडता है जैसा कि सस्कृति की अन्य चीजो को। उक्त परिभाषा में भाषा के सामाजिक कार्यों या महत्व पर बल दिया गया है। इसी कारण श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने उपरोक्त परिभाषा के अन्त मे केवल कुछ शब्दो को जोडकर उस परिभाषा को स्वीकार कर लिया है। उन शब्दो को जोड़ने के पश्चात् भाषा की सम्पूर्ण परिभाषा इस प्रकार

1. "A language is a system of arbitrary vocal symbols by which members of a social group co-operate and interact "—E H Sturtevant, *An Introduction to Linguistic Science*, New Haven, 1947.

है—' भाषा मुंह से उच्चारण किये जाने वाले संकेतों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग तथा अन्त.क्रिया करते हैं, और जिसके माध्यम से सीखने की प्रक्रिया को सफल बनाया जाता है एवं जीवन की एक विधि-विशेष को निरन्तरता तथा परिवर्तनशीलता दोनों ही प्राप्त होती है।"[1]

भाषा की प्राचीनता
(The Antiquity of Language)

आधुनिक भाषाओं में पाई जाने वाली भिन्नताओं तथा सभी आदिम व आधुनिक मानव की भाषाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भाषा अति प्राचीन है क्योंकि ऐसा कोई मानव-समाज आज नहीं है जहाँ कि भाषा नहीं है। इसलिए शायद यह कहना अनुचित न होगा कि भाषा भी उतनी ही प्राचीन है जितने कि मानव-संस्कृति के दूसरे पक्ष। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने लिखा है कि सम्भवतः और शायद निश्चय ही मानव उसी समय बोलना भी सीख गया था जबकि लाखों वर्ष पूर्व एक सांस्कृतिक परम्परा का संचय करने में कुछ कदम आगे बढ़ चुका था।[2] तो क्या मानव-भाषा उतनी ही पुरानी है जितनी कि उसकी संस्कृति ? इसके उत्तर में श्री क्रोबर (Kroeber) का कथन है कि इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है क्योंकि विश्वासों तथा संस्थाओं की भाँति शब्दों का भी विनाश हो जाता है अर्थात् उनका स्थायित्व उस भाँति नहीं है जैसा कि पत्थर के औज़ार। फिर भी यह प्रतीत होता है कि भाषा, चाहे वह अविकसित भाषा ही क्यों न हो, उतनी ही पुरानी है जितनी कि संस्कृति की प्रथम अभिव्यक्तियाँ, क्योंकि ये दोनों ही एक-दूसरे से अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।[3] प्रस्तरित मानव (fossil man) की खोपड़ी के भीतरी भाग की परीक्षा करके विशेषज्ञों ने यह मत प्रकट किया है कि उस युग के मानव का मस्तिष्क इतना विकसित था कि उसमें भाषा की शक्ति अवश्य रही होगी। हो सकता है कि इस निष्कर्ष में पूर्ण सत्यता न हो, फिर भी आधुनिक मानवशास्त्री आज यह स्वीकार करते हैं कि भाषा का विकास अगर संस्कृति के विकास के पहले नहीं तो उसके साथ-साथ अवश्य ही हुआ है। वास्तव में भाषा के बिना सांस्कृतिक क्रिया सम्भव नहीं, इस कारण जहाँ भी सांस्कृतिक क्रिया है, चाहे वह कितनी ही सरल क्यों न हो, भाषा के होने की आशा भी की जा सकती है। उसी प्रकार संस्कृति का विकास भी मानवीय अन्त.-

1. "A language is a system of arbitrary vocal symbols by which members of a social group co-operate and interact, and by means of which the learning process is effectuated and a given way of life achieves both continuity and change."—See M.J Herskovits, *Man and His Works*, New York, 1955, p 440

2. "It is wholly probable, and indeed quite likely, that man learned to speak at the same time, some million or more years ago, that he took his first few steps in accumulating a cultural tradition."—Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959, p. 573.

3. Kroeber, *Anthropology*, New York, 1948, p. 225.

क्रियाओ पर आधारित है और मानवीय अन्त क्रिया भाषा के बिना प्राय असम्भव ही है। इस कारण, श्री क्रोबर (Kroeber) के अनुसार, "संस्कृति का प्रारम्भ तब ही हुआ जब भाषा मौजूद थी; और फिर उसके बाद से उनमे से किसी की भी समृद्धि का अर्थ दूसरे का विकास हुआ।"[1]

भाषा की उत्पत्ति
(The Origin of Language)

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि भाषा की उत्पत्ति उन परिस्थितियो का परिणाम है जिनमे कि प्रारम्भिक काल मे मानव निवास करता था। उस समय वह पूर्णतया जगली तथा अज्ञात था। ऐसी परिस्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि प्रकृति की वस्तुओं और घटनाओ को देखकर मानव आश्चर्य-चकित हो उठता था। इस प्रकार के अनेक अवसर उसके दैनन्दिक जीवन मे आते थे, जब कि प्राकृतिक वस्तुएँ और घटनाएँ उसे अचम्भे मे डाल देती थी। उस प्रकार की आश्चर्य-चकित अवस्था मे उसके मुख से स्वतः ही आवाजें निकल पडती थी। उदाहरणार्थ, बादल के गरजने की आवाज सुनकर वह चौंक उठता था और उसके मुख से एक विशेष प्रकार की आवाज निकलती थी जिससे कि वह दूसरो को यह सकेत करता था कि वह डर गया है। इसी प्रकार मुँह से विभिन्न प्रकार की आवाजें निकालकर वह अपने मन के भावो को दूसरो तक पहुचाने लगा। एक-एक विशिष्ट आवाज एक-एक विशेष प्रकार के सकेत के रूप मे क्रियाशील हुई। इन्ही सकेतों के क्रमिक विकास से भाषा की उत्पत्ति हुई।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दूसरा सिद्धान्त यह है कि मानव को बोलने की प्रेरणा प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। प्रारम्भिक काल मे मानव पूर्णतया प्रकृति की गोद मे ही पलता था। उस अवस्था मे प्रकृति से उसका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ था। इस कारण प्रकृति से सम्बन्धित सब-कुछ को वह बहुत पास से देखता और सुनता था। प्रकृति मे कुछ आवाजें अपने-आप हुआ करती हैं। इन आवाजों की नकल सर्वप्रथम मानव ने खेल-खेल में ही की, पर बाद को उन्ही से विभिन्न सकेतो का जन्म हुआ और भाषा की उत्पत्ति सम्भव हुई। उदाहरणार्थ, पेड से जब पत्ता झडता है, तब 'पत-पत' की आवाज होती है। इससे 'पत' के अनुकरण में एक शब्द 'पत्र' की उत्पत्ति हुई।

परन्तु उपरोक्त दोनो सिद्धान्तो के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि किसी भी भाषा का निर्माण, चाहे वह कितनी ही सरल भाषा क्यो न हो, दो-चार या दस शब्दो से कदापि नही होता। प्राकृतिक घटनाओं को देखकर अचम्भे मे या प्राकृतिक आवाजो की नकल करके कुछ ही शब्दो की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है जो कि किसी भी भाषा को जन्म नही दे सकती।

---

1. "Culture, then, began when speech was present, and from then on, the enrichment of either meant the further development of the other."—*Ibid*, p. 225.

इस सम्बन्ध मे तीसरा सिद्धान्त बहुत-कुछ प्राणीशास्त्रीय आधारों पर आधारित है। मनुष्य मे कुछ इस प्रकार की प्राणीशास्त्रीय विशेषताएं पाई जाती हैं जिनके कारण वाणी अर्थात् भाषा की उत्पत्ति स्वाभाविक ही थी। शब्दो का उच्चारण करने के लिए जीभ या जबान की बनावट जिस प्रकार की होनी चाहिए, मानव मे वह उसी रूप मे पाई जाती है। मनुष्य अपनी जीभ को जिस आसानी से और स्वतन्त्रतापूर्वक हिला-डुला सकता है, उतनी आसानी से यह काम पशु नही कर सकते। मानव अपनी इस विशेषता के कारण मुंह से नाना प्रकार की आवाजें निकाल सकता है। इन आवाजों को उसने विभिन्न परिस्थितियो मे अलग-अलग तरह से उच्चारण करके प्रयोग किया और उससे अपने मनोभाव को दूसरो तक पहुचाया। इसी से शब्द सकेतों की और अन्त मे भाषा की उत्पत्ति हुई।

भाषा की संरचना
(The Structure of Language)

किसी भी भाषा का यदि हम अध्ययन करें तो हमे यह ज्ञात होगा कि उस भाषा मे एक व्यवस्था है और वह इस अर्थ मे कि इसके विभिन्न अंग एक नियमित ढंग से एक-दूसरे के साथ सयुक्त या सम्बद्ध हैं। इन विभिन्न अंगों को मिलाकर ही भाषा की सरचना तैयार होती है। भाषा के ये मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) **वर्णमाला या ध्वनि (Phonemes)**—ध्वनि ही भाषा मे व्यवहार होने वाली सबसे छोटी इकाई है। बिना किसी ध्वनि के भाषा का निर्माण हो ही नही सकता क्योकि अगर हम बिना कोई ध्वनि मुख से उच्चारण किये हुए मन-ही-मन सात राज्यो के बारे मे भी सोचते रहें तो भी उसे भाषा नही कहा जा सकता है। भाषा मे तो मन के भावो को मुख से उच्चारण करना पड़ता है और उच्चारण करने से ध्वनि निकलती ही है। बिना ध्वनि के वाणी या भाषा कुछ भी नही हो सकती है। इन वर्णमाला-ध्वनियो की सख्या 20 से 30 तक मानी जाती है। इन वर्णों को दो आधारभूत श्रेणियो मे विभाजित किया जाता है—'स्वर' (Vowels) तथा व्यजन' (Consonants)। स्वर वह ध्वनि है जो कि मुंह के खुले रहने पर निकलती है और जब मुंह से सांस बाहर निकलती है तो ध्वनि बिना किसी रुकावट के उच्चारण की जा सकती है। अ, आ, इ, ई आदि ऐसी ही ध्वनियां या 'स्वर' हैं। परन्तु कुछ ऐसी ही ध्वनियां भी हैं जो कि मुंह से सांस के बाहर निकलने पर कभी तालु से, कभी दातो से, तो कभी होठो से टकराती हैं। ऐसी ध्वनि को व्यजन कहते हैं, क, ख, ग, त, थ, द, प, फ, ब आदि।

प्रत्येक भाषा मे वर्णमाला अवश्य ही होनी है परन्तु वे हर एक भाषा मे एक-से ही नहीं होते हैं। साथ-ही-साथ, इन वर्णों का उच्चारण करने का ढग भी प्रत्येक भाषा मे समान नही हुआ करता है। किसी भाषा में ध्वनि को खीचकर उच्चारण किया जाता है, और किसी भाषा मे बहुत थोडा समय लेकर। अर्थात् दीर्घ-ह्रस्व का भेद प्रत्येक भाषा मे ही होता है। परन्तु इस भेद का कोई प्राणीशास्त्रीय आधार नही है। दूसरे शब्दो मे, बगाली लोग हिन्दी शब्दो का या उत्तर प्रदेश के लोग बगला शब्दो का उच्चारण

अगर ठीक-ठीक नही कर पाते हैं तो इसका कारण यह नही है कि उनके मुंह की या जीभ की या होंठ की या अन्य किसी अग की बनावट एक विशेष प्रकार की होने के कारण ही उनके मुंह से एक विशेष प्रकार की ध्वनि ठीक-ठीक निकलती है। ध्वनि उच्चारण करने की क्षमता प्रशिक्षण (training) पर निर्भर है।

(2) शब्दावली (Morphemes)—कई ध्वनियो को मिलाकर एक शब्द बनता है जैसे, स, त, और ह, इन तीन ध्वनियो को मिलाकर एक शब्द 'सतह' बना है। एक शब्द सरल शब्द (simple word) भी हो सकता है और एक जटिल शब्द (complex word) भी। सरल शब्द मे उस शब्द को विभाजित करने पर उसका कोई खास माने नही रह जाता है जैसे 'हम' शब्द को दो भागो मे—'ह' और 'म' मे बांट देने पर इनमे से प्रत्येक का कोई स्वतन्त्र अर्थ नही निकलता है, पर दोनो को मिलाकर 'हम' शब्द का एक अर्थ है। इसके विपरीत जटिल शब्द मे उस शब्द को एकाधिक भागो मे विभक्त किया जा सकता है और इस प्रकार से टुकडा हो जाने पर भी उनमे से प्रत्येक टुकडे का एक अर्थ होता है जैसे 'हमराही' शब्द को 'हम' और 'राही' दो टुकडो मे बाँट देने पर भी प्रत्येक टुकडे का एक अर्थ निकलता है।

भाषा के निर्माण मे शब्दावली के महत्त्व को शायद कहने की आवश्यकता नही है क्योंकि कोई भी भाषा, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, शब्दो के बिना बन ही नही सकती है। ये शब्द अर्थयुक्त होते हैं, इस कारण इनके द्वारा ही हम अपने मन के भाव को प्रकट करते है।

(3) वाक्य (Sentence)—इन्ही शब्दो के आधार पर हम पदो का निर्माण करते हैं। जैसे सस्कृत भाषा मे 'राम' शब्द से राम, रामौ, रामा आदि पद बन जाते हैं; उसी प्रकार अनेक शब्दो को नियमानुसार जोडकर वाक्य (sentence) को बनाया जाता है। जैसे, 'राम घर गया' यह वाक्य तीन शब्दो से मिलकर बना है। वाक्य का कार्य भाव को पूर्णतया स्पष्ट या प्रकट करना है। 'राम', 'घर', 'गया', इनमे से एक शब्द का एक पृथक् अर्थ होते हुए भी पृथक् रूप से इनमे से किसी शब्द से सम्पूर्ण भाव प्रकट नही होता है परन्तु जब इन्हे जोड़कर एक वाक्य बनाया जाता है तो उससे सम्पूर्ण भाव हमारे लिए स्पष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी भी भाषा के तीन आधारभूत तत्त्व वर्ण, शब्द और वाक्य हैं। वर्ण के सम्मिलन से शब्द बनता है और शब्दो के सम्मिलन से वाक्य। परन्तु वाक्यो का निर्माण मनमाने ढग से नही होता है, उसके लिए भी प्रत्येक भाषा मे कुछ आधारभूत नियम होते हैं। भाषा की सरचना मे इन नियमो का भी अपना महत्त्व है। अत. उनको भी भाषा का एक आवश्यक अंग माना जाता है। अब हम उसी अग के विषय मे विवेचना करेंगे।

(4) व्याकरण (Grammar)—उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट कि प्रत्येक भाषा मे अनेक शब्द होते हैं। इन शब्दो को मनमाने ढग से जोडने पर वे अर्थहीन हो जायेंगे अर्थात् उनसे किसी शुद्ध व अर्थपूर्ण वाक्य का निर्माण न हो सकेगा। उदाहरणार्थ, अगर हम निम्नलिखित सात शब्दो को मनमाने ढग से इस प्रकार जोड़ें—'घर के तुम्हारे

वह जाने आया बाद'—तो यह एक अर्थपूर्ण वाक्य कभी भी नहीं होगा क्योंकि इससे कोई भाव स्पष्ट रूप से प्रकट नही होता है। परन्तु अगर इन्ही सात शब्दों को नियमानुसार जोड़ें तो सम्पूर्ण भाव सरलता से ही स्पष्ट हो सकते हैं जैसे, 'तुम्हारे जाने के बाद वह घर आया।' उसी प्रकार अगर हमे भूतकाल के विषय मे कोई बात कहनी है तो उसी के अनुसार शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा और अगर वर्तमान काल के विषय मे कुछ कहना है तो उसी प्रकार के शब्दो को जोडना पडेगा। उसी प्रकार अगर हम किसी स्त्री के विषय मे कह रहे हैं तो स्त्रीलिंग वाले शब्दों का व्यवहार आवश्यक है और यदि पुरुष के बारे मे तो पुंलिंग वाले शब्दो का। इसी प्रकार लिंग, काल, वचन आदि के विषय मे अनेक नियम प्रत्येक भाषा मे होते हैं जिसे कि उस भाषा का व्याकरण कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि शब्दो के शुद्ध रूप तथा प्रयोग के नियमों का निरूपण करने वाला शास्त्र ही व्याकरण है। और भी स्पष्ट रूप से, जिससे शुद्ध भाषा पढ़ने, बोलने और लिखने का ज्ञान होता है, उसे व्याकरण कहते हैं। इसके तीन विचार होते हैं—अक्षर-विचार, शब्द-विचार और वाक्य-विचार। जब हम व्याकरण के नियमों के अनुसार शब्दो को जोडते हैं तो भाषा का शुद्ध रूप प्रकट होता है; अन्यथा नहीं। यह व्याकरण प्रत्येक भाषा मे होता तो है, पर हर-एक भाषा मे एक समान नही होता। उदाहरणार्थ, हिन्दी-भाषा मे कर्त्ता के लिंग के अनुसार क्रिया के लिंग मे भी परिवर्तन आवश्यक है, जैसे राम जाता है और सीता जाती है। पर बंगला भाषा मे यह नियम नही है। कई भाषाओं मे काल, लिंग, वचन आदि का झमेला बहुत ज्यादा होता है और कई भाषाओं मे बहुत कम। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा मे लिंग, काल, वचन किसी का झगडा नहीं है। इसके विपरीत हिन्दी भाषा मे लिंग, क्रिया, सन्धि, उपसर्ग, प्रत्यय समास आदि का बहुत ज्यादा झमेला है।

(5) लिपि (Script)—यह तत्व केवल उन लोगो की भाषाओं मे ही पाया जाता है जिन्हें कि लिखने की कला का ज्ञान है। इस प्रकार की प्रत्येक भाषा मे अक्षरों के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। जिस रूप में अक्षर अंकित होते हैं या लिखे जाते हैं उसे लिपि कहते हैं। अंग्रेजी भाषा के अक्षर जिस प्रकार लिखे जाते हैं उस प्रकार बंगला भाषा के अक्षर नहीं लिखे जाते हैं। उसी प्रकार हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि मे भी बहुत अन्तर है।

भाषा-परिवार
(Linguistic Families)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थान की भाषा एक समान नहीं होती है। वर्ण, शब्द, वाक्य, लिपि, व्याकरण आदि के आधार पर अनेक भेद भाषा मे पाये जाते हैं। ऐसा भी होता है कि एक भाषा एक स्थान पर पनपती है, फिर प्रसार (diffusion) के द्वारा वह दूसरे स्थान को भी फैल जाती है और उस प्रसार के दौरान में उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी हो जाता है। परन्तु इन परिवर्तनों के होने पर भी हम उसकी । पता लगा सकते हैं, अर्थात् यह जान सकते है कि एक भाषा की उत्पत्ति

किस मूल भाषा-विशेष से हुई है। एक ही मूल भाषा मे जितनी भी भाषाएँ पनपेंगी, वे वे सब एक भाषा-परिवार कहलायेंगी। उदाहरणार्थ, भाषा-परिवार की दृष्टि से अंग्रेजी, संस्कृत, रशियन आदि भाषाएँ एक ही परिवार मे रखी जाती हैं। ये तीनो भाषाएँ एक ही मूल भाषा से प्रकट हुई हैं जिसे इण्डो-यूरोपियन या इण्डो-जर्मनिक या आर्यन परिवार कहा जाता है।

एशिया और यूरोप मे 25 से भी अधिक भाषा-परिवार पाये जाते हैं। इनमे से सबसे महत्त्वपूर्ण इण्डो-यूरोपियन या इण्डो जर्मनिक या आर्यन (Aryan) परिवार है। इस परिवार का फैलाव दक्षिण-पश्चिमी एशिया तथा यूरोप का अधिकतर भाग है। इस परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण (जनसंख्या की दृष्टि से) भाषाएँ इण्डिक (Indic), स्लॉविक (Slavic), जर्मनिक (Germanic) और रोमन या लैटिन (Latin) है। इस परिवार की अन्य भाषाएँ परसियन या इरानिक (Iranic), आर्मेनियन (Armenian), ग्रीक, अलबानियन (Albanian), बाल्टिक और केलटिक (Keltic) हैं। यूरोप से विभिन्न इण्डो-यूरोपियन भाषाएँ जैसे अंग्रेजी, स्पेनिश, फ्रेंच, रशियन आदि दूसरे देशो, जैसे अमेरिका और आस्ट्रेलिया, मे फैल गई हैं।

एक दूसरा भाषा-परिवार सिनिटिक (Sinitic) परिवार है। इस भाषा-परिवार के सदस्यो की संख्या प्राय. उतनी ही है जितनी कि इण्डो-यूरोपियन भाषा-परिवार की। इसके अन्तर्गत चाइनिस, टिबेटो-बर्मन तथा शान-सियामिस (Shan Siamese) भाषाएँ सम्मिलित हैं।

एक तीसरा भाषा-परिवार अल्टाइक (Altaic) परिवार है। जिसमे तीन प्रमुख भाषाएँ—टर्किस (Turkish), मंगोलियन (Mongolian) तथा टुंगस-मानचू (Tungus-Manchu) है। इस परिवार का फैलाव उत्तरी तथा केन्द्रीय एशिया तथा यूरोप का कुछ भाग है।

एक चौथा भाषा-परिवार सेमिटिक (Semitic) परिवार है। अराबिक (Arabic) भाषा इस परिवार की प्रमुख सदस्य है।

अफ्रीका का सर्वप्रमुख भाषा-परिवार हामिटिक (Hamitic) परिवार है। इसके अतिरिक्त बांटू (Bantu) भाषा-परिवार भी महत्त्वपूर्ण अफ्रीका-परिवार है।

भारत और उसकी जनजातियों की भाषाएँ
(Languages of India and of Its Tribes)

सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत की भाषाओं को चार प्रमुख परिवारों मे बांटा जा सकता है। वे निम्नवत् हैं—

(1) **इण्डो-यूरोपियन अथवा आर्यन भाषा-परिवार** जिसके अन्तर्गत उत्तरी भारत की प्रमुख भाषाएँ आती हैं; जैसे हिन्दी, बंगाली, पंजाबी गुजराती और उड़िया।

(2) **द्राविडियन(Dravidian) भाषा-परिवार** जिसके कि सदस्य मध्य और दक्षिणी भारत मे रहते है। इसके अन्तर्गत चार प्रमुख साहित्यिक भाषाएँ आती हैं और वे हैं—कन्नड़, तामिल, तेलगू और मलयालम। इसके अतिरिक्त भी इस परिवार के

अन्तर्गत कुछ अन्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण नही हैं और दक्षिणी भारत तथा मध्य व पूर्वी भारत मे निवास करने वाले जनजातीय समूहों मे प्रचलित हैं।

अन्य दो भाषा परिवारो का, एक-दो उदाहरणों को छोड़कर, भारत मे अधिक विकास नही हुआ है और वे बहुत अधिक पिछड़े हुए जनजातीय समूहों मे प्रचलित हैं। ये दो भाषा-परिवार निम्नलिखित हैं—

(3) **आस्ट्रिक भाषा-परिवार** की दो शाखाएँ हैं—**एक तो आस्ट्रो-ऐशियाटिक** शाखा जिसके अन्तर्गत मध्य और पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा बोलियाँ, निकोबार द्वीप-निवासियों की बोली तथा स्याम और इण्डोचीन (वियतनाम) मे प्रचलित भाषाएँ आती हैं। आस्ट्रिक भाषा-परिवार की दूसरी शाखा आस्ट्रोनेशियन (Austronesian) शाखा है, जिसके अन्तर्गत इण्डोनेशिया की राष्ट्र-भाषा तथा मलाया, माइक्रोनेशिया, मेलानेशिया तथा पॉलीनेशिया की भाषाएँ आती हैं।

(4) **चीनी-तिब्बती** भाषा-परिवार मे हिमालय के दक्षिणी ढालो, उत्तरी पंजाब से भूटान, उत्तरी तथा पूर्वी बगाल और आसाम मे पाई जाने वाली इण्डो-मंगोलॉयड प्रजाति के लोगों मे प्रचलित जनजातीय भाषाएँ आती हैं।

भाषा-परिवार के आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण निम्न ढग से किया जाता है—

(अ) आस्ट्रिक भाषा-परिवार (Austric speech family)—इसमे मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल तथा मुण्डा समूह की भाषाएँ और बोलियाँ आती है। सन् 1951 की जनगणना के अनुसार इस प्रकार की भाषाएँ बिहार, उड़ीसा, बगाल और आसाम म प्रचलित सथाली, मुन्दारी, हो, खरिया, भूमिज, गारो तथा खासी भाषाएँ या बोलियाँ हैं। कोर्कू भाषा मध्यप्रदेश और बरार के जनजातीय समूहो मे बोली जाती है तथा सावरा और गाडवा भाषा उड़ीसा की जनजातियो मे बोली जाती है। इसके अतिरिक्त आसाम के खासियो तथा निकोबार द्वीप-निवासियो की भाषा भी इसी परिवार मे आती है।

(ब) द्राविड़ भाषा-परिवार (Dravidian speech family)—इन्हे बोलने वाली जनजातियाँ मध्य तथा दक्षिणी भारत मे पाई जाती हैं। इस भाषा-परिवार के अन्तर्गत तेलगू, कन्नड, तामिल और मलयालम के अतिरिक्त दो अन्य भाषाएँ भी आती हैं जो अधिक विकसित नही हैं, पर इनको बोलने वाले सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत हैं। ये लोग तूलूस तथा कुर्ग निवासी कोटाग हैं। इनको जनजातियों मे नहीं रखा गया है। गोंड जनजाति मध्यप्रदेश, हैदराबाद तथा आन्ध्र राज्यो मे फैली हुई है तथा द्राविड़ भाषा बोलती है। उड़ीसा की कुन्ध जनजाति के लोग, बिहार और उड़ीसा के कुरुख और ओरांव तथा बिहार की राजमहल पहाड़ियो के माल्टो कुई भाषा बोलते हैं जो कि इसी भाषा-परिवार के अन्तर्गत आती है। टोडा, मलेर, पोलिया, खवर, कोया, पनियन, चेंचू, इरुला, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड़ भाषा बोलती हैं।

(स) चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार (Sino-Tibetan speech family)—

इसके अन्तर्गत नेपाल, दार्जिलिंग, त्रिपुरा, मणिपुर आदि स्थानो मे रहने वाली जन-जातियां आती है।

परन्तु उपरोक्त वर्गीकरण थोडा-बहुत सैद्धान्तिक ही कहा जा सकता है क्योंकि अनेक भारतीय जनजातियाँ ऐसी हैं जो कि अपनी मूल-भाषा के अतिरिक्त एक-दो अन्य भाषाओ को भी बोल लेती हैं। उदाहरणार्थ, मध्य क्षेत्र की अधिकतर जनजातियाँ दो भाषाएँ—एक तो अपनी और दूसरी हिन्दुस्तानी या उडिया या बगाली भाषा बोलती हैं इस प्रकार ओरॉव और मुण्डा जनजातियाँ हिन्दुस्तानी भाषा बोल लेती हैं। और संथाली बगाली भाषा समझते हैं।

भाषा व संस्कृति : भाषा का महत्त्व
(Language and Culture : Importance of Language)

इसके अन्तर्गत हम तीन प्रमुख समस्याओ को सुलझाने या तीन प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। वे प्रश्न है – क्या भाषा और प्रजाति मे कोई सम्बन्ध है ? भाषा व सस्कृति का वास्तविक सम्बन्ध क्या है ? मानवीय जीवन मे और मानवशास्त्रीय अध्ययन मे भाषा का क्या महत्त्व है ?

भाषा के महत्त्व एव भाषा व सस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध का सक्षिप्त परिचय हम इस अध्ययन के आरम्भ मे ही दे चुके हैं। उनमे से श्री क्रोबर (Kroeber) के एक वाक्य को ही यहाँ दोहराना अनुचित न होगा। आपने लिखा है कि "सस्कृति का प्रारम्भ तभी हुआ जब भाषा उपस्थित थी और फिर उसके बाद से उनमे से किसी की भी समृद्धि का अर्थ दूसरे का विकास हुआ।" इसी एक वाक्य से ही भाषा का महत्त्व, भाषा व सस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। फिर भी इस विषय मे हम थोड़ी और विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

कुछ विद्वानों ने भाषा व सस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध को अनावश्यक रूप से अस्पष्ट कर दिया है। किसी भी व्यवस्थित विचारधारा का विकास शब्दो से प्राप्त सकेतो या स्वय शब्दो के बिना सम्भव नही है। उसी प्रकार धर्म तथा सामाजिक सगठन के अन्य पक्ष जैसे जाति-प्रथा, विवाह सम्बन्धी नियम, नाते-रिश्तेदार का परिचय, कानून आदि भाषा पर ही निर्भर है। दूसरी ओर, सरल प्रकार के आविष्कार और व्यावहारिक कला का विकास भाषारहित समाज मे भी अनुकरण के आधार पर सम्भव हो सकता है।[1] फिर भी यह केवल प्रारम्भ की बात है, जैसे ही सस्कृति के विकास या प्रसार का प्रश्न आता है वैसे ही भाषा का महत्त्व हमारे लिए स्पष्ट हो जाता है।

प्रत्येक भाषा ही सस्कृति का एक अग है और यह भी सीखे हुए व्यवहार (learned behaviour) का ही एक रूप है। कोई भी व्यक्ति 'भाषा की मूलप्रवृत्ति' (instinct of language) को लेकर जन्म नही लेता और न इस प्रकार की कोई मूल-प्रवृत्ति होती ही है। प्रत्येक को भाषा सीखनी होती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भाषा

1. Kroeber, *op cit*, pp 223-224.

का कुछ भी मानव या मानव-समूह-विशेष की शारीरिक विशेषताओं द्वारा निर्धारित नही होता है। चूंकि भाषा का कोई सम्बन्ध शारीरिक विशेषताओं से नही है, इसलिए भाषा और प्रजाति के बीच भी कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। कुछ भाषा-विशेष कुछ प्रजातियों के सदस्यो द्वारा बोली जाती है, इसका एक मात्र कारण यह है कि विभिन्न प्रजातियों मे पृथकता है। एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण एक प्रजाति-विशेष बोलने का अपना एक विशिष्ट तरीका विकसित कर लेती है। परन्तु जैसे ही यह पृथकता दूर हो जाती है वैसे ही परिस्थिति भी बदल जाती है। एक अंग्रेज अगर हिन्दी भाषा को ठीक से बोल नही पाता है तो उसका कारण यह नहीं है कि प्रजातीय दृष्टिकोण से वह हिन्दी भाषा बोलने के लिए उपयुक्त नही है। वह हिन्दी ठीक से इसलिए नही बोल पाता है कि हिन्दी बोलने या सीखने की प्रचेष्टा वह गम्भीरतापूर्वक नही करता है। अगर वह ऐसा करे तो उसके लिए हिन्दी ही नही, दुनिया की किसी भी भाषा का बोलना और लिखना सम्भव है। अत हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रजाति और भाषा मे कोई सम्बन्ध नही है जब कि भाषा और सस्कृति का सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ है।[1]

श्री सापिर (Sapir) ने भाषा तथा संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध पर अत्यधिक वल दिया है। उनका कहना है कि अगर हमे किसी समाज के विषय मे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है तो उस समाज की भाषा का ज्ञान पहले प्राप्त करना होगा क्योंकि जब तक भाषा का ज्ञान न होगा तब तक उस समाज के लोगों के मूल विचारो तथा भावनाओ, विश्वासो, लोक-कथाओ, पौराणिक गाथाओं आदि के सम्बन्ध मे भी हमे कोई भी जानकारी प्राप्त न हो सकेगी। इसका कारण यह है कि लोक-जीवन के इन पक्षों का परिचय हमे भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। इन्हे जानने और वैज्ञानिक रूप से जानने का और कोई रास्ता नही है। श्री सापिर ने इस बात पर भी बल दिया है कि प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण सस्कृति को या सास्कृतिक आवश्यकताओं को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त होती है। इस अर्थ मे प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण सस्कृति को अपने मे छिपाये या सुरक्षित रखती है। इस कारण अगर सस्कृति के रहस्य को जानना है तो भाषा के द्वार को पहले खोलना होगा। भाषा के माध्यम से ही विश्व-दर्शन या किसी समाज-विशेष का दर्शन सम्भव है। श्री सापिर ने इसी कारण स्पष्ट ही लिखा है कि भाषा और हमारी विचार-धारा इस प्रकार एक-दूसरे से घुली-मिली हुई हैं कि उन्हें पृथक् नही किया जा सकता है; एक अर्थ में वे दोनों एक ही हैं।[2]

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानवशास्त्रीय अध्ययन, और विशेषकर आदिकालीन समाज के अध्ययन मे भाषा का महत्त्व अत्यधिक है। इस अति उत्तम उदाहरण मे ईसाई मिशनरी के लोग आते हैं। इनका प्रमुख कार्य जनजातीय समाजों मे जाना और उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना था। परन्तु इस काम मे सर्व-

1. E. A. Hoebel, *op cit.*, p. 565.

2. "Language and our thought-grooves are in extricably inter-woven, are, in a sense, one and the same"—Edward Sapir, *Language*, New York, p. 232.

प्रथम उन्हे उनकी भाषा सीखनी पडती थी तब कही वे उनके आधारभूत धार्मिक विश्वासो को समझ पाते थे और फिर उसी के अनुसार अपनी योजना बनाकर उनको धर्म परिवर्तन करने के लिए कहते थे।

श्री बोआस ने लिखा है कि "हमार लिए यह कहना ही उचित होगा कि भाषा संस्कृति की अवस्था की एक प्रतिच्छाया है और अपने विकास मे सस्कृति की मांगो का अनुसरण करती है।"[1] परन्तु साथ ही, श्री बोआस ने यह भी लिखा है कि सस्कृति पर भाषा का प्रभाव भी स्पष्टत: पड़ता है। शब्द और वाक्य भी सास्कृतिक प्रतीक हैं और उनमे उतना ही उद्वेग छिपा हुआ है जितना कि सस्कृति के अन्य प्रतीकों मे। एक देवता का नाम उच्चारण करने मे जो उद्वेग प्रकाश पाता है, सास्कृतिक दृष्टिकोण से उसका महत्त्व कम नहीं है। उदाहरणार्थ, 'प्रजातत्र' या 'स्वतन्त्रता' या 'बन्देमातरम्' या जयहिन्द' शब्द हमे किसी भी सीमा तक प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, इसके अनेक उज्ज्वल दृष्टात मानव-इतिहास मे बिखरे पडे हुए हैं। यह सब-कुछ ही भाषा के प्रभावो का परिणाम नही है, फिर भी इनसे भाषा तथा सस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सामाजिक जीवन मे भाषा के महत्त्व का पता चलता है।

भाषा का सर्वप्रथम महत्त्व यह है कि इसके माध्यम से विचारो का आदान-प्रदान सम्भव होता है। अर्थात् भाषा ही सामाजिक अन्त.क्रिया का आधार है। सामाजिक उन्नति या विकास के लिए तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण मे सामाजिक अन्त.क्रिया का महत्त्व वास्तव मे अत्यधिक है। भाषा के माध्यम से माता, पिता, मित्र व शिक्षक तथा बालक मे जो अन्त.क्रिया होती रहती है उसी के परिणामस्वरूप एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी एक सामाजिक प्राणी मे बदल जाता है अर्थात् बालक का समाजीकरण सम्भव होता है। अत. स्पष्ट है कि मानव सभ्य भाषा के कारण है।

भाषा के माध्यम से विभिन्न समाजो के बीच केवल विचारो का ही आदान-प्रदान नही होता है बल्कि आविष्कारो का भी प्रसार सम्भव होता है। इससे सामजिक उन्नति की प्रक्रिया सरल हो जाती है। यद्यपि अब भी भाषा की भिन्नताओ के कारण विभिन्न समाजो के बीच अन्त क्रिया या आदान-प्रदान पूर्ण मात्रा मे नही हो पाता है, फिर भी एक 'विश्व-राज्य' का जो सपना आज भी हम लोग देख रहे हैं, वह एक-भाषा के आधार पर ही सम्भव है।

डा० दुबे ने लिखा है कि "भाषा के माध्यम से मानवीय विचार और क्रियाएँ विस्तार पाने के अतिरिक्त मौलिक परम्परा का रूप ग्रहण कर स्थायित्व भी पाती हैं।" जैसा कि हम पिछले एक अध्याय मे बता चुके हैं, मौखिक परम्परा के रूप मे प्रथा, पौराणिक कथा, लोक-गीत, लोक-गाथा आदि की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही सम्भव है और इनकी अभिव्यक्ति से सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त हो जाता है। भाषा के आधार पर अनेक सास्कृतिक तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित

---

1. "We should rather say that language is a reflection of the state of culture and follows in its development the demand of culture."—Franz Boas, *General Anthropology*, New York, 1938, p. 142.

होते रहते हैं। इस अर्थ मे भाषा संस्कृति की वाहक (vehicle) है।

श्री बोआस (Boas) के अनुसार ऐतिहासिक पुनर्निर्माण (historical reconstruction) मे भी भाषा का पर्याप्त महत्त्व है। एक मानव-समूह जिस स्थान से आकर एक समाज-विशेष मे बस गया है इसका पता भाषा-सम्बन्धी प्रमाणो से सरलता से लगाया जा सकता है। सस्कृति के दूसरे पक्षो के बारे मे भी भाषा के अध्ययन से पता लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अगर एक प्रविधि या यत्र को किसी विदेशी नाम से पुकारा जाता है तो हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वह प्रविधि या यंत्र किस देश की नकल है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम अपने शब्दो को दोहरा सकते हैं कि भाषा मानव की सबसे बडी शक्ति है। भाषा की सहायता से ही मानव मनुष्य के रूप मे, प्रगतिशील सामाजिक प्राणी के रूप मे जीवित है, अमर है। भाषा के कारण ही मानव पशु-स्तर से कही ऊँचे पर है।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer : *An Introduction to Social Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959.

2. Boas, F *General Anthropology*, D. C Heath and Co. New York, 1938

3. Calverton, V F : *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931

4 Herskovits M. J *Man and his Works*, Alfred A. Knopf, New York, 1956

5. Hoebel, E A : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co; New York, 1958

6 Kroeber *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co, New York, 1948

7 Titiev, M *Introduction to Cultural Anthropology*, Henry Holt and Co , New York, 1959.

18 आदिकालीन कानून, न्याय तथा सरकार
(Primitive Law, Justice and Government)

समाज एक अखण्ड व्यवस्था नही है। इसके अन्तर्गत अनेक भाग तथा उपभाग क्रियाशील रहते हैं। इनमे से प्रत्येक भाग तथा उपभाग के अनेक सदस्य होते है जो कि अपने-अपने हितो की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। अगर इनमे से प्रत्येक को अपनी इच्छानुसार या मनमाने ढग से काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो समाज की सरचना एक दिन मे ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। केवल इतना ही नही, प्रत्येक समाज को सदा ही यह डर होता है कि कही बाहर का कोई समूह उस पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन न कर ले। इसीलिए बाहरी तथा आन्तरिक दोनो ही प्रकार के आक्रमणो से सामाजिक सरचना शान्ति एव सुव्यवस्था की रक्षा के लिए प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिकालीन हो या आधुनिक, मे कानून, न्याय तथा सरकार की व्यवस्था होती है। सार रूप मे, प्रत्येक समाज मे कानून अपने समाज के सदस्यो के लिए व्यवहार के कुछ निश्चित नियमो को प्रतिपादित करता है, न्याय उन नियमो (कानूनो) को तोडने वाले को दण्ड देता है और उनका पालन करने वाले के हितो की रक्षा करता है और सरकार देश के अन्दर शान्ति और सुव्यवस्था को बनाये रखने या शासन-प्रबन्ध करने तथा बाहरी आक्रमणो से देश की रक्षा करने का काम करती है। अत. स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज को कानून, न्याय तथा सरकार की आवश्यकता होती है, चाहे इनका स्वरूप कितना ही अस्पष्ट क्यो न हो। इन तीनो को एकसाथ मिलाकर जो सगठन बनता है, उसे राजनैतिक व्यवस्था कहते हैं। आदिम समाज के सन्दर्भ मे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने राजनैतिक सगठन को तीन श्रेणियो मे बाटा है जो कि निम्नवत् है[1]—

(1) प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे राजनैतिक सगठन आते है जिनमे कि कानून, न्याय तथा सरकार का रूप इतना अस्पष्ट है कि उन्हे वास्तव मे राजनैतिक सगठन कहना उचित न होगा। इन समाजो मे नेताओ का कोई निश्चित स्वरूप नही होता, इस कारण इनका स्थानीय समूह या परिवारो पर कोई नियन्त्रण नही होता। ऐसे समाजो के अन्तर्गत छोटे-छोटे समूह होते हैं जो कि अत्यधिक छिटके होते है। जनसख्या भी बहुत कम होती है। इस कारण राजनैतिक व्यवस्था का सगठित रूप भी विकसित नही हो पाता है।

(2) द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत राजनैतिक आधार पर कुछ सगठित जनजातियाँ, झुण्ड (band) आदि आते हैं। इनमे प्रथम श्रेणी के समूहो की अपेक्षा जनसख्या और

1 Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959 p. 503.

आर्थिक उत्पादन की मात्रा कुछ अधिक होती है। एक समूह अपने पास-पड़ोस के समूहों पर कभी कभी आक्रमण भी करता है, परन्तु इन आक्रमणों का उद्देश्य दूसरे समूहों पर शासन करना नही होता, वरन् केवल कुछ आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त करना या दूसरे समूह को हराकर वहाँ से निकाल देना होता है।

(3) तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे समाज आते हैं जो कि जनसंख्या तथा आर्थिक उत्पादन की दृष्टि से उपरोक्त दो श्रेणियो से कही अधिक उन्नत अवस्था में हैं। इन समाजो मे राजनैतिक सगठन इतना व्यवस्थित होता है कि ये दूसरे समूहों को पराजित करके या तो उनसे हर्जाना वसूल करते हैं या उन्हे निम्न वर्ग के रूप मे अपने मे मिला लेते हैं। ऐसे समाजो मे शासन की बागडोर एक वंशपरम्परागत कुलीन समूह के हाथ मे रहती है।

आदिम समाजो की राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि इन समाजों मे राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप इतना संगठित नही होता जितना कि आधुनिक समाजो मे। इनका शासन-प्रबन्ध प्राय. स्थानीय समूहो मे बँटकर वशपरम्परागत मुखिया के द्वारा ही होता है, जो कि प्रथा, धर्म और अन्य अनेक अन्धविश्वासों के आधार पर शासन करता है और समूह मे शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखने का प्रयत्न करता है। आदिम समाजो के राजनैतिक सगठन के इस पक्ष को ध्यान मे रखते हुए हम अब इन समाजों मे पाये जाने वाले कानून, न्याय तथा सरकार की प्रकृति तथा स्वरूप की विवेचना करेंगे।

आदिम कानून
(Primitive Law)

कानून क्या है ?
(What is Law ?)

प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार व्यवहार या क्रिया करने नही दिया जाता। मानवीय क्रिया और अन्त क्रिया के दौरान मे व्यवहार करने के अनेक सामान्य रूप प्रचलित हो जाते हैं जिन्हे उस समाज के सब या अधिक्तर लोग मानते हैं। जनता कि इन रीतियो को जनरीति (folk ways) कहते हैं। यह जनरीति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। इस हस्तान्तरित होने के दौरान मे इसे अधिकाधिक समूहों की अभिमति प्राप्त होती जाती है, क्योकि प्रत्येक पीढी का सफल अनुभव इसे और भी दृढ बना देता है। समाज मे मान्यताप्राप्त वह जनरीति, जो पीढी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है, प्रथा कहलाती है। प्रथा को सामाजिक जीवन मे अधिक दृढ़तापूर्वक लागू किया जाता है और इसकी अवहेलना करने पर निन्दा और पालन करने पर प्रशसा होती है। परन्तु प्रथा को प्रतिपादित करने, लागू करने तथा उसके उल्लघन करने पर अपराधी को दण्ड देने के लिए कोई सगठित शक्ति नही हुआ करती है। प्रथा तो सामाजिक क्रिया, अन्त क्रिया और प्रतिक्रिया के दौरान मे स्वत. क्रियाशील रहती है। इसके विपरीत जब कोई सगठित शक्ति मानव-व्यवहार से सम्बन्धित किसी नियम को प्रतिपादित करती, उसे

लागू करती तथा उसका उल्लंघन करने वाले को दण्ड देती है, तो उस शक्ति के द्वारा प्रतिपादित उस नियम को कानून कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, **कानून मानव-व्यवहार से सम्बन्धित वह नियम है जिसे प्रतिपादित करने, उसे लागू करने तथा उसके उल्लंघन करने वाले को दण्ड देने का उत्तरदायित्व एक संगठित शक्ति पर हो।**

श्री कारडोजो ने कानून की परिभाषा निम्नलिखित शब्दो मे की है, 'कानून आचरण का वह सार नियम है जिसे कि इस निश्चितता से प्रतिपादित किया जाता है कि अगर भविष्य मे उसकी सत्ता को चुनौती दी गई तो उसे अदालतों के द्वारा लागू किया जायगा।'[1] श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, *"कानून एक सामाजिक नियम है जिसका* उल्लघन होने पर धमकी देने या वास्तव मे शारीरिक बल का प्रयोग करने का अधिकार एक ऐसे समूह को होता है जिसे ऐसा करने का समाज द्वारा मान्य विशेषाधिकार प्राप्त है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि कानून का आधार समाज की शक्ति है। यह शक्ति समाज अपने एक समूह को दे देता है जिसे कि आधुनिक भाषा मे सरकार कहते हैं। सरकार कुछ नियमो को बनाती है, और यह नियम उस क्षेत्र मे रहने वाले सभी व्यक्तियों या समूहो पर समान रूप से बिना किसी अपवाद के लागू होते हैं। इन नियमो का निर्माण राजनैतिक तथा सामाजिक सगठन या सुव्यवस्था तथा प्रत्येक के अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। इसीलिए इनका पालन अनिवार्य होता है। आधुनिक समाज मे सरकार, इन नियमो अर्थात् कानूनो का पालन हो रहा है या नही, यह देखने के लिए तथा इनका उल्लघन करने वालो को दण्ड देने के लिए पुलिस, कोर्ट आदि को नियुक्त करती है। इस प्रकार कानून को बनाने का उत्तरदायित्व सरकार पर और उसे लागू और पालन करवाने तथा अपराधी को दण्ड देने का भार पुलिस व कोर्ट पर होता है। परन्तु आदिम समाजों मे कानून बनाने, उसे लागू करने तथा दण्ड देने के सम्बन्ध मे उतना सुव्यवस्थित और स्पष्ट सगठन नही मिलता है जितना कि आधुनिक समाजो मे। इस कारण आदिम समाजो मे कानून की वास्तविक प्रकृति क्या होती है, यह जान लेना आवश्यक होगा।

आदिकालीन कानून की प्रकृति
(Nature of Primitive Law)

आधुनिक दृष्टिकोण से जब हम कानून की परिभाषा को आदिम समाजों पर प्रयुक्त करते हैं तो हम यह पाते हैं कि वह परिभाषा आदिम समाजों में ठीक-ठीक नही बैठती है। दुनिया के अनेक आदिम समाजो मे हम यह पाते है कि इन समाजो मे न कोई अदालत

---

1 "Law is a principle rule of conduct so established as to justify a prediction with reasonable certainty that it will be enforced by the courts if its authority is challenged "—B N Cardozo, *The Growth of the Law*, 1924, p 52 *cf* H Cairns, 'Law and Anthropology', *The Making of Man*, 1931, p 337

2. "A law is a social norm the infraction of which is sanctioned in threat or in fact by the application of physical force by a party possessing the socially recognized privilege of so acting "—E A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p 471.

है और न ही पुलिस-संगठन । अनेक आदिम समाजो मे तो कानून का उल्लंघन होने पर उसका विचार परिवार या नातेदारो के द्वारा ही हो जाता है । दण्ड का स्वरूप भी आधुनिक समाज से काफी भिन्न होता है । 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त लागू किया जाता है और उसे उसी कार्य के अनुरूप सज़ा दी जाती है, या मार डाला जाता है या मार-पीटकर छोड़ दिया जाता है। परन्तु इस अन्तर के अलावा भी आदिम समाजो तथा आधुनिक समाजों के कानून मे तीन और प्रमुख अन्तरों का उल्लेख श्री लोई (Lowie) ने किया है[1]—

(1) नातेदारी (Kinship)—अगर हम आधुनिक समाजों का विश्लेषण करें तो यह पायेंगे कि यहां कानून का विस्तार एक क्षेत्र के अन्तर्गत होता है । भारतवर्ष मे क्षेत्र (territory) के आधार दो हैं—एक दो राज्य-सरकार और दूसरा केन्द्रीय सरकार। बहुत से कानून हैं जो कि राज्य-सरकार पास करती है और ये कानून उस राज्य के क्षेत्र के अन्दर ही लागू होते हैं। इसके विपरीत केन्द्र ऐसे कानून को भी पास कर सकता है जो कि सारे देश में लागू होता है। दोनों प्रकार के कानूनो का ही एक निश्चित क्षेत्र होता है और ये कानून उस क्षेत्र मे रहने वालो पर लागू होते हैं। परन्तु आदिकालीन कानूनो का यह पक्ष अत्यन्त ही दुर्बल प्रतीत होता है। आदिम समाजों मे कानूनो का प्रतिपादन किसी क्षेत्र के आधार पर नही होता, बल्कि नातेदारी के आधार पर होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन समाजो मे भूमि या क्षेत्र का महत्त्व उतना नही है जितना कि नातेदारी या रक्त-सम्बन्ध का। नातेदारी के महत्त्व की एक सामान्य अभिव्यक्ति यह है कि इन समाजो मे मुखिया, शासक या राजा प्रायः वशानुगत होता है और पिता की मृत्यु के बाद उसका लडका स्वत ही शासक या मुखिया मान लिया जाता है। रक्त-सम्बन्ध के आधार पर समाज मे सगठन और सुव्यवस्था कायम रखना इन समाजो मे काफी सरल भी होता है क्योकि इससे दृढ अन्य किसी भी बन्धन का आविष्कार आदिम लोग कर नही पाये हैं। रक्त-सम्बन्ध को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता, इस कारण रक्त-सम्बन्धियो के द्वारा जो कानून बनाया जाता है उसे लागू करना तथा उसका पालन करवाना सरल हो जाता है। प्राय यह देखा जाता है कि आदिम समाजो मे प्रत्येक गोत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण राजनैतिक कार्य होते हैं। एक गोत्र का मुखिया अपने गोत्र के लिए कानून बनाता है और उसका पालन करवाता है। यूगाण्डा मे एक गोत्र के मुखिया से यह आशा की जाती है कि वह इस प्रकार के कानूनों को बनायेगा जिसमे कि उस गोत्र के सदस्यों के हितो की रक्षा हो सके।

(2) आचार तथा जनमत (Ethics and Public Opinion)—आदिकालीन कानून की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इन कानूनो की विवेचना आचार के सामान्य नियमो तथा जनमत से पृथक् करके नहीं की जा सकती। एक अर्थ मे आदिम समाजो मे कानून प्रथा, आचार, धर्म आदि के साथ इतना अधिक घुला-मिला होता है कि इनको एक-दूसरे से अलग करना बहुत कठिन होता है। वास्तव मे प्रथा, आचार, धर्म आदि

1 See R H Lowie, *Social Organization*, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1956, Chapter VII

से पृथक् आदिकालीन कानूनों का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने आदिकालीन कानून के इस पक्ष पर बल देते हुए लिखा है कि जनजातीय समाजो मे कानून मुख्यतः कर्त्तव्यों और अधिकारों का एक योग है जिसे कि परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा तथा प्रचार के आधार पर क्रियाशील रखा जाता है।[1] आदिम समाजो के कानूनों पर प्रथा, आचार और धर्म का ही केवल प्रभाव नहीं होता है, बल्कि जनमत का भी बहुत प्रभाव हुआ करता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आदिम समाजों का आकार आधुनिक समाजों की भाँति विशाल नहीं होता है। सरल तथा छोटे होने के कारण इन समाजों मे सामाजिक अन्तःक्रिया का क्षेत्र बहुत ही कम होता है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानता और पहचानता है और साथ ही अनेक आर्थिक तथा सामाजिक विषयों मे वे एक-दूसरे पर निर्भर भी होते हैं। इन आदिम समाजों के विषय मे एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक समाज के सदस्यो की प्रमुख समस्याएँ प्रायः एकसमान होती हैं क्योकि हर एक समाज मे आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ प्रायः सबके लिए एक समान ही होती हैं। समस्याएँ प्रायः एक-सी होने के कारण जनमत के विभिन्न रूप भी विकसित नही हो पाते। एक-सा होने पर भी यह जनमत बहुत प्रभावशाली होता है। आदिम समाज के सदस्यो की पारस्परिक अन्योन्याश्रितता के कारण जनमत का यह प्रभाव और भी अधिक होता है। इसी कारण आदिम समाजों के जनमत मे वह सत्ता निहित होती है जो कि व्यक्ति के व्यवहारों पर नियंत्रण और शासन करती है। इस जनमत का डर प्रत्येक सदस्य को होता है। जनमत जो व्यवहार उचित मान ले, उसे उसी रूप मे स्वीकार कर लेना ही ठीक है अन्यथा समूह से बहिष्कृत हो जाने का डर सदैव रहता है। प्रत्येक सदस्य इस विषय मे सचेत है और यह देखता है कि दूसरे लोग जनमत के निर्देश के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति एक 'पुलिसमैन' के रूप मे इस अर्थ मे कार्य करता रहता है कि वह अन्य लोगों के व्यवहार पर कड़ी निगरानी रखता है। इस कारण इन 'पुलिसमैनो' की निगाह बचाकर कुछ भी करना असम्भव है और किसी भी रूप मे किसी नियम को तोड़ने पर उस अपराध से रक्षा पाने की सम्भावना भी उतनी ही कम है। इन समाजों मे एक व्यक्ति समूह की परवाह किए बिना जीवित रहने का सपना नही देख सकता, इसलिए जनमत के सामने उसे झुकना पड़ता है; और जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को घनिष्ठ रूप से जानता-पहचानता है वहाँ सामाजिक नियम को तोडकर व्यक्ति कैसे बचकर या छिपकर रह सकता है। एकसमान जनमत एकसमान नियमो को जन्म देता है जो कि समान रूप से सब पर लागू होते हैं। इन नियमो को, जो कि धर्म, ,,परम्परा तथा आचार पर आधारित होते हैं, आधुनिक अर्थ मे कानून कहा जा सकता आदिवासी कानून,ूसरी बात है, परन्तु यदि कानून को समाज द्वारा मान्यताप्राप्त समूह बिना किसी कारण हारो के नियन्त्रक के रूप मे मान लिया जाय तो आदिम समाज के पारस्परिक अन्योन्य न ही हैं, विशेषकर इस अर्थ मे कि इनके पीछे समूह की अभिमति है, ये ऐसे तत्त्व हैं जो कि

किया है कि आदिम

1. Malinowski, *Crime and Custom in Savage Society*, New York,

समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा लागू किये जाते हैं तथा इनको तोड़ने पर व्यक्ति को सजा मिलती है।

(3) अपराध और टार्ट (Crime and Tort)—सामान्यत: अपराध वह कार्य है जो कि समूह के हित के लिए घातक है। राज्य या समुदाय अपने हितों की रक्षा के लिए कुछ नियमो को प्रतिपादित करता है; इन नियमों को तोड़ना या इनके विरुद्ध काम करना ही अपराध है। इनके विपरीत एक व्यक्ति के व्यक्तिगत हितों के विरुद्ध काम करने को 'टॉर्ट' (tort) कहते हैं। इससे समुदाय, राज्य या जनता को नहीं, बल्कि एक व्यक्ति को हानि पहुँचती है। आधुनिक समाजो में इन दो प्रकार के अपराधों के बीच स्पष्ट भेद माना जाता है। अपराध के मामलों में राज्य अपराधी के विरुद्ध कार्यवाही करता है और उसे सजा देता है। परन्तु टॉर्ट के मामलों में राज्य से कोई मतलब नहीं होता है। जिस व्यक्ति के विरुद्ध 'टॉर्ट' किया गया है वह व्यक्ति (न कि राज्य) अपराधी के विरुद्ध अदालत मे कार्यवाही करता है और उससे हर्जाना वसूल करता है या उसे सजा दिलवाता है। परन्तु आदिम समाज मे अपराध और टॉर्ट में विशेष अन्तर नही माना जाता। अधिकतर व्यक्ति, नातेदारों या गोत्र के विरुद्ध अपराध होता है। अगर कोई एक व्यक्ति को हानि पहुंचाता है तो वह व्यक्ति या उसके रिश्तेदार हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति या उसके रिश्तेदारों से बदला लेते हैं। उसी प्रकार अगर एक गोत्र के किसी सदस्य को दूसरे-गोत्र के किसी सदस्य ने हानि पहुँचाई है तो दूसरा गोत्र पहले गोत्र से बदला लेता है। दोनों ही क्षेत्र में अपराध करने वाला और उसे सजा देने वाला या वाले दो व्यक्ति या उनके नाते-रिश्तेदार ही होते हैं। समाज समग्र रूप मे अपराध के मामले मे सामान्यत: दखल नहीं देता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आदिम समाजो मे अपराध के विरुद्ध समाज की कोई प्रतिक्रिया होती ही नहीं है। ऐसे अनेक अवसर होते हैं जबकि किसी सामाजिक नियम को तोड़ने पर समग्र समाज उसका विरोध करता है। परन्तु यह तभी किया जाता है जबकि समाज को यह डर होता है कि उस अपराधी-कार्य-विशेष से पूरे समाज को नुकसान पहुच सकता है। उदाहरणार्थ, एस्कीमो के समाज मे किसी व्यक्ति को मार डालना एक व्यक्तिगत अपराध या 'टॉर्ट' मात्र है और इसलिए इस विषय मे समग्र समाज कोई कार्यवाही नही करता। परन्तु यदि यह शक हो जाय कि कोई जादू-टोना कर रहा है, अथवा कोई व्यक्ति भूत-प्रेत या डाइन के प्रभाव से प्रभावित होकर कार्य कर रहा है तो उसके विरुद्ध सारा समाज तुरन्त जाग उठता है और आवश्यक कार्यवाही करके उसे दबा देता है या सजा देता है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि क्रो इण्डियन (Crow Indian) इस नियम का भी पालन नहीं करते। वहां यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी व्यक्ति पर जादू-टोना करता है तो इस विषय में समग्र समूह कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता है। जिस पर जादू किया जाता है वह स्वयं ही उसका उत्तर देता है अर्थात् उसके विरोध में जादुई प्रति[illegible]ना है कि इनको

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आदिम समाजों मे [illegible]ार, धर्म आदि आधार, धर्म आदि होता है, जिसके फलस्वरूप अधिकतर अपराध को परिभाषित किया जाता है। 'पाप' ईश्वरीय नियमों का उल्लघंन है, इसलि[illegible] on Paul Ltd.,

किया जाता है कि अगर कोई सामाजिक नियम को तोडता है तो उसे ईश्वर ही सजा देगा। यह विश्वास अपराध को रोकने या अपराधी को दण्ड देने के विषय मे समूह या समाज के उत्तरदायित्व को घटा देता है; अधिक उत्तरदायित्व अलौकिक शक्ति (supernatural power) का होता है।

कानून के पीछे अभिमति
(Sanction behind the Law)

आदिम समाजों मे पाये जाने वाले कानून के अध्ययन से यह पता चलता है कि इन समाजो मे कानून के पीछे दो प्रकार की अभिमति होती है—पहली तो सकारात्मक अभिमति (positive sanction) और दूसरी नकारात्मक अभिमति (negative sanction)। इन दोनों प्रकार की अभिमतियों के नाम से ही स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे अभिमति आती हैं जो कि कुछ कार्यों को करने का आदेश देती हैं। इस प्रकार की अभिमति के द्वारा उन कार्यों को करवाया जाता है जो कि उस समूह की दृष्टि मे अच्छे कार्य हैं। यह विश्वास किया जाता है कि इन कार्यों द्वारा समूह के हितो की रक्षा होगी और इस कारण ये कल्याणकारी हैं। अत. जो इनसे सम्बन्धित नियमो का पालन करते हैं, समाज उनकी प्रशसा करता है या अन्य रूप मे उनको पुरस्कार (reward) देता है। इसके विपरीत नकारात्मक अभिमति के अन्तर्गत वे नियम आते है जोकि कुछ कार्यों को करने का निषेध करते हैं। इस प्रकार की अभिमति के द्वारा उन कार्यों को करने से रोका जाता है जो कि समूह के हित के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। इस कारण जो ऐसे कार्यों को करते हैं उनकी समाज द्वारा निन्दा की जाती है या अन्य प्रकार से उनको दण्ड मिलता है।

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि आदिम समाजो मे कानून के पीछे वास्तविक अभिमति जनमत (public opinion) है, जिसका कि महत्त्व इन समाजों में अत्यधिक है। आदिम समाज छोटा, सरल तथा एक आमने-सामने का (face to face) समाज होता है और प्रत्येक व्यक्ति अन्य सबको व्यक्तिगत रूप से जानता-पहचानता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक को अन्य सबकी परवाह करनी पडती है। एक कार्य के विषय मे दूसरे क्या सोचते हैं या उस कार्य को करने पर दूसरे क्या सोचेंगे, इस सम्बन्ध मे एक प्रकार की जागरूकता आदिम लोगों में सदैव होती है। जनमत का भय आदिम मानव पर सदा ही छाया होता है, क्योंकि समाज से बहिष्कार उसके लिए भयकर सिद्ध हो सकता है, यह बात वह जानता है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने इसका एक अति उत्तम तथा स्पष्ट कारण बताया है। आपके मतानुसार आदिवासी कानूनो का पालन अन्धो की भाँति या गुलामो की भाँति नही करते और न ही बिना किसी कारण के आप-से-आप नियमो का पालन किया जाता है। आदिम समाजों मे पारस्परिक अन्योन्याश्रितता (inter-dependence) तथा एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बोध ऐसे तत्त्व हैं जो कि कानूनों का पालन करवाते है। श्री मैलिनोवस्की ने यह प्रमाणित किया है कि आदिम समाजों मे प्रत्येक व्यक्ति या परिवार समग्र समूह पर आश्रित है।

समूह के बिना परिवार अथवा व्यक्ति अपने में अपूर्ण है। अपने अस्तित्व के लिए व्यक्ति या परिवार को समूह की सहायता लेनी पड़ती है। यदि कोई व्यक्ति समूह के नियमों का पालन नहीं करता तो समूह के अन्य सदस्य उसके लिए कोई कार्य नहीं करेंगे। आदिवासी के जीवन में यह एक भयंकर परिस्थिति है कि उसे सब-कुछ स्वयं ही करना पड़े। एक व्यक्ति या परिवार के लिए दूसरे व्यक्ति या परिवार की सहायता के बिना जीवित रहना असम्भव है। इस कारण, श्री मैलिनोवस्की के अनुसार, कानूनों का पालन दास के रूप में या आप-से-आप ही नहीं, अपितु जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। आदिम सामाजिक जीवन में आर्थिक आवश्यकताएँ इन आवश्यकताओं में प्रधान हैं जो कि समाज के नियमों या कानूनों का पालन करवाती हैं। ट्रोबियंड द्वीप के निवासियों के जीवन से इस सत्य के अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

परन्तु यह कहना कि आदिम समाजों में लोग केवल मात्र अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही कानूनों का पालन करते हैं, गलत होगा। अन्य अनेक सहायक कारणों का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आदिम समाजों में अज्ञानता का राज्य है। अज्ञानता के साथ कुसंस्कार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदिम मानव भी ऐसे अनेक कुसंस्कारों से घिरा होता है। इनमें जादू तथा धर्म-सम्बन्धी कुसंस्कार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आदिम लोगों में यह विश्वास बहुत प्रबल है कि सामाजिक निषेधों (taboos) का उल्लंघन अलौकिक शक्ति तथा पूर्वजों के विरुद्ध कार्य है। श्री टायलर (Tylor) ने इस बात पर बल दिया है कि आदिम समाजों में लोग यह विश्वास करते हैं कि पूर्वजों की आत्मा अमर है और वह किसी-न-किसी स्थान पर निवास करती व अपने वंशजों के कार्य-कलापों को देखती रहती है। अत: अगर कोई सामाजिक नियमों को तोड़ता है तो वे पूर्वज उससे नाराज हो जाते हैं और उसे सजा मिलती है। इसी प्रकार उनमें यह विश्वास भी प्रबल होता है कि अनेक नियमों का पालन ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाना ही है और ऐसा न करने पर अलौकिक शक्ति उन्हें भयानक दण्ड देगी। जादुई क्रियाओं में भी आदिम लोगों का विश्वास होता है। वह यह विश्वास करते हैं कि कुछ नियमों का उल्लंघन करने पर जादुई प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं जो कि उन्हें नष्ट कर देंगी।

अत: स्पष्ट है कि आदिम समाजों में एक ओर आर्थिक आवश्यकताओं तथा दूसरी ओर जादू एवं धर्म-सम्बन्धी विश्वासों के कारण सामाजिक नियमों या कानूनों का पालन होता है। अधिकतर आदिम समाजों में ये दोनों पक्ष या कारक एकसाथ क्रियाशील रहते हैं।

कानून तथा प्रथाएँ
(Laws and Customs)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि आधुनिक दृष्टिकोण से कानून उन नियमों का संग्रह है जो राज्य द्वारा मान्य होते हैं और राज्य या राज्य के अधीन विशेष समितियों (पुलिस विभाग अदालत आदि) के द्वारा पालन कराये जाते हैं। इसका सूत्रपात अनेक

कारणों से, जिनमें प्रथाएँ भी सम्मिलित हैं, होता है; परन्तु कोई भी सामाजिक नियम कानून तभी बनता है जबकि राज्य इसे स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है और इसे अपने नागरिकों पर एक अनिवार्य नियम के रूप से लागू करता है। कानून के पीछे [illegible] की अभिमति (sanction) होती है। यदि कोई कानून को तोड़ता है तो उसे [illegible] दण्ड देता है।

अगर हम कानून के उपरोक्त स्वरूप को स्वीकार करें तो स्पष्ट है कि आदिकालीन समाजों में कानून का कोई स्पष्ट रूप न था। इसका कारण यह था कि कानून बहुत-कुछ प्रथा-संहिता (code of customs) तथा सामाजिक नियमों के साथ घुला-मिला था। यह सच है कि प्राचीनकाल मे कुछ ऐसे सामाजिक नियम या प्रथाएँ होती थी जो वही-कार्य करती थी जो आज कानून करता है। फिर भी इन्हे कानून नहीं कहा जा सकता। प्रथाएँ कानून नहीं हैं क्योंकि प्रथाओं की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। जबकि कानून राज्य द्वारा बनाये जाते और लागू किये जाते हैं, प्रथाएँ सामाजिक कार्य-विधि हैं जो कि सामाजिक अन्तःक्रिया के दौरान मे धीरे-धीरे स्पष्ट और प्रचलित होती हैं। ये किसी विशेष समिति या संस्था द्वारा न बनायी जाती हैं, न लागू की जाती हैं और न उनकी रक्षा ही की जाती है। ये सामान्य स्वीकृति से बनी रहती हैं। ऐसी कोई विशेष शक्ति नही है जो हमें इस बात का आदेश देती है कि हम बड़ो का अभिवादन करें, त्योहारो पर फुलझड़ियाँ जलाएँ, घर को सजाएँ या विशेष अवसरों पर नए वस्त्र पहनें। फिर भी प्रथाएँ, बड़ी शक्तिशाली होती हैं और हम यह अनुभव करते हैं कि हम सबके जीवन के सभी अवसरो पर उनका प्रभाव है। ये सुबह से रात तक, युवावस्था से वृद्धा-वस्था तक हमारे कार्यों को सचालित करती हैं।

प्रथाओ और कानूनो मे अन्तर होते हुए भी ये दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं। सामाजिक व्यवहार को एक उचित मान (standard) पर लाने के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही कुछ प्रथाएँ बन जाती हैं और बाद मे सरकार द्वारा मान्य हो जाने पर ही ये [illegible] जाती हैं। सब कानून लिखित ही होगे, ऐसी कोई बात नही है—परम्परा या प्रथा को [illegible] सरकार मौखिक रूप से एक कानून का रूप दे सकती है। [illegible] अमेरिका [illegible] यह प्रथा थी कि राष्ट्रपति तीन बार (term) से अधिक चुनाव नही लड़ेगा। बाद मे इसे कानून का रूप दे दिया गया। इगलैंड मे अलिखित सविधान (unwritten constitution) तो सम्पूर्ण रूप से प्रथाओं पर ही आधारित है। प्रथा और कानून का यह सम्बन्ध आदिम समाजो मे तो और भी घनिष्ठ है। इन समाजो मे कानून अलिखित होते हैं और अधिकांशत मौखिक परम्परा के रूप मे प्रथा के साथ ही घुल-मिलकर जीवित रहते हैं। आदिम समाज का एक व्यक्ति चारो ओर से प्रथाओ द्वारा घिरा होता है। उसका सामाजिक जीवन, धर्म, अर्थ-व्यवस्था, कला, आमोद-प्रमोद आदि सब-कुछ प्रथाओं से प्रभावित और निर्देशित होता है। इन्हे वह उसी रूप मे स्वीकार कर लेता है जैसे कि वे हैं। इनमे से कुछ प्रथाओ को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और जनजातीय समूह का नेता या मुखिया उन्हे अधिक निश्चित रूप से सामाजिक परिस्थितियो में सदस्यो के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए लागू करता है और इन्हे तोड़ने वालों को दण्ड देता है। ये ही

आदिम समाजों के अलिखित कानून का रूप धारण कर लेती हैं। ये अलिखित होने पर भी इनसे सम्बन्धित धारणाएँ पर्याप्त स्पष्ट होती हैं क्योंकि कानूनों के उल्लंघन की घटनाएँ तथा उनके लिए दिये गए दण्ड समाज को (अर्थात् समूह के मुखिया को) स्मरण रहते हैं, और उन्हीं के आधार पर अलिखित कानून-संहिता (legal code) के साथ-साथ अलिखित दण्ड-संहिता (penal code) भी विकसित हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि आदिम समाजों मे कानून और प्रथा एक-दूसरे से इतना अधिक घुले-मिले हुए हैं कि इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा स्पष्ट नही है। आदिम समाजों मे व्यक्ति के अधिकतर व्यवहारों पर नियंत्रण प्रथा के द्वारा ही होता रहता है।

आदिम समाजों में न्याय
(Justice in Primitive Societies)

आदिम समाजों मे आधुनिक समाजों की भांति न्याय-व्यवस्था—अदालत, न्यायाधीश, वकील आदि नहीं होते। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि इन समाजों मे राजनैतिक संगठन का स्वरूप बहुत अस्पष्ट है। इन समाजों मे आधुनिक अर्थ मे राज्य, सरकार, न्यायालय आदि बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। फलतः सामाजिक नियमों को तोड़ने वालो को दण्ड और कानून का पालन करने वालों के हितों की रक्षा व उनके लिए न्याय की व्यवस्था करने के लिए अन्य संगठन अपनाया जाता है और वह है रक्त-सम्बन्धी समूह (kin groups) अपराधी को दण्ड देने या न्याय की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व इसी रक्त-सम्बन्धी समूह पर होता है जिसके सदस्य अपने को इस विषय मे सम्मिलित रूप से उत्तरदायी समझते हैं। अधिकतर जनजातियों का अपना एक वंशानुगत मुखिया होता है जो कि उस समूह की न्याय-व्यवस्था को परिचालित करता है। इस न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े-बूढ़ो की एक समीति (a council of elders) होती है जिसमे कि उस जनजाति के अन्तर्गत पाये जाने वाले रक्त-सम्बन्धी समूहो के प्रतिनिधि होते हैं। इनका कार्य मुखिया को न्याय करने के काम मे परामर्श देना तथा अपराधी को सजा देने के विषय में सहायता करना है। आदिम समाजो मे न्याय-व्यवस्था का यह स्वरूप अनेक कारणो से है जैसे, समाज का सरल और छोटा रूप, रक्त-सम्बन्धों की प्रधानता, आमने-सामने का सम्बन्ध, बाहरी जगत् से कम या न के समान सम्पर्क आदि। साथ ही यह बात भी है कि मौखिक परम्परा के रूप में अलिखित कानूनों या नियमों का पालन आदिम समाजों में लोग जनमत के डर से ही करते हैं। उदाहरणार्थ, क्रो (Crow) जनजाति के लोग सामाजिक नियमों को इस कारण नहीं तोड़ते कि वैसा करने पर उसके नाते-रिश्तेदार उसकी हंसी उड़ायेंगे और उसकी सामाजिक स्थिति गिर जायगी। जहाँ कि प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को घनिष्ठ रूप से जानता-पहचानता है और जहां रोज ही प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के सम्पर्क मे आना होता है, वहां किसी सामाजिक नियम को तोड़कर सबके लिए हंसी-मजाक की एक वस्तु बन जाना सबसे बड़ी सजा है। आदिम समाजों की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था इसी एक तत्व के कारण बहुत सरल हो जाती है। सामान्यतः इन समाजो की न्याय-व्यवस्था के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं—

सम्मिलित उत्तरदायित्व
(Collective Responsibility)

चूंकि आदिम समाजा में समूह से पृथक् एक व्यक्ति का कोई अस्तित्व हो ही नहीं सकता, इस कारण उसके समूह के लोग ही सम्मिलित रूप से उसके अपराध के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। यह भावना रक्त-सम्बन्धी समूहों मे और भी दृढ है। उदाहरणार्थ, आदिम समाजों में पाये जाने वाले गोत्र-संगठन (clan organization) को ही लीजिए। एक गोत्र के सदस्य स्वयं को रक्त-सम्बन्धी मानते हैं; इस कारण यदि गोत्र के किसी सदस्य के प्रति कोई दुर्व्यवहार करता है, उसे मारता, पीटता या अन्य किसी भी प्रकार से उसके प्रति कोई अन्याय करता है, तो उस गोत्र के सभी सदस्य उसका विरोध करने को तैयार हो जाते हैं और वास्तव मे अन्याय या अत्याचार करने वाले व्यक्ति से ही नहीं, अपितु उसके समूह से बदला लेते हैं क्योंकि गोत्र के सभी सदस्य समग्र या सम्मिलित रूप से अपने प्रत्येक सदस्य को सुरक्षा प्रदान करने के सम्बन्ध मे उत्तरदायी मानते हैं। इस सम्मिलित उत्तरदायित्व का एक दूसरा पक्ष भी है और वह यह कि गोत्र के किसी सदस्य के हीन कार्यों का उत्तरदायित्व और बदनामी सारे गोत्र के सदस्यो पर आती है। यह बात केवल गोत्र-समूहों के सम्बन्ध मे ही नहीं, बल्कि उन समूहों के सम्बन्ध मे भी सच है जिनमे कि गोत्र-व्यवस्था नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ, गोत्रविहीन हूपा (Hupa) जनजाति में अगर कोई इसके किसी सदस्य को मार डालता है तो ये लोग बदले मे हत्यारे के परिवार के किसी-न-किसी सदस्य को जरूर मार डालते हैं। इस सिद्धान्त को लागू करने का परिणाम यह होता है कि किसी भी व्यक्ति के द्वारा दूसरे समूह के किसी व्यक्ति के प्रति किये गये अपराध को एक समूह के द्वारा दूसरे समूह के प्रति अत्याचार या अपराध माना जाता है। इसी सिद्धान्त का दूसरा रूप यह है कि अपने ही समूह के अन्दर कोई व्यक्ति अपराध करता है तो उसे दण्ड देने का उत्तरदायित्व उसके ही रक्त-सम्बन्धी समूह को है; समग्र समाज को इस विषय मे परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे इस सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष के कुछ रोचक उदाहरण मिलते हैं। एक बार इस समाज मे दो हत्यारो (murderers) को कोई भी सजा नहीं दी गई और वह इसलिए कि उन्होंने अपने ही परिवार के दो व्यक्तियो की हत्या कुछ ऐसे कारणों से की थी जो कारण कि उस परिवार के अन्य जीवित सदस्यो के विचारों मे उचित ही था। ये लोग अपने आपस के लोगों के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही इससे भी अधिक घृणित कार्यों तक के लिए नहीं करते। जैसे, अगर कोई पिता अपनी कन्या के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अपराध करे, तो उसे उस कन्या की माता के परिवार के लोग इस आधार पर दण्ड दे सकते हैं कि उस पिता ने उनके विरुद्ध अपराध किया है, परन्तु उस व्यक्ति के अपने परिवार के लोग उसके विरुद्ध कोई भी कार्यवाही नहीं करेंगे।

जनजातीय संगठन के दृष्टिकोण से सम्मिलित उत्तरदायित्व का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है और इस कारण इस सिद्धान्त को सामान्य रूप से लागू भी किया जाता है। सामूहिक संगठन को बनाये रखने के लिए ही अगर एक व्यक्ति 'क' दूसरे किसी समूह

कई समाजों मे व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने की परीक्षा लेने का कार्य जादू और धर्म के अधिकर्त्ताओं पर छोड दिया जाता है। वे अपने परम्परागत तरीकों से उनकी परीक्षा करते हैं और फिर यह निर्णय देते हैं कि वे अपराधी हैं या नहीं। कई आदिम समाजो मे अपराध-निर्धारण करने की यह व्यवस्था है कि जिस व्यक्ति के विषय मे यह संदेह होता है कि वह अपराधी है, उससे नाना प्रकार की कसमे खिलायी जाती हैं और अगर वह व्यक्ति उन कसमो को खाकर यह कह देता है कि उसने अपराध नही किया तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है; पर यदि वह कसम नही खाता है या वैसा करने मे हिचकिचाता है तो उसे दोषी मानकर दण्डित किया जाता है। हमारे अपने भारतवर्ष मे भी पहले गाँव-पंचायत के पच लोग शपथों द्वारा सम्भावित अपराधी से उनके अपराध के सम्बन्ध मे या किसी घटना-विशेष के सत्य को जानने का प्रयत्न करते थे। यह कसम प्राय: ईश्वर की कसम, या बाल-बच्चो की कसम या गंगाजल हाथ मे लेकर कसम होती थी। शपथ के द्वारा अपराध का निर्धारण उस समाज मे ही सम्भव है जहाँ पर कि धार्मिक विश्वास या कसमों के पीछे अलौकिक शक्ति के प्रभाव के सम्बन्ध मे विश्वास प्रबल होता है। जो लोग इस शैली से एक व्यक्ति-विशेष के अपराधी होने या न होने के सम्बन्ध मे जानने का प्रयत्न करते हैं, उन्हे भी यह विश्वास होता है कि अगर अपराधी झूठी कसम खाता है तो उसे केवल अपने अपराध का ही नहीं, वरन् झूठी कसम खाने का भी दण्ड उस अलौकिक शक्ति के द्वारा मिल जायगा जिससे कि कोई भी अपराध, चाहे वह कितने ही गुप्त रूप से क्यो न किया जाय, छिपाया नही जा सकता।

प्रमाण
(Evidence)

न्याय करने के लिए अपराधी के सम्बन्ध मे कोई-न-कोई प्रमाण अवश्य ही होना चाहिए। प्रोफेसर हॉबहाउस का मत है कि समाजो मे अपराध के सम्बन्ध मे प्रमाणो को एकत्रित एक व्यक्ति के दोषी या निर्दोष होने की परीक्षा करने के लिए उतना नही किया जाता जितना कि समूह के अन्दर होने वाले झगडे तथा बदला लेने की भावना को रोकने के लिए। फिर भी सभी समाजो मे घटनाओं के सत्य को जानने और अपराध को प्रमाणित करने के लिए कोई-न-कोई तरीका अवश्य ही अपनाया जाता है। आदिम समाजो मे यह प्रमाण अधिकतर धर्म तथा जादू सम्बन्धी सिद्धान्तो के आधार पर इकट्ठा किया जाता है। इसी कारण इन समाजो मे अपराध का प्रत्यक्षदर्शियो की गवाहियो द्वारा प्रमाणित करना अनिवार्य नही होता है। 'अपराध के निर्धारण' के सम्बन्ध मे जो विवेचना ऊपर की गई है उससे यह स्पष्ट है कि प्रमाण कई तरीको से इकट्ठा किया जाता है। परन्तु उनमें दो तरीके प्रमुख हैं—पहला तो शपथ (oath) ग्रहण करके और दूसरा कठिन परीक्षा (ordeal) देकर।

पहले तरीके से अपराध को प्रामाणित करने के लिए सम्भावित अपराधी से शपथ लेने को कहा जाता है। वह अपने निर्दोष होने की शपथ लेता है। शपथ लेने की विधियाँ अलग-अलग समाज मे भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, क्रो (Crow) जनजाति मे एक

चाकू को मुह मे रखकर सूर्य को साक्षी मानकर परम्परा-स्वीकृत कुछ शब्दों का उच्चारण करते हुए शपथ ग्रहण करने की विधि है। सामोयड (Samoyed) जनजाति मे सूअर की नाक पर हाथ रखकर कसम खानी पड़ी है। अफ्रीका के कुछ नीग्रो-समूहों मे अपने समूह के प्रधान या मुखिया के मस्तक पर हाथ रखकर शपथ ली जाती है। किरगिज (Kirgiz) जनजाति मे शपथ ग्रहण करने का एक रोचक तरीका पाया जाता है। इस समाज मे सम्भावित अपराधी को अपने निर्दोष होने की शपथ नही लेनी पड़ती है, बल्कि उसके बदले मे कोई दूसरा व्यक्ति जो कि अपराधी-व्यक्ति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, शपथ ग्रहण करता है। यह इसलिए किया जाता है कि एक व्यक्ति अपनी जान को खतरे मे डाल सकता है, परन्तु उन लोगो के जीवन को वह कभी भी खतरे मे डालना नही चाहेगा जिनसे कि वह प्रेम करता है या जिन्हे वह स्नेह करता है। शपथ लेने का तरीका कुछ भी हो, पर शपथ लेने वाले को अलौकिक शक्ति (Super-natural power) का भय रहता हैं। वह यह विश्वास करता है कि अगर वह झूठी कसम खा रहा है तो उसे उस अलौकिक शक्ति से दण्ड प्राप्त होगा।

अपराध को प्रमाणित करने का दूसरा तरीका कठिन परीक्षा (ordeal) है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कठिन परीक्षा लेने की भी अनेक रीतियाँ आदिम समाजो मे प्रचलित हैं। कुछ उदाहरण हम पहले ही दे चुके हैं; यहा पर एक-दो उदाहरण और दिये जा सकते हैं। चुकची (Chukchi) जनजाति मे अगर दो व्यक्तियों मे कोई झगड़ा होता है तो उस झगडे के लिए कौन उत्तरदायी है, यह निर्णय करने के लिए दोनों पक्षों मे मल्लयुद्ध करवा दिया जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि गलती करने वाला या अपराधी ही उसमे विजय पायेगा। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे उबलते हुए पानी मे वादी और प्रतिवादी दोनों ही पक्षो को धीरे-धीरे अपने-अपने हाथ को डालना पड़ता है; अगर इस काम मे किसी ने जल्दी की, या उसके हाथ मे छाले पड गये तो उसे दोषी समझा जाता है। अफ्रीका की ईवी (Ewe) जनजाति मे सम्भावित अपराधी के सिर पर से उबलता हुआ पानी डाला जाता है अगर वह व्यक्ति इस क्रिया को बगैर किसी चूं-चां के सहन कर लेता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, वरना उसे दोषी मानकर दण्डित किया जाता है।

अपराधी-संकल्प या इरादा
(Criminal Intent or Motive)

आधुनिक दण्ड-विधान मे एक क्रिया विशेष अपराध है या नही, इसको तय करने में अपराधी संकल्प या इरादा बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अपराध मे अपराधी-इरादा होना आवश्यक है, अर्थात् जान-बूझकर दूसरे को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से अगर कोई कार्य किया गया है तो वह अपराध है। भूल से दूसरे के छाते को उठाकर चल देना अपराध नहीं; या मकान मे डाका पड़ने पर आत्मरक्षा के लिए गोली चलाना भी अपराध नहीं। किन्तु आदिम समाजों मे आधुनिक समाजों की भाँति अपराधी-इरादे को बहुत ज्यादा महत्व नही दिया जाता, क्योंकि आदिवासियों मे यह विश्वास प्रबल है कि

अलौकिक शक्ति के नाराज होने पर सम्पूर्ण समूह या समुदाय को दण्ड भुगतना पड़ता है और अलौकिक शक्ति नाराज तब होती है जबकि अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाता, क्योंकि किसी भी नियम को तोड़ना पाप है। पापी को दण्ड न देना अलौकिक शक्ति के प्रति अन्याय करना है और इस अन्याय का बदला अलौकिक शक्ति सम्पूर्ण समूह से लेती है। इस डर से ही अपराधी-इरादे को कुछ भी ध्यान दिये बिना अपराधी को दण्ड दिया जाता है। अपराधी-इरादे को कुछ भी महत्त्व न देते हुए दण्ड देने का एक अति उत्तम उदाहरण श्री गोड्डार्ड (Goddard) ने हूपा (Hupa) जनजाति से दिया है। "एक स्त्री ने कपड़ा धोने के लिए पानी गर्म करने के हेतु अपने घर के बाहर आग जलाई थी। उस आग में किसी प्रकार एक बच्चा जलकर मर गया। यद्यपि इसमें उस स्त्री का कुछ भी दोष किसी भी अर्थ में नहीं था, फिर भी उस स्त्री को उसके बदले में अपने लड़के के प्राण देने पड़े।" जग्गा (Jagga) जनजाति में हत्या के मामले में अपराधी-इरादा अर्थहीन है और इसलिए खून के बदले खून बहाना आवश्यक है क्योंकि इन लोगों में यह विश्वास दृढ़ है कि जिसकी हत्या की गई है उस व्यक्ति की आत्मा प्रतिशोध की प्यासी है, अतः हत्या करने वाले को भी मृत्युदण्ड देना आवश्यक है, नहीं तो खून या प्रतिशोध की प्यासी वह आत्मा सम्पूर्ण समूह से बदला लेगी।

यह सच है कि आदिकालीन समाजों में दण्ड देते समय अपराधी-इरादे को अधिक ध्यान में नहीं रखा जाता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सभी समाजों में अपराधी-इरादा अर्थहीन है। इफुगाओ जनजाति में दण्ड देते समय जान-बूझकर और अनजाने कार्यों के बीच तथा आकस्मिक (accidental) और लापरवाही से होने वाले कार्यों के बीच बहुत सावधानी से भेद किया जाता है। अगर किसी ने जान-बूझकर या लापरवाही से कोई कार्य किया है और उससे दूसरे को नुकसान पहुँचा है तो ऐसा करने वाले को अवश्य ही दण्ड दिया जाता है। इसके विपरीत अनजाने में या आकस्मिक रूप में कोई कार्य हो जाने पर उसके लिए कोई भी दण्ड नहीं दिया जाता, भले ही उस कार्य से दूसरे को कुछ नुकसान पहुँचा हो। उदाहरणार्थ, अगर एक व्यक्ति के हाथ की छुरी इत्तफाक से छूट जाय और उससे किसी दूसरे व्यक्ति की आँखें फूट जाय, तो इसके लिए किसी भी प्रकार के हर्जाने की माँग नहीं की जाती है, क्योंकि यह एक आकस्मिक घटना है और उस व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अनजाने में नुकसान पहुँचा है। इसके विपरीत अगर, एक व्यक्ति धनुष से अपने शिकार पर तीर चलाता है या उस पर भाला फेंकता है, और उस तीर या भाले से रास्ते पर दौड़ता हुआ कोई लड़का मर जाता है तो उसे एक व्यक्ति की हत्या करने पर जितना जुर्माना सामान्यतः देना होता है उसका आधा जुर्माना देना पड़ता है, क्योंकि इसमें उस शिकारी की लापरवाही के कारण ही लड़के की मृत्यु हुई। उसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति किसी दूसरे पड़ोसी व्यक्ति की हत्या उसे गलती से दुश्मन-पक्ष का आदमी समझकर कर डालता है तो हत्या करने वाले को और अधिक जुर्माना देना पड़ता है क्योंकि यह काम उसकी लापरवाही का प्रमाण है। इस इफुगाओ जनजाति में दण्ड देते समय अपराधी-इरादे पर कुछ भी ध्यान केवल एक अवसर पर नहीं दिया जाता है। अगर किसी विशाल भोज में कोई दुर्घटना हो जाती है तो हर हालत में उसके लिए भोज देने

वाले को तथा पुरोहित को दोषी ठहराया जाता है। भोज देने वाला व्यक्ति दोषी इस कारण होता है कि अगर वह भोज न देता तो वह दुर्घटना कभी हो ही नहीं सकती थी। और उस भोज में उपस्थित पुरोहित को दोषी इस कारण ठहराया जाता है कि उसने निश्चय ही अपने धार्मिक कार्यों का पालन उचित ढंग से नहीं किया; इसीलिए उस पाप के फलस्वरूप वह दुर्घटना घटित हुई है।

दण्ड
(Punishment)

आदिकालीन समाजों मे दण्ड के स्वरूप भी अनेक हैं। इन समाजों मे यह विचार अधिक लोकप्रिय है कि न्याय तब ही कायम रह सकता है जबकि 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त अपनाया जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार अगर एक आदमी ने किसी की आँखें फोड़ दीं तो न्याय करने वाला राजा या मुखिया या अन्य कोई व्यक्ति उस आदमी की आँखों को भी फोड़ देने की आज्ञा देगा। उसी प्रकार खून के बदले मे खून करने की व्यवस्था भी आदिम समाजों मे बहुत पाई जाती है। दण्ड का सामान्य रूप प्रतिकारात्मक सिद्धान्त अर्थात् प्रतिशोध या बदला लेने की भावना पर आश्रित है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि इन समाजों मे अधिकांशतः व्यक्ति द्वारा कोई अपराध करना ईश्वरीय व्यवस्था या नियमों का उल्लंघन माना जाता है। इसलिए यह विश्वास किया जाता है कि अपराधी में शैतान का वास होता है और उस शैतान को 'पत्थर का जवाब पत्थर से' देकर अर्थात् उचित दण्ड देकर समाज को उसके प्रभाव से विमुक्त करना सबका कर्त्तव्य है। पापात्माओं से प्रतिकार या प्रतिशोध या बदला लेना ही उचित है। आदिम समाज मे दण्ड का एक दूसरा रूप दूसरे का नुकसान पूरा कर देना होता है। इस उद्देश्य से अपराधी से जुर्माना वसूल किया जाता है या अन्य किसी तरीके से दूसरे की क्षति पूरी करा दी जाती है। आदिकालीन समाजों मे दण्ड-व्यवस्था के सम्बन्ध मे सबसे रोचक बात यह है कि इस क्षेत्र मे भी सम्मिलित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त (principle of collective responsibility) को लागू किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह जरूरी नहीं है कि एक अपराध-विशेष के लिए दण्ड का भागीदार केवल वही व्यक्ति हो जिसने वास्तव में अपराध किया है, बल्कि उसके बदले में या उसके साथ ही उसके परिवार, गोत्र, स्थानीय समूह आदि भी दण्डित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कत्ल का बदला कत्ल से लिया जाता है, परन्तु यह जरूरी नहीं कि जिसने कत्ल किया है, उसी का कत्ल किया जाय; उसके बदले मे उसके परिवार, गोत्र, या समुदाय के अन्य किसी व्यक्ति का भी कत्ल किया जा सकता है क्योंकि किसी भी अपराध का उत्तरदायित्व उस समूह के समस्त सदस्यों पर होता है जिसका कि अपराधी भी एक सदस्य है। इस कारण दण्ड के भागीदार भी सब लोग हैं। अतः बदला लेने के लिए उस समूह के किसी भी व्यक्ति को चुना जा सकता है।

आदिकालीन समाजों मे अपराधी को अनेक प्रकार से दण्डित करने की रीति प्रचलित है। अपराधी को कोड़े लगाये जाते हैं, अंग-छेद भी किया जाता है। किसी अपराध

क्षतिपूर्ति
(Compensation or Weregild)

आदिम समाजों में नुकसान-प्राप्त तथा नुकसान करने वाले के बीच के झगड़े को क्षतिपूर्ति कराकर शान्त करने की रीति भी पाई जाती है। कुछ समाजों मे तो किस अपराध पर कितना हर्जाना लिया जा सकता है या अपराधी को देना पड़ता है, यह परंपरा द्वारा पहले से ही निश्चित रहता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे स्मरणीय है कि किन अपराधों में हर्जाना-दावा किया जा सकता है, इसकी सूची प्रत्येक आदिम समाज मे अलग-अलग है। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति मे अधिकाश झगड़ो या अपराधो का निपटारा क्षतिपूर्ति कर देने से हो जाता है, पर जान-बूझकर हत्या करने पर उसकी क्षतिपूर्ति तो एक मात्र खून से ही हो सकती है; अर्थात् खून के बदले में खून बहना आवश्यक है। इस जनजाति में सम्पत्ति के आधार पर तीन स्पष्ट वर्ग हैं। जुर्माने की मात्रा आर्थिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग निश्चित की जाती है। उसी प्रकार किरगिज जनजाति में भी वर्ग-स्थिति के अनुसार हर्जाना देने की रीति है। अमेरिका की कुछ इण्डियन जनजातियों मे हर्जाना पाने के लिए इन्तज़ार न करके नुकसान-प्राप्त व्यक्ति अपराधी के कुछ घोड़ों को मारकर या उसकी अन्य कोई कीमती वस्तु नष्ट करके सन्तोष कर लेता है। व्यभिचार के रूप मे होने वाले अपराधों मे तो इस नीति को विशेषकर प्रयोग किया जाता है। समोआ जनजाति मे अपराधी नुकसान-प्राप्त पक्ष को कीमती चटाई तथा ऐसी ही दूसरी चीजें भेंट करता है और साथ ही उनके लिए जलाने वाली लकड़ी, पत्थर तथा पत्ते लाता है। इस प्रकार वह परम्परा-स्वीकृत शैली से यह जताना चाहता है कि वह अब उनकी ही शरण में है और अगर वे चाहें तो उसे मार-काट सकते और खा सकते हैं। इस प्रकार के उपहार तथा आत्मसमर्पण अधिकांशतः बेकार नहीं जाते और वह अपराधी नुकसान-प्राप्त पक्ष के गुस्से को शान्त करने मे सफल हो जाता है। अन्य आदिम समाजों मे क्षति की पूर्ति दूसरे तरीकों से भी की जाती है। उनमे से एक यह है कि अपराधी-व्यक्ति को सम्पूर्ण गाँव को एक सामाजिक भोज देना पड़ता है, तब कहीं उसे अपराध से मुक्ति दी जाती है। किन्हीं जनजातियों मे क्षतिपूर्ति पर इतना बल दिया जाता है कि अगर अपराधी हर्जाना देने मे बिल्कुल ही असमर्थ है तो उस समूह का मुखिया अपने पास से नुकसान-प्राप्त व्यक्ति को हर्जाना दे देता है।

अदालती कार्यवाही
(Trial)

न्याय की यह माँग है कि अपराधी को दण्डित करने से पहले उसको अपनी सफाई देने का अवसर दिया जाय। ऐसा इसलिए किया जाता है कि कहीं निर्दोष को तो दण्ड नहीं मिल रहा है। इस कार्यवाही में वादी तथा प्रतिवादी अर्थात् सम्भावित अपराधी तथा नुकसान-प्राप्त व्यक्ति दोनों को ही उपस्थित होना पड़ता है और दोनों पक्षों की बातों को ध्यान से सुना जाता है। प्राय सभी जनजातियों मे किसी-न-किसी रूप मे यह व्यवस्था

पाई जाती है। मैक्सिको की एजटक्स, पीरू की इन्कास तथा गिनी की सूडान जनजातियो मे व्यवस्थित ढग से अदालती कार्यवाही करने की प्रणाली पाई जाती है। भारतीय जनजातियो मे भी ऐसे उदाहरण कम नही हैं।

आदिम समाजों में सरकार
(Government in Primitive Societies)

एक निश्चित भू-भाग मे बसे हुए मनुष्यो के एक प्रभुता-सम्पन्न राजनैतिक सगठन को राज्य (State) कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, राज्य मनुष्यो का वह राजनैतिक सगठन है जो कि एक निश्चित भू-भाग मे प्रभुता सम्पन्न है। इसी राज्य के सस्थात्मक (institutional) अग को सरकार कहते हैं। सरकार राज्य के नाम पर कार्य करती है और राज्य के शासन-प्रबन्ध को चलाती है। यह सरकार किसी-न-किसी रूप मे तीन प्रकार के कार्यों को करने के लिए होती है—एक तो कानून बनाने का काम, दूसरे शासन-प्रबन्ध करने और कानूनो को लागू करने का काम, और तीसरे न्याय करने का काम। आदिम समाजो मे किसी-न-किसी रूप मे सरकार का अस्तित्व होता तो है, परन्तु सरकार के उक्त तीनो कार्य स्पष्ट नही होते। इन समाजो मे बहुधा सरकार के कानून-सम्बन्धी, कार्यकारिणी तथा न्याय सम्बन्धी पक्ष आधुनिक समाजो की भांति एक-दूसरे से पृथक् न होकर एकसाथ घुले-मिले होते हैं। आस्ट्रेलिया की जनजातीय परिषद् (council) कानून को बनाती है, उसे लागू करती है और अपराधी को दण्डित भी करती है। प्राय, यही अवस्था अन्य जनजातीय समाजो मे है। इसके अतिरिक्त श्री लोई (Lowie) के अनुसार, एक और विशेषता आदिम समाजो की सरकार की होती है और वह यह कि अधिक सभ्य या विकसित समाजो की तुलना मे आदिम समाजो की सरकार कानून बनाने का काम बहुत ही कम करती है।[1] इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजो मे सामाजिक या राजनैतिक या आर्थिक जीवन के अधिकतर व्यवहारो का निर्धारण तथा नियमन या नियन्त्रण प्रथागत कानूनो (customary law) के द्वारा ही होता है। इस कारण सरकार का काम नए कानूनो को बनाना नही, बल्कि अधिकाशत यह देखना होता है कि व्यक्ति परम्परागत नियमो या प्रथाओ का पालन कर रहे हैं या नही। दूसरी बात यह है कि आदिम समाजो मे जीवन सादा और सरल होता है जिसके फलस्वरूप उसे नियन्त्रित करने के लिए असख्य कानूनो की आवश्यकता भी नही होती; कुछ प्रथागत कानूनों से ही काम चल जाता है। यही कारण है कि इन समाजो मे सरकार को कानून पास करने से सम्बन्धित कार्य बहुत कम करने पडते हैं। यह हो सकता है कि अफ्रीका के जनजातीय समाज मे जहाँ निरकुश शासक राज्य करता है, यह नियम लागू न होता हो, क्योकि वहाँ तो शासक अपने मनमाने ढग से शासन करता है और दण्ड देता है। वह जो कुछ भी कहता है, वही कानून होता है। इस कारण उसे परम्परा या प्रथागत नियमो की कुछ परवाह ही हुआ करती है। पर कुछ भी हो, इन कतिपय अपवादो को छोड़कर, अधिकतर

1. [illegible] *Primitive Society*, London, 1953, pp. 344 345.